अङ्कः – १६

ISSN : 2248-9495

जयन्ती

षोडशं पुष्पम्

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

जयपुरपरिसरः जयपुरम्

अङ्कः – XVI

ISSN : 2248-9495

जयन्ती

(वार्षिकी शोधपत्रिका)

✲ संरक्षको मार्गदर्शकः प्रधानसम्पादकश्च ✲

प्रो. अर्कनाथचौधरी

✲ सम्पादकौ ✲

प्रो. श्रीधरमिश्रः

डॉ. पवनव्यासः

✲ सहसम्पादकाः ✲

डॉ. राकेशकुमारजैनः

श्रीप्रकाशरंजनमिश्रः

डॉ. कान्ता गलानी

✲ सहायिका ✲

डॉ. नमिता मित्तल

2019-20 वर्षम्

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

जयपुरपरिसरः

त्रिवेणीनगरम्, गोपालपुरा-बाईपास, जयपुरम्-302 018

दूरभाषाङ्क : 2761115 (कार्यालयस्य)

अणुसङ्केतः (ई-मेल) : csujaipur@gmail.com

वेबसाइट : www.rsksjaipur.ac.in, www.sanskrit.nic.in

प्रो. अर्कनाथचौधरी

संरक्षकः मार्गदर्शकः प्रधानसम्पादकश्च

सम्पादकौ

प्रो. श्रीधरमिश्रः

डॉ. पवनव्यासः

सह-सम्पादकाः

डॉ. राकेशकुमारजैनः

डॉ. कान्ता गलानी

श्रीप्रकाशरञ्जनमिश्रः

डॉ. नमिता मित्तल

संगणकसहायिका

अनुक्रमणिका

1.	दर्शन एवं काव्य में आनन्द का स्वरूप	प्रो. अर्कनाथ चौधरी	5
2.	ज्योतिषशास्त्र त्रिविधोत्पातविमर्शः	प्रो. देवीप्रसादत्रिपाठी	10
3.	शैक्षिक प्रौद्योगिकी की अमूल्य देन-'आभासीय कक्षा कक्ष' (Precious Contribution of Educational Technology-Virtual Class Room)	प्रो. सन्तोष मित्तल	18
4.	बह्वीभिः	प्रो. शिवकान्तझाः	22
5.	व्याडीयं चरितम् मङ्गलाचरणम् (Benediction)	योगी कमलचन्द्र-नाथः	28
6.	व्यक्तिविवेके सूचितं दुःश्रवत्वाभिधानमनौचित्यम्	प्रो. रामकुमारशर्मा	35
7.	अपादानम्	प्रो. श्रीधरमिश्रः	39
8.	नेपाल का संस्कृत साहित्य	प्रो. रमाकान्तपाण्डेयः	47
9.	अन्वीक्षा	प्रो. सत्यम् कुमारी	57
10.	आचार्यभट्टाकलंकदेवमते ''सर्वज्ञसिद्धिः''	आचार्यः कमलेशकुमारजैनः	60
11.	व्यापारस्य धात्वर्थत्वे प्रमाणम्	प्रो. विष्णुकान्तपाण्डेयः	64
12.	व्यक्तिविवेके प्रकृतिप्रक्रमभेदः	डॉ. सनन्दनकुमारत्रिपाठी	68
13.	भारतीयवैदिकदर्शनसरितः उपधाराः	डॉ. कुलदीपशर्मा	74
14.	व्यक्तिविवेके नञ्विषयो विधेयाविमर्शः	डॉ. हरीशचन्द्रतिवाड़ी	79
15.	संस्कृतवाङ्मये महिलाविकासपरियोजनाः	डा. के. वरलक्ष्मीः	87
16.	असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे	डॉ. पशुपतिनाथमिश्रः	93
17.	स्मृतिषु वर्णितदण्डविधानस्य विवेचनम्	डॉ.कृष्णा शर्मा	97
18.	व्यक्तिविवेके वचनप्रक्रमभेदः	डॉ. किशोरकुमारदलाई	101
19.	वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता	डॉ. सुधीर कुमार शर्मा	103
20.	लोक कल्याणकारी राज्य और कौटिल्य	डॉ. सीमा अग्रवाल	109
21.	वर्तमान मे चरित्रमाध्यम से शिक्षा प्रदान	डॉ. हरिओम शर्मा	113
22.	अभिनवगुप्तपादस्याभिनवोक्तयः	डॉ. पवनव्यासः	117
23.	मीमांसा सम्मत मोक्ष का स्वरूप तथा आचार्य शंकर द्वारा उसका खण्डन	डॉ. रानी दाधीच	120
24.	'आवन्तिकम्' काव्यस्य शब्दपाकभाववैभवप्रकाशः	डॉ. राजकुमारमिश्रः	128
25.	योगांग ध्यान का स्वरूप	डॉ. विनी शर्मा	134
26.	वेदमतानुसारेण व्याकरणस्योत्पत्तिः	डॉ. धर्मेन्द्रकुमारपाठकः	142
27.	ज्योतिषशास्त्रे राजयोगानां निरुपणम्	डॉ. सुभाषचन्द्र मिश्रः	144
28.	रसे सारश्चमत्कारः	डॉ. राधावल्लभशर्मा	152
29.	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकवर्णितद्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपं तस्य च समीक्षा	डॉ. राकेशकुमार जैनः	166
30.	वैश्विकपरिप्रेक्ष्ये अध्यापकशिक्षा नैतिकविकासश्च	डॉ. दिवाकरमिश्रः	173

31.	Cultural and Literary study of Amra as Depicted in Sanskrit Literature	Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi	177
32.	Constructive Paradigm of Teaching and Learning Process	Dr. Vijay Kumar Dadhich	195
33.	लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्	डॉ. संजीतकुमारझाः	201
34.	पद्मश्रीरघुनाथशर्मकृतस्य शनिस्तवस्य समालोचनम्	डॉ. अंजु शर्मा	204
35.	वैदिकवाङ्मये काव्यत्वम्	प्रकाशरंजनमिश्रः	208
36.	How Far the campaign of women empowerment has really empowered women?	Dr. Laxmi sharma	215
37.	Myth in Roland Barthes' Toys	Dr. Kanta Galani	219
38.	INFORMATION RESOURCES IN RAJASTHANI ARTS AND CULTURE FROM THE USERS PERCPECTIVE	Sunita Pandey Dr. Shailendra Kumar	222
39.	Concept of Women Empowerment in Ancient Indian Tradition	Kapil Gautam	238
40.	योग दर्शन का विश्वव्यापी स्वरूप	डॉ. नवनीत कुमारः	247
41.	गांधीवाद एवं भारत	डॉ. ज्योति गुप्ता	252
42.	साहित्यकण्ठाभरणे श्लेषालङ्कारविमर्शः	रामजीलाल मीना	258
43.	उपदेशेऽजनुनासिक इत् सूत्रघटकोपदेशपदार्थविमर्शः	अश्वनीठाकुरः	260
44.	ज्योतिश्शास्त्रस्य परिचयः	अमितकुमारझाः	265
45.	ओगेटिपरीक्षितशर्मविरचितस्य श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्यस्य काव्यशास्त्रदृष्ट्यासमीक्षणम्	डॉ. पङ्कजकुमारबालाणः	267
46.	आचार्यविद्यासागरकृतसुनीतिशतकस्य काव्यशास्त्रीयमूल्याङ्कनम्	डॉ. ललितकिशोरशर्मा	274
47.	अर्थस्य व्यञ्जकत्वम्	डॉ. फिरोजः	280
48.	महाकवि कालिदास प्रणीत रूपकों में वर्णित लोक-आस्था और लोकमान्यताएँ	मुकेश कुमार पांडेय	286
49.	दर्शनाचार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में	डॉ. दर्शना जैन	290
50.	धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त एवं ज्योतिषीय गणनाएँ	शैलेश कुमार जैमन	299
51.	वेदानां भारतीयव्याख्यापद्धतिः	राहुलकुमारझाः	302
52.	जम्बुचरियं में भारतीय संस्कृति	डॉ. अमित कुमारः	306
53.	रामचन्द्रमिश्रकृतीनाम् एकम् अवलोकनम्	वन्दना कुमारी	310
54.	यात्रा : पश्चिमांचल से पूर्वांचल की ओर (जयपुर से अगरतला)	गोविंद जांगिड़	313
55.	षोडशसंस्कारविमर्शः	दीपककुमारचौधरी	317
56.	महामहोपाध्यायपण्डितगोकुलनाथस्य व्यक्तित्वं कर्तृत्वञ्च	समुन्दरसिंहः	315
57.	धात्वर्थविषयकमीमांसकमतखण्डनपुरस्सरं वैयाकरणमतव्यवस्था	अन्तरिक्षः अग्रवालः	321
58.	शक्तिः साधौ असाधौ वा	धीरज कुमार चौधरी	323
59.	पाणिनिव्याकरणानुसारं वर्णविचारः	सत्यव्रत मिश्रः	325

सूचना : इस शोध पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में अभिव्यक्त विचारों से सम्पादक और प्रकाशक का सहमत होना आवश्यक नहीं है। अपने आलेख में अभिवर्णित तथ्यों एवं विचारों के लिए लेखक स्वयं उत्तरदायी होगा।

दर्शन एवं काव्य में आनन्द का स्वरूप

प्रो. अर्कनाथ चौधरी

संसार का प्रत्येक प्राणी स्वभावतः आनन्द की प्राप्ति एवं दुःख की निवृत्ति के लिए जीवनपर्यन्त प्रयत्नशील रहता है। यह आनन्द क्या है? आनन्द शब्द आपूर्वक टुनदि समृद्धौ से घञ् प्रत्यय कर निष्पन्न होता है, जिसका शाब्दिक अर्थ है– सब प्रकार से समृद्धि, प्रसन्नता। जिसे न्यायवैशेषिक ने सुख माना है, वह सुख जो सभी के लिए अनुकूल वेदनीय हो, वही आनन्द है।

लोक में अनुभव किए जा रहे नाना प्रकार के वैषयिक सुख हैं। किन्तु उसकी कोई अन्तिम अवधि या इयत्ता निश्चित नहीं है। कौन सा सुख या आनन्द उत्तम है यह निर्धारण भी सम्भव नहीं है। कुछ स्वादिष्ट भोजन कर आनन्दित होते हैं तो कुछ सुखदायक स्पर्श से आनन्द प्राप्त करते हैं। कोई सौन्दर्यास्वादन में सुख अनुभव करते हैं तो कुछ रूपसौन्दर्य से तृप्त होते हैं। कुछ सत्यवाणी में तो कुछ मिथ्याभाषण में, कुछ चुगलखोरी में तो कुछ निन्दा करने में ही आनन्द का अनुभव करते हैं। इस तरह लोक की रुचियाँ भिन्न भिन्न हैं, अतः उनके सुख या आनन्द के स्वरूप भी भिन्न भिन्न होते हैं।

परन्तु आनन्द का तटस्थ स्वरूप या लक्षण क्या है? यह मानवीय जिज्ञासा अतीतकाल से वर्तमान तक बनी हुई है।

अमरकोषकार ने आनन्द के लिए प्रयुक्त पर्यायवाची शब्दों में आह्लाद, सुख, प्रीति, प्रमोद, हर्ष, मुत्, प्रमद और प्रमोद शब्द को गिनाए हैं।[1] इन सबका सम्बन्ध आत्मा से है। आनन्द का आधार आत्मा है यह स्पष्टरूप से न्यायवैशेषिक प्रतिपादित करता है। वह ''सर्वेषामनुकूलवेदनीयं सुखम्'' कहता है। भारतीय वाङ्मय ने एक परम तत्त्व को जिससे यह सारी स्थावर-जङ्गम सृष्टि हुई है, आनन्दरूप ही माना है। वह परमेश्वर सच्चिदानन्द है। उसका आनन्दरूप ही सृष्टि का मूल है। तैत्तिरीयोपनिषद् ने कहा है–

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रत्यभिसंविशन्ति[2]। ''आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्''।

यह सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है। ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य में आचार्य शङ्कर ने ''ब्रह्मणि एव आनन्दशब्दो दृष्टः''[3] यह कहा है।

बृहदारण्यकोपनिषद् ने ''रसो वै सः''[4] वचन द्वारा ब्रह्म को रस माना है। इसी को आधार मानकर आलङ्कारिकों ने भी ''ब्रह्मानन्दसहोदरो रसः'' कहा है। आलङ्कारिकों के इस अलौकिक आस्वाद को सहृदय हृदय मानव सत्त्वोद्रेक से प्राप्त करता है। वेदान्तप्रतिपाद्य ब्रह्म अनन्त आनन्द का आश्रय इसलिए है कि- वह आनन्दरूप है। उसी सच्चिदानन्द ब्रह्म का अंशभूत चित् चेतन मानव अंशभूत है, अतः

मानवीय जीवन में भी मानवीय आनन्द ब्रह्मानन्द का ही रूप होगा जहाँ सत् चित् एवं आनन्द की प्रतीति निरन्तर होती रहती है।

आनन्द क्या है और आनन्द की प्राप्ति कैसे होती है? इस विषय में हमारे वाङ्मय में नाना प्रकार के चिन्तन पाये जाते हैं, जिनमें निःश्रेयस एवं मोक्ष की प्राप्ति को ही प्रायेण सभी मतों ने आनन्द की प्राप्ति माना है।

एक ओर दुःखात्यन्तोच्छेद को आनन्दरूप निःश्रेयस माना गया है तो दूसरी ओर मीमांसकों ने नित्यनिरतिशय-सुखाभिव्यक्ति को निःश्रेयस माना है। योगदर्शन ने ''निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः''[5] कह कर आत्मप्रसन्नता एवं आत्मानन्द का मार्ग प्रदर्शित किया है, किन्तु यह आत्मानन्द वितर्क विचार आनन्द अस्मिता के अनुगम से सम्प्रज्ञात समाधि द्वारा प्राप्त होना बताया है। लौकिक जीवन में ''सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः''[6] कह कर समाधि पूर्व अवस्था में आनन्द की प्राप्ति का मार्ग बताया गया है। यह अलग बात है कि ''पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति''[7] कह कर बताया है कि मोक्षरूप अवस्था जीवात्मा का परमेश्वर के साथ तादात्म्य है, और यही अलौकिक आनन्द है। किन्तु यह व्यष्टिपक्ष हो सकता है, समष्टिपक्ष नहीं। क्योंकि समष्टिपक्ष में संसार की सत्ता ही विलुप्त हो जाएगी।

व्यष्टिपक्ष का आनन्द विवेचन उपनिषद् में भी प्राप्त है। ''प्रज्ञानघन एव आनन्दमयो ह्यानन्दभुक्''[8] वचन का सार यह है कि प्रज्ञानघन सुषुप्ति की अवस्था है जिसमें विषयविषयीभाव का ज्ञान नहीं होता है। यह ज्ञानाज्ञानरूप है, यही आत्मोपहित चैतन्य है। यह आनन्दमय है और आनन्द का भोक्ता है। इस आनन्दभाव में न राज्य, न स्वर्ग, न ही पुनर्भव की चिन्ता होती है, केवल दुःखार्तों के दुःखविनाश की कामना होती है। अतः एव रन्तिदेव के शब्दों में-

''न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं न पुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।''[9]

ही भारतीय लौकिक जीवनदृष्टि आनन्द का स्वरूप है। ''तरति शोकमात्मवित्''[10] इसी भारतीय जीवनदृष्टि को उजागर करती है कि आत्मज्ञानी होकर शोकों से पार पाया जा सकता है।

मानवीय जीवन को निरन्तर सुखमय रखने की दृष्टि चार्वाकों की भी है - ''यावत् जीवेत् सुखं जीवेत्''[11]। किन्तु इस सुखमय जीवन के लिए साधन पवित्र नहीं है। वे ''ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्'' तथा ''भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'' कह कर समग्र भारतीय चिन्तनधारा को ही पलट देते हैं, अतः वह अस्वीकार्य ही हुआ है। बौद्धदर्शन इनसे भिन्न ही दृष्टि देता है। वह विमल ज्ञानोदय को मुक्तिरूप आनन्द मानता है। इनके मत में आनन्द के विषय में अनेक विकल्पनाएँ हो सकती है, किन्तु विकल्पनाएँ संकल्प में परिवर्तित हो और वह संकल्प है विमल ज्ञानोदय। यही आनन्द है।

पुराण ने माना है कि अभिलषित पदार्थ का ध्यान दर्शन आदि और उपभुक्तियो में जो प्रतीत होता है वह इस जगत् में सभी प्राणियों के लिए आनन्द है।

''इष्टस्य वस्तुनो ध्यानदर्शनाद्युपभुक्तिषु।
प्रतीयते य आनन्दः सर्वेषामिह देहिनाम्।।''[12]

पुराण के अनुसार सत्त्वप्रधान चित्त में जब आत्मा प्रतिबिम्बित होता है तब स्वच्छ जल में विद्यमान अमृत के समान आनन्द बिम्बित होता है और बिम्बरूप आनन्द आत्मानन्द माना जाता है[13]।

सर्वदेवसारसंग्रहकार ने कहा - जिस किसी भी स्थान में जिस किसी के योग से आनन्द उद्भूत होता है, वह आनन्द परब्रह्म का ही स्फुरणरूप है।[14]

काव्यालङ्कारशास्त्रों की दृष्टि से आनन्द का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि लोक में विश्रान्तिजनक जो है, वह आनन्द है। आचार्य भरत ने पञ्चमवेदरूप नाट्यशास्त्र का प्रणयन करते हुए बताया कि –

''दुःखार्तानां श्रमार्तानां शोकार्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद्भविष्यति।।''[15]

नाट्यशास्त्र के निर्माण का प्रयोजन-दुःखपीडित, श्रमसीदित, शोकाकुल एवं तपस्वियों का विश्राम जनन है और इसका फल है- ''लोक में विनोद का, आनन्द का आविर्भाव।''[16]

इस कथन पर अभिनव गुप्त ने स्पष्ट कहा कि - ''कालान्तरसुखलाभाः प्रयोजनम्।''[17]

भरत के अनुसार ''विभावानुभावसंचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः'' स्वीकृत है। वस्तुतः यह रस सभी सहृदयों के अन्तःस्थल में स्थायीरूप से विद्यमान होता है, अतः इसे रत्यादि स्थायी भावों के रूप में जाना जाता है। और यही स्थायीभाव विभावादि के संयोग से रसता को प्राप्त करते हैं। जिस रस को मम्मट ने स्थायीभाव कहा है[18] और विश्वनाथ जिस रत्यादिभाव को स्थायी कहकर ''रसतामेति'' कहा है[19]। आचार्यों के मत में अभिव्यङ्ग्य यह रस एक अलौकिक आस्वाद है, यह आस्वाद वस्तुतः मानव का हार्द आह्लाद है, अन्तःस्थित आनन्द है। इस आनन्द में लोकोत्तरचमत्कारिता है और यह सत्त्वगुण के उद्रेक से ही प्राणियों के आस्वाद का विषय बनता है।

भट्टनायक के रसवाद को स्पष्ट करते हुए आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में बताया कि ''विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यते।''

इस प्रक्रिया में सत्त्वोद्रेक से रजस् एवं तमस् अभिभूत हो जाया करते हैं, परिणामतः आनन्दघनसंविद्विश्रान्ति प्राप्त हो जाती है।

सांसारिक व्यक्ति मृदु से क्रूर तक जिस किसी भी स्वभाव का हो, नाट्य में यह शक्ति है कि उसके अन्तर में विद्यमान सत्त्व का उद्रेक कर देता है, और वह सीमित समय तक ही सही, किन्तु रसचर्वणा से जन्य अलौकिक आनन्द को प्राप्त कर ही लेता है। यह अलौकिक आनन्द स्वसंवेदनसिद्ध है। मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिनवगुप्त के मत से इसकी पुष्टि करते हुए कहा है कि–

''चर्व्यमाणस्य अलौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्''।[20]

समग्र विश्लेषण से ज्ञात होता है कि प्राणियों की भिन्न-भिन्न रुचियों के अनुसार उनके हृदय में वासित आनन्द सत्त्वोद्रेक से प्रकट होता रहता है। लौकिक आनन्द से अलौकिक आनन्द की भी प्राप्ति की जा सकती है। किन्तु इस प्रक्रिया में प्राणी को राग, द्वेष व मोह से मुक्त होने की स्थिति प्राप्त करनी होगी, तभी व्यक्ति शास्त्रीयसिद्धान्तों के अनुसार ब्रह्मानन्द को प्राप्त कर सकेगा। सांसारिक प्राणी भी राग द्वेषादि से मुक्त नियन्त्रित इन्द्रियों द्वारा विषयों का भोगकर प्रसन्नता प्राप्त कर सकता है, और प्रसन्नता में सारे दुःख विलीन हो जाते हैं, यह भगवान् श्रीकृष्ण ने बताया है।

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।[21]

अत एव शास्त्रों ने मोक्ष को ही परमानन्द माना है। यह परमानन्द स्वनियन्त्रण किम्वा आत्मप्रबन्धन के रूप में ''अहं ब्रह्मास्मि'' की अनुभूति कराता है, तथा समाजप्रबन्धन की दृष्टि से ''तत्त्वमसि'' का बोध कराता है। शास्त्रकारों ने स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि–

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वाचि मतान्तरे।
मनःप्राणलये कश्चित् आनन्दः सम्प्रवर्तते।।[22]

मन और प्राण के लय (=एकीकरण) होने पर जो अद्भुत आनन्द प्रवृत्त होता है, हम उसे ''ब्रह्मानन्दसहोदरः'' सांसारिक आनन्द कह सकते हैं।

संदर्भः–

1. मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोद संमदाः।
   स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मशातसुखानि च।। कालवर्ग 146-147
2. तैत्तिरीयोपनिषद् - 3/6
3. ब्रह्मसूत्र शारीरकभाष्य - 1/1/12
4. बृहदारण्यकोपनिषद् - 4/3/32
5. योगसूत्र - समाधिपाद - 47
6. योगसूत्र - साधनपाद - 42
7. योगसूत्र - कैवल्यपाद - 34
8. माण्डूक्योपनिषद् - 5
9. रन्तिदेव
10. तैत्तिरीय ब्राह्मण 6/1/12
11. चार्वाकदर्शन - पदय - 7 (सर्वदर्शनसंग्रह)
12. कल्याणधर्माकः - 1, वर्ष-40, रजि. 175
13. सत्त्वप्रधाने चित्तेऽस्मिंस्वात्मैव प्रतिबिम्बति।
    आनन्दलक्षणः स्वच्छे पयसीव सुधाकरः।। कल्याणधर्माकः - 1, वर्ष-40, रजि. 175
14. कल्याणधर्माकः - 1, वर्ष-40, रजि. 175

15. नाट्यशास्त्रम् - प्रथम अध्याय - 114
16. विनोदजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति। नाट्यशास्त्रम् - प्रथम अध्याय - 120
17. अभिनवभारती व्याख्या
18. काव्यप्रकाश - उल्लास 4-28
19. साहित्यदर्पण - 3.1
20. काव्यप्रकाश अभिनवगुप्त मत
21. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय 2/84-85
22. कल्याणधर्माकः - 1, वर्ष-40, रजि. 175

निदेशक,
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
जयपुर परिसर, जयपुर

ज्योतिषशास्त्रे त्रिविधोत्पातविमर्शः

प्रो. देवीप्रसादत्रिपाठी

प्राचीनाचार्यैरस्य जगतः सर्वेषां रहस्यानामुद्घाटनस्य प्रयासः कृतः। ते आचार्याः जगतः प्रत्येकं कार्यस्य कारणं सततान्वेषणेन स्वीया अन्तर्दृष्ट्या च ज्ञातवन्तः। ''अणोरणीयान्महतो महीयान्'' समेषां तत्त्वानां विवेचनं तैः कृतम्। तज्ज्ञानं लोककल्याणाय सर्वेभ्यः बोधितवन्तः लिखितवन्तश्च। तज्ज्ञानमेव इदानीं वेदादारभ्य विस्तृतसंस्कृतवाङ्मयरूपेण अस्माकं सम्मुखे विद्यमानं वर्तते। यथा लोके इदानीं विभिन्नस्थानेषु जलप्लावनम्, भूकम्पादिरूपेण आपदः दृश्यन्ते तथैव प्राचीनकालेऽपि भवन्ति स्म। आधुनिकवैज्ञानिका वदन्ति यत् एतादृशैः आपद्भिरेव पुराकाले 'डायनासोर' अभिधानात्मकानां प्राणीनां विनाशमभवत्। अतः सततरूपेण लोके आपदः भवन्त्येव। एतादृशा आपदो वैदिककालेऽपि ऋषिभिः दृष्टाः। ऋग्वेदे आपदः वर्णनं मन्त्रेऽस्मिन् दृश्यते–

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद्: पर्वतान्प्रकुपिताँनरम्णात्।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात्स जनास इन्द्र।।[1]

अर्थात् 'इन्द्रः व्यथामानां पृथिवीमदृहत्, प्रकुपितान् पर्वतानरम्णात्, वरीयोऽन्तरिक्षं विममे, द्यामस्तभ्नाच्च'। अत्र चतस्रः दैव्यापदः प्रतिपादिताः वर्तन्ते। अथ प्रथमा पृथिव्याः व्यथामानत्वम्। इयमापत् 'भूकम्प'रूपेण ज्ञातुं शक्यते। द्वितीया तावत् पर्वतानां प्रकोपः। इयं च अधुनातनैः भूगर्भविद्भिः पर्वतोत्थानकारिणी विवर्तनिकी आपदिति मन्यते। तृतीया तावदन्तरिक्षस्य विमानम्। इयन्त्वन्तरिक्षस्यानियन्त्रितविस्तारमित्यभिधीयते खगोलविद्भिः। तुरीया वै दिवः स्तम्भानाभावः। इयं तावदाकाशपिण्डानामुल्काभिधानां विविधग्रहेषु पात इति निरूपयितुं शक्यते। येन इन्द्रेण व्यथमाना पृथिवी दृढीकृता, प्रकुपिताः पर्वताः स्थिरीकृताः, वरीयोऽन्तरिक्षं मिमीतं, द्यौश्च स्तम्भितः सः श्रद्धेयः। अपरत्र च ऋग्वेदे इन्द्रदेवजनितस्य भूकम्पस्य वर्णनं प्राप्यते –

इन्द्रस्य नु वीर्याणि प्रवोचं यानि चकार प्रथमानि वज्री।
अहन्नहिमन्वपस्ततर्द प्रवक्षणा अमिनत्पर्वतानाम्।।[2]

अत्र पर्वतानां वीर्येण सरितः प्रवाहस्य वर्णनं वर्तते। पर्वतविदारणम् इन्द्रजनितः भूकम्पः मन्यते विद्वद्भिः।

लोककल्याणाय आपदां शान्तिः भवेदिति प्रार्थनापि कृता। यत्किमपि प्रकृत्याः विरुद्धं दृष्टं, आचार्यैः तस्य 'उत्पात' संज्ञा प्रदत्ता' यथा अथर्ववेदस्य मन्त्रेऽस्मिन् दृश्यते–

उत्पाताः पार्थिवान्तरिक्षाः शं नो दिविचरा ग्रहाः।।
शं नो भूमिप्यमाना शमुल्का निर्हतं च यत्।
नक्षत्रमुल्काभिहतं शमस्तु नः शं नोऽभिचाराः शमु सन्तु कृत्याः।
शं नो निरवाता वल्गाः शमुल्का देशोपसर्गा शमु नो भवन्तु।।'

प्रायशः सर्वेष्वपि पुराणेषु आपदां वर्णनं लभ्यते। पुराणेषु आपदां वर्णस्य सङ्कलनं क्रियते चेत् पूर्णशोधप्रबन्धः लिखितुं शक्यते। मुख्यतः बल्लालसेनरचिते 'अद्भुतसागरग्रन्थे' पुराणेषु वर्णितानाम् आपदाम्

उद्धरणानि प्रदत्तानि सन्ति। श्रीमद्भगवद्गीतायां भगवता श्रीकृष्णेन उक्तं यत् अहं साक्षात् कालोऽस्मि। लोकानां क्षयः कालस्य स्वभावो वर्तते। आपत्सु जनानां विनाशस्तु प्रकृत्याः सामञ्जस्यं विनिर्माति–

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत् प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।

श्रीमद्देवीभागवते त्रिविधोत्पातानां महामारीसंबद्धानाम् आपदां च वर्णनं प्राप्यते–

उपसर्गानशेषांस्तु महामारीसमुद्भवान्।
तथा त्रिविधमुत्पातं माहात्म्यं शमयेन्मम।।[6]

स्कन्धपुराणे प्रभासक्षेत्रमाहात्म्यसन्दर्भे राजस्थानस्य आबूपर्वतक्षेत्रे प्राचीनकाले प्राकृतिकापदः वर्णनं प्राप्यते। तदेव वर्णनं महाभारते, रामायणे ऋग्वेदे च प्राप्यते। तस्याः आपदः विषये भारतीयविज्ञानसंस्थानस्य आर.एन.आयङ्गरमहोदयेन विस्तरेण शोधकार्यं कृतम्।[7] यदा भयङ्कररूपेण आपदः भवन्ति तदा तस्याः 'प्रलय' संज्ञा क्रियते। सर्वेष्वपि मुख्यपुराणेषु प्रलयस्य वर्णनं लभते। यथा श्रीमद्भागवतपुराणे[8], विष्णुपुराणे[9], वायुपुराणे[10], कूर्मपुराणे[11], गरुडपुराणे[12], अग्निपुराणे[13], ब्रह्मपुराणे[14], मार्कण्डेयपुराणे[15] च पुराणेषु प्रलयस्य चतुर्धा विभागाः प्राप्यन्ते – 1. नित्यप्रलयः 2. नैमित्तिकप्रलयः 3. प्राकृतप्रलयः 4.आत्यन्तिकप्रलयः। यथोक्तम्–

चतुर्युगसहस्रान्ते ब्राह्मनैमित्तिको लयः।
अथ प्राकृतिकं वक्ष्ये प्रलयं शृणु शौनकः।।[16]

न केवलं पुराणेषु अपितु व्याकरणशास्त्रेऽपि आपदां वर्णनं प्राप्यते। **तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ**[17] इति सूत्रस्य काशिकायामुत्पातशब्दः विव्रियते यत् महाभूतपरिणामः उत्पातः इति। **रोगाख्यायां ण्वुल् बहुलम्**[18] इति सूत्रेण प्रच्छार्दिका, प्रवाहिका, विचर्चिका इत्यादयः रोगवाचिशब्दाः निष्पद्यन्ते। **वातातिसाराभ्यां कुक् च**[19] इति सूत्रेण वातकी, अतिसारकी इति आपद्स्वरूपरोगाणां ज्ञानं भवति।

इदानीम् आधुनिकविज्ञाने प्रत्येक क्षेत्रे कल्पनातीतं विकासं प्रचलति। नूतनाविष्काराः क्रियन्ते। तथापि ते इदानीं पर्यन्तमापदां पूर्वानुमाने पूर्णतया असमर्था एव।[20] परन्तु प्राचीनाचार्यैरूक्तं यत् आपदां पूर्वानुमानस्य विधिरपि प्रकृतौ एव प्राप्तुं शक्यते। अस्मिन् जगति यत्किमपि शुभाशुभं घटति, प्रकृतौ पूर्वमेव तस्य भूमिकायाः निर्माणं भवति। यथा कस्यापि भित्तेः पतनं भवति, परन्तु तस्य पतनं सूक्ष्मरूपेण बहुकालात् पूर्वमेव आरम्भः भवति। प्रकृतौ यत्किमपि घटितं भवति तस्य पूर्वनिमित्ताः लोके ब्रह्माण्डे च दृश्यन्ते।[21] प्राचीनाचार्या एतत् ज्ञातवन्तः। अतः कारणादेव भविष्ये संभावितघटनानां ज्ञानार्थे प्राकृतिकब्रह्माण्डीय–परिवर्तनानामध्ययनमावश्यकं भवति। अत एव वराहमिहिराचार्येण बृत्संहितायां लिखितं यत् प्रतिक्षणं वातावरणस्य ब्रह्माण्डस्य च सततपरिवर्तनानामध्ययनेन भविष्ये संभावितानां घटनानां ज्ञानं कर्तुं शक्यते। अतः चतुर्षु दिक्षु सततरूपेण दैवज्ञस्य अवधानं भवेत्। अतः चतुर्णां नक्षत्रदर्शकानां दैवज्ञानां चतुर्दिक्षु नियुक्तिः कार्या, येन प्रकृतौ ब्रह्माण्डे च प्रतिक्षणं संभवितानां परिवर्तनानां ज्ञानं भवेत्–

''तानि शुभाऽशुभनिमित्तानि सामान्यानि च जगतः प्रतिपुरुषं पार्थिवे च प्रतिक्षणमनन्यकर्माभियुक्तेन दैवज्ञेन चिन्तयितव्यानि। न चैकाकिना शक्यन्तेऽहर्निशमवधारयितुं निमित्तानि। तस्मात्सुभृतेनैव दैवज्ञेनान्येऽपि

तद्विदश्चत्वारः कर्तव्याः। तत्रैकेनैन्द्री चाग्नेयी च दिगवलोकयितव्या। याम्या नैर्ऋति चान्येनैव वारुणी वायव्या चोत्तरा चेशानी चेति। यस्मादुल्कापातादीनि शीघ्रमपगच्छन्तीति। तस्याश्चाकारवर्णस्नेहप्रमाणादिग्रहार्थोपघातादिभिः फलानि भवन्ति।[22]''

तथा चोक्तम् विवेकविलासे - **स्ववासदेशक्षेमाय निमित्तान्यवलोकयेत्। तस्योत्पातादिकं वीक्ष्य त्यजेत्तं पुनरुध्यमी।।**[23]

एवं प्रकारेण अनेक वर्षाणामन्वेक्षणोपरान्तं ज्योतिषशास्त्रस्य संहिताग्रन्थानां निर्माणमभवत्। तैः दैवज्ञैः रात्रौ अन्तरिक्षे उल्कापातग्रहयुद्धदिग्दाहादि दृष्टम्, दिवाकाले संध्याकाले च वृक्षाणां, जन्तूनां, मेघानां वैचित्र्यं दृष्टम्। एतेषां वैचित्र्यानां फलान्यपि कालान्तरेण दृष्ट्वा तैः संहिताग्रन्थेषु तेषां वर्णनं कृतम्।

यस्मिन् ग्रामे शुभाशुभनिमित्तबोधकः दैवज्ञः न भवति तत्र निवासः न कर्तव्यः। अत एव उक्तम्- **न असांवत्सरिके देशे वस्तव्यं भूतिमिच्छता।**[24] यतो हि दैवज्ञाः भविष्यत्काले संभवितानाम् आपदां समर्थाः आसन्। संहिताग्रन्थेषूक्तं यत् संध्याकाले विविधनिमित्तानि दर्शनीयानि भवन्ति, तेषां सम्यगध्ययनेन शुभाशुभफलानि ज्ञातव्यानि भवन्ति। यथा पशवः, पक्षिणः, वायुः, अर्कचन्द्रमसोः परिवेषाः, परिधिः, प्रतिसूर्यः, भास्करस्योदयेऽस्तमये वा तिर्यक्स्थिता मेघरेखा, इन्द्रधनुः, गन्धर्वनगरम्, सूर्यरश्मयः, रजः, अभ्रवृक्षः, दण्डो रविकिरणजलदमरुतां सङ्घातादयश्च -

मृगशकुनिपवनपरिवेषपरिधिपरिघाभ्रवृक्षसुरचापैः।
गन्धर्वनगररविकरदण्डरजः स्नेहवर्णैश्च।।[25]

विविधाचार्यैः विचित्रघटनानां पृथक् पृथक् संज्ञा विहिता। अद्भुतसागरग्रन्थे बल्लालसेनमहोदयेन विचित्रघटनानाम् '**अद्भुत**' संज्ञा विहिता अस्ति। अभूतपूर्वं यल्लोकस्य पूर्वं भवति पूर्वं च यदन्यथा भवति तदद्भुतम्। तच्च द्विविधम् - निमित्तमनैमित्तं च। केतूदयादिना निमित्तेन यदद्भुतं जायते तन्नैमित्तम्। तच्छुभाशुभसूचकम्। इतरमनैमित्तम्। तच्च द्विविधम् - शुभसूचकमशुभसूचकञ्च। यदशुभसूचकं स उत्पातः। यथोक्तम् -

अभूतपूर्वं यत् पूर्वं यत् पूर्व जायतेऽन्यथा।
तदद्भुमिति प्रोक्तं निमित्तं स्यान्निमित्तजम्।।[26]

मर्त्यवासिनां विनाशकारकानाम्, उद्वेगकारिणाम्, अप्रीतिकारिणाञ्च अद्भुतघटनानाम् उत्पात संज्ञा विहिता। अहितवाचकाः, अनिष्टवाचकाः शब्दाः उत्पातस्य एव पर्यायवाचकाः सन्ति -

प्राग्विनाशाय सम्प्रोक्तो योऽत्रोत्पात इति स्मृतः।
उद्वेगकारि मर्त्यानां यदप्रीतिविवर्धनम्।।
अहितत्वादनिष्टत्वाच्छब्दाः पर्यायवाचकाः।[27]

ज्योतिषशास्त्रस्य संहिताग्रन्थेषु वर्णितमस्ति यत् अस्मिन् जगति यत्किमपि प्रकृत्याः विपरीतं भवति तस्य उत्पात संज्ञा प्राचीनाचार्यैः प्रदत्ता। पराशरमतेन अन्तरिक्षः, आकाशः पृथिवीश्च पञ्चमहाभूतानाम् आश्रयाः भवन्ति। पञ्चमहाभूतानि (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) एव उत्पातानां योनिः (उत्पत्तिस्थानं) भवति-

प्रकृतेर्भूतविकृतप्रादुर्भावांश्चोत्पातमाचक्षते।

तेषां द्यौरन्तरिक्षं भूरेताश्चाश्रयः, पञ्चमहाभूतानि योनिः।[28]

केचन आचार्याः वदन्ति यत् आपदां पूर्वानुमानार्थं देवाः उत्पातान् सृजन्ति –

प्रकृतिविरुद्धमपीदं प्राक्प्रबोधाय देवाः सृजन्ति।[29]

मत्स्यपुराणे निर्दिष्टमस्ति यत् मनुष्याणां पापकर्मवशादेव देवाः रुष्टाः भवन्ति। देवानाम् अप्रसन्नतावशादेव लोके विविधोपद्रवाः भवन्ति–

पुरुषापचारान्नियतमपरज्यन्ति देवताः।

ततोऽपरागाद्देवानामुपसर्गः प्रवर्त्तते।।[30]

गर्गसंहितायां निर्दिष्टमस्ति यत् मनुष्याणाम् अतिलोभवशात्, असत्यकारणात्, नास्तिकतावशात्, अधर्मकर्मवशात्, अविनयात् च उपद्रवाः भवन्ति। मनुष्याणाम् अविनयात् देवगणाः अप्रसन्नाः भवन्ति। ते रुष्टाः देवाः त्रिविधोत्पातान् प्रदर्शयन्ति –

अतिलोभादसत्याद्वा नास्तिक्याद्वाऽप्यधर्मतः।

नरापचारान्नियतमुपसर्गः प्रजायते।।

ततोऽपचारान्नियतमपरज्यन्ति देवताः।

ताः सृजन्त्यद्भुतान् भावान् दिव्यनाभसभूमिजान्।।[31]

वृद्धगर्गस्यापि मतमस्ति यत् अधर्माभिवर्धने सति प्रजानामशुभसंसूचनाय भूमिकम्पमुत्पद्यति–

प्रजा धर्मरता यत्र तत्र कम्पं शुभं वदेत्।

जनानां श्रेयसे नित्यं विसृजन्ति सुरोत्तमाः।।

विपरीतस्थिता यत्र जनास्तत्राशुभं तथा।

विसृजन्ति प्रजानां तु दुःखशोकाभिवृद्धये।।

देवैः निर्मिताः त्रिविधोत्पाताः मनुष्याणां विनाशाय विचरणं कुर्वन्ति। एतेषामुत्पातानां यः शान्तिं करोति, सः कष्टं न अनुभवति। यः नास्तिकताकारणात् मतिभ्रमवशात् श्रद्धापूर्वककर्मणा उपद्रवानां शान्तिं न करोति सः शीघ्रमेव विनाशं प्राप्नोति –

त एव त्रिविधा लोके उत्पाता देवनिर्मिताः।

विचरन्ति विनाशाय रूपैः सम्बोधयन्ति च।।

येषु शान्तिं प्रकुर्वन्ति न ते यान्ति पराभवम्।

ये तु न प्रतिकुर्वन्ति क्रियया श्रद्धयाऽन्विताः।।

नास्तिक्याद्वा विमोहाद्वा विनाशन्त्येव तेऽचिरात्।[33]

महर्षिगर्गेण निर्दिष्टं यत् आपदां सर्वाधिकप्रभावः अष्टजनेषु भवति – 1. नगरे 2. जनपदे 3. कोषागारे 4. वाहने 5. पुरोहिते 6. पुत्रे 7. स्वामिनि 8. भृत्ये च –

पुरे जनपदे कोषे वाहने च पुरोहिते।

पुत्रे स्वामिनि भृत्ये च पच्यते दैवमष्टधा।[34]

एते एव शिवस्य अष्टमूर्तयः (पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-आकाश-सूर्य-चन्द्र-यजमान) सन्ति।

त्रिविधोत्पाताः – प्राचीनाचार्यैः उत्पाताः दिव्यभौमान्तरिक्षरूपेण त्रिधा विभक्ता-

प्रकृतेरन्यथोत्पाताः संक्षेपस्तावदीदृशः।
त्रिविधः स तु विज्ञेयो दिव्यनाभसभूमिजः।।
यः प्रकृतिविपर्यासः प्रायः संक्षेपतः स उत्पातः।[35]

त्रिषु उत्पातेषु भौमिकोत्पाततः आन्तरिक्षोत्पातः बलवत्तरः भवति। तथा च आन्तरिक्षोत्पाततः अपि दिव्योत्पातः गुरुतरः भवति। अर्थात् सर्वेष्वपि उत्पातेषु दिव्योत्पातः अधिकप्रभाववान् भवति। यथोक्तं वटकणिकायाम् -

क्षितिजगगनदिव्यजातो यथोत्तरं गुरुतरो भवति।[36]

केचन उत्पाताः तु साक्षात् आपद्रूपाः भवन्ति केचन उत्पाताश्च आपदां पूर्वसूचकनिमित्तरूपाः भवन्ति।

त्रिषु उत्पातेषु प्रथमः वर्तते – भौमिकोत्पातः। भूमौ यत्किमपि प्रकृत्याः विपरीतं भवति तद्भौमिकोत्पातरूपेण ज्ञायते यथा भूकम्पः, जलप्लावनं, पशुपक्षीणां विचित्रव्यवहारः, शस्यदेवप्रतिमाप्राणिषु च वैकृतं भौमिकोत्पातान्तर्गतं स्वीकृतम्। स्थिरपदार्थानां चलनं भवेत् अथवा चलपदार्थेषु स्थिरताकारणात् भौमिकोत्पाताः भवन्ति। यथोक्तम् -

चरस्थिरभवो भौमो भूकम्पश्चापि भूमिजः।
जलाशयानां वैकृत्यं भौमं तदपि कीर्तितम्।।[37]

संहिताग्रन्थेषु भूकम्पविषये तु विशेषरूपेण वर्णितं यत् अहोरात्रस्य चतुर्षु प्रहरेषु भूकंपे सति वायु अग्नि-इन्द्र-वरुणदेवाः क्रमेण पृथिवीं कम्पयिष्यन्ति तथा च सप्तविंशतिनक्षत्राणामपि एतेषां देवानामाधारण चतुर्षु मण्डलेषु विभाजनं कृतम्। तत्र वर्णितं यत् विभिन्नानां मण्डलानां भूकम्पानाम् आगमनात् पूर्व निमित्तानि दृश्यन्ते तथा ते भूकम्पाः स्वयमपि आपत्स्वरूपाः भविष्ये घटितानां शुभाशुभघटनानां पूर्वानुमानमपि कुर्वन्ति।

उत्पातेषु द्वितीयः भवति – आन्तरीक्षोत्पातः। वायुमण्डलपर्यन्तं वातावरणे यत्किमपि घटितं भवति तस्य आन्तरिक्षोत्पातरूपेण गणना कृता। मुख्यतया एतेषु उत्पातेषु उल्कापातः, दिग्दाहः, परिवेषः, गन्धर्वनगरम्, वृष्टिविकारादिभिरुत्पन्नाः विकारादिविषयाः भवन्ति। यथोक्तम्-

उल्कापातो दिशां दाहः परिवेषस्तथैव च।
गन्धर्वनगरं चैव वृष्टेश्च विकृतिस्तु या।।
एवमादीनि लोकेस्मिन्नान्तरिक्षं विनिर्दिशेत्।[38]

गर्गसंहितायां विविधोत्पातविषये एवं वर्णितम् -

स्वर्भानुकेतुनक्षत्रग्रहतारार्कचन्द्रजम्।
दिवि चोत्पद्यते यच्च तद्दिव्यमिति कीर्त्तितम्।।
वाय्वभ्रसन्ध्यादिग्दाहपरिवेषस्तमांसि च।
खपुरं चेन्द्रचापं च तद्विद्यादन्तरिक्षजम्।।[39]

एतेषु विषयेषु अतिवृष्टिरनावृष्टिस्तु साक्षात् आपद्स्वरूपाः सन्ति परन्तु अन्ये विषयाः भविष्ये आगतानाम् आपदां निमित्तरूपेण कार्याणि कुर्वन्ति, तेषां फलानि च तथैव वर्णितानि सन्ति।

तृतीयमस्ति दिव्योत्पातः। वायुमण्डलादुपरि असीमब्रह्माण्डे यत्किमपि विचित्रं दृश्यते तस्य दिव्योत्पात-संज्ञा ऋषिभिः प्रदत्ता। भौमिकोत्पातेषु ग्रह-नक्षत्र-तारक-उल्का-धूमकेतुरित्यादिभिः संबन्धिताः विषयाः सन्ति–

भूमावुत्पद्यते यच्च स्थावरे चाथ जङ्गमे।
तदैकदेशिकं भौमं भूमिचालाम्बुविक्रिया।[40]

भौमिकोत्पातस्य फलं तु दीर्घकालानन्तरं भवति। आन्तरिक्षोत्पाताः मध्यमकालान्तरेण मध्यमफलदायकाः भवन्ति। दिव्योत्पाताः स्वल्पकालान्तरेण तीव्रफलदायकाः भवन्ति –

भौमं चाल्पफलं ज्ञेयं चिरेण च विपच्यते।
नाभसं मध्यफलदं मध्यकालफलप्रदम्।।
दिव्यं तीव्रफलं ज्ञेयं शीघ्रकारि तथैव च।[41]

संहितायामापदां पूर्वानुमानस्य विधयः –

त्रिविधोत्पातेषु केचन् उत्पातास्तु साक्षात् आपदाम् उत्पादने समर्थाः सन्ति, परन्तु केचन् उत्पातास्तु आपदां पूर्वानुमानस्य निमित्तरूपाः भवन्ति। धूमकेतुग्रहयुद्धग्रहयोगादयस्तु साक्षात्-रूपेण पृथिवीं प्रभावयन्ति परन्तु केचन दिग्दाहः, गन्धर्वनगरं, विचित्रमेघाकृतयः, नक्षत्रतारकाणां विचित्रघटनास्तु भविष्ये संभावितानां आपदां निमित्तरूपाः एव भवन्ति।

आधुनिकवैज्ञानिकाः आपदामागमनान्तरं रक्षणोपायेषु बहूनि शोधकार्याणि कुर्वन्ति तथा च पूर्वानुमानार्थेऽपि तैः विधयः प्रतिपादिताः सन्ति। परन्तु साफलता अधिकं न दृश्यते। समुपलब्धानां प्रकाशितानां संहिताग्रन्थानां मुख्यपुराणानां च अध्ययनोपरान्तम् आपदां पूर्वानुमानस्य अष्टादशविधयः कालान्तरेण शोधकार्यसमये प्राप्ताः। ते च एवं सन्ति –

- ग्रहचारः (Transits of planets)
- ग्रहवर्णः (Colour changing of planets)
- ग्रहयुद्धम् (Planetary wars)
- ग्रहोदयास्तः (Rise set of planets)
- ग्रहणम् (Eclipse)
- प्रतिसूर्यः (Monk suns)
- रोहिणीशकटभेदः (Rohini-Sakata-Bheda)
- उल्कापातः (Rings of meteors)
- सूर्यचन्द्रपरिवेषः (Characteristics of halos)
- दिग्दाहः (Glow at the horizon)
- विद्युत्तरङ्गः (Light)

- मेघाकृतिः (Cloud formation)
- अतिवृष्टिः,अनावृष्टिः,पांशुवृष्टिश्च (Various types of rainfall)
- इद्रायुधम् (Signs of rainbow)
- तामसः कीलकश्च (Role of sunspots)
- चन्द्रशृङ्गम् (horns of moon)
- गन्धर्वनगरम् (Signs of aerial city)
- शाकुनम् (Omens through birds beasts)
- संवत्सरवशात् (Lords of the year)

संदर्भः–

1. ऋग्वेदः 2/12/1
2. संस्कृतवाङ्मये दैव्यापदः तन्निरोधोपायाश्च, पृष्ठ-24
3. प्रकृतेरन्यथोत्पाताः उपोद्घातः ,अद्भुतसागर,
4. अथर्ववेद 10-7,9,19
5. श्रीमद्भगवद्गीता, अध्यायः-11, श्लोक-32
6. दुर्गासप्तशती, अध्याय-12, श्लोक-8
7. R. N. Iyengar Profile of a Natural Disaster in -ncient Sanskrit Literature, Published in Ind. J. of History of Science, 39,1, (2004) pp.11-49. INS-, N.Delhi
8. स्कन्ध12, अध्याय4, श्लोक1-43
9. खण्ड-6, अध्याय3-4
10. अध्याय40-41
11. अध्याय45-46
12. खण्ड 1, अध्याय 224
13. अध्याय 368
14. अध्याय124-125
15. अध्याय 46, श्लोक3-46
16. गरुडपुराणम् 1/324/1-6
17. अष्टाध्यायी 5/1/38
18. अष्टाध्यायी 3/3/108
19. अष्टाध्यायी 5/2/129
20. "Unfortunately, there is still no way to predict when an earthquake will strike- http://en.wikipedia.org/wiki/Earthquake prediction
21. 'Whatever is bom or done at the moment has the qualities of this nature and moment - Dr. C. Jung
22. बृहत्संहिता, सांवत्सरसूत्राध्यायः, श्लोकः-21

23. विवेकविलासः5-श्लोकः ,अष्टमोल्लासः
24. बृहत्संहिता 29 श्लोक, सांवत्सरसूत्राध्यायः
25. बृहत्संहिता, संध्यालक्षणाध्यायः, श्लोक 2
26. अ.सा., उपोद्घातः, पृष्ठ-7
27. अ.सा., उपोद्घातः, बार्हस्पत्यवचनम्, पृष्ठ-8
28. अ.सा., उपोद्घातः, पृष्ठ-9
29. अ.सा., उपोद्घातः, अर्णवाद्भुतवचनम्, पृष्ठ-9
30. अ.सा., उपोद्घातः, मत्स्यपुराणवचनम्, पृष्ठ-9
31. अ.सा., उपोद्घातः, गर्गवचनम्, पृष्ठ-9
32. बृ.सं., भूकम्पलक्षणाध्यायः, वृद्धगर्गवचनम्, श्लोक 2
33. अ.सा., उपोद्घातः, गर्गवचनम्, पृष्ठ-10
34. अ.सा.,उपोद्घातः, गर्गवचनम्, पृष्ठ-15
35. गर्गसंहिताअद्भुतसाग, 32/5-रः, पृ 9-सं.
36. अ.सा., उपोद्घातः, वटकणिकावचनम्, पृष्ठ-9
37. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् 10-श्लोकः, 134-अध्यायः, द्वितीयखण्डे
38. विष्णुधर्मोत्तरपुराणम् 9,8-श्लोकः, 134-अध्यायः, द्वितीयखण्डे
39. अ.सा., उपोद्घातः, गर्गवचनम्, पृष्ठ-10
40. अ.सा., उपोद्घातः, बृहस्पतिवचनम्, पृष्ठ-10
41. अ.सा.,उपोद्घातः, मत्स्यपुराणवचनम्, पृष्ठ-11

कुलपतिः,
उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयः
हरिद्वारम्

शैक्षिक प्रौद्योगिकी की अमूल्य देन – 'आभासीय कक्षा कक्ष'

(Precious Contribution of Educational Technology-Virtual Class Room)

प्रो. सन्तोष मित्तल

आज शैक्षिक प्रौद्योगिकी ने शिक्षण की क्रियाओं का यान्त्रिकीकरण करना प्रारम्भ कर दिया है, जैसे जैसे वैज्ञानिक युग में मशीनों का आविष्कार हुआ, वैसे वैसे उनका प्रयोग शिक्षा के क्षेत्र में भी किया जाने लगा। इनके प्रयोग से एक प्रभावशाली शिक्षक छात्रों के बड़े से बड़े समूह को अपने ज्ञान और कौशल से लाभान्वित करा सकता है। वर्तमान शिक्षा का भविष्य और कल की कक्षा की अनुदेशन व्यवस्था बहुत कुछ सीमा तक 'ई' शिक्षा तथा 'आभासीय कक्षाकक्षों' की अवधारणा और कार्यपद्धति पर ही निर्भर होने जा रही है।

आभासीय विद्यालय, साइबर विद्यालय, आभासीय विश्वविद्यालय, फिलिप्ड कक्षाकक्ष, गूगल कक्षाकक्ष, सम्प्रेषण के आधुनिकतम संसाधनों से सुसज्जित है। इन संसाधनों से कृत्रिम बुद्धि (Artificial Intelligence) मानव की बुद्धि से अधिक तीव्र हो रही है। रेमंड रे कुर्जवील के शब्दों में –'आने वाले समय में हम और ज्यादा कार्यकुशल हो पाएंगे और ये सब कुछ आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस और कम्प्यूटरों से सम्भव होगा। आज मशीनों ने कई प्रकार से श्रेष्ठता हासिल कर ली है। इन मशीनों को मानव दिमाग से जोड़ने पर हमें और अधिक कार्यकुशलता मिल सकेगी।''[1] आर्टिफिशियल इंटेलीजेंस तकनीक ने पहली बार हमारे सौरमण्डल के जैसा नया सौरमण्डल खोजा है। अब अमरीकी अन्तरिक्ष एजेन्सी नासा के केप्लर स्पेस टेलीस्कोप ने गूगल की आर्टिफिशियल इन्टेलीजेन्स तकनीक से केप्लर-90 नामक सौरमण्डल खोज निकाला है। इसमें भी 8 ग्रह हैं। आठवें ग्रह को केप्लर आई का नाम दिया गया है।[2]

आभासीय संस्थाएँ ऐसी हैं जिनमें पुस्तकालय, प्रयोगशाला आदि की व्यवस्थाएँ भी आभासी रूप में की जाती हैं जिनमें इन्टरनेट द्वारा ई मेल, ऑन लाइन चैटिंग, टेली कॉन्फ्रेन्सिंग, वीडियो कॉन्फ्रेंसिंग आदि सूचना तथा सम्प्रेषण तकनीकी की सहायता से अधिगम प्राप्त किया जाता है।

मुर्रे ट्यूरोफ[3] लिखते है कि आभासी कक्षा कक्ष एक ऐसा वेब आधारित माध्यम या शिक्षण अधिगम वातावरण है जो गन्तव्य स्थान पर जाए बिना ही आपको वहाँ चल रही प्रशिक्षण सम्बन्धी गतिविधियों में भागीदारी निभाने में सक्षम बनाता है। आप व्याख्यान सुनते हैं, प्रयोगशाला सम्बन्धी कार्यों में हिस्सा लेते हैं, प्रश्न पूछते हैं तथा ठीक वैसे ही बदले में पृष्ठपोषण प्राप्त करते हैं जैसा कि आप परम्परागत कक्षा कक्ष में बैठकर, अनुदेशन ग्रहण करते हैं। दोनों में केवल भिन्नता यह है

कि यहाँ आप अपनी सुविधानुसार उस जगह पर अपने डेस्कटॉप पर काम करते हैं जहाँ आपको इन्टरनेट तथा फोन कनेक्शन की सुविधाएँ प्राप्त होती है।

आवासीय कक्षा कक्ष की कार्यप्रणाली (Workilng System of Virtual Classroom)–

1.अधिगम प्रक्रिया सुचारू रूप से चले इसके लिये आभासीय कक्षा कक्ष में ऑनलाइन प्रबन्धकीय वातावरण बनाने का प्रयास किया जाता है, इसके लिये संस्था से सम्बन्ध पोर्टल बनाया जाता है जिसमें उससे सम्बन्धित समस्त सूचनाएँ, पाठ्यक्रम आदि डाला जाता है जो वेब आधारित होता है।

2. आभासी कक्षा कक्षों में उपयोग में आने वाली अनुदेशित सामग्री को तैयार करवाकर उसका संग्रह, व्यवस्था एवं प्रबन्धन किया जाता है।

3. छात्र अभिलेख प्रणाली का अनुकरण किया जाता है, इसमें प्रत्येक छात्र का प्रवेश से लेकर, व्यक्तिगत विवरण, शैक्षिक विवरण, मूल्याङ्कन अभिलेख आदि रखा जाता है।

4. डिजिटलाइज्ड पुस्तकालय प्रणाली का अनुसरण कर पत्र पत्रिकाओं एवं पुस्तकों का विवरण ऑनलाइन उपलब्ध होता है। छात्र पुस्तकों को ऑन लाइन अपनी सुविधानुसार पढ़ सकते हैं।

5. आभासीय कक्षा कक्ष विभिन्न प्रकार के पाठ्यक्रमों को तथा औपचारिक कक्षा कक्ष में संचालित होने वाली समस्त गतिविधियों को बहुसंचार माध्यमों द्वारा छात्रों के पास पहुँचाने का प्रयत्न करता है। आभासीय कक्षा कक्ष अपनी स्वयं की प्रणाली भी विकसित कर सकता है जिसके द्वारा छात्रों को प्रयोगात्मक कार्य देने, प्रायोजना कार्य देने, समूह चर्चा करने, अभिप्रेरणा के लिये प्रश्न पूछने, छात्रों को आत्म मूल्यांकन करने का अवसर देने, शिक्षक द्वारा छात्रों का मूल्यांकन करने, छात्रों द्वारा अपनी शंकाओं का समाधान करने हेतु शिक्षक से चर्चा करने जैसी क्रियाएँ सम्मिलित होती है।

6. आभासीय कक्षा कक्ष में विषय विशेषज्ञों, अनुभवी अध्यापकों एवं प्राध्यापकों द्वारा अनुदेशन सामग्री तैयार करवाकर छात्रों तक पहुँचाने का प्रयास किया जाता है। यह सामग्री ऑन लाइन तो उपलब्ध होती ही है साथ ही सी डी रोम अथवा डी वी डी संकलित कर सन्दर्भ-सामग्री पूरक सामग्री के रूप में उपलब्ध करवायी जाती है, जिससे छात्र अपने समय व शक्ति के अनुसार सुविधापूर्वक पढ़ सकें।

आभासीय कक्षाकक्ष की उपयोगिता (Utility of Virtual ClassRoom) -

1. इस व्यवस्था में अनुदेशन तथा अधिगम अनुभव ग्रहण करने की सुविधा 24 घण्टे छात्रों के लिये उपलब्ध होती है।

2. इसमें बहुमाध्यमों के द्वारा शिक्षण अधिगम प्रक्रिया चलती है जो छात्रों के लिये रूचिकर तथा सुग्राह्य होती है।

3. अन्तर्जाल (Internet) स्वयं ज्ञान का खजाना है जिसका उपयोग Virtual Class Room में अत्यधिक होता है।

4. पृष्ठपोषण (Feed Back) हेतु अधिक उपकरणों की उपलब्धता रहती है। इससे छात्र अधिक प्रेरित होते हैं।

5. इसमें दूरस्थ सम्मेलन (Tele Conferencing) के उपकरणों द्वारा छात्र अपने सहपाठियों एवं संस्था के अन्य छात्रों के साथ चर्चा कर सकते हैं।

6. इसमें छात्र व्यक्तिगत गृहपृष्ठ (Home Page) के माध्यम से अपने कार्यों को ऑनलाइन जमा करवा सकते हैं।

7. यह अनुदेशित सामग्री में तीव्र गति से परिवर्तन करने में सहायक है।

8. इस व्यवस्था मे अनुशासनहीनता जैसी समस्या नहीं होती।

9. छात्र के समय, शक्ति तथा धन की बचत होती है।

10.असफल छात्र अथवा मन्द अधिगम कर्त्ताओं को अपने शिक्षकों एवं सहपाठियों से किसी भी प्रकार की आलोचना का भय नहीं होता। वे अपनी सीखने की गति से सफलता प्राप्त करने के लिये तत्पर रहते हैं।

आभासीय कक्षा–कक्ष की सीमाएँ (Limitations of Virtual Class Rooms) -

1. आभासीय कक्षा कक्ष में पढ़ाई जाने योग्य स्वानुदेशित सामग्री का निर्माण करना एक चुनौती है।

2. शिक्षक तथा छात्र दोनों के लिये सूचना सम्प्रेषण तकनीकी का ज्ञान होना आवश्यक है।

3. तकनीकी उपकरणों के प्रयोग के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है जिसका प्रायः शिक्षक तथा छात्रों दोनों में ही अभाव पाया जाता है।

4. इस व्यवस्था में अध्ययन–अध्यापन कार्य होने पर छात्रों का भावात्मक एवं सामाजिक विकास अवरूद्ध हो जाता है।

5. प्रायः छात्रों में प्रतिस्पर्धा की भावना व्याप्त हो जाती है।

6. भारतीय परिस्थितियों में यह सबके लिये सुलभ नहीं है।

निष्कर्षतः आभासीय शिक्षा के सम्प्रत्यय ने शिक्षा के क्षेत्र को बदल कर रख दिया है। आज छात्र विद्यालय, महाविद्यालय और कोचिंग सेन्टर पर गये बिना अपने लैपटॉप, मोबाइल आदि में वीड़ियोज देखकर पढ़ाई कर रहे हैं। विद्यालय स्तर से लेकर उच्च स्तर तक का पाठ्यक्रम ऑनलाइन उपलब्ध है। केन्द्रीय माध्यमिक शिक्षा बोर्ड ने छात्रों और शिक्षकों के लिये 'ई' अधिगम सामग्री उपलब्ध करवाने के लिये अपना नया मोबाइल एप ई–सीबीएसई प्रारम्भ किया है। ई–सीबीएसई ऑल इण्डिया कैंपेन का ही हिस्सा है।[4]

आई आई टी कानपुर के निदेशक प्रो. मणीन्द्र अग्रवाल कहते है।–''आने वाला समय ई–लर्निंग का ही होगा। आज छात्र पुस्तकों की अपेक्षा मोबाइल एप और इण्टरनेट की सहायता से पढ़ना पसन्द कर रहे हैं। शिक्षक भी छात्रों को नोट्स के अतिरिक्त ई–लर्निंग मेटीरियल उपलब्ध करवा रहे

हैं। इससे निजी कोचिंग सेन्टर चलाने वालों पर भी नियन्त्रण लगेगा। सरकार भी इन कोचिंग सेन्टर पर नियन्त्रण करना चाहती है।

अब मोबाइल और इण्टरनेट की चमक ग्रामीण अञ्चल तक भी पहुँच रही है। ये केवल वार्तालाप करने तथा संदेशों के आदान-प्रदान तक ही सीमित न रहकर अब शिक्षा जगत का अवश्य ही एक अभिन्न अंग बनेगी और जल्दी ही गाँव-गाँव तक 'आभासीय कक्षा कक्ष' अवश्य पहुँचेंगें।

सन्दर्भः

1. रेमण्ड रे कुर्जवील 'डायरेक्टर ऑफ इन्जीनियरिंग, गूगल rajasthan Patrika.com dt. 12.1.18
2. ट्यूरोफ, मुर्रे, 'तकनीकी संस्थान, न्यूजर्सी अमेरिका 2007
3. राजस्थान पत्रिका दिनाङ्क 24.12.17
4. राजस्थान पत्रिका दिनाङ्क 24.12.17

सन्दर्भ ग्रन्थः

1. ब्रुकफील्ड, एस.डी. – 'द स्कीलफुल टीचर' जॉसी-बॉस, सेन फ्रांसिस्को 1990
2. कुलश्रेष्ठ, एस.पी, – 'शैक्षिक तकनीकी के मूल आधार- विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा 2014
3. मंगल एस. के., मंगल उमा – 'शिक्षा तकनीकी' पी.एच.आई. लर्निंग प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली 2012
4. मित्तल सन्तोष– 'शैक्षिक तकनीकी एवं कक्षा-कक्ष प्रबन्ध' राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर नवाँ संस्करण 2016

आचार्य,

शिक्षाशास्त्र विभाग,

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,

जयपुर परिसर, जयपुर

बहूवीभिः

प्रो. शिवकान्तझा

मातृकाशब्दस्य व्युत्पत्तिः अर्थश्च–

मातृकाप्रस्तुतिः– संस्कृतभाषायां मातृका पाण्डुलिपिः वा अप्रकाशितहस्तलिखितस्य लेखस्य कृते प्रयुज्यते। साम्प्रतम् विज्ञानस्य प्रगत्या टङ्कणयन्त्रद्वारा अथवा सङ्गणकयन्त्रद्वारा अपि मातृका प्रस्तूयते। प्रथमं तावत् मातृका शब्दस्य विषये किञ्चित् प्रतिपादयामि – मातृका मात्रा+ टक्+टाप् मात्रा अथवा छन्दःशास्त्रस्य ह्रस्वस्वरस्योच्चारणकालः। मातृका शब्दः भवति। कोषे – मात्रिका स्त्री मातेव कायति।[1] उपमातरि[2] ब्रह्मण्यादिषु चण्डीप्रसिद्धदेवीमूर्तिषु[3] सर्वशब्दोतृपादकेषु आकारादिकोनपञ्चाशद्वर्णेषु, मातरि च इति मेदिनी। मातृ+स्वार्थे 'क' मातृशब्दार्थे। इति वाचस्पत्यम्।

मातृका स्त्री मातेव मातृ+''इवे प्रतिष्ठातौ'' इति सूत्रेण कन् टाप् मातृका। यथा बृहत्संहितायाम् (43/66 **रज्जूत्सङ्गच्छ्रेदन वालपीडा– राज्ञामातुः पीडनं मातृकायाः।।** मातैव। **मातृस्वार्थे कन्**) **माता देवी भेदः वर्णमाला इति मेदिनी/करणम्–स्वरः उपमाता इति हेमचन्द्रः**। पुराणेऽपि मातृका शब्दस्य प्रयोगः मूलाक्षररूपे दृश्यते। यथा –

मन्त्राणां मातृका देवी शब्दानां ज्ञानरूपिणी
ज्ञानानां चिन्मयातीता शून्यानां शून्यसाक्षिणी।। अर्थात्

मन्त्रेषु मातृका मूलाक्षररूपे विराजमाना दृश्यते। व्याकरणे– हस्वदीर्घप्लुतादिस्वरस्य किं वा मात्रा कृतेऽपि मातृका शब्दस्य प्रयोगः दृश्यते। यथा –

एक मात्रा भवेद्ध्रस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।
त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्धमात्रिकम्।।

''**अर्द्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मन्यन्ते वैयाकरणाः।**'' इत्यादि प्रमाणेन प्रतीयते यत् मातृका शब्दस्य प्रयोगः पाण्डुलिपिः (हस्तलिखित) स्वरादिवर्णमालायाः कृते भवति।

पाण्डुलिपेः अर्थः विकासक्रमश्च –

प्रथमं तावत् पाण्डुलिपिशब्दस्य व्युत्पत्तिदृष्ट्या अर्थः प्रतिपाद्यते – पाण्डुः शब्दः पुंलिङ्गः पण्डते–गच्छति, पण्ड्यते ज्ञायते वा यः स पाण्डुः। **'हरितः पाण्डुरः पाण्डुः' इत्यमरः। पाण्डुस्तु पीतभागार्धः केतकी धूलिसन्निभः' इति शब्दार्णवः। पाण्डुः कुन्तीपतौ इति हैमः।**

लिपिः – लिप् धातोः (इ) प्रत्ययेन लिपिः इति सिद्ध्यति। **लिपिः (लिप+क्तिन्) लेपः, लिप्+घञ्) लेपनम्, (लिप्+ ल्युट) लेपकः, (लिप्+ण्वुल्)** लेप्ता अथवा लेपयिता पाणिना स्व अष्टाध्यायां 'लिपि' एवञ्च लिबिशब्दस्य प्रयोगः लेखनार्थे तथा च 'लिपिकरः' इत्यस्यार्थः लेखकस्य च कृते कृतः। यथा–

''दिवाविभानिशाप्रभाभास्करान्तानन्तादिबहुनान्दीकिंलिपिलिविवलिभक्तिकर्तृचित्रक्षेत्रसंख्या

जङ्गाबाह्वहर्यन्तद्धनुरुष्षु इति सूत्रे। एवमेव (यवनानी) शब्दस्य पतञ्जलिना यवनानां लिपि इति अर्थे प्रयोगः कृतः - यथा - इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययव**यवन** मातुलाचार्याणामानुक्'' 4/1/49) 'यवनालिप्याम्' यवनानां लिपिर्यवनानी'' यवनालिप्यामिति वक्तव्यम् यवनानीलिपिः तत्रस्थसूत्रस्य भाष्ये।

पाणिना हस्तलिखितपुस्तकस्य कृते ग्रन्थशब्दस्य प्रयोगः कृतः यथा - समुदाङ्भ्यो यमोऽग्रन्थे''- तदधिकृत्य कृते ग्रन्थे) 'कृते ग्रन्थे' अमरसिंहेनापि अमरकोषे - **'लिपिकरोऽक्षरचणोऽक्षरचुञ्चश्च लेखके'** लीति।। लिपिं करोति। दिवाविभा ..... इत्यादि सूत्रेव टः। एवं लिबिकरः अपि। अक्षरैर्वित्तः तेन वित्तश्युञ्चुप्चणपौ .... इति चणप्। एवम् अक्षरचुञ्चः अपि।। लिखति 'लिख अक्षरविन्यासे' 'शिल्पिन् ष्वुन्' ण्वुल् चत्वारि लेखकस्य इत्यादि प्रतिपादितम्।

साम्प्रतं भारतवर्षे मातृका पाण्डुलिपिः वा हस्तलेखस्यार्थे प्रयुञ्जते। लेटिनभाषायां मातृकाशब्दः मैन्यूस्क्रिप्टशब्देन ज्ञायते। शब्दोऽयं मैन्यू तथा च स्क्रिप्ट इति द्वयोः शब्दयोः योगेन निष्पद्यते। यस्यार्थः भवति हस्तलेखः। अर्थात् कस्यापि अप्रकाशितः लेखः पाण्डुलिपिः वा मैन्यूस्क्रिप्ट इति कथ्यते। अयमेव हस्तलेखः - मातृका वा कालान्तरे–

शिलालेखः, स्तम्भलेखः, ताम्रलेखः, मूर्तिलेखः, भित्तिलेखः अथवा **गुहालेखादिरूपे प्रतिष्ठिता जाता। सामान्यतया मातृका शब्दः अभिलेखार्थे एव प्रयुज्यते।**

इदानीं भारतवर्षे मातृकाः हस्तलेखाः वा ताडपत्रग्रन्थेषु, भूर्जपत्रेषु, कर्पासपट्टिकासु, काष्ठफलकेषु, ताम्रफलकेषु, कर्गजपत्रेषु वा नानासंग्रहालयेषु सुरक्षिताः सन्ति। अस्माकं भारतीयसंस्कृतेः ऐतिह्यस्य ज्ञानस्य च मूलस्रोतस्तत्रैव विद्यते। ताडपत्रपाण्डुलिपीनां संरक्षणाय अपि **नेशनल मिशन फॉर मैनस्क्रिप्ट इति** संस्था राष्ट्रस्तरे कार्यं करोति।

मातृका अथवा पाण्डुलिपिः इति शब्दः आङ्ग्लभाषायां मैन्युस्क्रिप्टशब्देन ज्ञायते।

भारते मुख्यतः **भुर्जपत्रमातृका, ताडपत्रमातृका, कर्गजमातृका** च दीर्घलेखलेखनाय उपयुक्ता इति प्रथमं विचारयामः। मातृकासंपादने स्थानानुसारम् अपेक्षितवस्तूनां संग्रहणं करणीयम्। भारते भूर्जपत्राणि, ताडपत्राणि, कर्गजपत्राणि वा लेखनोपकरणत्वेन स्वीकृतानि, इदानीमपि स्वीकर्तुं शक्यन्ते।

1. **भुर्जपत्रमातृकाप्रस्तुतीकरणविधिः–** भुर्जपत्रेष्वपि मातृकासंपादनस्य विधिः दृश्यते। चिरकालादेव तन्त्रमन्त्रयोः अथवा जन्मलग्नादेः लेखनं भोजपत्रे एव भवति स्म। भोजपत्रोपरि पत्रलेखनस्य प्राचीनतमं प्रमाणं महाकविकालिदासस्य (ई.पू. द्वितीय शती) विक्रमोर्वशीयनाटके दृश्यते। हिमालयक्षेत्रे प्रचुरतया भुर्जपत्राणि प्राप्यन्ते। भुर्जः इति वृक्षस्य बल्कलमेव लेखनोपयोगि सम्पाद्यते। एतदर्थं समुपयुक्तमापनेन खण्डशः भुर्जवृक्षं कर्त्तयित्वा ततः बल्कलं निःसार्यते। ततस्तत्र तैलादिसंयोजनेन तदुपरि कोमलतां सम्पाद्य लेखनयोग्यता विधीयते। **उत्तरभारते कश्मीरादिषु भुर्जपत्रमातृकाः बहुलतया प्रस्तूयन्ते।** भुर्जपत्रेषु मसीयुक्तलेखन्या लेखितुं शक्यते। **अमरकोषे भुर्जपत्रस्य उल्लेखः वनौषधिवर्गे जातः। कालिदासस्य कुमारसम्भवे लेखनस्य उपकरणरूपे कृतः।**

2. **ताडपत्रमातृकाप्रस्तुतीकरणविधिः–** प्राचीनकाले भारतवर्षे मातृकासंपादनाय ताडपत्रं लेखनोपकरणत्वेन स्वीकृतमासीत्। इदानीं तु मठमन्दिरादिषु पूजाकर्मणि वा विशेषसन्दर्भे ताडपत्रेषु मातृकालेखनं

भवति। ओडिशाराज्ये नवजातशिशूनां जन्मपत्रनिर्माणे ताडपत्रेषु लेखविधिः दृश्यते। पुरीसमीपवर्त्तिनि रघुराजपुरमिति सुप्रसिद्धशिल्पग्रामे ताडपत्रेषु लेखनविधेः विविधसांस्कृतिकसन्दर्भाणां चित्ररूपेण वर्णनात्मककौशलस्य च शिक्षणमपि प्रचलति। भारतस्य विभिन्नप्रदेशेषु ताडपत्रोपरि लिखितं साहित्यं प्राप्नोति। विश्वप्रसिद्धसम्पूर्णानन्द संस्कृतविश्वविद्यालयस्य सरस्वतीभवने अद्यापि चतुर्दशसहस्रोत्तरैकलक्षताडपत्राङ्कितयः पाण्डुलिपयः सुरक्षिताः सन्ति। अतः ताडपत्राणामुपयोगेन यदा मातृकासंपादनं करणीयम्, तदा तालवृक्षस्य श्रीतालस्य वा पत्राणि संग्रहणीयानि । एतदर्थं काचित् स्वतन्त्रा प्रक्रिया अनुसृता भवति । तथाहि–

(क) ताडवृक्षाणां कोमलानि हरित्पत्राणि कर्त्तयित्वा विधिपूर्वकं सूर्यातपेषु शुष्कीक्रियन्ते।

(ख) धूमीकरणविधिना मृत्पात्रेषु चूल्ल्यां स्थापयित्वा सिद्धीक्रियन्ते।

(ग) जलाशयेषु कर्दमाक्तस्य जलस्याधः 10/15 दिनानि वा स्थाप्यन्ते।

(घ) काष्ठखण्डस्योपरि घर्षणेन पत्राणि सरलीक्रियन्ते।

(ङ) समुपयुक्तैः आकारैः ताडपत्राणि कर्त्त्यन्ते।

(च) ततः प्रति पत्रं मध्यभागे छिद्रं क्रियते, येन मातृकायाः बन्धनाय सूत्रं संयोजयितुं शक्यते।

(छ) तीक्ष्णलौहकण्टकाकारणे लेखनीविशेषेण तदुपरि लेखनं विधीयते।

(ज) तत्र खोदितानि अक्षराणि स्पष्टं द्रष्टुं कज्ज्वलं मसी वा तदुपरि लिप्यते। ओडिशाप्रान्ते कोमलानां शिम्बपत्रादिरसानां लाक्षारसानां वा उपयोगः क्रियते।

(झ) बृहत्क्षेत्रफलाकारं लेखं लेखितुं चित्रं वा चित्रयितुं बहूनां ताडपत्राणां परस्परं सीवनेन संयोजनमपि विधीयते।

(ञ) लिखितानां ताडपत्राणां गुच्छमुभयतः समानाकारकाष्ठपट्टिकाद्वयेन संयोज्य सूत्रेण दृढबन्धनं विधीयते।

(3) कर्गजमातृकाप्रस्तुतिकरणविधिः– वस्तुतः इदानीं भारते कर्गजपत्रेष्वेव मातृकाः प्रस्तूयन्ते। अतः संस्कृतभाषासाहित्यस्य मातृकापाठप्रस्तुतिकरणे समान्येन केचनोपायाः अवलम्बनीयाः भवन्ति । तथा हि–

(क) विषयनिर्वाचनम्।

(ख) शीर्षकप्रदानम्।

(ग) गृहीतविषयकं प्राचीनेषु भुर्जपत्रेषु ताडपग्रन्थेषु लिखितं चेत् स्पष्टाक्षरैः देवनागरीलिप्या लिप्यन्तरीकरणम्।

(घ) संगृहीततथ्यानामध्यायानुसारं सज्जीकरणम्।

(ङ) वैज्ञानिकप्रणाल्या प्रस्तुतस्य सन्दर्भस्य कृते मातृकानिर्माणाय स्वतन्त्रं रैखिकं पत्रं, रैखिकपत्रैः परिसंख्यानात्मकविवरणं उल्लिखितुं शक्यते।

(च) लिपिकारस्य अक्षराणि स्पष्टानि सुवाच्यानि च भवेयुः।

(छ) शीर्षकं बृहदाक्षरैः पत्रस्योपरिभागे लेखनीयम्। उपशीर्षकं तु पत्रस्य वामतः लेख्यम्।

(ज) शीर्षकम्, उपशीर्षकं, ग्रन्थकर्तुः नाम, प्रधानां काञ्चित् पंक्ति वा स्पष्टीकर्तुं वर्णलेखन्याः उपयोगः कर्तुं शक्यते।

(झ) आवश्यकस्थले मातृका द्वारा संगणकयन्त्र द्वारा वा उट्टङ्किताः भवेयुः। टङ्कणमपि स्वच्छं स्यात्। कर्गजपत्रस्य एकस्मिन् पार्श्वे टङ्कणं सुन्दरतामावहति। पत्रस्य पार्श्वभागाः वामतः 1-5 दक्षिणतः, उपरि अधः च त्यक्तव्याः।

(ञ) पत्रस्य वामतः पार्श्वभागः बन्धनार्थम् अधिकं त्यज्यते इति ज्ञातव्यम्।

(ट) प्रति पृष्ठं पृष्ठसंख्या स्पष्टमुल्लेखनीया।

(ठ) भूमिकाभागः 'क' 'ख' 'ग' इत्यादिक्रमेण रोमीयलिपिभिः वा उल्लेखनीयः।

(ड) ग्रन्थस्य मूलभागः उपसंहारं यावत् क्रमानुसारं संख्याभिः सूचनीयम्।

(ढ) मातृकायां विविधभाषाविभागः अस्ति चेत् स्वतन्त्रपत्रेषु सूचनीयः। यथा संस्कृतविभागः, हिन्दीभाषाविभागः, चेति। स्वच्छतया पृष्ठसंपादने मुद्रणाय सौकर्यं भवति। तत्रापि पृष्ठसंख्या सर्वजनबोधाय आङ्ग्लभाषया भवेत्। अनेन कदाचित् संस्कृतभाषाऽनभिज्ञः मुद्रणकार्यकर्ता संस्कृतभाषयालिखितानां पृष्ठानां सज्जीकरणे कष्टं नानुभवेत्।

(ण) मातृकालेखनसमये संदिग्धस्थले प्रथमम् अङ्कन्या लेखनीयम्, ततः मुद्रणालयं प्रति प्रदानात्पूर्वं समयक् विचार्य संशोधनं विधाय च शुद्धरूपेण लेखन्या लेखनीयम्।

(त) कदाचित् अपेक्षितोऽपि अंशः मातृकायां योजनीयश्चेत् तारकादिभिः चिरैः यथास्थानं सूचनीयम्।

(थ) मातृकां संपाद्य सम्पादकः लेखस्याधः हस्ताक्षरं कुर्यात्। तत्र रचनाकालोऽपि सूचनीयः। तेन मातृकायाः ऐतिहासिकं मूल्यं वर्द्धते मातृकाकर्तुः स्वाक्षरेण मातृकायाः प्रामाणिकताऽपि स्वीक्रियते।

(द) देवनागरीलिप्या हस्तलिखितमातृकायाः कृते रेखाङ्कितपत्राणि उपयुक्तानि भवन्ति।

ताडपत्रमातृकासम्पादने शोधकर्तुः कर्त्तव्यम्-

भारतवर्षे ताडपत्रमातृकाणां वैविध्यं दृश्यते। तत्र काव्यानि, आयुर्वेदः, इतिहासपुराणादीनि, धार्मिकविषयाः, तन्त्रशास्त्रं, ज्यौतिषं, शिल्पशास्त्रं गणितं, विविधाः कलाः, अनेकशास्त्रसम्बन्धाश्च ताडपत्रमातृकाः समुपलभ्यन्ते। 1988-90 ईशवीयकालावधौ इण्टेक संस्थायाः पक्षतः ताडपत्रमातृकाणां सर्वेक्षणं कृतमासीत्। तदनुसारं भारतवर्षे पञ्चाशतलक्ष्यपरिमिताः ताडपत्रमातृकाः भवन्ति। एतेषु संस्कृतसंबद्धाः 67 प्रतिशत सन्ति।[4] अन्यभारतीयभाषासम्बद्धाः 25 प्रतिशतम् अरेविक् पर्शियन-तिबेटनादिसम्बद्धाः 8 प्रतिशत च सन्ति। एतेषां ताडग्रन्थानां संग्रहणं संरक्षणं च सम्यक् भवेत्। तत्र ताडपत्रमातृकाणां सम्पादने शोधकर्तुः कर्त्तव्यं निम्नलिखितरूपेण विचारयितुं शक्यते। तथा हि -

(क) शोधविषयसम्बद्धितानां ताडपत्रमातृकाणां संग्रहणम्।

(ख) तासाम् आवृत्तमुद्रणं अथवा सूक्ष्मचित्रं चित्रप्रतयः वा विधातव्यानि।

(ग) ताडपत्रमातृकासु ब्राह्मी, खरोष्ठी, ग्रन्थलिपिः, नन्दिनागरी, मोडी, शारदा, तिगलारी- इत्यादयः लिपयः उपयुक्ताः दृश्यन्ते। अतः तासां लिपीनां ज्ञानं सम्पादनीयम्।

(घ) एतासु लिपिषु प्रान्तीयभाषासु वा लिखितानां ताडपत्रमातृकाणां देवनागरीलिप्या लिप्यन्तरीकरणमावश्यकम्।

(ङ) समुपलब्धताडपत्रमातृकाणां 'क', 'ख', 'ग', इत्यादिभिः नामकरणेन तुलनात्मकपाठसमीक्षायां सौकर्यं भवेत्।

(च) शोधकर्ता ताडपत्रमातृकाणां विवरणप्रदानेन सङ्कलितहस्तप्रतीनां वा चयनेन कारणानि प्रदर्श्य भूमिकाभागं लिखेत्।

(छ) पाठभेदप्रदर्शनपुरःसरं मूलग्रन्थसम्पादनात्मको भागः लेखनीयः।

(ज) परिष्कृतपाठानां प्रकाशनावसरे निर्दिष्टचिह्नानि व्यवहर्त्तव्यानि। यथा– कल्पितपाठान् इति सङ्केतेन, बुद्धिपूर्वकं परित्यक्तपाठान् इति चिह्नन्, यान्त्रिकदोषाणां च पूरणं इति चिहनेन सूचयेत्।

(झ) मातृकायाः वैशिष्ट्यं परिशील्य उपसंहारभागे लेखनीयम्।

(ञ) ग्रन्थसंपादनविधयः अनुसरणीयाः।

(ट) विविधकोशग्रन्थानां विदुषां च सहायता स्वीकरणीया।

मूलपाठनिर्णयस्य उत्साः–

शुद्धपाठनिर्णय एव मातृकासम्पादनस्य प्रमुख लक्ष्यं भवति। अतः शोधकर्ता मूलग्रन्थस्य एकाधिकान प्रतिलिपिविशेषान् संगृह्णाति। मातृका द्विविधो भवति।

1. ग्रन्थकर्तुस्वहस्तलिखिताः 2. लिपिकारस्य प्रतिलिपि कृताश्च।

स्वहस्तलिखिता मातृका यदि लभ्यते, तदा सम्पादनस्य तथा क्लेशः नानुभूयते। तदुपरि विचारविश्लेषणमात्रमपेक्षते। अतः पाण्डुलिपिसंग्रहणस्योत्साः वर्णनीयाः । कदाचित् मूललेखकस्य उत्तराधिकारिणां सकाशात् पुस्तकालयतः, संग्रहालयतः, व्यक्तिविशेषतो वा पाण्डुलिपयः प्राप्यन्ते।

विशेषशतः संस्कृतपाण्डुलिपयः मठमन्दिरेषु प्राचीनग्रन्थालयेषु, प्राचीनपण्डितानां गृहेषु राजगृहेषु, संग्रहालयेषु च समुपलभ्यन्ते। शोधकर्ता पाण्डुलिपीनां पुष्पिकां अवलम्ब्य ग्रन्थकारस्य परिचयं रचनाकालादिकं च ज्ञात्वा अन्यतथ्यसंग्रहणाय अपि उत्सं प्राप्नोति।

एकामेव पाण्डुलिपिं प्राप्य मातृकासम्पादने काठिन्यं भवति। यतो हि एकलपाठनिर्धारणे तुलनात्मकपाठनिर्धारणे च पाठालोचकस्य आत्मक्षायाः अवसरः शिष्यते। एषु पाठनिर्धारणेषु स्वतः प्रामाण्यमेव बलवत्तरं भवति। एष्वपि यदि पाठान्तरकारः एकाकी न भूत्वा विद्वद्मण्डानां एकः दलः भवेत् तदा निश्चप्रचतया पाठान्तरः निर्विवादरूपेण सर्वोत्तमः मन्यते। भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीटयूट पूना द्वारा निर्मित महाभारतस्य संस्करणम् एवञ्च बडौदा विश्वविद्यालय द्वारा रामायणस्यापि सर्वसम्मतसंस्करणं प्रमाणं वर्तते। एकलमातृका पाठालोचनस्य क्षेत्रे विद्वन्मूर्धन्य म.म.उ. प्रो. रेवाप्रसादद्विवेदी महोदयस्य योगदानः अविस्मरणीयः विद्यते। द्विवेदी महोदयेन एकाकी एव ''कालिदासग्रन्थावली'' ग्रन्थस्य सम्पादनं कृतम्। सः ग्रन्थः काशीहिन्दुविश्वविद्यालयतः प्रकाशितः। यदि पाण्डुलिपिः लिपिकारेण प्रतिलिपिकृता, तर्हि मूलपाठनिर्णयार्थमवश्यमेव अन्येषामधिकाधिकानां पाण्डुलिपीनामन्वेषणं करणीयम्। मूलग्रन्थस्य नानाव्याख्यानानि

समुपलभ्यन्ते चेत् तुलनां विधायं पाठ-समीक्षा कर्तव्या। मूलग्रन्थप्रणेतुः देशकालादिविचारः मातृका सम्पादने अवश्यं स्यात्। **सामग्रीसंकलनम् –** शुद्धपाठनिर्णयविधौ गवेशकः प्रथमं सामग्रीसंकलनं कुर्यात् । यदि मातृकायाः क्वचित् मुद्रितपुस्तिकाकारेणोपलब्धिः सम्भवति तदा तस्य प्रकाशनकालादिसूचना भवेत्।

अतः मुद्रितपुस्तकेन सह अप्रकाशितप्राचीनपाण्डुलिपीनां तुलनात्मकम् अध्ययनं कर्तुं शक्यते। आदौ मातृकाः संकलय्य तासां सङ्केतात्मकं नामकरणं करणीयम् । तत्र क–10, ख–12, ग–16, घ–18 इत्यादिभिः सूचनया स्पष्टं ज्ञायते यत् (क) मातृका दशमशताब्द्यां (ख) मातृका द्वादश शताब्द्यां ..... विरचिताः सन्ति।

शोधकर्ता प्रथमं मातृकाः पठित्वा स्वसूक्ष्मबुद्ध्या यस्या रचनायाः विश्वसनीयतामनुभवति, तामेव प्रमुखमातृकारूपेण अङ्गीकरोति। प्रमुखमातृकायाः अवलम्बनेन अन्यासां पाठानुसंधानं सहजं भवति।

पाठचयनम् – यदा बहुविधाः मातृकाः समुपलभ्यन्ते, तदा समुपयुक्तस्य पाठस्य चयनं मातृकासम्पादकस्य गुरुत्वपूर्णदायित्वं भवति। अतः मातृका सम्पादकः, गवेषकः, मातृकाः सम्यक् पठित्वा तत्र समुपलब्धस्य तथ्यस्य परीक्षणेन अत्यन्तं विश्वसनीयं पाठं स्वीकर्तुं शक्नोति।

पाठसंशोधनम्– मातृकासु अविश्वसनीयस्य पाठांशस्य बहिष्करणेन समुचितपाठस्य संयोजनेन च पाठसंशोधनं भवति। मातृकापाठे सम्पादने 1. पाठभ्रान्तयः 2. लोपाः 3. प्रक्षेपाः इति त्रिविधः भ्रमाः भवन्ति।

सामान्यतः संस्कृतमातृका संपादनसमये देवनागरीलिपिषु नदीस्थाने दीन जलस्थाने काल 'स' स्थाने 'म' म स्थाने स, इत्यादयः वर्णव्यतिक्रमाः भवितुमर्हन्ति। तत्र सन्नद्धीभूय गवेषकः शुद्धपाठं निरूपयेत्।

मुद्रणसंशोधनविधिः– मातृकाणां पुस्तकाकारेण प्रकाशनावसरे मुद्रणसंशोधनप्रविधे ज्ञानं नितरामवश्यकम्।

मातृकाशोधप्रबन्धस्य निर्माणविधिः अद्यावधि भाषासाहित्यगवेषणाक्षेत्रे शोधप्रबन्धनिर्माणस्य काश्चन प्रविधयः प्रचलन्ति। तदनुसारं शोधकार्यस्य विवरणात्मकः परिणामः मुख्यतः भागत्रयेण समुपस्थाप्यते तथाहि–

1. प्रारम्भिकभागः पूर्वभागः वा
2. मुख्यप्रतिपाद्यविषयभागः

विभागाध्यक्षः व्याकरणविभागः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

व्याडीयं चरितम्

मङ्गलाचरणम् (Benediction)

प्रो. योगी कमलःचन्द्रः 'नाथः'

मङ्गलाचरणम् (Benediction)

प्रणम्य भारती देवी, मुनीश्च गणनायकम्।
यथा साम्बं शिवं ध्यात्वा, विष्णुं श्रीसहितं तथा।1.।
गायत्रीं ब्रह्म नत्वा च,शारदां स्वेष्ट-मातरम्।
श्री-विद्योपासकं व्याडिं, बहुशास्त्र-विशारदम्।2.1

प्रस्तुतीकरणम् (Presentation)

दाक्ष्या हि पाणिनेर्मातुः, कुलस्य भूषणं शुभम्।
मनोबुध्यात्मयोगेन, भक्त्या च नौमि सादरम्।
क्काहं मन्दमतिर्बालः, क्क च व्याडेर्महद्यशः।
व्याडेर्व्यक्तित्त्वज्ञानाय, कृतीनां ज्ञानलब्धये।3.।
अधीत्य पूर्वसूरीणां, विविधाः हि परम्पराः।
शब्दशासन-सेवायां, ज्ञानं लब्धं यथा तथा।4.।
व्याड्यात्मसिद्धभावेन, साक्षात्कारं विधाय च।
यथोक्तं व्याडिना शास्त्रं, यथा वार्ता श्रुता तथा।5.।
यद्दुस्तरं दुरापञ्च, सम्प्राप्यं तपसा च तत्।
गुरुभ्यश्चागमं ज्ञात्वा, कमलचन्द्रयोगिना।6.।
देश-विदेशतो लब्ध्वा, ग्रन्थाधारं यथाविधि।
अनुगम्य यथाशास्त्रं, व्याडीयं चरितं शुभम्।7.1
व्याडीयं चरितं यथा शास्त्रविधिः तथा कृतः।

व्याडिपरिचयः (Introduction of Vyadi)

मातुर्नाम व्यडा व्याडेः, पितुर्नाम व्यडः श्रुतः।8.
व्याड्या नाम भगिन्या च, दाक्षी दाक्ष्य-गुणाच्च सा।
पाणिनेर्दाक्षी-पुत्रस्य, महती सूक्ष्मेक्षिका।9.
अष्टाध्यायी कृतिर्यस्य, श्रेष्ठ-व्याकरणात्मिका।
इत्थं व्याडिरसौ जातः, पाणिनेर्मातुलः स्वयम्।10
उपवर्षो गुरुर्जातः पाटली-पुत्रके स्थले।
एकदैव श्रुतं ग्राही, कात्यायनो हि सम्मतः।11.

द्विवारं हि श्रुतं ग्राही, व्याडिरसौ कुशाग्रधीः।
त्रिवारं हि श्रुतं ग्राही, इन्द्रदत्तःसतीर्थकः।12
पाणिनिर्बाल्यकाले तु, जडबुद्धिर्हि सम्मतः।
गुणगन्धं-शुभं व्याडौ, प्रमीयते यथार्थतः।13.।
रसाचार्यः कविाडिः, शब्दब्रहमैकवाङ्मुनिः।
दाक्षिपुत्र-वचोव्याख्या, पटुर्मीमांसकाग्रणी।।14.
सुबलचरितं कृत्वा, व्यासं जिगाय भारतम्।
महाकाव्य-विनिर्माणे, तन्मार्गस्य प्रदीपमिव।।15.
राज्ञःसमुद्रगुप्तीय, कृष्ण-चरित-मानतः।
व्यासादपि महान् श्रेष्ठो, व्याडिर्हि गुणवान् मतः।।16.
व्याडेर्व्यक्तित्वमाश्रित्य, कृतित्वस्य समीक्षणम्।
व्याडि-नाम-समुल्लेखःपाणिनेर्गण-पाठतः। 17.
क्रौड्यादौ च गहादौ च,छात्र्यादौ व्याडि-संस्मृतेः।
जीवत्यद्य ऋषिार्डिः, कीर्ति-रूप-शरीरतः।18.
धन्यास्ते रससिद्धेशाः, ऋषीश्वराःकवीश्वराः
नास्ति येषां यशःकाये, जरा-मरणजं भयम्।19
सङ्गतःबिन्दुरयश्च, भर्तृहरेर्हि सम्मतौ।
व्याड्या व्याडेः स्वसा दृष्टा, कौडादि-गण-पाठतः।20
व्याडीयः व्याडि-शिष्योऽयं, गहादि-गण-पाठतः।

व्याडिकृतयः (Works of Vyadi)

व्याडीयाःकृतयस्सन्ति,एकादशेति सङ्ख्यकाः।30.
(क) व्याडीयस्संग्रहो ग्रन्थः,लक्ष-श्लोक-समन्वितः।।
(ख) परिभाषा-महापाठः, (ग) परिभाषा-सुसूचनम्।40
व्याडीया परिभाषाणां, वृत्तिरियं शोभना।।
(घ) व्याडि-शिक्षा, महाशिक्षा, (ङ) वेद-विकृति-वल्लिका।41
(च) उत्पलिनी-महाकोशः, (छ)व्याडि-लिङ्गानुशासनम्।।
(ज) श्रीबलचरितं काव्यं, वृहद्धि-व्यास-भारतात्।42.
(झ) व्याडीयो धातुवादश्च, (ञ) व्यडीया रससंहिता।।
(ट) गरुडेतिपुराणोक्ता, मौक्तिक-शोध-संहिता।43।

चरित्र-विमर्शः (Charactor Discussion)

व्याडीय-ग्रन्थ-वृत्तान्तः, व्याडीय-चरितान्वितः।।
आचरणं व्यवहारश्च, वसनञ्च सहिष्णुता।44

जीवन-घटनोल्लेखः, महाकाव्य-विनिर्मितौ।।
(चर+भावे+क्त-सु-अम्-चरितमितिसिद्ध्यति)
यथा भागवतेऽप्युक्तं, कथितो वंश-विस्तरः।45.
श्री-भागवत-भक्तित्वाद्, भवता सोम-सूर्ययोः।।
चरित्रं चरितं प्रोक्तं, शब्द-रत्नावलीस्थितम्।46.।
राज्ञां चोभय-वंश्यानां, चरितं परमाद्भुतम्।
तद्विविधं हि सम्प्रोक्तमुज्ज्वलनील-सन्मणौ।47
अनुभावाश्च लीला चे, त्युच्यते चरितं द्विधा।।
अनुभावास्त्रिधा सन्ति, वाचिकोद्भास्वराख्यकाः।48
अङ्गकाख्यकाश्चेति, शब्दार्थालङ्कृतिस्तथा।
चारु-विक्रीडना लीला, ललित-भाव-बोधिका।49
रासकन्दुक-लेखाद्याश्चारु-क्रीडा प्रकीर्तिताः
वेणुवादन-गोदोह, पर्वतोद्धार-ताण्डवाः।50.
इत्थञ्च गीत-गोविन्दे, गोहतिर्गमानिकाः।।
वाग्देवी-चरिते-चित्रं, चलचित्रेव भासते।।51.
कर्मणि वाच्य-लिङ्गे तु, क्त-प्रत्ययो हि जायते।
यथारामायणे प्रोक्तमाचरितार्थ-भावता।।52.
अपूर्व काव्य-बीजत्वं देवर्षेर्नारदादृषिः।।
लोकादन्विष्य भूयश्च, चरितं चरितव्रतः।53
एवञ्च कमलश्चन्द्रः,पालयति परम्पराम्।
वेद-परम्परां श्रुत्वा, लोकपरम्परानुगः।।
व्यडीयं चरितं ज्ञात्वा, योगी लिखितवान्निति।54

उच्च-शिक्षा-

उच्च-शिक्षा हि सम्प्राप्ता, पाटली-पुत्रकस्थिते।।
उपवर्ष-महाचार्य-गुरुकुले शुभान्विते।55।
आसीद् व्याडिर्महात्यागी, त्यक्ता प्रधान-मन्त्रिता।।
कात्यायनःसतीर्थस्नन्दस्य सचिवोऽभवत्।56

दीक्षा-स्थानम्

रम्ये विन्ध्याचलारण्ये, व्याडिरध्यात्म-दीक्षितः।।
दीक्षागुरुःगुर्वी च-
स्वयमादिनाथोऽस्य, जातो दीक्षागुरुः शिवः।57
गुर्वी चादिभवानी सा, यशोदा-गृह-जन्मतः।

कंस-हस्ताद्विमुक्ता सा, योगमायाम्बिका स्वयम्।58
अन्नपूर्णा स्वरूपेयं, विन्ध्येश्वरी जगदम्बिका।

त्याग-शीलः

उपहार-स्वरूपेण,महावैदुष्य-कारणात्।।59
प्रधानामात्य-कार्यार्थं, लब्धा तदोपजीविका।।
नन्दराज्याश्रय-त्यागी, ईश्वर-बोध-हेतुतः।।60

तपोधनी

व्याडिनोपासिता शक्तिः, शक्त्याश्रितेश-बोधतः।
विन्ध्येश्वरीमुपास्यासौ, व्याडिर्लोक-तपोधनी।61.
शक्तीशोपासको व्याडिर्योगविद्यां लब्धवान्।
योगागमे हि निष्णातः, स्वेष्ट-कृपानुलाभतः।62
महायोगी महाध्यानी, महायोगी गुणान्वितः।।
नित्यं मननशीलत्वात्, मान्य-मुनि-गुणात्मकः।।63

महामुनिः

शक्त्याः हैमी-महाविद्यां, प्राप्य व्याडिमहामुनिः।
योगर्षि-मुनि-नाथानां, ज्ञानं योगागमाश्रितम्।64
शास्त्रकारः दशैक-शास्त्र, लब्धवान् शास्त्रकारताम्।।
परीक्षा पाटली-पुत्रे, समूत्तीर्णःसुबुद्धिमान्।65
शोधे विन्धाचलारण्ये, कुटीरे वंशकाष्ठके।
किंशुक-पर्ण सच्छादे प्राकृते गह्वरे तथा।66
व्याडि-तपोधनी श्रेष्ठः, राष्ट्रभक्तःशिवार्चकः।।
श्रीचक्रोपासकश्चासीत्सदाराष्ट्रहितान्वितः।67

उच्चशोधी-

विश्वविद्यालयोज्जैन्यां, विक्रमशिलावन्तिका।
काञ्चीपुरज-विप्राय, स्वर्ण-विद्या-प्रशिक्षणम्।68.
नागर्जुनाय नाथाय, योगपटं प्रदाय च।।
महानन्द-प्रकोपत्वात्, वित्तानुदान-रोधनात्।69
नालन्दा वि.वि. छात्राणां, वृत्तिर्यदा हि रोधिता।
व्याडि-नागार्जुनाभ्याञ्च छात्र-रक्षण-सिद्धये 170
विश्व-विद्यालये शासी, कुलपतिः महाशयः।।
नाथो नागार्जुनो द्वीपे, हैम-विद्या-प्रशिक्षणे।।71.
आचार्यव्याडिमुपागत्य, हैमी-विद्यां लब्धवान्।।
सिद्धे रसे करिष्यामि, निष्दारिद्र्यमिदं जगत्।72.

नागार्जुन-शुभोक्तीयं, लोकैतिह्य-प्रमाणिताः।।
सम्प्रोक्ताः व्यडिना ग्रन्थाः, साम्प्रतं हि गवेषिताः।73
व्याडीयैकानुसंधानी, योग-प्रयोग-शालिनी।
प्रख्याता-व्याडिशालासीत्, शिक्षणे च प्रशिक्षणे।।74.
लोक-प्रसिद्धमासीच्च, यत्र पठन-गौरवम्।।
पठित्वा यत्र छात्रास्स्म, लभन्ते श्रेष्ठ-जीविकाम्।।75

21. गरूड़पुराणे (843 ख्रि.) व्याडिः

आदाय तत्सकलमेव ततोऽन्नभाण्डं,
जम्बीर-जात-रस-योजनया विपक्वम्।76
घृष्टं ततो मृदुतनूकृत-पिण्डमूलैः,
कुर्याद् यथेष्टमनुमौक्तिकमाशुविद्धम्।।77
मल्लिप्तमत्स्यपुटमध्यगतं तु कृत्वा,
पश्चात् पचेत् तनु ततश्च, वितानपत्या।78
दुग्धे ततः पयसि तं विपचेत् सुधायां,
पक्वं ततोऽपि पयसा शुचि-चिक्कणेन।।79
शुद्धं ततो विमलवस्त्रनिघर्षणेन।
स्यान्मौक्तिकं विपुलसगुणकान्तियुक्तम्।80
व्याडिर्जगाद जगतां हि महाप्रभाव-
सिद्धो विदग्ध-हित-तत्परया कृपालुः'।।81

काव्य-पाम्परायां व्याडिः, – 1. समुद्रगुप्तः (3555-388 ख्रि.) स्वकीये कृष्णचरिते मुनिकवि वर्णनप्रसङ्गे ''कविर्व्याडिः'' - (क कृष्णचरिते, 16-17 श्लोको)। संदर्भः यू.मी. 1973, पृ. 280 इत्युक्तवान्। तथा हि–

रसाचार्यः कविर्व्याडिः, शब्दब्रह्मैकवाङ्मुनिः।
दाक्षिपुत्र-वचोव्याख्या, पटुर्मीमांसकाग्रणीः।।82
बलचरितं कृत्वा यो, जिगाय भारतं व्यासं च।
महाकाव्यविनिर्माणे, तन्मार्गस्य प्रदीपमिव।।83

समीक्षा – व्याडिः कवि आसीदिति समुद्रगुप्तवचनेन सिद्ध्यति।

व्याडि-वृत्तोपसंहारः

नाम बालयोगी व्याडिः रसाचार्यः।।

व्याडेः समयः 2850 तः 2950 विक्रमपूर्वः, (इति मनुते युधिष्ठिरमीमांसकः । (1)1

जन्मभूमिः वीतसी नगरम्,

(निकृष्ट-इन्द्रतत उत्कृष्टो वीतसी-वेतस- तीर्थवास्तव्यः)

आदिकर्मभूः **व्यडगुरुकुले**

खण्डः भरतखण्डः

जनपदः दक्षप्रुदः,

प्रान्तः जम्मूकश्मीरप्रान्तः,

देशः ब्रह्मवर्तैकदेशः (आर्यावर्तान्तर्गतः)

राष्ट्रम् भारतम्

जननी वडवा नन्दिनी व्यडा तेजस्विनी ऋषिका

जनकः करम्बः(व्यडः तेजस्वी ब्रह्मर्षिः)

शिक्षा वीतसी नगरं निकषा,

व्याडीये ग्रामे, व्यड-गुरु-कुले

अयमत्र विशेषः योगीनाथीयजीवितपरम्परायां –

प्रचलितरसशास्त्रीयविचारविषयकप्रामाणिकोद्धरणानि अधोभागे लिख्यन्ते–

तोरस गन्धक मोरस पारा, जिन विच दोजे नाम सहारा,।
नाग मार मार ले सूआ, कहे मच्छन्दर कंचन हुआ।।84
दो राता, दोय पीवला, चन्दा वर्णा चार, आ जाय।
व्याडिपा चरपट रांदी खिचडी, तो खरा सोना हो जाय।।85
तकत ताली मूलक अर्कीबिच्छु बिछवी ढीक्कण कर्की।
नाग नागनी मुंह सुत खाय, गोरख कहे स्वर्ण हो जाय।।86

सरलतम–रसाविद्धस्वर्ण–निर्माण–विधिः

लेहु मंगाई सरी चौराई, धूरे ऊपर होत बुवाई 187
सौ रंधिस के हांडी माँय, ऐसे चरवा देय चढाय।
काटि चौराई नीर पखारि दे, रधनायँ ऊपर फल चारि।88
पारो मुंह लेहु पचाय, चारि पहर ज्यो आगि बराय।
जो शुभ करम होय, नाथ कहे, दुरति निकस के हांडी रहे। 89
इह विधि काज करि है तेही, कंचन होत खरो, गोरख कहही ।90

(समीक्षाटिप्पणी - इत्थं भारतवर्षे पारदात् स्वर्णनिर्माणप्रक्रिया अद्यतने कालेऽपि जीविता प्रचलिता राजते। यदि आयुर्वेदीयरसशास्त्रविशेषज्ञाः रसायनविज्ञानविशेषज्ञवैज्ञानिकाश्च प्रयोगशालायां हि उपविश्य प्रयासादिकं कुर्युस्तर्हि पारदात् स्वर्णं निर्मातुं शक्यते - इत्यस्माकं सुदृढो विश्वासः।।)

वेदनां विकृतौ ग्रन्थो वेद–विकृति–वल्लरी।

इकां हि व्यवधानेन, त्रियम्बकं यजामहे।91
भाषावृत्तेःप्रमाणेन, व्याडिगालवयोरिति।
उपवेदविशिष्टा च, वैद्यकी रस-संहिता ।92

धातुवाद-महाग्रन्थो, मौक्तिक्यादि-प्रशोधकः।
वेदाङ्ग-शास्त्रका:ग्रन्था:, महाभाष्यादि-चर्चिताः।93
व्याडि-शिक्षा महाशिक्षा, मात्रिका-ग्रन्थ-सूचिता।
संग्रह-शाब्दिको ग्रन्थो, वैद्यकी रससंहिता।94
सूचनं परिभाषाणां, व्याडीया-वृत्तिरुच्यते।
''व्याडीयः'', परिभाषाणां 'पाठः', समुपलभ्यते।95
प्रसिद्धं वर्तते श्रेष्ठं, व्याडि-लिङ्गानुशासनम्।
उत्पलिनी च महाकोष:, व्यडीयो हि सुचित्रकः।।96
राष्ट्रसेवी मुनिर्व्याडिच्छात्रक्लेशनिवारकः।
रसाचार्यःकविर्व्याडि, शब्दशास्त्रविशारदः।97
रसाविद्धं शुभं स्वर्णं, निर्माप्य वित्त-पोषकः।
वाङ्मलं पदशास्त्रेण, योगशास्त्रेण चिन्मलम्।98
कायमलं रसोनाऽसौ, व्याडिश्शोधितवान्भुवि।
भरताम्बा-सुपुत्रेण, व्याडिमार्गानुसारिणा।। 99
नाथीयोजस्वितां प्राप्य, लिखितो नाथविद्यया।।
वत्स-कुलावतंसेन, ब्रह्म-वर्चस्व-शालिना।।100
शोध-योगागमं दृष्ट्वा,यथाशास्त्रं यथामति।
व्याडि-चरित-संक्षेपः, कृतःशोधीय-दृष्टितः।101
अवेद्यनाथ-शिष्येण, कमलचन्द्रयोगिना। 102.
इत्थमियं हि सम्पूर्णा, व्याडीया ह्युत्तरी शती।
व्याडीय-चरितं नाम्ना, लोके ख्याता भविष्यति।।103
योगीकमलचान्द्रीया-ग्रन्थावलीस्थ-विस्तृतम्।
द्रष्टव्यं शोध-कार्यार्थं, जिज्ञासुभिरितःपरम्।।104.
सुपाद-पद्मयोर्मातुःपितुःशिवाम्बयोरिदम्।।
अर्प्यते भक्तिभावेन, **व्याडीयं चरितं** शुभम्।105।

आचार्यः,
केन्द्रीय-संस्कृत-विश्वविद्यालयः,
जयपुर-परिसरः, जयपुरम्।

व्यक्तिविवेके सूचितं दुःश्रवत्वाभिधानमनौचित्यम्

प्रो. रामकुमारशर्मा

व्यक्तिविवेकस्य द्वितीये विमर्शे शब्दानौचित्यं विधेयाविमर्शादिकं विस्तरेण तथा प्रतिपादितं यथाऽन्यत्र नोपलभ्यते। एकं शब्दगतं दुःश्रवत्वाभिधानमनौचित्यं केवलं सूचितम्, किन्तु न विस्तरेण प्रतिपादितम्। अनौचित्यमिदं किमिति समासेनेह प्रतिपाद्यते।

काव्यस्यात्मानं रसमेवाङ्गीकुर्वता महिमभट्टेन 'एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्'[1] इति विवक्षितरसादिप्रतीतिविघातकत्वमनौचित्यमित्यनौचित्यस्य सामान्यं स्वरूपं प्रतिपादितम्। इदमेवानौचित्यं काव्यप्रकाशकारादिभिः **'मुख्यार्थहतिर्दोषः'** इत्यादिना दोषपदेनाभिहितम्। लोकशास्त्रनिर्धारितनियमानामनुसरणमौचित्यं तदननुसरणं चानौचित्यमिति प्रसिद्धमेव। **'उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्। उचितस्य हि यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते'**[2] इत्यौचित्यं परिभाषमाणेन क्षेमेन्द्रेण लोकशास्त्रनिर्धारितनियमाननुसरणरूपं वैषम्यमनौचित्यमिति ध्वनितमेव। काव्ये लोकादिनियमाननुसरणरूपमनौचित्यं रसप्रतीतौ विघ्नं जनयतीत्यौचित्यस्य परिपालनमनिवार्यमिति ध्वनिकृता–

''अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।''[3]

इति व्याहरता ध्वनितम्। महिमभट्टानुसारेण रसप्रतीतिविघ्नजनकत्वरूपमनौचित्यमन्तरङ्गं बहिरङ्गं चेति द्विविधम्। तत्र विभावाद्यर्थगतस्यानौचित्यस्य साक्षादेव रसस्य विघातकत्वेनान्तरङ्गता शब्दगतस्य तु तादृगर्थद्वारा विघ्नकारित्वेन बहिरङ्गता भवति। अर्थगतमनौचित्यं पूर्वतनैरेव विचारितमिति धिया विधेयाविमर्श-प्रक्रमभेद-क्रमभेद-पौनरुक्त्य-वाच्यावचनाऽवाच्यावचनरूपाणि शब्दगतान्येवानौचित्यानि विस्तरेण विचारितानि। तत्र शब्दगतानौचित्यनिरूपणप्रक्रमे 'दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्यानुप्रासादेरिव रसानुगुण्येनैव प्रवृत्तेरिष्टत्वात्। केवलं वाचकत्वाश्रयमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यकक्ष्यतयोपात्तम्' इति वदता महिमभट्टेनच्छन्दःसम्बद्धं दुःश्रवत्वाभिधानमप्यनौचित्यं सूचितं तस्य विधेयाविमर्शादिसमकक्ष्यतयाऽनिरूपणे कारणं प्रतिपादितं च। अत्रैतस्य कथनस्यायमभिप्रायः–

छन्दोनियमस्य भङ्गो दुःश्रवत्वमुच्यते। इदमेव मम्मटादिभिर्हतवृत्तत्वपदेनाभिहितम्। मम्मटेन **'हतं लक्षणानुसारणेऽप्यश्रव्यम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु रसाननुगुणं च वृत्तं यत्र तत्।'**[5] इति स्फुटं प्रतिपादितं यच्छन्दोनियमानुसरणेऽप्यसमाप्तौ यतिसत्त्वेच्छन्दसः प्रकृतरसविरुद्धत्वे चायं दोषो भवति। यद्यपि दुःश्रवत्वं शब्दगतमेवानौचित्यम्, तथापि विधेयाविमर्शादिभ्यः शब्दगतानौचित्येभ्य इदं भिद्यते। दुःश्रवत्वं वाचकत्वम् अभिधा यत्र शब्दे भवति तत्रापि भवति, किन्तु विधेयाविमर्शादयो वाचकत्वं यत्र नियमेन भवति तस्मिन्नेव शब्दे भवन्ति। अर्थाद् दुःश्रवत्वं वाचकत्वाभावेऽपि भवति, विधेयाविमर्शादयस्तु वाचकत्वसमनियता एव भवन्ति। अत एव वाचकत्वानाश्रयेऽपि शब्दे विद्यमानत्वेन दुःश्रवत्वं विधेयाविमर्शादिवद् विस्तरेण न निरूपितम्, अपितु वाचकशब्दरूपकाव्यप्रस्तावे केवलं सूचितमेव। छन्दो वाचकत्वानाश्रयमपि शब्दमाश्रयतीति

'शिवं नत्वा हि नागेशेनानिन्द्या परमा लघुः।
वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषैषा विरच्यते।।[6]

इति नागेशस्य पद्ये द्रष्टुं शक्यते। श्लोकनाम्न्यनुष्टुप्छन्दसि पादान्तेऽप्टमे वर्णे विरामो भवति। अत उक्तनागेशपद्ये प्रथमपादान्ते 'शे' इति वर्णे यतिर्भवति। तत्र नगशेनेतिपदस्य घटके निरर्थकत्वेन वाचकत्वाभाववति 'नागेशे' इति शब्दे तत्रापि 'शे' इति निरर्थके छन्दोनियमस्य वर्तमानत्वेनच्छन्दसोऽवाचकेऽपि शब्दे श्रितत्वं स्पष्टमेव। किञ्चच्छन्दसो वर्णमात्रानियमरूपत्वेनाऽवाचकशब्दाश्रितत्वमपीति महिमभट्टस्याभिप्रायः।

महिमभट्टेन **'अत एव यमकानुप्रासयोरिव वृत्तस्यापि शब्दालङ्कारत्वमभ्युपगतमस्माभिः।'**[7] इति वचनेनच्छन्दसोऽनुप्रासादेरिव शब्दालंकारत्वमपि स्वीकृतम्। छन्दसोऽनौचित्ये रसभङ्ग इति ध्वनता महिमभट्टेनच्छन्दसो रसप्रतिपादने महत्त्वमपि ध्वनितम्। छन्दसो रसेन सम्बन्ध इति **'छन्दसां रसो लोकानप्येष्यतीति तं परस्ताच्छन्दोभिः पर्यगृह्णात्...** पुनश्छन्दःसु रसमादधात्। **सरसैर्हास्यच्छन्दोभिरिष्टं भवति सरसैश्छन्दोभिर्यज्ञं तनुते। ...छन्दोभिर्हि देवाः स्वर्ग लोकं समाश्नुवत। .. यो वा ऋचि मदो यः सामन् वै स तच्छन्दःस्वेवैतद् रसं दधाति।'** इत्यादिवचनैः शतपथश्रुत्याप्यभिहितम्। छन्दसः शब्दालंकारत्वस्य स्वीकारेण छन्दोविशिष्टेन रमणीयेन शब्देन प्रतिपादितानां रमणीयानां विभावाद्यर्थानां रसानुमानं प्रति सामर्थ्यविशेषोऽपि ध्वनित एव महिम्ना। प्रतिपादकवैशिष्ट्ये प्रतिपाद्यस्यापि वैशिष्ट्यमिति महिम्नाऽपि स्वीकृतं प्रतिभात्यत्र प्रसङ्गे, यदि शब्दानामप्यर्थज्ञाने विषयत्वं न स्वीक्रियेत तदा शब्दवर्तिच्छन्दसो रसं प्रति किमवदानं स्यात्?

वस्तुतो व्यक्तिवाद एवच्छन्दसो रसं प्रत्यौचित्यमनौचित्यं वा निर्णेतुं शक्यते। छन्दो विशिष्टशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य शब्दरूपेणांशेन साक्षात् सम्बद्धम्, परम्परया त्वर्थभागेनापि। छन्दसा विशिष्टेन शब्देन प्रतिपादितो विभावादिरूपोऽर्थो रसस्यातिशयेन व्यञ्जकः। शब्दस्यापि प्रतिपाद्यार्थबोधे विषयताया भर्तृहरिणा–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।'

इति वचनेन प्रतिपादितत्वेन प्रतिपाद्ये विभावादिरूपेऽर्थेऽपि शब्दस्य विषयतया शब्दधर्मस्यच्छन्दसोऽप्यपरागः, घटप्रदीपन्यायेन वाच्यादेर्व्यञ्जकत्वस्य ध्वनिकृता स्वीकारेण कथितदृशा च्छन्दसोऽपि विभावाद्यर्थेन सह रस उपरागो भवत्येव। अर्थाच्छन्दसः शब्दद्वारा विभावाद्यर्थे विभावाद्यर्थद्वारा रसे चोपरागः। स्वरूपं प्रकाशयन्नेव हि परावभासको व्यञ्जक उच्यत इति ध्वनिकृतो वचनेन व्यङ्ग्ये व्यञ्जकोपरागः सिद्धः। एवं स्वाश्रयशब्दप्रतिपाद्यविभावादिव्यङ्ग्यत्वरूपेण सम्बन्धेनच्छन्दसोऽपि रसे वैशिष्ट्यं न विरुद्धम्। स्वं छन्दः, तदाश्रयः शब्दः, तेन प्रतिपाद्यो विभावादिः, तेन रसस्य व्यङ्ग्यत्वं चेति योज्यमिह। प्रतिपादकवैशिष्ट्येन प्रतिपाद्येऽपि वैशिष्ट्यं भवति। ततश्छन्दोविशिष्टशब्दप्रतिपाद्ये रसे छन्दोरहितशब्दप्रतिपाद्याद् रसाद् वैशिष्ट्यं भवतीति स्वीकार्यम्। अत एव पद्यत्वेन गद्यत्वेन च काव्यभेदवचनस्य संगतिर्भवति। शब्दगतं सौन्दर्यं प्रतिपाद्येऽप्यनुवर्तत इत्यभिनवभारत्याम् **''शास्त्रान्तरप्रसिद्धानपि रसाङ्गत्वेन कविशिक्षार्थं नटस्य च तत्र तथाभिनये विश्रान्तिकरान् इतिकर्तव्यतयोपदेशार्थम् आगमान् निर्दिशति आगमेत्यादि। अर्थद्वारेण रूपसौन्दर्येण चैषामुभयथा च योगः, 'क्षुभितं मह्यमिदं मे, क्षुब्धमिति मन्थेः प्रतीतिः स्यात्। अर्थभेदेऽपि स्वरूपसौन्दर्यं**

सार्वत्रिकम्। विषयभेदेन च 'अस्यन्दिष्यन्त सिन्धवः' इति हि वक्तव्ये 'अस्यन्दिष्यन् सर्वे सिन्धवः' इति दुर्भणम् अश्रवं च, 'भक्ष्यं भक्षति वक्षसः क्षतमहो यद् वेपते क्लीबितम्' इति अत्र रौद्रे भोक्ष्यतीति हृद्यम्। अत्र 'लोचने कदा संमार्जयिष्यामि इति, न तु, कदा संमार्क्ष्यति' इति। एवं वैकल्पिकेऽपि आगमे सौन्दर्यात्।'' इत्यादिवचनेन वाचिकाभिनयनिरूपणप्रसङ्गे–

'आगमनामाख्यातनिपातोपसर्गसमासतद्धितैर्युक्तः।
सन्धिवचनविभक्त्युपग्रहनियुक्तो वाचिकाभिनयः।।'

इति नाट्यशास्त्रीयश्लोकस्य व्याख्यानेऽभिहितम्।[8] किञ्च कविगतरसास्वादस्य प्रकर्षे काव्यं छन्दसा सहैवोद्भवतीत्यत्र 'मा निषाद प्रतिष्ठाम्' इत्यादिरूपस्य लौकिकसंस्कृतप्रथमकाव्यस्योद्भवः प्रमाणम्। स्वमुखोद्गतस्यच्छन्दोबद्धस्य श्लोकस्योद्भवेन वाल्मीकिरप्याश्चर्यचकित इत्यादि वृत्तं रामायणे प्रसिद्धम्। शोकहर्षातिरके रागबद्धानां शब्दानां विलापादौ प्रादुर्भावो लोकेऽपि प्रसिद्ध :। शुक्लयजुर्वेदे 'काव्यं छन्दः'[9] इति वचनेन कवेः परमेश्वरस्य कर्मभूतस्य वदरूपस्यापि काव्यस्यच्छन्दोरूपत्वं ध्वनितम्। इदं 'काव्यं कवेः परमात्मन इदं वेदत्रयीरूपं छन्दः' इति महीधरभाष्येऽपि स्पष्टम्।'[10] नाट्यशास्त्रे वाचिकाभिनयप्रसङ्गे समग्रस्य नाट्यस्य वाङ्मयत्वेन वाचो महत्त्वं वाचा छन्दसो सम्बन्धस्य नित्यत्वं च

'यो वागभिनयः प्रोक्तो मया पूर्वं द्विजोत्तमाः।
लक्षणं तस्य वक्ष्यामि स्वरव्यञ्जनसंभवम्।।
वाचि यत्नस्तु कर्तव्यो नाट्यस्येयं तनुः स्मृता।
अङ्गनेपथ्यसत्त्वानि वाक्यार्थं व्यञ्जयन्ति हि।।
वाङ्मयानीह शास्त्राणि वाङ्निष्ठानि तथैव च।
तस्माद्वाचः परं नास्ति वाग् हि सर्वस्य कारणम्।।
निबद्धाक्षरसंयुक्तं यतिविच्छेदसमन्वितम्।
निबद्धं तु पदं ज्ञेयं प्रमाणनियतात्मकम्।।
छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति नच्छन्दः शब्दवर्जितः।
तस्मात्तूभयसंयोगो नाट्यस्योद्योतकः स्मृतः।।'

इत्यादिवचनैः प्रत्यपादि।[11]

किञ्च महिमभट्टेनच्छन्दसोऽवाचकशब्दाश्रितत्वं यदभिहितं तत् काव्यप्रसङ्गं न संगच्छते। काव्ये नियमतः सार्थकेनैव शब्देनच्छन्दसः सम्बन्धः स्वीकरणीयः। अत एव भरतेनावान्तरार्थस्यैव समाप्तौ 'यत्रार्थस्य समाप्तिः स्यात् स विराम इति स्मृतः।' इति विरामरूपयतिनियम उक्तः।[12] अस्य व्याख्यानेऽभिनवभारत्यामेवमभिहितम्– 'अर्थस्यावान्तररूपस्य समाप्तिर्लक्षणतो यतिः। यथा 'मीलति सति राज्ञि', यथा–'आयान्त्या तुल्यकालम्' इति, न तु 'जम्भारातीभकुम्भोद्भव' इति उच्छब्दोऽर्थसमाप्त्यभावात्। इति।[13] जम्भारातीत्यत्रोच्छब्दे नार्थसमाप्तिरिति स्रग्धरायां यतिरशुद्धेत्यभिप्रायः। अत एवाऽर्थापरिसमाप्तौ शब्दस्यांशभूते क्वचन यतौ सत्यां काव्यशास्त्रकारैर्हतवृत्तत्वनामा काव्यदोषः स्वीकृतः। यथा–

''अमृतममृतं कः संदेहो मधून्यपि नान्यथा
मधुरमधिकं चूतस्यापि प्रसन्नरसं फलम्।
सकृदपि पुनर्मध्यस्थः सन् रसान्तरविज्जनो
वदतु यदिहान्यत् स्यात् स्वादु प्रियादशनच्छदात्।।

अत्र **'यदिहान्यत् स्यात्' इत्यश्रव्यमिति।''**[14] काव्यप्रकाशेऽभिहितम्। अत्र हरिणीच्छन्दसि चतुर्थपादे 'हा' इति षष्ठेऽक्षरे यतिरस्ति, किन्त्वत्रार्थासमाप्त्याऽर्थपूरणाय परपदसंधानस्य सापेक्षत्वेन यतेरश्रव्यता भवतीति रसभङ्गहेतुत्वेनार्थासमाप्तौ विहिता यतिर्दोषः। हरिणीवृत्तस्य 'रसयुगहयैन्सौ म्रौ स्लौ गौ यदा हरिणी तदा' इति लक्षणं[15] 'षट्सु चतुर्षु सप्तसु च त्रिपु स्थानेपु यतौ हरिणी नाम'[16] इति वचनेन पष्ठेऽक्षरेऽपि यतिः।

छन्दो विशिष्टशब्दार्थरूपस्य काव्यस्य शब्दरूपेणांशेन साक्षात् सम्बद्धम्, परम्परया त्वर्थभागेनापि। छन्दसा विशिष्टेन शब्देन प्रतिपादितो विभावादिरूपोऽर्थो रसस्य व्यञ्जकः। एवं छन्दसोऽनौचित्यं प्रारम्भ एव सहृदयवैमनस्यकारित्वेन छन्दोदोपदृदूपितेन शब्देन प्रतिपाद्यस्य विभावादेरपि दूषिततया दुःश्रवत्वं रसविघ्नविधायित्वरूपं बहिरङ्गमनौचित्यं भवति। यद्यपि महिम्ना छन्दसोऽवाचकेनापि शब्देन सम्बन्ध उक्तस्तथापि काव्ये तस्य सम्बन्धो वाचकेनैव स्वीकरणीय इति प्रतिपादितमत्र समासेन। अतोऽवाचकाश्रयत्वेन दुःश्रवत्वस्य विधेयाविमर्शादिवन्न निरूपणीयतेति महिम्नो वचनं विचारणीयमिति शम्।

संदर्भः–

1. व्यक्तिविवेके द्वितीयविमर्शारम्भे 2. औचित्यविचारचर्चा
3. ध्वन्यालोकः-362 पृ. (आचार्यजगन्नाथपाठकः, चौखम्बाविद्याभवनम् वारणसी 2014 ई.)
4. व्यक्तिविवेकः (18। पृ. मूले हिन्दीव्याख्याने च, आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम् वाराणसी 2005)
5. काव्यप्रकाश :-334 पृ. (Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona- 1983)
6. वैयाकरणपरमलघुमञ्जूपायां मङ्गलपद्यम्।
7. व्यक्तिविवेकः- (181 पृ. हिन्दीव्याख्याने च, आचार्यरेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्भासंस्कृतसस्थानम् वाराणसी- 2005
8. Natyashashtra of Bharatamuni (Vol-2, Parimal Publications Delhi, Fourth Edition-2012) - 100 karika- -bhinavabharati- 169-170page
9. शुक्लयजुर्वेदसंहिता - 15/4-277 पृ. (मोतीलालाबनारसी दास, दिल्ली, प्रथमसंस्करणम्-1971)
10. तत्रैव 276 पृ.
11. Natyashashtra of Bharatamuni (Vol-2, Parimal Publications Delhi, Fourth Edition-2012) - 14/1-3,43,47 karkas.
12. Natyashashtra of Bharatamuni (Vol-2, Parimal Publications Delhi, Fourth Edition-2012) - 100 karika.
13. Natyashashtra of Bharatamuni (Vol-2, Parimal Publications Delhi, Fourth Edition-2012) - 100 karika- Abhinavabharati- 181 page
14. काव्यप्रकाशः-335-336 पृ. (Bhandarkar oriental Research Institute ,Poona- 1983)
15. वृत्तरत्नाकरः 134 पृः (कृष्णदास अकादमी वराणसी-1982)
16. तत्रैव टीका

विभागाध्यक्षः साहित्यविभागः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

अपादानम्

प्रो. श्रीधरमिश्रः

'ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यपादानसंज्ञासूत्रम्। सूत्रेऽस्मिन् पदत्रयं वर्तते-ध्रुवम्, अपाये, अपादानं चेति। वाक्यार्थज्ञाने पदार्थज्ञानम् आवश्यकमिति सिद्धान्तात् सूत्रस्थम् अखिलपदार्थविवेचनम् आवश्यकम्। तत्र प्रथमं 'ध्रुवं' पदं विविच्यते। ध्रुवपदं हि उभयथा सिध्यति-'ध्रु' गतिस्थैर्ययोः इत्यस्माद् धातोः पचादित्वाद् अचि प्रत्यये कृते तस्याच्प्रत्ययस्य कुटादित्वाद् 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्ङित' इत्यनेन ङित्वाद्गुणाभावाद् उवङि 'ध्रुव' इति पदम् सिद्धम् किञ्च 'ध्रुव स्थैर्ये इत्यस्माद् धातोः इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः?' इत्यनेन 'क' प्रत्यये कृते कित्वाद् गुणाभावे 'ध्रुव' इति जाते प्रातिपदिकत्वान्नपुंसके सोरमादेशे 'ध्रुवम्' इति पदं सिद्धम्। ध्रुवम् स्थिरम् इत्यर्थः।

द्वितीयं पदम् 'अपाये' इति। अपायो विश्लेषः। स च विभागजनको व्यापारः। तदनाश्रय इति यावत्। विभागश्च न वास्तवसम्बन्धपूर्वको वास्तव एव किन्तुबुद्धिपरिकल्पितसम्बन्धपूर्वको बुद्धिपरिकल्पितोऽपि माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतरा इत्यादौ कल्पितापायाश्रयेणैव भाष्ये पञ्चमीसाधनात्। कैयटस्तु-अपायोऽत्र विभागजसंयोगानुकूलोऽवधिसाङ्काक्ष्यो गतिविशेषः। ''गतिर्विना त्ववधिना नापाय'' इतिकथ्यते इति हर्युक्तेः।

इत्थं च प्रकृतधात्वर्थव्यापारानाश्रयत्वे सति तज्जन्यविभागाश्रयो ध्रुवमिति फलितम्। तद्यथा- 'देवदत्तो ग्रामाद् आयाति' इत्यादौ प्रकृतो धातुः 'आयाति' इति विभागपूर्वकोत्तरदेशसंयोगानुकूलो तदर्थः, धात्वर्थव्यापाराश्रयीभूतो देवदत्तः, तदनाश्रयीभूतो ग्रामः। स च विभागस्याश्रयोऽपि। अतो ग्रामस्यापादानत्वात्तत्र पञ्चमी। ग्रामावधिकदेवदत्तकर्तृको पूर्वदेशविभागपूर्वकोत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापार इति शाब्दबोधः।

'वृक्षात् पर्णं पतति' इत्यादौ पतेर्विभागजन्यः संयोगोऽर्थः। वृक्षावधिकपर्णकर्तृकपतनानुकूलो व्यापार इति शाब्दबोधः। अथवा वृक्षापादानकविभागपूर्वकः संयोगः पर्णवृत्तिरिति बोधः। 'वृक्षाद् भूमिं पतति' इत्यादौ विभागजन्यसंयोगानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः। वृक्षापादानकविभागपूर्वकसंयोगानुकूलो व्यापार इति बोधः।

अत्रेदं विचार्यते सूत्रे लोकप्रसिद्धस्थिरार्थबोधकं यदि ध्रुवपदं गृह्येत तदा ''धावतोऽश्वात् पतति' त्रस्ताद् अश्वात् पतति इत्यादौ अश्वस्याध्रुवत्वादपादानत्वं न स्यादिति। तदुक्तं भाष्ये- ''गतियुक्तेषु अपादानसंज्ञा नोपपद्यते रथात् प्रवीतात् पतितः। अश्वात् त्रस्तात् पतितः। सार्थाद् गच्छतो हीनः इति। किं कारणम्? अध्रुवत्वात्।'' तत्र समाहितं भाष्ये - ''न वा एष दोषः। किं कारणम्? अध्रौव्यस्य विवक्षितत्। नात्र अध्रौव्यं विवक्षितम् किं तर्हि? ध्रौव्यम्। इह तावत् अश्वात् त्रस्तात् पतितः इति यत् तदश्वेऽश्वत्वम् आशुगमित्वं, तद् ध्रुवं तच्च विवक्षितम्। रथात् प्रवीतात् पतितः इति यद् रथे रथत्वं रमन्ते अस्मिन् इति रथः इति तद् ध्रुवं तच्च विवक्षितम्। सार्थात् गच्छतो हीनः इति यत् तत् सार्थे सार्थत्वं सहार्थीभावः तद् ध्रुवं तच्च विवक्षितम्।''

अत्रायमर्थः- ध्रुवम् एकं रूपम् उच्यते। तच्च ध्रौव्यम् अपायविषयम् आश्रीयते न तु अनवच्छिन्नम्।

ततोऽपाये यद् अनाविष्टं तद् अपाये ध्रुवमुच्यते। देवदत्तकर्तृकेऽपि पाते त्रस्तस्याप्यश्वस्य अपायानावेशाद् ध्रुवत्वम्। देवदत्तस्यैव अपायावेशाद् अध्रुवत्वम्।

अथवा अश्वस्य त्रस्तत्वाद् यद् ध्रौव्यं तत् प्रथमम् अविवक्षितं तथाहि कारकस्य पूर्वं क्रियया समन्वयः। स च श्रुतिप्रापित उच्यते। पश्चाद् विशेषणेन वाक्यीयः सम्बन्धः। ततश्च अश्वात् पतितः इति सम्बन्धे नास्त्यश्वस्य अध्रुवत्वम्। पश्चात् त्रस्तत्वेन सम्बन्धे सत्यपि अध्रौव्येन अन्तरङ्गा संज्ञा न निवर्तते। विशेषणस्य असत्यपि अपादाने सामयिकी विभक्तिः। सा च विशेष्यानुरोधेन प्रवर्तते न तु अनियमेन। अथवा त्रस्तस्यापि अपादानत्वं सत्यपि त्रासापेक्षे अध्रुवत्वे पातं प्रति ध्रुवत्वात्। व्युत्पत्तिनिमित्तमात्रम् आशुगामित्वम् इति तदपेक्षया अध्रौव्यं नाशङ्कनीयम्। जातिरेव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तम् इति नास्त्यत्र अध्रौव्यम्। आशुगामित्वशब्देन एकार्थसमवायात् साहचर्याद् अश्वत्वमेवोच्यते।

एतेन ये तु अत्यन्तं गतियुक्तास्तेषामप्यपादनसंज्ञा प्राप्नोति। तद्यथा-धावतः पतितः। त्वरमाणात् पतितः इति। सतोऽपि अविवक्षा भवति। तद्यथा- अलोमिका एडका। अनुदरा कन्या इति असतश्च विवक्षा भवति-समुद्रः कुण्ठिका, विन्ध्यो वर्धितममिति। कुण्डिकायां पानीयबाहुल्यत्वात् समुद्रत्वं विवक्षितम्। समुद्रस्य वा सुतरत्वात् कुण्डिकात्वम्।

ध्रुवपदस्यावधित्वावगमादुक्तं कौमुद्याम्-अपायो विश्लेषस्तस्मिन् साध्ये यद् ध्रुवम् अवधिभूतं तदपादानसंज्ञं स्यादिति। अवधित्वस्य चलाचलयोरुभयत्र सत्वात्। तदुक्तं वाक्यपदीये हरिणा-

अपाये यदुदासीनं चलं वा यदि वाऽचलम्।
ध्रुवमेवातदावेशात् तदपादानमुच्यते।।इति।।

अतो धावतोऽश्वात् पतति, व्रस्ताद् अश्वात् पतति ''इत्यादावस्थिरस्याप्यश्वस्यावधित्वात् पञ्चमी।

सूत्रे ध्रुवपदोपादानाभावे विश्लेषसाध्ये कस्याप्यापादानत्वाद् कर्तृसंज्ञाया इयमपवादः स्यात्-अपायविषये यत्कारकं-तद्रूपक्रियाजनकं-तदपादानमित्यर्थसंभवात्। ध्रुवपदोपादाने तु अवधेरेवापादानं नान्यस्य। तेन ग्रामादागच्छति शकटेन' इत्यादौ न शकटस्यापादानत्वम् इत्थं च-प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारानाश्रयत्वे सति प्रकृतधातूपात्तव्यापारजन्यविभागाश्रयत्वम् अवधित्वम् इति प्राचः कैयटादेराशयः।

नव्यास्तु ''धावतोऽश्वात् पतति, त्रस्तादश्वात् पतति इत्यादौ अध्रौव्यस्य अविवक्षात् ध्रुवत्वेन विवक्षणादपादानत्वम्। तदुक्तं भाष्ये ''एवं हि व्रस्ताद् अश्वात् पतितः धावतोऽश्वात् पतितः'' इत्यादौ ध्रुवत्वस्य अभावात् अपादानत्वं न स्यादिति आशङ्क्य-अध्रौव्यस्य अविवक्षितत्वमत्र, यतो सतोऽप्यविवक्षा भवतीति समाहितं भाष्ये।''

यदि हरिकारिकानुसारं कैयटादिरीत्या ध्रुवपदस्य चलमप्यर्थो गृह्येत तदा 'धावतोऽश्वात् पततीत्यादौ' सतोऽपि चलस्याविवक्षितत्वम् इति भाष्योक्तम् असंगतं स्यात् किञ्च लोकप्रसिद्धातिरिक्तार्थे ध्रुवपदस्य शक्तिकल्पने गौरवं च। अत एव कारिकाया अतदावेशाद् इत्यस्य तद् आवेशाविवक्षणाद् इत्यर्थः। चलनक्रियाया अविवक्षणम् इति यावत्। तस्माद् अपाये सति यद् ध्रुवम् अवधिभावोपगमाश्रयत्वे सति तदतिरिक्तस्यावधित्वोपयोगिव्यापारस्यानाश्रयं तदपादानमिति सूत्रार्थः। ध्रुवग्रहणं किमर्थम्? सूत्रे अक्रियमाणे

ध्रुवग्रहणे ''ग्रामादागच्छति शकटेन- इत्यादौ शकटस्याप्यपादानत्वं प्राप्नोति- अपाये यत् साधनं तदपादानमित्येव शब्दमर्यादयाअर्थलाभात्। ननु ह्येतद्औपाधिकभेदमादायैव अपादानत्वे सिद्धे किं तत्तत्कर्तृसमवेत इत्यनेन। अत्रोच्यते पर्वतात् पतितोऽश्वात् पतत्यश्ववाहः इत्यादौ अश्वस्य अपादानत्वाये तत्तत्स्वीकारः आवश्यकः।

तत्तत्कर्तृसमवेततत्तत्क्रियाजन्यप्रकृतधात्ववाच्यविभागाश्रयत्वम् अपादानत्वम्। तदेवाधित्वम् तत्तत्कर्तृसमवेता या तत्तत्क्रिया, तज्जन्यः प्राकृतधात्ववाच्यो यो विभागः तदाश्रयत्वम्अपादानत्वम् यथा- रामो ग्रामाद् आयाति इत्यत्र कर्ता रामः तस्मिन् समवेता=समवायेन वर्तमाना क्रिया= उत्तरदेशसंयोगानुकूला पादप्रक्षेपादिरूपा गमनक्रिया तज्जन्याः प्रकृतधात्ववाच्यो यो विभागः तदाश्रयत्वं ग्रामस्यास्तीति लक्षणसम्बन्धः। विभागो न हि गम् धातुवाच्य इति तस्य प्रकृतधात्ववाच्यत्वं सुस्पष्टम् एवं अश्ववाहीयपतनं प्रति अश्ववाहस्य कर्तृत्वम् इति निरूपकभेदान्न शक्त्योः विरोधः, न वा परया कर्तृसंज्ञया बाधः इति भावः।

अत्र अश्वसमवेतक्रियाजन्यप्रकृतधात्ववाच्यविभागाप्रयत्वेन पर्वतस्य अपादानत्वम्, अश्ववाहसमवेत क्रियाजन्यप्रकृतधात्ववाच्यविभागाश्रयत्वेन अश्वस्य अपादानत्वम्। पर्वतावधिके अश्वस्य कर्तृत्वम् अश्वावधिकपतने चाश्ववाहस्य। एवञ्च तत्तत्कर्तृसमवेतइत्यादिकस्य ग्रहणमावश्यकम्। यद्यपि एकैव पतन क्रिया वर्तते तथापि द्वाभ्यां शब्दाभ्यां प्रतिपादनात् स्वपतनं प्रति अश्वस्य कर्तृत्वम्। लक्षणे यदि प्रकृतधात्ववाच्य इति न निवेश्येत तदा खगो वृक्षं त्यजति इत्यादौ अपि वृक्षस्यापादनसंज्ञा प्राप्नुयात् तद्वारणार्थं लक्षणे प्रकृतधत्ववाच्यत्वनिवेशः आवश्यकः। तथाहि-विभागानुकूलव्यापारार्थकत्यज्धात्वर्थ खगसमवेतक्रियाजन्य- विभागाश्रयत्वाद् वृक्षस्य कर्मत्वं सिद्धम्।

यत्र खलु न विभागो प्रकृतधातुवाच्य एतादृशविभागाश्रयस्यैवापादानत्वनियमः। यथा वृक्षात् पतति इत्यादौ विभागस्य प्रकृतधात्वर्थत्वे तु उभयप्राप्तौ अपादानमुत्तराणि कारकाणि वाधन्ते इति भाष्यात् कर्म त्वमेवेति। 'परस्परान् मेषौ अपसरतः' अत्र अपादानत्वं कुतः? यतोहि मेषपदवाच्यौ पशुविशेषौ परस्परपदवाच्यावपि तावेव इति तयोरभिन्नत्वेन मेषपदवाच्ययोः क्रियाश्रयत्वेन परस्परपदवाच्ययोरपि क्रियाश्रयत्वात् कर्तृत्वापत्तिः अपादानत्वानापत्तिश्च - इति चेत् छृणु- परस्परसमवेतक्रियाजन्यविभागाश्रयत्वान् मेषान्तरस्य अपादानत्वम्, स्वसमवेतक्रियाश्रयत्वाच्च कर्तृत्वमिति। निरूपकभेदात् तयोः कारकयोः न विरोध इति न परया कर्तृसंज्ञया बाधः। मेषपदवाच्ययोः पशुविशेषयोः क्रियाश्रयत्वविवक्षा, परस्परपदवाच्ययोस्तयोस्तु विभागश्रत्वविवक्षा इत्यौपाधिकस्तयोर्भेदः शब्दस्वरूपोपधिकृतभेदोप्यर्थे गृह्यते। तेन तत्तच्छब्दोपाधिभेदात् मेषपदोपत्तपरस्परपदोपात्तभेदस्य सत्वान्नैकस्मिन् कर्तृत्वापादानत्वयोः प्रसंग इति अपाये शकटस्यापि साधनत्वाद् अपादानसंज्ञा प्राप्नोति। नहि कर्तृसंज्ञयापादानसंबाधावसरः।

कृते हि ध्रुवग्रहणे शकटस्य साधनत्वेऽपि ध्रुवत्वाभावान्नापादानत्वम्। वस्तुतस्तु सूत्रे अक्रियमाणेऽपि ध्रुवग्रहणे शकटस्य साधकत्वात् करणत्वमपि। एक संज्ञाधिकारस्थत्वात् परया करणसंज्ञया अपादानसंज्ञाया बाधात् करणसंज्ञैव भवति। तदुक्तं भाष्ये करणसंज्ञा अत्र बाधिका भविष्यति। यथा धनुषा विध्यतीत्यादौ क्रियमाणेऽपि ध्रुवग्रहणे परत्वात् करणसंज्ञा भवति एवम् अक्रियमागेऽपि शकटस्य करणसंज्ञा भविष्यति। संज्ञाद्वयप्रसङ्गे परत्वात् करणसंज्ञा।

ग्रामाद् आगच्छन् कांस्यपात्र्यां पाणिनौदनं भुङ्क्ते। ग्रामात् काशीम् आगच्छन् बलाधानाय मध्ये कांस्यपात्र्याम् ओदनं भुङ्क्ते इति तदर्थः। पात्र्या उद्धृत्य भुङ्क्ते तेन पात्र्याः साधनत्वादापादनत्वं प्राप्नोति। कांसपात्री साधनमेव आगमने न भवति, भुजिक्रियायां, साधनं ध्रुवा च। तत्र परत्वात् अधिकरणसंज्ञेति, आकडारसूत्रे उक्तम्। वस्तुस्थित्या अत्र आगमनं प्रधानं तदङ्गं तु भोजनम्। शब्दात्तु विपरीतो गुणप्रधानभावः प्रतीयते। तत्र कांसपात्री भुजेः साधनद्वारेणागमनस्यापि भवत्येव साधनम्।

शब्देन भोजनस्यैव प्राधान्यं प्रतीयते इति तत्प्रयुक्ततया एव संज्ञया भाव्यम्। यथा भोक्तुं ग्रामम् अभिनिविशते इति, प्रधानक्रियापेक्षया ग्रामस्य कर्मसंज्ञा भवति, न तु भुज्यपेक्षयाऽधिकरणसंज्ञा।

पुनः जिज्ञास्यते-''वृक्षस्य पर्णं पततीत्यादौ वृक्षस्य ध्रुवत्वेऽपि अपादानं कुतो न? यतो हि अस्त्यत्रापायः। सूत्रे ध्रुवग्रहणे हि अपायशब्देन विशिष्टोऽपायो गृह्यते। स च विभागजसंयोगानुव्यापार एवापायः, इह तु संयोगानुकूल एव अपायः। इत्थम् अपायजनकं यद्ध्रुवम् अचलं तदपादानम्।

ननु लोके तु पातमात्रस्य अपायत्वेन प्रसिद्धत्वात् कारकाभावाभावादेवात्र नापादानत्वम् इत्येकं समाधानम्। ध्रुवत्वं च चअवधित्वोपयोगिचेष्टानाश्रयत्वम्। तेनास्यावधित्त्वोपगमातिरिक्तस्वव्यापाराभावो ध्वन्यते। करणादौ तत्त्वोपगमातिरिक्तोऽपि स्वव्यापारोऽस्ति इत्याहुरन्ये। यथा आत्मानम् आत्मना वेत्ति इत्यादौ शरीरावच्छिन्नं कर्तृ, अन्तःकरणावच्छिन्नं करणम्। निरवच्छिन्नं निरीहं कर्म। एकस्यैव शब्दभेदाद्भेदः। शब्दालिङ्गितस्यैव सर्वत्र भानात्-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासत।।इति।। इति हर्युक्तेः।

द्वितीयं समाधानं तु अपायस्य अविवक्षितत्वान्नात्र अपादानत्वम्। तदुक्तं भाष्ये-नात्रापायो विवक्षितः। किं तर्हि? सम्बन्धः। यदा चापायो विवक्षितो भवति भवति तदा अपादानसंज्ञा। तद्यथा-वृक्षात् पर्णं पततीति सम्बन्धस्तु तदा न विवक्षितो भवति न ज्ञायते कङ्कस्य वा कुरवस्य वेति। कङ्ककुरवौ वृक्षविशेषौ पक्षिविशेषौ च।

अत्र पर्णविशेषणत्वेनैव वृक्षस्य विवक्षितत्वात्। तथा हि वृक्षम् अजहत्यपि पर्णे शाखस्थे भूमिं स्पृशति वृक्षस्य पर्णं पतति इति प्रयोगो न भवति। सति अवधौ गतिरपायो भवति नान्यथा, गतिविशेषत्वाद् अपायस्य। विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापार एव अपायः। इह तु उत्तरदेशसंयोगानुकूलव्यापार एव पतेरर्थः।

'वृक्षात् पतति' इत्यादौ तदपादनकविभागपूर्वकसंयोगः पर्णवृत्तिरिति बोधः। 'कुड्यात् पतिताद् अश्वात् पतितः' इत्यादौ अश्वापेक्षया कुड्यस्यापि ध्रुवत्वाद् अपादानत्वम् अश्वस्य तु देवदत्तकर्तृवृत्तिसंयोगानुव्यापारानाश्रयत्वे सति विश्लेषाश्रयत्वाद् अपादानत्वम्' तदुक्तं हरिणा-

तस्याऽप्यश्वस्य पतने कुड्यादिर्ध्रुवमुच्यते।
पततो ध्रुवमेवाश्वो यस्मादश्वात् पतत्यसौ।।

'परस्परान् मेषावपसरतः' मेषपदोपात्तयोरेव क्रियाश्रयत्वात् कर्तृत्वं, परस्परपदोपात्तयोरेव विभागाश्रयत्वाद् अपादानत्वम्। मेषपदोपात्ते तदविवक्षणात्। प्रयोगानुसारित्वाद् विवक्षायाः। विभागपूर्वकं पृष्टतो गमनम् अपसरणम्। तदुक्तं हरिणा-

उभावप्यध्रुवौ मेषौ यद्यप्युभयकर्मजे।

विभागे प्रविभक्ते तु क्रिये तत्र व्यवस्थिते।।इति।।

तत्तद्व्यक्तित्वेन विभागस्य बुद्ध्या प्रविभागे तत्तद्विभागगानुकूलक्रियावत्त्वस्य अपरत्र अभावात् उभयोरपि ध्रुवत्वम्। तदुक्तम्–

मेषान्तरक्रियापेक्षमवधित्वं पृथक् पृथक्।

मेषयोः स्वक्रियापेक्षं कर्तृत्वं च पृथक्–पृथक् इति

अत एव देवदत्तयज्ञदत्तौ अन्योन्यम् आश्लिष्यतः इत्यादौ तयोः कर्मत्वसिद्धिः। अन्यथा परत्वात् कर्तृत्वमेव स्यात्। आत्मानम् आत्मना वेत्ति। इत्यादौ अन्तःकरणाद्युपादिभेदवत् प्रकृते शब्दरूपोपाधिभेदेन भेदः शब्दालिङ्गितार्थस्यैव भानात्। स्पष्टा चेयं कर्मवत् कर्मणेति सूत्रे पर्वतात् पततोऽश्वात् पतति इत्यत्र तु पतनावधिकपतनाश्रयो योऽश्वस्तदवधिकं देवदत्तादिनिष्ठं पतनमर्थः। प्रकृत्यर्थेऽवधौ अभेदेन संसर्गेण प्रकृत्यर्थः पर्वतादिविशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु पतनक्रियाया, स च अवधिरूपो धर्मी न तु धर्ममात्रम्। उद्धृतौदना स्थाली इत्यत्र ओदनकर्मकोद्धरणावधिभूता स्थाली इति समानाधिकरण्यदर्शनात्।

'वृक्षं त्यजति' इत्यादौ विभागानुकूलो व्यापारो त्यजधात्वर्थः तेन कर्मत्वमेव। वृक्षात् फलं त्यजति इत्यादौ विभागजन्यसंयोगानुकूलव्यापारोऽर्थः 'वृक्षे स्पन्दते' इत्यादौ स्पन्देर्न विभागो अर्थः। चलतेस्तु आसनाच्चलितः इति प्रयोगाद् अस्त्येव विभागार्थकत्वम्। वृक्षाद् विभजते इत्यादौ विभागजन्य पूर्वदेशसंयोगनाशोऽर्थः। बलाहकाद् विद्योतते विद्युत् इत्यत्र विद्योततेर्विभागजन्यसंयोगानुकूलक्रियारूप निःसरणपूर्वक विद्योतने वृत्तिः। बलाहकापादानकविभागजन्यसंयोगानुकूलक्रियोत्तरकालिकं विद्युत्कर्तृकं विद्योतनमिति बोधः। इदमुपात्तविषयम् उच्यते। बलाहको नाम धूमज्योतिः सलिलममरुतां संघातः। ततोऽवयवभूतज्योतिषो भेदविवक्षया विभागविवक्षणात् सोऽवधिः। यदा तु तेजसः आधारत्वेन स विवक्ष्यते तदा बलाहके विद्योतते इति सप्तमी। यदा तु अभेदेन विवक्षा तेजोभयत्वात्प्रकाशनसामर्थ्यं उदकधूमादेस्तत्प्रकाशप्रतिबन्धकत्वाविवक्षणं तदा बलाहको विद्योतते इति।

यदा तु प्रत्यक्षसिद्धम् आगमनं मनसि निधाय कुतो भवान् इति प्रश्ने पाटलिपुत्रात् इति उत्तरयति तत्राकाङ्क्षावादोक्तरीत्या वाक्यैकदेशन्यायेन बोधः। एतदपेक्षितक्रियम् इत्युच्यते।

वृक्षात् पत्रं पतति इति तु निर्दिष्टविषयम्। घटाद्भिन्नः इत्यादावप्यनेनैव अपादानत्वं सूत्रेऽपायशब्देन भेदस्यापि ग्रहणम्। 'पञ्चमी विभक्ते' इत्यत्र विभक्तशब्देन इव तन्मूलकसम्बन्धविवक्षायां घटीयो भेद इत्यपि। तदुक्तम्–

निर्दिष्टविषयं किञ्चिदुपात्तविषयं तथा।

अपेक्षितक्रियं चेति त्रिधापादानमुच्यते। इति।।

यत्र साक्षाद् धातुना गतिर्निर्दिश्यते तन्निष्टविषयम् अर्थात् विभागस्तज्जनकक्रिया चोभयं धातुना निर्दिश्यते तन्निर्दिष्टविषयम् उच्यते यथा- अश्वात् पतति इत्यादौ।

यत्र धात्वन्तरार्थाङ्गं स्वार्थं धातुराह तदुपात्तविषयम्' अर्थात् यत्र विभागोऽध्याहृतधातुना तथा

तदुपात्तविषयम् उच्यते यथा-बलाहकाद् विद्योतते। अपेक्षिता क्रिया यत्र तदपेक्षितक्रियम् अर्थात् यत्र विभागस्तज्जनकक्रिया उभयमपि अध्याहृतधात्वभिधेय तदपेक्षितक्रियम् उच्यते। यथा कुत आगतो भवान्? इत्यादि।

ननु 'वृक्षात् पर्णं पतति' इत्यादौ तादृशफलाश्रयत्वाद् पर्णस्यापि अपादानत्वं विभागस्य द्विष्ठत्वादिति चेत्, न परया कर्तृसंज्ञया बाधात्। अत एव अपादानमुत्तराणि कारकाणि बाधन्ते इति भाष्यं संगच्छते। वृक्षात् पर्णं पतति इत्यत्र पञ्चम्यर्थोऽवधिः। वृक्षावधिकपर्णकर्तृकं पतनम् इति बोधः। पर्वतात् पतिताद् अश्वात् अश्ववाहः पतति इत्यादौ पर्वतावधिकपतनाश्रयाभिन्नाश्वावधिकमश्ववाहकर्तृकं पतनमिति बोधः।

'परस्परान् मेषावसरतः' इत्यादौ परस्परमेषावधिकं द्वित्वावच्छिन्नमेषकर्तृकम् अपसरणमिति बोध इति दिक्।

भीत्रार्थानां भयहेतुः – भयम् आकुलीभावः, त्राणम् अनर्थप्रतिघातः। अत्र सूत्रे भीत्रा शब्दौ भावक्विबन्तौ। तत्र च नास्ति मुख्योऽपायः। अतः पूर्वसूत्रेणाप्राप्त्या इदं सूत्रं प्रवर्तते। भीश्चत्राश्च इति 'भीत्रौ' द्वन्द्वान्ते 'अर्थ' शब्दस्य प्रयोगादस्य प्रत्येकस्मिन्नन्वयः तेन भीत्रार्थः तेषां भीत्रार्थानाम् धातूनां योगे भयहेतुः अपादानं स्यादिति सूत्रार्थः। अनर्थश्च भयं तद्हेतुश्चोरः इति त्राणार्थानामपि भयहेतुः कारकं संभवति। वृकेभ्यो बिभेति। दस्युभ्यो बिभेति। चोरेभ्यस्त्रायते दस्युभ्यास्त्रायते'' इत्यादौ भयहेतूनां वृकदस्युचोराणाम् अपदानसंज्ञा भवति। सत्यां च तस्याम् 'अपादाने पञ्चमी' इति सूत्रेण पञ्चमी।

अत्र भाष्यकारेण इदं सूत्रं प्रत्याख्याम्। तेनोक्तम्, अयं योगः शक्योऽवक्तुम्। य एत्र मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति। स पश्यति यदि मां वृकाः पश्यन्ति ध्रुवो मे मृत्युरिति। स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते, तत्र यद्ध्रुवमपायेऽपादानम्' इत्येवसिद्धम्। बुद्धिव्यवस्थापितोऽत्र अपायो अस्ति' तत्र निवृत्यङ्गे भये बिभेत्यादयो वर्तन्ते इति उपात्तविषयम् अत्रापादानम्।

इह चौरेभ्यस्त्रायते दस्युभ्यस्त्रायते इति 'य एषः मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी सुहृद् भवति। स पश्यति यदि इमं चोराः पश्यन्ति ध्रुवम् अस्य वधबन्धनादिपरिक्लेशः इति स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तयति। तत्र ध्रुवमपपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्। अत्र अनर्थपरिहाराय निर्वतयति। चोरमध्यगतस्यापि त्राणे चोरसम्पर्कफलस्य वधबन्धनापहरणादेः निवर्तनात् तेभ्यो निर्वतयति। ''वारणार्थामीप्सितः' इत्यनेन अत्रापादानसंज्ञा न प्राप्नोति चोराणाम् अनीप्सितत्वात्। सूत्रारम्भपक्षे तु कारकशेषत्वात् षष्ठ्यां प्राप्तायाम् इदं वचनम्।

पराजेरसोढः– पराजिः अत्र न्यूनीभावः असोढग्रहणात् क्वचिद् अभिभवेऽपि वर्तते। शत्रून् पराजयते 'इत्यादौ। सूत्रार्थस्तु पराजेः प्रयोगे असह्योऽर्थोऽपादानसंज्ञः स्यात्। 'अध्ययनात् पराजयते' इति। अध्येतुं ग्लायतीत्यर्थं। अत्र चार्थे अकर्मकत्वात् षष्ठ्यां प्राप्तायां वचनम्।

श्रीमता भाष्यकारेण इदमपि सूत्रं प्रत्याख्यातम्। उक्तं तेन य एष मनुष्यः प्रेक्षापूर्वकारी भवति स पश्यति दुःखम् अध्ययनं दुर्धरं च, गुरवश्च दुरूपचारा इति, स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम्-इत्येव सिद्धम्।

वा**रणार्थानामीप्सितः** – प्रवृत्तिविघातो वारणम्। वारणार्थानां धातूनां योगे ईप्सितोऽर्थोऽपादानं स्यात्।

माषेभ्यो गा वारयति। यवेभ्यो गां वारयति इत्यादौ। माषषु प्रवर्तितुकामा गा प्रवृत्तिविमुखीकरोति। संयोगपूर्वकविश्लेषाभावात् 'ध्रुवमपाये' इत्यप्राप्तौ इदं वचनम्।

अत्र जिज्ञास्यते यत् भवेद् यस्य माषा, न गावस्तस्य माषा ईप्सिताः स्युः। यस्य तु खलु गाावो न माषाः, कथं तस्य माषा ईप्सिताः स्युः। अत्रोच्यते तस्यापि माषा एव ईप्सिताः। आतश्चेप्सिताः, यदेभ्यो गा वारयति।

ईप्सितशब्दः क्रियाशब्द आश्रीयते न तु रुढिशब्दः। तत्र वारणक्रियया परकीया अपि माषा वारयितुः आत्मुम् इष्टा भवन्ति मा नश्नेते इत्येतेभ्यो असौ वारयति। अत्र एवकारो भिन्नक्रमः ईप्सिता एवेत्यर्थः। द्वितीयोदाहरणेऽपि तत्र यवानां स्वकीयतया संरक्षणीयत्वेन ईप्सितत्वाद् अपादानत्वं न तु गोः, तस्याः परकीयत्वेन अनीप्सितत्वाद् वारणीयतया ईप्सितत्वव्याघाताच्च तथा युक्तं चानीप्सितम् इत्यनेन गोः कर्मत्वाद् द्वितीया यदा तु यवाः परकीया, गोस्तु स्वकीया, तदा वारणीयमसंभावितमेव। वस्तुतस्तु यवानां परकीयत्वेऽपि तद्विनााद् अधर्मः स्यात् यवस्वामी गामपहृत्य बध्नीयात्। गोस्वामिनं यवस्वामी दण्डयेत् अतो यवानां रक्षितुम् इष्टत्वाद् ईप्सितत्वाद् अपादानत्वम् अस्त्येव। गोस्तु स्वकीयत्वेऽपि बाधकनिवृत्तये वारयितुम् इष्टतमत्वात् कर्मत्वम्। न च गोः ईप्सिततमत्वेऽपि ईप्सितत्वस्यापि सत्वाद् अपादानत्वं किं न स्यादिति वाच्यम्, ईप्सिततमत्वे वारणार्थानाम् इत्यपादानं बाधित्वा, कर्तुरीप्सिततमम्' इत्यपादानत्वस्य कर्तुरीप्सिततम् इति कर्मत्वापवादत्वं शङ्क्यम्, कर्तुरीप्सिततमम्' इति कर्मत्वं हि ईप्सिततममात्र विषयम्। वारणार्थानाम् इत्यपादानं तु ईप्सितमात्र विषयम्। तस्य प्रकृते ईप्सितेषु यवेषु परकीयेषु सावकाशत्वान्न कर्तुरीप्सिततम्' इति कर्मत्वापवादत्वम्। अतः परत्वाद् गोः स्वकीयायाः परकीययवापेक्षया ईप्सिततमत्वाद् द्वितीयैव। तदुक्तं भाष्ये- अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। पश्यत्ययं यदीमा गावस्तत्र गच्छन्ति ध्रुवः सस्य विनाशः, सस्यविनाशेऽधर्मः राजभयं च। स बुद्धया सम्प्राप्य निर्वतयति तत्र ध्रुवमापायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।

'कूपादन्धं वारयति' इत्यादावपि तस्यापि कूप एव ईप्सितः। पश्यत्ययम्-अन्धः कूपं मा प्रापदिति। अथवा यथैव अस्यान्यत्र अपश्यतः अन्धस्य ईप्सा एवं कूपेऽपि। स हि अन्धः अपश्यन्नपि गन्तव्यं जिगमिषति अन्यथा न तस्य क्वचित् प्रवृतिः।

अत्रोच्यते- ईप्सितम् अनीप्सिततम्, ईप्सिततमश्चेति विषयत्रयम्। तत्र स्पृहयतेः प्रयोगे ईप्सितमात्रस्य सम्प्रदानत्वम्, वारयतेः प्रयोगे ईप्सितमात्रस्यापादानत्वम्, ईप्सिततमे अनीप्सिततमे च प्रकर्षप्रत्ययोपादानसामर्थ्यात् कर्मसंज्ञायां प्रकर्षो विवक्ष्यते। तत्र द्वयोः संज्ञयोः सावकाशयोः परत्वाद् ईप्सितमस्य अनीप्सिततमस्य कर्मसंज्ञा। तरबादिः प्रवृत्तिनिमित्तगतप्रकर्षे विधीयते। प्रवृत्तिनिमित्तं चात्र इच्छा तस्यां स्वतः प्रकर्षसंभवेऽपि व्याख्यानाद् विशेषणीभूतव्याप्तिगतः स गृह्यते। एवं च प्रकृतधात्वर्थप्रधानीभूतव्यापारप्रयोज्यप्रकृतधात्वर्थफलाश्रयत्वम् ईप्सिततमत्वम्। तच्च नाग्नौ न वा कूपे अपितु माणवके अन्धे च। अतो नैतयोः अपादानत्वम् कर्मत्वमेवेत्यलम्। **अन्तर्धौ येनादर्शन्मिच्छति।** ''अन्तर्धाव्यवधापुंसि त्वन्तर्धिरपवारणम्। अपिधानतिरोधानपिधानाच्छादनानि च'' इत्यमरोक्तत्वाद् अन्तर्धिर्व्यवधानम्। यस्य च भावेन भावलक्षणम् इत्यनेन सप्तमी। येन इति सौत्रौ तृतीया सा च कर्तृपरा अतः अन्तर्धिनिमित्तकं यत्कर्तृकम् आत्मकर्मकमदर्शमिच्छति तदपादानम् इत्यर्थः। उपाध्यायादन्तर्धते। मातुर्निलीयते कृष्णः इति अन्तर्धत्ते तिरोभवतीत्यर्थः। तेन

उपाध्यायकर्तृकात्मकर्मकदर्शनाभावेच्छया तिरोभवतीत्यर्थः। भाष्यकारेण इदं सूत्रं प्रत्याख्यातम् अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। उपाध्यायादन्तर्धत्ते इत्यादौ पश्यत्ययं यदि मामुपाध्यायः पश्यति ध्रुवं मे प्रेषणमुपालम्भो वेति, स बुद्ध्या सम्प्राप्य निवर्तते। तत्र ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम्।

स्वकर्मकदर्शनाभावप्रयोजकदेशविशेषस्थितिः धातोः अर्थः। धात्वर्थदर्शनकर्ता अत्रापादानं तत्पूर्वकः निवृत्तिः धातोरर्थः तत्र मातुः अपादानत्वेनान्वयः इति भाष्यमतम्।

कृष्णो मातृकर्तृकस्वविषयकदर्शनविरहाय कुड्यादिना प्रच्छन्नो भवतीत्यर्थः। अत्र व्यवधानमाश्रित्य मातृकर्तृकस्वविषयकदर्शनविरहस्य कृष्णेन ईक्ष्यमाणतया मातुः अपादानत्वात् पञ्चमी। लीङ्श्लेषणे श्यन्विकरणः इह तु उपसर्गवशाद् व्यवधानेन परकर्तृकस्वविषयकदर्शनं विरहानुकूलव्यापारे वर्तते।

सूत्रे अन्तर्धौ इति ग्रहणात् – चौरान् न दिदृक्षते इत्यादौ दर्शनेच्छाभावरूपफलस्य आश्रयत्वाद् चौराणां कर्मत्वं तेन द्वितीया। व्यवधाने सति तेषामपादानत्वं स्यात्। इच्छति ग्रहणे अदर्शनेच्छायां सत्यां सत्यपि दर्शने यथा स्यात् देवदत्ताद् यज्ञदत्तो निलीयते इति।

आख्यातोपयोगे – आख्याता इति तृजन्तात् प्रथमैकवचनम् उपयोगशब्दस्तु नियमपूर्वकविद्याग्रहणे रुढः। नियमविशेषपूर्वकम् उपाध्यायस्योच्चारणम् अनूच्चारयतीत्यर्थः। षष्ठ्यापवादोऽयम्। भाष्ये तु उपाध्यायान्निर्गतं वेदं गृह्णाति इत्यर्थमश्रित्य प्रत्याख्यातमिदं सूत्रम्। उपेत्य अस्माद् अधीयते इत्युपाध्यायः। 'इङश्च' इति घञ्। अध्ययनं तु गुरुच्चारणनूच्चारणं नियमपूर्वकम्। भाष्ये तु अयमपि योगः शक्योऽवक्तुम्। कथमुपाध्यायादधीते इति। अपक्रामति तस्मात् तदध्ययनम्। यद् अपक्रामति किं नात्यन्ताय अपक्रामति सन्ततत्वात्। अथवा ज्योतिवज्ज्ञानानि भवन्ति'' इति महाभाष्यम्। ज्योतिर्यथामूलमविच्छिद्य ऊर्ध्वदेशं गच्छति तथैव उपाध्यायहृदयस्थितं शब्दरूपं ज्ञानं उपाध्यायहृदयमविच्छिद्य एव ध्वनिरूपेण ततो निर्गत्य शिष्यकर्णद्वारेण शिष्यहृदन्तर्निविष्टं भवति। अन्यथा ज्ञानस्य ततः सर्वथा निःसरणत्वाद् गुरोः मूर्खत्वापत्तिरेव स्यात्।

उच्चारणोत्तरकालिको नियमपूर्वको ग्रन्थस्वीकारानुकूलो व्यापारो धात्वर्थः। उच्चारणाश्रयोऽत्रापादानत्वेनैव बोधः सर्वत्र उपाध्यायान्निः सरन्तं ग्रन्थमधीते इत्यर्थः।

जनिकर्तुः प्रकृतिः– जनिः जननम् उत्पत्तिः। जनि प्रादुर्भावे इत्यस्माद्धातोः इणजादिभ्यः इति इण्। जनिवध्योश्च इति निषेधान्नोपावृद्धिः। जनेः कर्ता इति विग्रहः। जायमानस्य हेतुरपादानं स्यादिति सूत्रार्थः। 'ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते' घटादिषु कुलालादिवत् ब्रह्मणः प्रजोत्पत्तौ निमित्तकारणत्वम् इति वृत्तिकृन्मतम्। अत एव नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय। तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय तत्र निमित्तकारणाय इत्यर्थः। वृत्तकृन्मतमेतद अयुक्तम्–संयोगविश्लेषत्वेन ध्रुवमपाये इत्यनेनैव सिद्धत्वात्। अतोऽत्र मूले हेतुशब्द उपादानकारणपर एव। अत एव भाष्यकैयटयोः गोमयाद् वृश्चिका जायन्ते गोलामाविलोमभ्यो दूर्वा जायन्ते इत्युदाहृत्य परिणामेषु प्रकृतिद्रव्यावयवानुस्यूतिसत्वे बुद्धिकृतविश्लेषसत्वाद् ध्रुवमपायेऽपादानम् इत्येव सिद्धम् इति प्रत्याख्यानं संगच्छते। एवं च ब्रह्मणः प्रजा प्रजायन्ते – इत्यत्र ब्रह्मशब्देन मायोपहितमीश्वरचैतन्यमेव विवक्षितमिति सर्वकार्योपादानमिति वेदान्तसिद्धान्तः।

आचार्यः व्याकरणविभागः

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

नेपाल का संस्कृत साहित्य

प्रो. रमाकान्त पाण्डेय

भारत और नेपाल का साहित्यिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध हजारों वर्ष पुराना है। दोनों ही देश आर्य संस्कृति के पोषक और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओतप्रोत रहे हैं। दोनों देशों के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक सम्बन्ध जितने पुराने हैं उतने ही मधुर भी। विदेहराज जनक अध्यात्म विद्या के अपूर्व आचार्य और ब्रह्मज्ञानी थे। उनकी शिक्षा को भारत ने आत्मसात् किया। आज भी जनक की ब्रह्मविद्या भारतीय दर्शन की प्राण है तथा वह उपनिषद् विद्या-प्रासाद के मूल स्तम्भ के रूप में समादृत है। नेपाल केवल उपनिषद् विद्या का ही केन्द्र नहीं रहा। यहाँ बौद्ध दर्शन के भी अनेक सम्प्रदाय पुष्पित और पल्लवित हुये। रामायण, महाभारत और बृहत्कथा का अमिट प्रभाव नेपाल के साहित्य और संस्कृति में झलकता है। इन ग्रन्थों को उपजीव्य बनाकर यहाँ अनेक रचनायें हुईं।

नेपाल में रचित संस्कृत साहित्य की चर्चा का श्रीगणेश मैं वहाँ के शिलालेखों से करना चाहूँगा। यद्यपि शिलालेखों का लक्ष्य काव्यसौष्ठव प्रदर्शित करना कथमपि नहीं होता। राजा अपनी दिग्विजय यात्राओं, अपने समय की राजनैतिक घटनाओं, आर्थिक और धार्मिक स्थितियों तथा उस प्रकार के अपने अन्य कार्यों को चिरस्थायी बनाने के लिये ही शिलालेखों का निर्माण कराते हैं किन्तु काव्यरचना में निपुण राजकवियों द्वारा रचित इन शिलालेखों में काव्यत्व सहज रूप से ही सुशोभित होता है।

नेपाल के लिच्छवी वंशी राजाओं ने सन् 463 ई. से 747 ई. के मध्य यद्यपि अनेक शिलालेख उत्कीर्ण कराये किन्तु उनमें से अब कुल 89 शिलालेख प्राप्त होते हैं। इनका प्रथम प्रकाशन इटली के इतिहासवेत्ता रोने रो नोली ने 'इन्स्क्रिप्सन्स ऑफ नेपाल' शीर्षक से रोमन लिपि में कराया था जिनका देवनागरी लिप्यन्तरण अंग्रेजी एवं हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हो चुका है। ये शिलालेख नेपाल और भारत के ऐतिहासिक, साँस्कृतिक और साहित्यिक सम्बन्ध को तो प्रमाणित करते ही हैं, अपनी काव्यात्मकता से गुप्तकालीन अभिलेख शैली का भी स्मरण कराते हैं। उदाहरणार्थ मानदेव के छंगूनारायण मानदेव प्रशस्ति स्तम्भ लेख के अधोलिखित पद्य द्रष्टव्य हैं–

प्रत्यागत्य सगद्गदाक्षरमिदं दीर्घं विनिःश्वस्य च
प्रेम्णा पुत्रमुवाच साश्रुवदना यातः पिता ते दिवम्।
हा पुत्रास्तमिते तवाद्य पितरि प्राणैर्वृथा किं मम
राज्यं पुत्रक कारयाऽहमनुयाम्यद्यैव भर्तुर्गतिम्।।

महाराज धर्मदेव की मृत्यु के अनन्तर सती होने को उद्यत महारानी राज्यवती अपने पुत्र मानदेव के पास आती है, दीर्घनिःश्वास लेती हुई वह रानी गद्गद होकर अपने पुत्र से कहती है कि हे पुत्र!

आज तुम्हारे पिता के दिवंगत हो जाने के अनन्तर अब मेरे जीवन का कोई प्रयोजन नहीं रहा। मेरा जीवन व्यर्थ है। अब तुम राज्य करो मैं आज ही पति का अनुगमन करूँगी। वह पुनः कहती है -

किं मे भोगविधानविस्तरकृतैराशामयैर्बन्धनैः
मायास्वप्ननिभे समागमविधौ भर्ना विना जीवितुम्।
यामीत्येवमवस्थिता खलु तदा दीनात्मना सूनुना
पादौ भक्तिवशान्निपीड्य शिरसा विज्ञापिता यत्नतः।।

रानी राज्यवती पुत्र के सम्मुख संसार की असारता का निरूपण करती है। आशारूपी बन्धनों में बँधे इस विशाल भोग-विधान से अब उसका कोई प्रयोजन नहीं रहा। पति के विना संसार के सारे भोग उसके लिये व्यर्थ हैं। सांसारिक आसक्ति तो मायावी स्वप्नों की तरह है। उनमें पति के विना जीवित रह पाना संभव नहीं है। इसलिये वह पति के मार्ग का अनुसरण करती हुई स्वर्ग जाने को उद्यत होती है। यह देखकर दुःखी पुत्र मानदेव माता के चरणों में गिर जाता है और शिर पटक-पटक कर कहता है–

किं भोगैर्मम किं हि जीवितसुखैस्त्वद्विप्रयोगे सति
प्राणान् पूर्वमहं जहामि परतस्त्वं यास्यसीतो दिवम्।
इत्येवं मुखपङ्कजान्तरगतैर्नेत्राम्बुमित्रैर्दृढं
वाक्पाशैर्विहगीव पाशवशगा बद्धा ततस्तस्थुषी।।

माँ! तुम्हारे न रह जाने के बाद इन राज्य आदि साँसारिक भोगों से मेरा क्या प्रयोजन? मैं तुमसे पहले ही प्राण त्याग दूंगा। तुम मेरे बाद स्वर्ग जाओगी। आँसुओं से भीगी पुत्र के मुख कमल से निकली वाणी के पाश में विहगी की भाँति बँधी हुई रानी खड़ी की खड़ी रह गयी।

शिलालेखकार कवि के इन श्लोकों में करुणरस का अविरत प्रवाह सहृदय के नेत्रों को अश्रुपूरित कर देता है। पति के बिना रानी राज्यवती का संसार को सूना देखना तथा माँ को चितारूढ़ होने को उद्यत देखकर मानदेव का विह्वल होना काव्य में अपूर्व चारुता का संधान करता है। वात्सल्य, स्नेह और ममता जैसी कोमल भावनायें इस शिलालेख की विशेषतायें हैं।

नेपाल के शिलालेखों में जिस प्रकार रसपरिपाक का परिपोष हुआ है उसी प्रकार श्लेष, यमक आदि अलंकारों का स्पृहणीय विन्यास कतिपय शिलालेखों में ओजस्विता और गाढबन्धता की सृष्टि करता है। उदाहरणार्थ पशुपतिवंशप्रशस्तिशिलालेख के कतिपय पद्य देखे जा सकते हैं -

माद्यद्दन्तिसमूहदन्तमुसलक्षुण्णारिभूभृच्छिरो
गौडोद्रादिकलिङ्गकोशलपति-श्रीहर्षदेवात्मजा।
देवी राज्यमती कुलोचितगुणैर्युक्ता प्रभूता कुलै-
चनोढा भगदत्तराजकुलजा लक्ष्मीरिव क्ष्माभुजा।।

नेपाल से प्राप्त इन शिलालेखों का जितना महत्त्व ऐतिहासिक दृष्टि से है उतना ही महत्त्व साहित्यिक दृष्टि से भी है। नेपाल में संस्कृत साहित्य की रचना और वहाँ के कवियों की काव्यचातुरी को इन शिलालेखों के माध्यम से प्रमाणित किया जा सकता है। ऊपर 'इत्येवं मुखपङ्कजान्तरगतैर्नेत्राम्बुमित्रैर्दृढम्, वाक्पाशैर्विहगीव पाशवशगा बद्धा ततस्तस्थुषी' में शिलालेखकार कवि ने पुत्र के आँसुओं से भीगे वाणी-पाश से बँधी माता की विवशता का जो वर्णन किया है, वह निश्चय ही उसकी अपनी प्रतिभा का चमत्कार और उसका अपना मुहावरा भी है। भीगा हुआ पाश अधिक सुदृढ़ होता है तथा बंधन को दृढ़ रखता है।

मानदेव के काल की इस रचना से यह भी सिद्ध होता है कि संस्कृत नेपाल में उनसे पहले सहस्राब्दियों से व्यहृत होती रही होगी।

नेपाल की यह संस्कृत रचना धर्मिता कमोवेश सतत रूप से चलती रही। जिस प्रकार नेपाल का शिलालेखीय संस्कृत साहित्य गुप्तकाल के शिला लेखों की उत्कृष्टता का प्रतिबिम्ब है उसी प्रकार आधुनिक काल में लिखा गया नेपालदेशीय संस्कृत साहित्य भारत में प्रणीत संस्कृत साहित्य का प्रतिबिम्ब उपस्थापित करता है। इस कालखण्ड में नेपाल में अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों,

नाटकों तथा कथा आदि का प्रणयन हुआ। नेपाल में इस काल खण्ड में रचित कतिपय प्रमुख काव्यों का परिचय यहाँ संक्षेप में द्रष्टव्य है–

(क) महाकाव्य–

भारतवर्ष में स्वतन्त्रता के बाद प्रायः 350 महाकाव्यों का प्रणयन हुआ। इन महाकाव्यों के उपजीव्य रामायण, महाभारत, पुराण आदि अवश्य रहे किन्तु कवियों ने उस कथावस्तु को अपने युग की आवश्यकता के अनुसार अनुरूपता प्रदान की। रेवा प्रसाद द्विवेदी का सीताचरित, राजेन्द्र मिश्र का जानकीजीवनम् तथा इस प्रकार के अन्य महाकाव्य इसमें प्रमाण हैं।

नेपालदेशीय महाकवियों में पूर्णप्रसाद ब्राह्मण का नाम अग्रगण्य हैं। इनका जन्म गण्डकीक्षेत्र के गोरखा मंडल में स्थित काफल डाँडा नामक ग्राम में 1979 विक्रमी में हुआ। इनके पिता का नाम देवीदत्त तथा माता का नाम रुक्मिणी देवी था। इनकी शिक्षा-दीक्षा काठमाण्डू स्थित रानीपोखरी संस्कृत महाविद्यालय में हुई।

पूर्णप्रसाद ब्राह्मण की काव्य रचना का प्रयोजन यश, धन प्राप्ति आदि न होकर समाज-सुधार, शोषण का उन्मूलन तथा जन-जागरण है। उनका 'सत्यहरिश्चन्द्रमहाकाव्य' तेरह सर्गों में विभक्त है। इसकी रचना विक्रम संवत् 2003 से 2005 के मध्य हुई तथा इसका प्रकाशन 2007 विक्रमी में हुआ। कवि ने पुराणों से हरिश्चन्द्र की कथा लेकर तत्कालीन नेपाल राष्ट्र के परिवेश के अनुसार उसे ढाला। वंशवादी राणा सरकार का उन्होंने इस काव्य के माध्यम से विरोध किया। राजाओं द्वारा जनता के शोषण के विरुद्ध प्रबल आवाज उठायी।

इस महाकाव्य में अनुष्टुप्, उपजाति, मन्दाक्रान्ता आदि बारह छन्दों का प्रयोग हुआ है तथा इसमें कुल 752 पद्य हैं।

महाकाव्य में स्वाभाविक अलंकारों का प्रयोग हुआ है। उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अप्रस्तुप्रशंसा, स्वाभावोक्ति और अर्थान्तरन्यास कवि के प्रिय अलंकार हैं। यहाँ उपमा का एक उदाहरण द्रष्टव्य देवी **कपोतीव वियोजिता प्रियात्**

प्रसूनवल्लीव पृथक्कृता मधोः।
निध्यायति म्लानहृदैव केवलं
तापस्य शोषस्य च पात्रतां गता।। स.ह. 11.18

महारानी शैव्या कपोती की तरह अपने प्रियतम से अलग कर दी गयी। वह वसन्त से अलग की गयी पुष्पित लता की भाँति सूख रही थी। ताप और शोषण की पात्र वह शैव्या कुछ बोल नहीं सकती थी केवल दुःखी हृदय से अपने प्रियतम को सोच रही थी। यहाँ उपमान के रूप में प्रयुक्त कपोती उपमेय शैव्या की दुर्दशा को व्यक्त करने में पूर्णतः समर्थ है। इसी प्रकार मधु और प्रसूनवल्ली से हरिश्चन्द्र और शैव्या को उपमित करते हुये कवि ने दोनों की दुरवस्था का मनोहारी चित्र खींचा है। उत्प्रेक्षा के प्रयोग में कवि की निपुणता अधोलिखित पद्य में देखी जा सकती है–

दिक्सुन्दरीभिरमितैर्हसितप्रकाशैः
धौतेव चामरवधूभिरधीरवृत्त्या।
क्षिप्तैर्विलासकलहे मणिरत्नपूर्णैः
व्याप्तान्तरेव रजनी मधुरं महास।। 2.9।।

कवि ने इस महाकाव्य में व्यर्थ पाण्डित्य प्रदर्शन नहीं किया। उसने नेपाल की जनता की दुर्दशा का वर्णन करते हुये तत्कालीन राजा के प्रति अपनी अनास्था को प्रकट किया है।

इस महाकाव्य में करुण रस अङ्गी है। शृंगार आदि भी अंग के रूप में उपन्यस्त हैं। हरिश्चन्द्र का समग्र जीवन ही करुण रस से परिपूर्ण है, अतः कवि ने अपने महाकाव्य में करुण को ही प्रधानता प्रदान की है। काशी में बिके हरिश्चन्द्र को अपने क्रेता स्वामी के साथ जाने को उद्यत देख कर रानी शैव्या का वर्णन करते हुये कवि सहृदय पाठक को करुण रसाप्लावित कर देता है–

वियोगकाले महिषी शुचाऽऽकुला
नृपं यियासुं नयनाम्बुरुद्धया।
ददर्श दृष्ट्यैव निमेषशून्यया
शशाक नो किञ्चिदपि प्रभाषितुम्।।

शोक से व्याकुल रानी शैव्या स्वामी के साथ जाने को उद्यत अपने प्रियतम हरिश्चन्द्र को डबडबाई आँखों से निर्निमेष देखती रही पर कुछ बोल नहीं पायी।

हरिश्चन्द्र मन से लोक कल्याण के लिये उद्यत थे। उनका शरीर प्रजा की सेवा के लिये द्वन्द्व

सहन कर रहा था। उनके वचन सत्यता और पवित्रता को धारण कर रहे थे। इस प्रकार वह राजा स्वयं मूर्त त्रिविध तप के रूप में सुशोभित हो रहा था –

व्यग्रं सदा लोकहिताय चित्तं
सेवापरं द्वन्द्वसहं शरीरम्।
सत्येन पूतं वचनं च बिभ्रत्
स एव मूर्त त्रिविधं तपोऽभूत्।।

काव्यशास्त्रियों ने महाकाव्य रचना के कतिपय सामान्य नियमों का उल्लेख किया है। जिनके अनुसार महाकाव्य में प्रकृति वर्णन अत्यावश्यक है। पूर्णप्रसाद ब्राह्मण अपने महाकाव्य में प्रकृति वर्णन के लिये सर्वथा दत्तावधान हैं। भगवती भागीरथी का प्रातः कालीन सौन्दर्य वर्णन कवि की प्रकृति–चित्रण–पटुता का निदर्शन है–

प्रातः प्राच्या उदय–कनकद्वारमुद्घाट्य देवी
सा स्वर्णोषा किरणपथतो मन्दगत्यावतीर्य।
स्नातुं गाङ्गं सलिलमविशत् तत् स्मितं व्याप्य तोयम्।।

स्वर्णिम आभा से मण्डित देवी उषा प्राची दिशा से सोने के द्वार खोल कर किरणों के मार्ग से मन्द गति से उतरी और स्नान करने के लिये गंगा के जल में प्रविष्ट हुई। उसके सुनहले बाल गंगा की लहरों में नृत्य कर रहे थे।

कवि ने अपने समय की सामाजिक विकृति का वर्णन करते हुये श्मशान का भी वर्णन किया है। साथ ही तत्कालीन राजनीति के प्रति अपना क्रोध प्रकट करते हुये उसने ग्रीष्म ऋतु का वर्णन किया है –

भूमिश्च तप्ता हरितश्च तप्ता
अन्तर्बहिस्तत् सममेव तप्तम्।
ग्रीष्मे जना वर्मनि घम
तप्ते निरङ्कुशं राजनयं स्मरन्ति।।

ग्रीष्म ऋतु पर निरंकुश राजनीति का आरोप कर कवि ने अपना आक्रोश व्यक्त किया है। पूर्णप्रसाद ब्राह्मण ने ग्रीष्म के बहाने शोषण के विरुद्ध भी प्रबल आवाज उठायी है –

ग्रीष्मस्य राज्यस्य विशिष्टतेयं
भुक्ष्वाल्पमात्रं वस नग्नदेहः।
संश्लिष्य नो ब्रूहि न तिष्ठ मित्रै
ग्लानः सदा निर्विश शोषणञ्च।।

यहाँ ग्रीष्म के वर्णन के व्याज से तत्कालीन राजा के शासन में प्रजा की भुखमरी, नग्नशरीरता आदि का वर्णन किया गया है।

पूर्णप्रसाद ब्राह्मण द्वारा रचित इस महाकाव्य के नायक हरिश्चन्द्र हैं। नायिका उनकी प्रियतमा शैव्या है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, वरुण, रोहित आदि की भी यथोचित भूमिका इस महाकाव्य में है। यत्र तत्र नेपाली भाषा के अनुकरणात्मक शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। महाकाव्य का पर्यवसान विश्वामित्र द्वारा हरिश्चन्द्र को दी गयी सान्त्वना से होता है –

समाप्ताग्निपरीक्षा ते समाप्ता दुःखवासराः।
श्रान्तास्माकं परीक्षैव धन्यः सत्याग्रहस्तव।।
प्राणिमात्रे स्वात्मभावस्तत् क्षात्रं सा च सत्यता।
महात्मन् नैव पश्यामो देवेषु त्वयि चान्तरम्।।
किं ब्रुवाण्यधिकं वत्स सदैतत् हृदये स्मर
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।

इस महाकाव्य का सन्देश, रचना शैली, अलंकार प्रयोग तथा मानवीय मूल्य भारत और नेपाल के लिये समान हैं।

भरत राज घिमिरे मन्थलीय ने 'महेन्द्रोदय' नामक दशसर्गात्मक महाकाव्य की रचना की। इसमें नेपाल नरेश महेन्द्र का परिचय दिया गया है। कवि ने अपने नायक के सरल व्यक्तित्व, प्रजावत्सलता तथा राजशासन की चतुरता का वर्णन किया है। यह महाकाव्य भारतीय आचार्यों द्वारा निर्धारित निकषों पर खरा उतरता है। अन्त में पौराणिक परम्परा के अनुसार राजा को विष्णु का अंश मानते हुये कवि ने अपने काव्य की समाप्ति की है।

महाकवि हरिप्रसाद आचार्य द्वारा विरचित बीस सर्गों में विभक्त 'गोरक्षशाहवंशम्' महाकाव्य का प्रकाशन 1955 ई. में हिन्दी अनुवाद के साथ होशियारपुर से हुआ। इस महाकाव्य में शाहवंशीय नेपाल नरेशों का वर्णन है। इस महाकाव्य में रघुवंश महाकाव्य तथा कल्हण की राजतरंगिणी का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। कवि को अपने देश पर गर्व है। वह नेपाल का चित्र खींचता हुआ लिखता है–

सर्वतन्त्रस्वतन्त्रो यो नानागिरिविभूषितः।
अरण्यानीसमायुक्तो निर्झरध्वनिनादितः।।
सोऽयं नेपालदेशा नो वेदाचारविचारकः।
निधानं सर्वधर्माणां जयत्यस्मिन् महीतले।।

श्रीकृष्णप्रसाद घिमिरे ने पाँच महाकाव्यों की रचना की – 1. श्रीकृष्णचरितामृतम्, 2. वृत्रवधम्, 3. ययातिचरितम्, 4. गौरीगिरिशम् तथा 5. नाचिकेतम्। 'श्रीकृष्णचरितामृतम्' महाकाव्य 5 सर्गों में निबद्ध है। इसका उपजीव्य श्रीमद्भागवत महापुराण के दशम स्कन्ध का पूर्वार्द्ध है। भारत में इस महाकाव्य का महान् आदर हुआ। भारत के राष्ट्रपति वी.वी. गिरि ने इस महाकाव्य का अभिनन्दन किया।

नाचिकेत महाकाव्य का उपजीव्य कठोपनिषद् में वर्णित नचिकेता-उपाख्यान है। इसमें कुल 28

सर्ग हैं। दार्शनिक तत्त्वों और काव्यतत्त्वों का अद्भुत समन्वय इस महाकाव्य में हुआ है। कवि स्वयं इस काव्य को ब्रह्मविद्यापरक मानता है –

कृष्णप्रसादरचितं कठोपनिषदात्मकम्।
ब्रह्मविद्यापरं काव्यं तदिदं पूर्णतामगात्।।

गौरीगिरीशमहाकाव्य जयदेव के गीत गोविन्द के अनुकरण पर लिखा गया है। इसमें कुल नौ सर्ग हैं। शिवपुराण और कालिदास के कुमारसंभव का स्पष्ट प्रभाव यहाँ परिलक्षित होता है। महाकाव्य के मङ्गलाचरण में कवि ने स्वयं इसके विषयवस्तु का संकेत किया है–

निर्मायैव चराचरात्मकमिदं ब्रह्माण्डमत्यद्भुतम्
तस्मिन् स्वं विनिवेश्य बीजसदृशं स्वेच्छाक्रियाबोधतः
सम्प्राप्तं महिमानमात्मरकैर्निर्दिश्य मार्ग स्वतः
क्रीडायां रतयोर्जयन्ति शिवयोः लीलाविहारा इह।।

महाभारत और श्रीमद्भागवत में वर्णित ययातिचरित के आधार पर घिमिरे जी ने इक्कीस सर्गात्मक ययातिचरित महाकाव्य की रचना की है। यह महाकाव्य अप्रकाशित है।

महाकवि भीमकान्त द्वारा रचित 'जगदम्बिकावैभवम्' महाकाव्य श्रीमद्देवीभागवत पर आश्रित है। इसमें कुल 12 सर्ग हैं। इनका दूसरा महाकाव्य 'जगदीश्वरवैभवम्' है। इसमें कुल आठ सर्गों में श्रीमद्भागवतमहापुराण को उपजीव्य मान कर ध्रुव की कथा का वर्णन किया गया है।

इनके अतिरिक्त श्रीमाधवभट्टराई का 'सत्साईचरितम्' महाकाव्य भी प्रकाशित है। इस महाकाव्य में 15 सर्गों में साँई बाबा का चरित्र वर्णित है।।

महाकवि वेणीमाधवढकाल का 18 सर्गात्मक पृथूदयमहाकाव्य भी प्रकाशित है जो श्रीमद्भागवत में वर्णित महाराज पृथु की कथा का पल्लवन है। पशुपति झा का नेपाल साम्राज्योदय 15 सर्गों में नेपाल देश का इतिहास प्रस्तुत करता है। नेपाल में रचित कुछ महत्त्वपूर्ण काव्य निम्नलिखित हैं –

खण्डकाव्य–

1. नखलेश्वरकाव्यम् – माणिक्य उपाध्याय

नेपाल के आधुनिक संस्कृत कवियों द्वारा सतत संस्कृत रचना की जा रही है। उनके द्वारा न केवल महाकाव्यों की रचना की गई है अपितु अनेक गद्य, पद्य और नाट्यकाव्यों की रचना भी की गई है। कतिपय समीक्षिकों के अनुसार यहाँ गीतिकाव्य, नीतिकाव्य, शतककाव्य, दूतकाव्य तथा समस्यापूर्ति आदि भी लिखे गये हैं। इस विषय में नेपाल संस्कृत विश्वविद्यालय के ऋतम्भरा नामक अनुसंधान पत्रिका में कतिपय आलेख प्रकाशित हैं। तदनुसार कतिपय प्रमुख कवियों तथा उनके काव्यों का उल्लेख इस निबन्ध में किया जा रहा है। यद्यपि इन काव्यों के प्रकाशन आदि का सम्यक् उल्लेख वहाँ नहीं हुआ जो आज भी अन्वेषणीय है तथापि इनके उल्लेख से विद्वानों को अनुसंधान की दिशा मिल सकेगी।

नेपाल देश में विरचित कतिपय काव्यों की सूची

क्र.सं.	ग्रन्थनाम	कविः	प्रकाशनवर्षम् (वि.सं.)
1.	रामाङ्कनाटिका	धर्मगुप्तः	2032
2.	भैरवानन्दनाटकम्	मणिकः	
3.	हरिकेलिमहाकाव्यम्	वंशमणिः	2051
4.	कीर्तिपताका (वर्णनात्मककाव्यम्)	कुनुशर्मा रामभद्रः	2018
5.	हस्तमुक्तावलीटीका (अभिनयः)	घनश्यामः	
6.	भक्तविजयकाव्यम्	ललितावल्लभः	2026
7.	जयरत्नाकरनाटकम्	शक्तिवल्लभोऽर्ज्यालः	2009
8.	चन्द्रसम्भवमहाकाव्यम्	यज्ञशर्मा सूरिः (कोइरालाः)	2014
9.	प्रशस्तिरत्नम् (पत्रलेखनम्)	रामभद्र उपाध्यायः	2058
10.	प्रशस्तिरत्नावलिः (पत्रलेखनम्)	वाणीविलासः पाँडेः	2011
11.	त्रिरत्नसौन्दर्यगाथा (स्तुतिकाव्यम्)	सुन्दरानन्दः पण्डितः	2022
12.	कार्तवीर्योदयम् (महाकाव्यम्)	सुकृतिदत्तः पन्तः	2019
13.	पशुपतिस्तोत्रं श्रीगुह्यकालिस्तुतिश्च	रामचन्द्रः जोसिः	2051
14.	कुशलवोदयम् (रूपकम्)	छविलालः सूरिः	1964
15.	वीरसम्सेरजङ्गराणाकीर्तिवर्णना (लघुचित्रकाव्यम्)	भुवनेश्वरः पण्डितः	2030
16.	शोकमहोर्मिः (विक्टोरियामरणशोककाव्यम्)	कुलचन्द्रगौतमः	1954
17.	गङ्गागौरवम् (स्तवकाव्यम्)	कुलचन्द्रगौतमः	1957
18.	प्रेमपञ्चपञ्चाशिका (जनकराजपत्नीवियोगवर्णनम्)	कुलचन्द्रगौतमः	1992
19.	वन्दनायुगलम् (स्तुतिकाव्यम्)	कुलचन्द्रगौतमः	1995
20.	आदर्शदम्पती सीतारामौ (लघुकाव्यम्)	कुलचन्द्रगौतमः	2005
21.	श्रीरामचरितामृतम्	दधिराम-मरासिनिः	2012
22.	श्रीकृष्णचरितामृतम्	दधिराम-मरासिनिः	1985, 2054
23.	आदर्शराघवपुष्पाञ्जलिः (स्तवकाव्यम्)	सोमनाथशर्मा	2050
24.	श्रीजगदम्बास्तुतिपद्यमालिका (स्तवकाव्यम्)	राधानाथः लोहनिः	1971
25.	पद्यमालिका (लघुकाव्यसङ्ग्रहः)	रामनाथ आचार्यः	2034
26.	भारतीवैभवम् (वाणीस्तवकाव्यम्)	माधवप्रसादः देवकोटाः	2010
27.	ऊर्मिमाला (संस्कृतलघुकाव्यसङ्ग्रहः)	माधवप्रसादः देवकोटाः	2038

28.	गण्डकीगौरवम् (स्तुतिकाव्यम्)	उमानाथः पन्थी	2007
29.	आदिनाथाष्टकम् (स्तवकाव्यम्)	चिरञ्जीवि प्रोखेलः	2015
30.	आदर्शमहेन्द्रचम्पूः	हेमन्तरामः भट्टराइः	2024
31.	आदर्शजवाहरलालचम्पूः	हेमन्तरामः भट्टराइः	2033
32.	आदर्शत्रिभुवनचम्पूः	हेमन्तरामः भट्टराइः	2038
33.	भगवद्वरिवस्या (भक्तिकाव्यम्)	बुद्धिसागरः पराजुलिः	2032
34.	सूक्तिसञ्चयः (लघुकाव्यसङ्ग्रहः)	यदुनाथः खनालः	2047, 2058
35.	रुक्मिणीपरिणयम् (लघुकाव्यम्)	गुणराज उपाध्यायः खनालः	2044
36.	श्रीकृष्णचरितामृतम् (महाकाव्यम्)	कृष्णप्रसादशर्मा घिमिरेः	2028
37.	रामविलापः (खण्डकाव्यम्)	कृष्णप्रसादशर्मा घिमिरेः	2036
38.	जगदीश्वरवैभवम् (स्तवकाव्यम्)	भीमकान्तः पन्थी	2055
39.	जगदम्बिकावैभवम् (स्तवकाव्यम्)	भीमकान्तः पन्थी	2056
40.	विविधपद्यावलिः (संस्कृतपद्यसङ्ग्रहः)	भीमकान्तः पन्थी	2057
41.	सत्यहरिश्चन्द्रम् (महाकाव्यम्)	पूर्णप्रसाद ब्राह्मणः	2027
42.	विश्वेदेवाः (लघिष्ठकाव्यसङ्ग्रहः)	पूर्णप्रसाद ब्राह्मणः	2011
43.	तदर्थमेव (लघुकाव्यसङ्ग्रहः)	पूर्णप्रसाद ब्राह्मणः	2026
44.	पशुपतिदर्शनम् (अन्योक्तिकाव्यम्)	रामेश्वरशर्मा	2059
45.	परिणामः (रूपकम्)	चूडानाथः भट्टारायः	2016
46.	अन्योक्तिमुक्तावली (सुभाषितम्)	नरहरि नाथः	
47.	ववैलहरी (खण्डकाव्यम्)	मेघराज उपाध्यायः नेउपानेः	2038
48.	महेन्द्रोदयम् (महाकाव्यम्)	भरतराजशर्मा	2017
49.	महेन्द्रोदयटीका (काव्यव्याख्या)	शङ्करप्रसादः सत्यालः	2017
50.	गिरिबाला (खण्डकाव्यम्)	भरतराजशर्मा मन्थलीयः	2039
51.	कृष्णाभिसर्पणम् (काव्यम्)	भरतराजशर्मा मन्थलीयः	2056
52.	मोतिवृत्तम् (काव्यम्)	भरतराजशर्मा मन्थलीयः	2057
53.	नेपालसाम्राज्योदयम् (ऐतिहासिककाव्यम्)	पशुपतिः झाः	
54.	कलमाक्षरचरितम् (नव्यकाव्यम्)	तेजःकेशरी उपाध्यायः (पौडेलः)	2059
55.	वल्लरी (लघुकाव्यसङ्ग्रहः)	भरतराजः पन्तः	2051
56.	गोरक्षाशाहवंशः (महाकाव्यम्)	हरिप्रसादशर्मा आचार्यः	2022
57.	श्रीमहेन्द्रविरहवेदना (शोककाव्यम्)	हरिप्रसादशर्मा आचार्यः	2028

58.	श्रीवीरेन्द्रशुभराज्याभिषेकम् (राजचरितकीर्तनम्)	हरिप्रसादशर्मा आचार्यः	2031
59.	विनतिपुष्पाञ्जलिः (लघुकाव्यसङ्ग्रहः)	रोहिणीवल्लभशर्मा पोखेलः	2039
60.	अभिनवमेघदूतम् (प्रणयकाव्यम्)	रोहिणीवल्लभशर्मा पोखेलः	2041
61.	मिथिलासौरभम् (खण्डकाव्यम्)	रोहिणीवल्लभशर्मा पोखेलः	2047
62.	नेनेपालः (खण्डकाव्यम्)	टीकारामपन्थी	2040
63.	अश्रूपहारः (शोककाव्यम्)	ऋष्यशृङ्गमुनिः (टीकरामपन्थी)	2040
64.	मङ्गलग्रहः (खण्डकाव्यम्)	टीकारामपन्थी	2056
65.	श्री महेन्द्रगौरवम् (लघुकाव्यम्)	खेमराजः केशवशरणः	
66.	तस्या एव कृते (काव्यानुवादः)	कुलमणिदेवकोटाः	2023
67.	किमुपहरामि (लघुकाव्यसङ्ग्रहः)	विष्णुराज आत्रेयः	2037
68.	व्यथाविधा (वियोगकाव्यम्)	विष्णुराज आत्रेयः	2037
69.	सत्य-साई-चरितम् (महाकाव्यम्)	माधवभट्टराईः	2061
70.	ब्राह्मणसहस्रनामस्तोत्रम् (नमस्तुतिः)	माधवभट्टराईः	2067
71.	गोविन्दचरितामृतम् (व्यक्तिगतचरितम्)	टीकारामः अधिकारी	2062
72.	पद्यपुष्पाञ्जलिः (संस्कृतकवितासङ्ग्रहः)	टीकारामः अधिकारी	2064
73.	प्राकृतपोखरानुवादः	लक्ष्मीकान्तः पन्थी	2067
74.	संस्कृतकवितासङ्ग्रहः	अनेके कवयः	2059

आचार्य (साहित्य विभाग)
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
जयपुर परिसरः, जयपुर

अन्वीक्षा

प्रो. सत्यम् कुमारी

सर्वत्र सर्वशास्त्रोपकारकतया आन्वीक्षिकीत्यपरभिधं न्यायशास्त्रं सुविख्यातम्, महर्षिणा कौटिल्येन अस्य न्यायशास्त्रस्य महत्त्वं स्वरचिते अर्थशास्त्रे एवं वर्णितम् –

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।

आश्रयः सर्वधर्माणाम् शश्वदान्वीक्षिकी मता।।[1]

आन्वीक्षिकी विद्या सर्वासामपि विद्यानां कृते दीपक इव प्रतिभाति, विद्या सर्वकर्मानुष्ठानस्य साधनमार्गः सर्वधर्माणामाश्रयश्चेति आन्वीक्षिकीं विना धर्मस्य कथमपि बोधो न भवति तदुक्तं वैवस्वत्मनुना –

आर्षधर्मोपदेशञ्च वेदशास्त्राविरोधिना।

यस्तर्केणनुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः।।[2]

यस्तर्केण धर्माधर्मयोरनुसन्धानं करोति स एव धर्मं ज्ञातुमर्हति नान्यः। यथा धर्मोऽस्य तर्कस्य न्यायस्य वाऽनिवार्यप्रवृत्तिस्तथैवाऽन्यत्र ज्ञानेऽनुसन्धानेऽप्यप्रतिहता गतिरिति विज्ञेयम्। सेयं न्यायविद्या समस्तज्ञानविज्ञानहेतुभूता सहायिका इति सर्वैमहर्षिभिः प्राचीनैर्नवीनै विर्द्वद्भिश्च स्वीक्रियते।

को नाम न्याय इति जिज्ञासायाम् न्यायसूत्रभाष्यकारो वात्स्यायनः प्राह – प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः।[3] इति नीयते प्राप्यते विवक्षितार्थसिद्धिरनेनेति न्याय इत्युच्यते। स च प्रतिज्ञा–हेतूदाहरणोपनयनिगमनात्मकः पञ्चावयवयुक्तो वाक्यसमूह एवेति।

प्राचीननैयायिकाः षोडश पदार्थाः स्वीकुर्वन्ति। न्यायशास्त्रस्य आदिमं सूत्रम् अस्ति–प्रमाण–प्रमेय सशंय–प्रयोजन–दृष्टान्त–सिद्धान्त–अवयव–तर्क–निर्णय–वाद–जल्प–वित्तण्डाहेत्वाभास–छलजाति निग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निः श्रेयसाधिगमः।[4]

एतेषु षोडशपदार्थेषु प्रथममुद्दिष्टमस्ति प्रमाणम्। प्रमायाः यत् करणं भवति तदेव प्रमाणमित्युच्यते।[5] प्रमापदेन यथार्थानुभवोऽभीष्टः, सेयं यथार्थानुभवरूपा प्रमा येन प्रमीयते तदेव प्रमाणम् इति प्रोच्यते। ज्ञानं द्विधा–स्मृतिः अनुभवश्च उक्तं च कारिकावल्याम्–

विभुबुर्द्ध्यादिगुणवान् बुद्धिस्तु द्विविधा मता।

अनुभूतिः स्मृतिश्च स्यादनुभूतिश्चतुर्विधा।।[6]

अनुभूतिश्चतुर्विधा प्रत्यक्षानुमिति उपमितिशब्दभेदात्। एतासां चतसृणामनुभूतीनाञ्च चत्वारि कारणानि। एतानि च प्रत्यक्षाऽनुमानोपमान–शब्दाः। तथा न्यायसूत्रम् प्रत्यक्षाऽनुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। न्यायदर्शनाभिमते प्रमाणचतुष्टये प्रत्यक्षं प्रथमप्रमाणमस्ति। साक्षात्कारि प्रमाकरणं प्रत्यक्षम् इति प्रत्यक्षप्रमाणलक्षणम्। साक्षात्कारिणी प्रमा सा कथ्यते या इन्द्रियजा। इत्थम् केनापि इन्द्रियेण जायमाना प्रमा येन प्रमीयते तदेव प्रत्यक्षप्रमा कथ्यते। एषा प्रत्यक्षप्रमा द्विधा भवति निर्विकल्पात्मिका सविकल्पात्मिका च। आत्मा मनसा,

मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन सम्बद्ध्यते यदा तदा नामजात्यादियोजनारहितम् वस्तुमात्रावगाहि यत् ज्ञानं भवति तद्ज्ञानं निर्विकल्पप्रत्यक्षप्रमेत्युच्यते। निर्विकल्पकानन्तरं नामजात्यादियोजनासहितम् अयं घटः अयं ब्राह्मणः इत्याद्याकारकम् यत् विशेषणविशेष्यावगाहिज्ञानमुत्पद्यते तत् सविकल्पकप्रत्यक्षप्रमेत्युच्यते।

अनुमानम्–

अनुमितिकरणं लिङ्गपरामर्शो वा अनुमानं कथ्यते।[7] व्याप्तिबलेन कस्यापि वस्तुनोऽवबोधकं लिङ्गं कथ्यते। एतस्य नाम हेतुः इत्यपि भवति। एतस्यैव तृतीयं ज्ञानं परामर्शः इति कथ्यते, पुरुषस्य महानसे धूमस्य यत् ज्ञानं भवति तत् प्रथमं ज्ञानं कथ्यते धूमाग्नौ भूयोभूयः पश्यन्नुभयोः स्वाभाविकरूपां व्याप्तिमवधार्य स यदा पर्वतं गच्छति तदा तत्र निःसरतो धूमस्य यद्दर्शनं भवति द्वितीय ज्ञानं, धूमस्य पुनः महानसेऽवधारितां व्याप्तिं स्मृत्वा यतः अयं पर्वतो वह्निमान धूमवत्त्वात् इत्याकारकं ज्ञानमुत्पद्यते तत् तृतीयं ज्ञानं कथ्यते। धूमरूपस्य लिङ्गस्य एतत् ज्ञानमेवानुमानं कथ्यते। अनुमानं द्विविधं भवति– स्वार्थं परार्थश्च। यदनुमानं[8] स्वप्रतिपत्तये भवति तत् स्वार्थानुमानम् यच्च परेषां प्रतिपत्तये प्रयुज्यते तत्र परार्थानुमाने यत्र कश्चिद् स्वयं धूमादिहेतुना साध्यमनुमाय अन्यं प्रति बोधयितुं, प्रतिज्ञा,–हेतु.–उदाहरण–उपनय–निगमनाख्यान् पञ्चावयवान् प्रयुङ्क्ते। स्वयं धूमादिना वह्न्यनुमानं गृह्यते व्याप्त्यादिस्मरणपूर्वकं यथा यत्तु स्वयं वह्निमवगत्य परप्रतिप्रत्यर्थं शब्दविशेषान् कांश्चन प्रयुङक्ते तदेव परार्थानुमानम्। तादृश शब्दविशेषा एव अवयवा इत्यभिधीयमानाः यै बोधितः परोऽप्यग्निं प्रतिपद्यते। अवयववाक्यसमुदायस्य च न्याय इति पारिभाषिकी संज्ञा अवयवसंख्यायां विप्रतिपद्यन्ते विवदन्ते च, आगौतममहर्षेः अद्यावधि सर्वेऽपि नैयायिकाः प्रायः अवयवसंख्यामधिकृत्य एककण्ठा एव। सूत्रकारश्च पञ्चाप्यवयवान् नामतः निर्दिश्य प्रत्येकं लक्षयति स्म। संगृह्यते चेदमित्थं पक्षे साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा।[9] साधनवचनं हेतुः।[10] व्याप्ति प्रदर्शनपूर्वकं दृष्टान्तवचनम् उदाहरणम्[11] व्याप्यस्य पक्षे उपसंहारः उपनयः।[12] व्याप्यहेतुवचनपूर्वकं प्रतिज्ञायाः पुनर्वचन निगमनम्[13] तथा चायं वाक्यक्रमः – पर्वतो वह्निमान, धूमात्, यो यो धूमवान् स स वह्निमान् यथा महानसम् तथा चायं तस्मात्तथा इति।

न्यायदर्शनात् प्राक् वैशेषिकदर्शनादौ अवयवानां विशेषाभिधानम् ईदृशं नास्त्येव। अनुमानमेव हि वैशेषिकै लघीयसा प्रकरणेन प्रत्यपादि इति क्व अवयवचिन्ता। परन्तु चरकसंहिता एव प्रथममावेदयति पञ्चावयवक्रमम्। तत्र ह्यात्मनित्यत्वं पञ्चाववयववाक्यैः साधितं वर्तते। ततो न्यायदर्शनदृष्टप्रक्रियाया चरकसंहिता मूलाधारः स्यात् इति शक्नुमो वक्तुम्। किन्तु प्रतिज्ञादीनां लक्षणादिकमुद्दिश्यनाधिकं पश्यामस्तत्र।

नैयायिकाः नियमने पञ्चानामपि प्रयोगं कर्त्तव्यं वदन्ति। न्यायभाष्ये अवयवानामन्योन्यसम्बन्धं प्रदर्शितमीक्षामहे – असत्यां प्रतिज्ञायाम् अनाश्रया[14] हेत्वादयो न प्रवृत्तेरन् असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्शयेत् इत्यादिना कथायाम् आकांक्षाक्रमेणैवाभिधानमिति नियमः। प्रथमं को वह्निमान इत्याकाक्षायां पर्वतो वह्निमान इति प्रतिज्ञा तच्छान्तये प्रयुज्यते। ततः कुतः इति हेतुप्रश्ने धूमात् इति हेतुप्रयोगः कथमस्य गमकत्वम् इति तत् आकांक्षायां व्याप्तिपक्षधर्मता प्रदर्शनाय उदाहरणोपनयौ। प्रतिज्ञाहेत्वोरप्रयोगे उक्ताकाङक्षा कथं समुदियात् का वा उदाहरणादिप्रयोगप्रसक्तिः। अतः उदाहरणादिभिः समस्त स्वरूपसिद्धावपि, उदाहरणोपस्थापनाय प्रतिज्ञाहेतू वाच्यौ निराश्रितोदाहरणप्रयोगयोगात्, अनाकाङक्षिताभिधाने निग्रहाच्च, अतः पञ्चावयवप्रयोग एव युक्त इति न्यायमतम्,

उपमानम्

उपमिति प्रमायाः करणम् यच्च सादृश्यज्ञानं भवति[15] तदुपमानं प्रमाणम्। गोसदृशो गवय इति अतिदेश वाक्यं केनाचिदाप्यकेन पुरूषेण श्रुत्वा वनं गतः कश्चिद् ग्रामीणः यदा तं गोसादृश्यविशिष्टपिण्डं पश्यति, तदनन्तरञ्च गोसादृश्यस्य यत् ज्ञानं भवति तदेवोपमानं प्रमाणम्। तद् द्वारा पिण्डोऽयं गवयशब्दवाच्यः एवं यत् संज्ञासंज्ञिसम्बन्धस्य प्रतीति भवति[16] सैवोपमिति प्रमेत्युच्यते।

शब्दप्रमाणम्

आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणमित्युच्यते।[17] यथाभूतस्यार्थस्योपदेष्टा पुरुष एवाप्तपदेन व्यवहारविषयो भवति। आकांक्षायोग्यतासन्निधिमतां पदानां यः आप्तोच्चरितः समूहः तच्छब्दप्रमाणम्।

भारतीयदर्शनेषु ज्ञानस्य प्रामाण्यविषये मतभेदो वर्तते, केचन दार्शनिकाः ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति, केचन परतः प्रामाण्यं स्वीकुर्वन्ति। न्यायदर्शनमपि परतःप्रामाण्यं स्वीकरोति। कस्यापि पदार्थस्य ज्ञानान्तं तत्कृते इच्छा यत्नश्च आवश्यकौ वर्तेते। प्रवृत्तेः साफल्ये एव ज्ञानस्य प्रामाण्यं निधार्यते इदमेव न्यायशास्त्रस्य समर्थप्रवृत्तिजनकत्वं कथितम्। न्यायशास्त्रिणां मतमस्ति यत् ज्ञानस्य स्वतः प्रामाण्यं स्वीकर्त्तुं नैव शक्यते, यतोहि तस्यां दशायां ज्ञानस्य प्रामाण्ये सन्देह एव नोत्पत्स्यते।

लोके प्रकाशागमनेऽन्धकारस्य नाशस्तथैव ज्ञानोदयेऽज्ञानस्य नाशः। अनेन ज्ञानेनैवात्मनो अज्ञानमपनीयते। व्यपगते च अज्ञाने असौ सदा तस्य सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य परमं पदं पश्यति। यथा नभसि सूर्यो दृश्यते तथैव तस्य परमेश्वरो दृश्यते। यदुक्तं ऋग्वेदे [18]– तद्विष्णोः परमं सदा पश्यन्ति सूर्यः। दिवीव चक्षुराततम्। अपि च भगवद्गीतायामपि–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।[19]

सन्दर्भाः–

1. न्यायदर्शन सूत्र 1 के बाद 5
2. मनुस्मृति 1/
3. न्याय पृ. सूत्र प्रथमसूत्र के बाद।
4. न्यायदर्शन सूत्र 1
5. तर्कभाषा
6. कारिकावली 51
7. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली।
8. न्यायसूत्रम् 1/1/3
9. न्यायसिद्धान्त मुक्तावली
10. कारिकावली अनुमान खण्ड
11. कारिकावली अनुमान खण्ड
12. कारिकावली अनुमान खण्ड
13. न्यायसूत्र 1/1/33
14. उदाहरण साधर्म्यात् साध्यसाधन हेतुः। न्यायसूत्रम् 1/1/34
15. कारिकावली अनु. खण्ड (ब) साध्यसाधर्म्यात्तधर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् न्या.सू.1/1/36
16. कारिकावली। न्या.सू. 1/1/38
17. न्या.सू. 1/1/39
18. न्यायसूत्र 1/1/39 के बाद की पंक्ति।
19. प्रसिद्ध साधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्।। न्या.सू. 1/1/6
20. न्यायसूत्र 1/1/6 के बाद की पंक्ति।
21. आप्तोपदेशः शब्दः। न्यायसूत्र. 1/1/7
22. ऋ. 1/22
23. गीता।

सर्वदर्शनविभागः

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

आचार्यभट्टाकलंकदेवमते ''सर्वज्ञसिद्धिः''

आचार्यः कमलेशकुमारजैनः

कः सर्वज्ञेति जिज्ञासायाम्-'यः सर्वं जानाति सः सर्वज्ञः' अथवा 'यः सर्वं ज्ञातुं योग्यो भवति सः सर्वज्ञो' इति वक्तुं शक्यते। सर्वज्ञत्वविषयकं चिन्तनं ज्ञानेन सम्बद्धम्। जीवादिपदार्थानां तत्त्वानां च ज्ञानं प्रमाणनयाभ्यां भवति।

वैदिकदर्शनेषु सर्वज्ञत्वविचारः-

भारतीयदर्शनेषु सर्वज्ञत्वविषयकं चिन्तनं महत्त्वपूर्णं स्थानं भजते। तत्र केचन आत्मनि सर्वज्ञत्वं तु स्वीकुर्वन्ति परं धर्मज्ञत्वं न स्वीकुर्वन्ति। धर्मज्ञत्वेनात्र मोक्षमार्गत्वम् एव अभिप्रेतम्। एते वदन्ति यत् 'चोदनालक्षणोऽर्थः धर्मः' इत्यनेन धर्मे वेदस्यैव प्रामाण्यम्। कथयन्ति च धर्माधर्मादि अतीन्द्रियार्थविषयके ज्ञाने वेदस्यैव अधिकारः, न तु मनुष्यस्य। अत एव अतीन्द्रियधर्म-प्रतिपादकस्य वेदस्य अपौरुषेयत्वमपि प्रतिपादितम्। आचार्येण कुमारिलभट्टेन स्वयमेव लिखितमास्ते[1]-

धर्मज्ञत्वनिषेधश्च केवल्येऽमोपयुज्यते।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते।।

अपसने च सन्ति बौद्धाः। बौद्धदार्शनिकाः कथयन्ति- तथागतबुद्धेनैव चतुरार्यसत्यरूपेण धर्मम् अनुभूतं प्रत्यक्षीकृतं च। अतएव धर्मविषये दुःखनिरोधविषये वा निर्वाणोपायविषये वा धर्मद्रष्टः सुगतः एव प्रमाणम्, न कोऽपि अन्यः। आचार्यधर्मकीर्तिना स्वकीये प्रमाणवार्तिके लिखितम्

तस्मादनुष्ठेयगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम्।
कीटसंख्यापरिज्ञानं तस्य नः क्वोपयुज्यते।।
दूरं पश्यतु वा मा वा तत्त्वमिष्ट। तु पश्यतु।
प्रमाणं दूरदर्शीचेदेतान् गृद्धानुपास्महे।।[2]

इत्यनेन ज्ञायते यत् बौद्धदर्शने सर्वज्ञतायाः समर्थनं तु विहितम्, परं तस्य निरर्थकत्वमपि प्रतिपादितम्। परं प्रमाणवार्तिकस्यैव टीकाकारेण प्रज्ञाकरगुप्तेन भगवतः बुद्धस्य धर्मज्ञत्वेन सह सर्वज्ञत्वमपि प्रसाधितम्। तेनोक्तम्[3]-

ततोऽस्य वीतरागत्वे सर्वार्थज्ञानसम्भवः।
समाहितस्य सकलं चकारस्तीति विनिश्चितम्।।
सर्वेषां वीतरागाणामेवत् कस्मान्न विद्यते।
पुनः कालान्तरे तेषां सर्वज्ञगुणरागिणाम्।
अल्पयत्नेव सर्वज्ञत्वस्य सिद्धिखसारिता।।

एवमेव आचार्यशान्तरक्षितोऽपि भगवतः बुद्धस्य सर्वज्ञत्वं सिद्धयति! तथा च सर्वेषु वीतरागिषु शक्तिरुपेण सर्वज्ञत्वं स्वीकरोति। आचार्यः कथयति[4]–

यद्यदिच्छति बोद्धुं वा तत्तद्वेत्ति नियोगतः।
शक्तिरेवंविधा तस्य प्रहीणावरणो ह्यसौ।।

अन्ये च न्यायवैशेषिकाख्यः ईश्वरे एव सर्वज्ञत्वं स्वीकुर्वन्ति न हि मनुष्यादिसामान्यजीवेषु। अत्र ईश्वरस्य सर्वज्ञत्वं नित्यं शाश्वतं च स्वीकृतम्। मतेऽस्मिन् सर्वेषु वीतरागिषु सर्वज्ञत्वमावश्यकं नास्ति, परं व्यक्तिगत प्रयत्नेन साध्यं भवति। अत्र अणिमादिऋद्धिष्व सर्वज्ञता एका विभूतिः स्वीकृता।[5]

सांख्ययोगदर्शने तु बुद्धौ सर्वज्ञत्वं स्वीकृतं, न तु आत्मिन। तच्च सर्वज्ञत्वं मुक्त्यवस्थायां मुच्यते।

जैनदर्शने तु प्रारम्भादेव सर्वज्ञतायाः सिद्धान्तः स्वीकृतो वर्तते। एवञ्च, एकस्मिन्नपि आत्मनि सर्वज्ञत्वं धर्मज्ञत्वं च स्वीकृतम्। इदमेव कारणं यत् आचारांग-षट्खण्डागमादिषु प्राचीन सिद्धान्तागमशास्त्रेषु भगवतः महावीरस्य सर्वज्ञताविषयकाः उल्लेखाः समुपलभ्यन्ते। तत्र आचारांगे उक्तम्[6]– ''जे एगं जाणइ, से सत्वे जाणइ।'' अतएव जैनदर्शनानुसारेण, सर्वज्ञत्वं नाम त्रिकालत्रिलोकवर्ति-समस्तपदार्थानां युगपत्प्रत्यक्षज्ञानम्। इयं तु जैनदर्शनस्य मूलसैद्धान्तिकपरम्परा, परं तार्किकयुगे अस्यां परम्परायां परिवर्तनं जातम्। अतएव कुन्दकुन्द-समन्तभद्र-सिद्धसेन-अकलंकदेव,-हरिभद्र-विद्यानन्दि प्रभाचन्द्र-वीरसेन-हेमचन्द्रप्रभृतिभिराचार्यैः विविधैः तर्कैः जैनदर्शनस्य प्रायशः प्रत्येकस्मिन्नपि ग्रन्थे सर्वज्ञत्वविषयिकी चर्चा दरीदृश्यते।

जैनदर्शने 'सर्वज्ञस्य लक्षणं स्वरूपं च', सर्वज्ञसिद्धिः 'सार्वज्ञ्यस्य आर्हतिसिद्धिः' 'सार्वज्ञयस्य प्रयोजनम्' इत्यादिविषयाणां विविधैः तर्कैः युक्तिभिश्च विवेचनं विहितम्।

जैनदर्शने सार्वज्ञ्यस्य सिद्धिः प्रामुख्येन अनुमान-प्रमाणेन कृता। भारतीयदर्शनेषु अनुमानं प्रमाणेषु मुख्यं स्वीकृतम्। यद्यपि जैनदर्शने अनुमानप्रमाणं परोक्षप्रमाणेषु गण्यते, तथापि तस्य प्रमाणत्वं लोके शास्त्रे च निर्विवादत्वेन सिद्धमस्ति। मूलतः जैनदर्शने मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलभेदेभ्यः पञ्च सम्यग्ज्ञानानि सन्ति।[7] तत्र परायत्त्वात् मतिश्रुते परोक्षप्रमाणमिति। परोक्षमित्यत्र 'अक्ष' पदेन चक्षुरादिकमिन्द्रियमपेक्षते। यताये हि पराणीन्द्रियाणि मनश्च प्रकाशोपदेशादि च बाह्यनिमित्तं प्रतीत्य तदावरणकर्मक्षयोपशमापेक्ष्य स्यात्मनो मतिश्रुतं उत्पद्यमानं परोक्षमिति। तत्रावधिमनः पर्यायकेवलानि तु प्रत्यक्षप्रमाणानि सन्ति, आत्ममात्रसापेक्षत्वात्। प्रत्यक्षमित्यत्र अक्ष पदेन अक्ष्णोति जानातीत्यक्ष आत्मा' इति वचनात् अक्षपदेन 'आत्मा' इति गृहणाति। तमेव प्राप्तक्षयोपशं प्रक्षीणावरणं वा प्रतिनियतं प्रत्यक्षमिति।[8]

जैनदर्शनं शब्दप्रमाणं च– जैनदर्शनं शब्दप्रमाणं निरपेक्ष्य स्वीकीयं चिन्तनं प्रस्तौति। अत्र दार्शनिकदृष्टिः शब्दस्य शब्दप्रमाणस्य वा अनुसरणं न करोति, अपितु शब्दप्रमाणमेव दार्शनिकदृष्टिमनुसरति इति जैनदर्शनस्य वैशिष्ट्यमेव। जैनपरम्परानुसारेण, सर्वप्रथमं तीर्थङ्करैः अर्हद्भिश्च सम्यक्श्रद्धान-ज्ञान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं प्राप्यते, तदनन्तरं तत्वज्ञानस्य केवलज्ञानस्य वा प्राप्तिर्भवति। वक्तुः प्रामाण्यात् वचनस्य प्रामाण्यमिति वचनात् तीर्थंकरेण उपदिष्टं तत्वज्ञानमेव जैनदर्शने प्रामाण्यं प्राप्नोति। यथोक्तं समन्तभद्राचार्येण[9]–

तत्त्वज्ञानं प्रमाणं ते युगपत्सर्वभासनम्

भट्टाकलंकदेवस्य सर्वज्ञत्वविचारः– भट्टाकलंकदेवः (ईसवीय 720-780) जैनन्यायस्य प्रस्थापकत्वेन स्मर्यते। न्यायशास्त्रविषये तस्य मौलिकयोगदानेन कालान्तरे जैनन्यायः 'अकलंकन्यायः' नाम्ना प्रसिद्धो जातः।

एतैरपि जैनदार्शनिकैः तार्किकैश्च एकस्वरेण त्रिकालत्रिलोकवर्तिसमस्तपदार्थानाम् परिज्ञानार्थं सार्वज्ञ्यस्य समर्थनं कृतम्। समन्तभद्राचार्येण (ईसवीय 2.3 शताब्दौ) अनुमेयत्वहेतुना सर्वज्ञसिद्धिर्विहिता। तेनोक्तम्[10]– सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः कस्यचित्प्रत्यक्षाः भवन्ति, अनुमेयत्वात्, अग्न्यादिवत् इत्यनुमानात्सर्वज्ञत्वसिद्धिर्भवति। तथा च धर्मज्ञत्वमपि सर्वज्ञे एव निहितमिति।

आचार्यभट्टाकलंकदेवोऽपि समन्तभद्राचार्यस्य सरणिं गृहीत्वा सर्वज्ञत्वं समर्थयन् कथयति-आत्मा तु समस्तपदार्थान् ज्ञातुं पूर्णसमर्थः, परं संसारिकदशायां तस्य ज्ञानं ज्ञानावरणादिनावृतं भवति, अतएव सर्वं ज्ञातुं समर्थो नं भवति। परं तु प्रतिबन्धककर्मणां पूर्णक्षयात् पदार्थानां पूर्णज्ञानं कथं न स्यात्। तत्र का हानिः। यदि अतीन्द्रियपदार्थानां ज्ञानं न भवेच्चेत्, तर्हि सूर्यचन्द्रादिज्योतिर्ग्रहाणां ग्रहणं कथं भविष्यति? यतो हि ज्योतिर्ज्ञानोपदेशस्य अविसंवादित्वं यथार्थत्वं च दरीदृश्यते। अतएव अतीन्द्रियार्थदर्शनेन विना ज्योतिर्ज्ञानोपदेशः न संभवति। आचार्येणोक्तं[11]–

ज्ञस्यावरणविच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात् सर्वार्थावलोकनम्।।
धीरत्यन्तपरोक्षेऽर्थे न चेत्पुंसां कुतः पुनः।
ज्योतिर्ज्ञानाविसंवादः श्रुताच्चेत्साधनान्तरम्।।[12]

एवमेव अन्यस्मिन् श्लोकेऽपि आचार्येण ज्ञस्वभावात्मनि सार्वज्ञ्योपपादनं निहितम्। आत्मा ज्ञस्वभावः, ज्ञानम् आत्मनः गुणः। आवरणाभावे ज्ञस्वभावस्यात्मनः ज्ञानं कथं न स्यात्। यथा-अग्नेः स्वभावः, दाहकः, प्रतिबन्धकस्य अभावे अग्निः दाहकं कथं न स्यात्। उक्तं च[13]–

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने
दाहचेऽग्निदाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने।।

भट्टाकलंकदेवेन सर्वज्ञसिद्धौ एकोऽन्योऽपि हेतुः प्रदत्तः। सः कथयति यत् सर्वज्ञसिद्धौ एकं साधकं प्रबलं च प्रमाणमस्ति 'बाधकाभावः'। यथा 'अहं सुखी, अहं दुःखी' इत्युक्ते सुखस्य दुःखस्य च साधकं प्रमाणमिदमेव यत् अस्मत्सुखदुःखानुभवे किमपि बाधकं प्रमाणं नास्ति। तथैव सर्वज्ञास्तित्वे किमपि बाधकं प्रमाणं नास्ति, अतएव सर्वज्ञस्यास्तित्वं सिद्ध्यत्येव। तेनोक्तम्[14] –

''अस्ति सर्वज्ञः, सुनिश्चितासम्भवद्बाधकप्रमाणत्वात् सुखादिवत्।''

आचार्येणोक्तम्[15]–'यथा इन्द्रियादि साहाय्येन विना सत्यस्वप्नदर्शनेन राज्यलाभादिकस्य यथार्थं स्पष्टं च ज्ञानं जायते, तथैव सर्वज्ञज्ञानमपि भाविपदार्थेषु यथार्थबोधकं स्पष्टं च भवति। एवञ्च यथा प्रश्नविद्यया, ईक्षणिकादिविद्यया च अतीन्द्रियपदार्थानां स्पष्टं ज्ञानं भवति तथा अतीन्द्रियज्ञानमपि यथार्थप्रतिभासकं भवति' इति।

उपर्युक्तविवेचनेन ज्ञायते यत् जैनदार्शनिकपरम्परायां मूलतः आत्मनि सर्वज्ञत्वं धर्मज्ञत्वं च स्वीकृतम्। अत्र केवलज्ञानमेव मूलप्रमाणम्। तच्च केवलज्ञानमपि अतीन्द्रियप्रत्यक्षं भवति। तथा च आर्हति एव संभवति।

जैनदर्शने आगमप्रमाणस्य मूलाधारो वचनं वर्तते। तथा वचनस्य प्रामाण्यं सर्वज्ञत्वेन विना न संभवति। यतो हि सर्वज्ञत्वेन विना रागद्वेषयोः निराकरणं न भवति अतएव रागद्वेषरहितस्य आप्तवचनस्यैव प्रामाण्यमत्र स्वीक्रियते।

जैनदर्शनानुसारेण अर्हन्नेव सर्वज्ञो भवितुं शक्यते निर्दोषत्वात्। यस्तु न सर्वज्ञो, नासौ निर्दोषो भवितुमर्हति। अत्रावरणरागादयो दोषाः सन्ति, तेभ्यो दोषेभ्यो निष्क्रान्तत्वं हि निर्दोषत्वमिति निगद्यते। तन्निर्दोषत्वमपि सर्वज्ञमन्तरेण नैव संभवति। किञ्चिज्ञस्यावरणादिदोषरहितत्वविरोधात्। ततो निर्दोषत्वमर्हति विद्यमानं सार्वज्ञ्यं साधयत्येव। निर्दोषत्वं च पुनरर्हत्परमेष्ठिनि सिद्ध्यति युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्यत्वादिति।

भट्टाकलंकदेवेनापि बाधकाभावात्, ज्ञानावरणादि कर्मणां पूर्णक्षयात्, आत्मनः ज्ञस्वभावत्वादिति विविधैः तर्कैः युक्तिभिश्च आत्मनि सर्वज्ञत्वं प्रतिपादितम्।

सन्दर्भाः–

1. शाबरभाष्यम्। 1.1.2 चोदनाहि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवं जातीयकमर्थमवगमयितुमलम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्। तत्वसंग्रहकारिकायाम् उद्धृतोऽयं श्लोकः 3128 कुमारिलभट्टेन नाम्ना। जैनदर्शन्म् पृष्ठ 212-13
2. प्रमाणवार्तिकम् 1.33, 35
3. प्रमाणवार्तिकालकारः, पृष्ठ 329
4. तत्त्वसंग्रहकारिका 3328
5. प्रशस्तपादभाष्यम् पृष्ठ 187
6. आचारांगसूत्रम् 1.231 से सभगवं अरहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी एवं च णं विहरद् 2.3 एवञ्च छक्खण्डागमेऽपि उक्तं - सइं भगवं उप्पण्णणाणदरिसी....सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्भं समं जाणादि पस्सदि विहरदि न्ति। षट्खण्डागमसुत्तं पपदि. सुत 78
7. तत्त्वार्थसूत्रम् 1/9-10
8. सर्वार्थसिद्धिः 1/11-12/174,176
9. आप्तमीमांसा, कारिका 101
10. तदेव, कारिका 5
11. न्यायविनिश्चयः, कारिका 465
12. सिद्धिविनिश्चयटीका पृष्ठ 413 जैनदर्शन पृष्ठ 216 उपरि उद्धृतः
13. उद्धृतेयं कारिका अष्ट सहस्री पृष्ठ 50, जयधवली पृष्ठ 66
14. सिद्धिविनिश्चयटीका लि. पृ. 421, उद्धृतं च जैनदर्शन पृष्ठ 217
15. न्यायविनिश्चयः, श्लोकः 407

आचार्य

जैनदर्शनविभागः,

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

व्यापारस्य धात्वर्थत्वे प्रमाणम्

प्रो. विष्णुकान्त पाण्डेयः

'वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः[1] इति कारिकया ज्ञायते यत् यद्यपि वाक्यस्फोटानामन्येषामवास्तवत्वं तथापि प्रतिवाक्यं सङ्केतग्रहासम्भवात् तदन्वाख्यानस्य लघूपायेनाशक्यत्वाच्च तत्र कल्पनया पदानि विभज्य पदेष्वपि प्रकृतिप्रत्ययभागाँस्तथैव प्रविभज्य कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थेष्वपि प्रकृतिप्रत्ययानामनादिसङ्केतबोधनद्वारा साधुत्वान्वाख्यायके महर्षिप्रणीते शास्त्रे प्रक्रियानिर्वाहाय पदवर्णस्फोटावपि सम्मताविति तिङन्ते धात्वर्थस्य व्यापारस्य प्राधान्यात्तमेवादौ निरूपयितुमाह मूले–

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः[2]।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्।।

फलव्यापारयोरित्यत्र वाचकत्वरूपविषयत्वं सप्तम्यर्थः। एवम् 'आश्रये' इत्यत्रापि तदेव सप्तम्यर्थः, तथा च विभक्त्यर्थे (वाचकत्वे) फलस्य व्यापारस्य, आश्रयस्य च निरूपितत्वसम्बन्धेनान्वयः। सप्तम्यर्थस्य वाचकत्वस्य च स्वरूप(आश्रयता) सम्बन्धेन धातौ तिङि चान्वयः। एवञ्च फलनिरूपितवाचकतावान् धातुः, आश्रयनिरूपितवाचकतावन्तश्च तिङ इति पूर्वार्धार्थः। पूर्वार्धेन पदार्थं निरूप्य उत्तरार्धेन वाक्यार्थं निरूपयति फले प्रधानं व्यापार इति। 'फले' इत्यत्र निरूपितत्वं सप्तम्यर्थः। तेनैव सम्बन्धेन प्रधान-पदार्थघटकप्रधानत्वेऽन्वयः। तथा च फलनिरूपितप्राधान्यवदभिन्नव्यापार इति बोधः। तिङर्थः= कर्तृकर्मसंख्याकालाः विशेषणीभूता भवन्ति। तत्र कर्तुः व्यापारे, कर्मणः फले, संख्यायाः कर्तृप्रत्ययसमभिव्याहारे कर्तरि, कर्मप्रत्ययसमभिव्याहारे कर्मणि अन्वयः। कालस्तु व्यापारे विशेषणम्। 'भावप्रधानमाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि[3]' इति यास्कवचनप्रामाण्यात्, 'भूवादयो धातवः[4]' इति सूत्रस्य क्रियाप्राधान्यबोधकभाष्यप्रामाण्याच्च व्यापारस्य प्राधान्यं भवतीति वैयाकरणानां सिद्धान्तः।

इत्थं सामान्येन वैयाकरणानां सिद्धान्तं निरूप्य व्यापारस्य लक्षणमुपस्थाप्यते। क्रिया द्विविधा सिद्धरूपा साध्यरूपा चेति। एवञ्च द्विविधक्रियासाधारणं क्रियात्वं किमिति चेदत्रेदं वक्तुं शक्यते यत् धात्वर्थफलजनकत्वे सति धातुवाच्यत्वम्। अयं भावः– धातोः फलं व्यापारश्चेति द्वौ अर्थौ भवत इति मया पूर्वमेवोपस्थापितम्। फलव्यापारयोर्मध्ये फलं जन्यमस्ति। व्यापारस्तु जनकोऽस्ति। यथा मानवे मानवत्वं, घटे घटत्वं तथैव जनके=व्यापारे जनकत्वम्। एवञ्च धात्वर्थफलजनकत्वं व्यापारे, धातुवाच्यत्वमपि व्यापारे इति कृत्वा लक्षणसमन्वयः। एवञ्च व्यापारस्य अपरं प्रसिद्धं लक्षणमस्ति तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वं व्यापारत्वम्। अत्र तत्पदेन कर्तुः ग्रहणम्। एवं कर्तृजन्यत्वमपि व्यापारे, कर्तृजन्यविक्लित्तिरूपफलजनकत्वमपि व्यापारे इति कृत्वा लक्षणसमन्वयः। अयञ्च व्यापारः धात्वर्थ इति वैयाकरणानां राद्धान्तः। मीमांसकास्तु फलमात्रं धात्वर्थः, व्यापारस्तु प्रत्ययार्थ इति ब्रुवन्ति। तत्र मीमांसकानां मते 'पचति' इत्यस्य पाकं करोति। इति विवरणदर्शनात् करोतिरूपभावनारूपोऽर्थः प्रत्ययस्यैवास्ति। एवं 'विवरणविव्रियमाणयोः समानार्थकत्वरूपनियमात् भावनारूपोऽर्थः

प्रत्ययस्यैव इति मीमांसकमतं समीचीनं नास्ति यतो हि पचतीत्यस्य 'पाकानुकूलव्यापारवान् कर्ता' इत्यपि विवरणदर्शनात् 'कर्ता' एव प्रत्ययार्थ इति वक्तुं शक्यते। किञ्च 'पचति देवदत्तः इत्यत्र अभेदान्वयदर्शनात् तदनुरोधेन कर्तुर्वाच्यत्वमावश्यकम् 'पक्ता देवदत्तः' इतिवत्।

अभेदे समानविभक्तिकत्वं नियामकमित्यपि वक्तुं न शक्यते 'सोमेन यजेत' 'स्तोकं पचति' 'राजपुरुषः' इत्यादौ अभेदान्वयबोधानापत्तेः। तथा च मीमांसकाः यथा कृत्प्रत्ययस्थले कर्तृरूपाऽर्थं स्वीकुर्वन्ति तथैव तिङन्तस्थले अपि कर्तुरूपार्थं स्वीकुर्वन्तु भावनाया एव आक्षेपेण भानं कुर्वन्तु न कुत्रापि दोष इति वैयाकरणा वदन्ति। पुनश्च मीमांसका वदन्ति यत् यदि भावनाया एव कृदादिवत् आक्षेपेण लाभः स्यात्तर्हि तस्या भावनायाः तथा सति प्राधान्यं न स्यादिति। एवं वैयाकरणाः समादधते यत् यथा 'घटमानय' इत्यत्र आक्षिप्तव्यक्तेः प्राधान्यं भवन्तः स्वीकुर्वन्ति तथैव अत्रापि आक्षिप्तभावनाया प्राधान्यस्वीकारे न काचित् बाधा। एकत्र भवन्तः आक्षिप्तपदार्थस्य प्राधान्यं स्वीकुर्वन्ति। अत्रापि स्वीक्रियताम् इति वैयाकरणा ब्रुवन्ति।

तथा च यदि धातोः व्यापाररूपोऽर्थो न स्यात्तर्हि फलमात्रं धात्वर्थः स्यात्। तथा च करोतीत्यादौ यत्नप्रतीतेस्तन्मात्रं वाच्यमभ्युपेयम्। तथा सति 'यती प्रयत्ने' इतिवत् फलस्थानीयत्नवाचकत्वाविशेषाद् कृधातोः अकर्मकतापत्तिः दुर्वारैव स्यादित्येतत्सर्वं मनसि निधायोच्यते–

व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया[5]।
कृञोऽकर्मकतापत्तेर्नहि यत्नोऽर्थ इष्यते।।

अपि च

तस्मात् करोतिर्धातोः स्यात् व्याख्यानं न त्वसौ तिड़ाम्[6]।
पक्ववान् कृतवान् पाकं किं कृतं पक्वमित्यपि।।

तस्मात्=अभिप्रायस्थहेतोः, स चेत्थम्–फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे 'ग्रामो गमनवान्' इति प्रयोगापत्तिः संयोगाश्रयत्वात्। गमनशब्देन संयोगरूपफलमात्रस्वीकारे यथा 'ग्रामः संयोगवान्' इति प्रयोगो भवति तथैव 'ग्रामः गमनवान्' इति प्रयोगस्याऽऽपत्तिः स्यात्। धातोः व्यापाररूपार्थस्वीकारे उक्ता आपत्ति र्नास्ति। ग्रामे व्यापाराभावात्।

इदानीं व्यापारस्य धात्वर्थत्वेऽपरं प्रमाणं प्रस्तूयते। तच्च प्रमाणमस्ति 'भावे[7]' इति सूत्रम्। अयं भावः– मीमांसकाः तिङन्तस्थले व्यापारस्य प्रत्ययार्थत्वे 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः[8]' इति भवगतः पाणिनेः सूत्रं प्रमाणत्वेन प्रतिपादयन्ति। ते वदन्ति 'कर्तरि कृत्[9]' इति सूत्रात् – 'लः कर्मणि च.' इति सूत्रे चकारद्वयं कृतमस्ति, कारात् कर्तरि पदमनुकृष्यते। 'कर्तरि' इति पदं भावनिर्देशात्मकमस्ति। तेन कर्तृत्वं कृतिरित्यर्थो भवति कर्तरिपदस्य। कर्तृत्वे=व्यापारऽर्थे लकारा विधीयन्ते। तेन आयाति यत् व्यापारः प्रत्ययार्थ एव। उक्त– मीमांसकमतं खण्डयन् वैयाकरणो ब्रवीति यत् यदि व्यापारस्य प्रत्ययार्थत्वं स्वीकृतं स्यात् तर्हि 'भावे[10]' इति अनुशासनस्य (सूत्रस्य) वैयर्थ्यापत्तिः स्यात्। यतो हि 'कर्तरि कृत्'– इति सूत्रात् 'कर्तरि' पदं 'लः कर्मणि च' इति सूत्रे अनुकृष्यते। तत्र यदि कर्तरिपदस्य कर्तृत्वरूपोऽर्थो भवति तर्हि अस्मिन् सूत्रेऽपि कर्तृपदं भावार्थकं स्यात्। तथा सति कृत्प्रत्ययाः कर्तृत्वे=भावे=व्यापारेऽर्थे भवन्ति इति कर्तरि कृत् इति सूत्रस्य

अर्थः स्यात्। एवं 'भावे' इति सूत्रस्य वैयर्थ्यापत्तिः स्पष्टैव। एवं 'भावे' इत्यनुशासनप्रामाण्यात् व्यापाररूपोऽर्थः धातोरेव स्वीकर्तव्यः।

किञ्च फलमात्रस्य धात्वर्थत्वे सूत्रानुपपत्तिं मानत्वेन=प्रमाणत्वेन प्रदर्शयन्नाह–

किञ्च क्रियावाचकतां विना धातुत्वमेव न[11]।

क्रियावाचकस्यैव धातुसंज्ञा विधीयते। यदि धातोः क्रियारूपः=व्यापाररूपोऽर्थो न स्यात् तर्हि धातुसंज्ञा अपि न स्यात्।

अयं भावः– 'भूवादयो धातवः[12]' इति सूत्रेण धातुसंज्ञा विधीयते। भूश्च वाश्च इति भूवौ, आदिश्च आदिश्च इति आदी, भूवौ आदि येषां ते भूवादयः, भूपदार्थस्य प्रभृत्यर्थकादिपदार्थे वापदार्थस्य च प्रकारार्थक–आदिपदार्थेऽन्वयेन भूप्रभृतयो वासदृशा इत्यर्थलाभेन क्रियावाचिनो धातुसंज्ञां लभन्त इति सूत्रार्थो निष्पद्यते।

ननु 'भूवौ' इत्यत्र इतरेतरयोगे द्वन्द्वः। इतरेतरयोगो नाम इतरस्य इतरस्मिन् योगः इतरेतरयोगः एवञ्च भेदे द्वन्द्वः इति लभ्यते। तत्रेयं जिज्ञासा उदेति यत् पदभेदे, पदार्थभेदे, पदार्थतावच्छेदकभेदे वा द्वन्द्वः। तत्र पदभेदे द्वन्द्वं स्वीकर्तुं न शक्यते नीलोत्पलमित्यत्रापि पदभेदात् द्वन्द्वापत्तेः। पदार्थभेदे द्वन्द्वस्वीकारे नीलघटयोरभेद इत्यत्र द्वन्द्वानापत्तेः नीलपदार्थस्य घटपदार्थस्य चैक्यात्। पदार्थतावच्छेदकभेदे द्वन्द्वस्वीकारे 'घटाः' इत्यत्र द्वन्द्वाप्राप्त्या 'द्वन्द्वापवाद एकशेष[13]' इति भाष्यसिद्धान्तो विरुद्धयेत। वस्तुतस्तु पदार्थभेदे द्वन्द्वस्वीकारे न कश्चन दोषः। पदार्थत्वं हि पदजन्यप्रतीतिविषयत्वरूपम्[14]। तच्च पदार्थपदार्थतावच्छेदकसाधारणम्। नीलघटयोरित्यत्र पदार्थतावच्छेदकभेदात् द्वन्द्वसङ्गतिः। 'घटा' इत्यादौ विशेष्यभूतघटादिव्यक्तिभेदेन द्वन्द्वप्रसक्त्या द्वन्द्वापवाद एकशेष इति भाष्यसिद्धान्तोऽपि उपपद्यते।

यद्यपि पदार्थभेदे द्वन्द्वस्वीकारे उपर्युक्तदोषो नास्ति तथापि अत्र एका शंका पुनरुदेति यत्– एकधर्मावाच्छिन्नस्यैकसम्बन्धेन एकधर्मावच्छिन्नेऽन्वयः साहित्यम्। साहित्ये च द्वन्द्वः। यथा 'धवखदिरौ छिन्धि' इत्यत्र द्वन्द्वः। अत्र धवखदिरसमुदायत्वावच्छिन्नस्य कर्मत्वरूप–एकसम्बन्धेन छेदनत्वावच्छिन्नछेदनक्रियायामन्वयात् साहित्यस्य सत्वात् द्वन्द्वो भवति। तादृशी स्थितिः प्रकृते नास्ति। यतो हि 'भू' शब्दस्य प्रभृत्यर्थक – आदिशब्देऽन्वयः। वाशब्दस्य प्रकारार्थक–आदिशब्देऽन्वयः। एवमेकत्र अन्वयाभावात् 'भूवादयः' इत्यत्र द्वन्द्वो न स्यात् कथमत्र द्वन्द्वः' इति जिज्ञासायामुच्यते यत् शत्रुं मित्रं विपत्तिं च जय रञ्जय भञ्जयेत्यादौ यथा यथासंख्यमन्वयस्तथा व्याकरणेऽपि यथासंख्यान्वयसिद्धौ यथासंख्यसूत्रारम्भसामर्थ्येन समुदायस्य समुदायेऽन्वयं प्रकल्प्य द्वन्द्वः स्वीकर्तव्यः। पश्चाच्च यथासंख्यसूत्रेण[15] पृथक्–2 अन्वयः क्रियते। एवं प्रकृते भूवात्वाच्छिन्नसमुदायस्य आदित्वसमुदायेऽन्वयं प्रकल्प्य द्वन्द्व उपपद्यते। पश्चात् यथासंख्यसूत्रेण इष्टान्वयः क्रियते। एवं लोकेऽपि दृश्यते–अजाविधनौ देवदत्तयज्ञदत्तौ अत्र न ज्ञायते कस्याजधनम् कस्यावयो धनम् तथाप्यत्र यथा द्वन्द्वः क्रियते यथासंख्यसूत्रेण चान्वयो भवति तथैव प्रकृते अपि द्वन्द्वोऽन्वयश्च भवति।

अत्र पुनः जिज्ञासा उदेति यत् 'वा' सादृश्यं केन धर्मेण गृह्यते। 'वा' इत्यत्र चत्वारो धर्माः प्रतीयन्ते। (i) एकाच्त्वम् (ii) हलादित्वम् (iii) अजन्तत्वम् (iv) क्रियावाचकत्वञ्च। तत्र एकाच्त्वेन सादृश्यं ग्रहीतुं

न शक्यते, ऊर्णोतेर्धातुत्वानापत्त्या 'विभाषोर्णोः[16]' इत्यादीनां वैयर्थ्यापत्तेः। हलादित्वेनापि सादृश्यं ग्रहीतुं न शक्यते स एव दोषः तस्माच्च अजन्तत्वेनापि ग्रहीतुं न शक्यते हलन्तानां धातुत्वानापत्त्या 'वदव्रजहलन्तस्याचः[17]' इत्यादीनां वैयर्थ्यापत्तेः। एवं क्रियावाचकत्वेन सादृश्यं गृह्यते। तथा हि–

वाशब्दसाहचर्याद् भूशब्दोऽद्रव्यवाची गृह्यते, अद्रव्यवाची भूशब्दः क्रियावाचक एवेति तत्साहचर्याद्वाशब्दः क्रियावाचको गृह्यते। एवं परस्परसाहचर्यात् निपातभिन्नवात्वव्यापकत्वस्य क्रियावाचकत्वे सत्वेन क्रियावाचकत्वेनैव सादृश्यग्रहणम्।

इत्थं स्पष्टं यत् क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वमिति धातुलक्षणं 'भूवादयो धातवः[18]' इति सूत्रानुरोधात् सम्पद्यते। लक्षणेऽस्मिन् क्रियावाचित्वमात्रोक्तौ वर्जनादिरूपक्रियावाचके हिरुक्, पृथक् नाना इत्यादातिव्याप्तिः स्यात्तन्निवारणाय भ्वादिगणपठितत्वमिति दीयते। क्रियावाचित्वग्रहणं किमर्थं भ्वादिगणपठितत्वमित्येव लक्षणं कथं न स्यादिति जिज्ञासानिराकरणायोच्यते–

सर्वनामाव्ययादीनां यावादीनां प्रसङ्गतः[19]।
न हि तत्पाठमात्रेण युक्तमित्याकरे स्फुटः।।

भ्वादिगणपठितत्वमात्रोक्तौ सर्वनामाव्ययानामपि धातुत्वं स्यात्। तथा सति याः पश्यसि इत्यादौ 'आतो धातोः[20]' इत्याकारलोपः स्यात्तन्माभूदित्येतदर्थं 'क्रियावाचकत्वे सति' इति सत्यन्तविशेषणं प्रदीयते। ननु 'लक्षणप्रतिपदोक्तयोः प्रतिपदोक्तस्यैव ग्रहणम्[21]' इति परिभाषया 'याः पश्यसि' इत्यादौ सर्वनाम्नोऽग्रहणान्न दोष अत एवोच्यते अव्यये 'वा' इत्यादौ अतिव्याप्तिः स्यात्। तादृशस्यैव गणे पाठेन निर्णयासम्भवात्। तथा च विकल्पार्थकस्य 'वा' इत्यस्य 'वाति' इति प्रयोगः स्यात्।

इत्थं स्पष्टं यत् क्रियावाचकस्यैव धातुसंज्ञा क्रियायाः व्यापारस्य धात्वर्थत्वाभावे सूत्रासङ्गतिः स्पष्टैव। अत्र पुनरेका शंका उदेति यत् क्रियावाचकत्वे सति भ्वादिगणपठितत्वं धातुत्वं स्यात् क्रिया=फलं च धात्वर्थ एव न तु व्यापारः इति जिज्ञासाया मुच्यते–

धात्वर्थत्वं क्रियात्वं चेद्धातुत्वं च क्रियार्थता[22]।
अन्योऽन्यसंश्रयः स्पष्टस्तस्मादस्तु तथाऽकरम्।।

यदि धात्वर्थत्वं क्रियात्वं, क्रियार्थत्वं धातुत्वमिति वयं स्वीकुर्मस्तर्हि धातुत्वग्रहे क्रियात्वज्ञानमपेक्षितम्, क्रियात्वग्रहे च धातुत्वज्ञानमपेक्षितमिति परस्परापेक्षत्वेन अन्योऽन्याश्रयः स्यात्। अतः व्यापारसन्तानः क्रियातद्वाचकत्वे सति गणपठितत्वमित्येव अङ्गीकर्तव्यम्। इत्थं व्यापारस्य धात्वर्थत्वं सिध्यत्येवेत्यलं विस्तरेण।

आचार्यः, व्याकरणविभागः,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

व्यक्तिविवेके प्रकृतिप्रक्रमभेदः

डॉ. सनन्दनकुमारत्रिपाठी

अपारे काव्यशास्त्रसंसारे व्यक्तिविवेककर्तुर्महिमभट्टस्य ध्वनिविरोधित्वेन महती प्रसिद्धिः। एतदीयं काव्यशास्त्रीयं चिन्तनं सूक्ष्मतरं मौलिकञ्च। अयं हि कश्मीरवास्तव्यो बभूव। अस्य पितुर्नाम 'श्रीधैर्यः' गुरोश्च 'श्यामल' इति। एकादशशताब्द्या मध्यभागोऽस्य स्थितिकालः। अलङ्कारशास्त्रसंसारे महिमभट्टस्यैक एव ग्रन्थः समुपलभ्यते। ग्रन्थस्यास्य मुख्यमुद्देश्यं वर्तते ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावः। एतद्धि प्रतिज्ञातं व्यक्तिविवेकमङ्गलाचरण एव–

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्।।[1]

महिमभट्टेन स्वसिद्धान्तस्थापनाय व्यक्तिविवेके प्रौढं पाण्डित्यं प्रदर्शितम्। तत्र प्रथमविमर्शे ध्वनिलक्षणं खण्डयित्वाऽनुमाने तदन्तर्भावो दर्शितः। द्वितीयविमर्शे शब्दार्थविषयकमनौचित्यं विवेचितम्। अनौचित्यं प्रमुखं काव्यदोषं मत्वाऽन्तरङ्गबहिरङ्गदोषा विवेचिताः। वस्तुतोऽन्तरङ्गानौचित्यं नाम रसदोषः। बहिरङ्गानौचित्यं पञ्चविधम्। एतत्सर्वं द्वितीयविमर्शे निरूपितम्। तृतीयविमर्शे ध्वनेरुदाहरणानामनुमानेऽन्तर्भावः प्रदर्शितः।

ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्येण मम्मटेन काव्यप्रकाशे यद्यपि महिमभट्टसिद्धान्तस्य खण्डनं कृतम्, किन्त्वनौचित्यविषयकं समग्रमेव तद्विवेचनं काव्यप्रकाशस्य दोषप्रकरणे स्वीकृतमेव।

महिमभट्टो ध्वनिसिद्धान्तस्य महान् विरोधी बभूव। तेन ध्वनिसिद्धान्तस्य समूलमुन्मूलनायैव व्यक्तिविवेकः कृतः। तन्मतेऽभिधैवैका शब्दशक्तिः। ध्वनये व्यञ्जनावृत्तिर्नावश्यिकी। शब्दार्थयोर्व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपगतस्तेन। असौ ध्वनिं ध्वंसयित्वाऽनुमानेऽन्तर्भावयति। महिममते प्रतीयमानार्थोऽनुमेयार्थ एव। रसस्य काव्यात्मत्वं स्वीकृत्यापि तेन तदनुभूतिरनुमानविषया मता। एवं काव्यशास्त्रे महिमभट्टस्य महत्त्वपूर्णं स्थानमुल्लसति।

प्रस्तुतेऽस्मिन् शोधपत्रे 'व्यक्तिविवेके प्रकृतिप्रक्रमभेद' इति विषयः स्वीकृतः। तदनुरोधेन विचार्यते चेत् महिमभट्टेन व्यक्तिविवेकस्य द्वितीयविमर्शेऽनौचित्यविवेचनप्रस्तावे प्रकृतिप्रक्रमभेद उल्लिखितः। अनौचित्यस्य लक्षणसामान्यं महिमभट्टेन प्रत्यपादि–

'विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वं नाम सामान्यलक्षणम्'।[2] तत्र दोषापर-पर्यायमनौचित्यं द्विधा–अर्थगतं शब्दगतञ्चेति। अर्थगतमनौचित्यमन्तरङ्गम् शब्दगतञ्च बहिरङ्गम्। तत्रान्तरङ्गबहिरङ्गभावश्च साक्षात् परम्परया च रसभङ्गहेतुत्वादिष्टः। मम्मटेनाऽपि।

मुख्यार्थहतिर्दोषो रसश्च मुख्यस्तदाश्रयाद्बाच्यः।[3] इत्याद्युक्तम्। तत्र मुख्यार्थो रसः। हतिरपकर्षः इति। ध्वनिकारादिभिरप्युक्तम्–

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।[4]

एवं हि रसनिष्पत्तिप्रसङ्गे सम्भावितो विघ्न एव दोषः। स च महिम्नानौचित्यपदेन व्यपदिष्टः। तत्रार्थगतमन्तरङ्गमनौचित्यं विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणं पूर्वाचार्यैरिव सविस्तरं विवेचितमिति महिमभट्टेन तन्न प्रातन्यत। द्वितीयं हि शब्दगतमनौचित्यं सविस्तरं विवेचितमाचार्येण। तच्च पञ्चविधम्– विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरुक्त्यम्, वाच्यावचनश्चेति। अवाच्यवचनं नाम षष्ठोऽपि प्रकार उक्तः, किन्तु वाच्यावचनेनौचित्येन सामर्थ्यादवाच्यवचनमपि सङ्गृह्यते। तस्यापीष्टार्थ विपर्ययात्मकत्वात्। अतः पञ्चविधत्वमक्षुण्णमेव। इमे हि विधेयाविमर्शादयो दोषा इत्युच्यन्ते। अनौचित्यस्यैव नामान्तरं दोष इति वदन्त्याचार्याः।

एवमेतेष्वनौचित्यभेदेषु दोषेषु प्रक्रमभेदो नामानौचित्यमन्यतमम्। प्रक्रमभेदस्यापि अनौचित्यस्य प्रकृतिप्रक्रमभेदः, सर्वनामप्रक्रमभेदः, प्रत्ययप्रक्रमभेदः, पर्यायप्रक्रमभेदः, विभक्तिप्रक्रमभेदः, उपसर्गप्रक्रमभेदः, वचनप्रक्रमभेदः, तिङन्तप्रक्रमभेदः, कालप्रक्रमभेदः, कारकशक्तिप्रक्रमभेदः, शाब्दप्रक्रमभेदः, आर्थप्रक्रमभेदः, क्रमप्रक्रमभेदः, वास्तुप्रक्रमभेदः इति प्रक्रमभेदाः विवेचिताः।

एवमेतेष्ववनौचित्येषु प्रकृतिप्रक्रमभेदोऽन्यतमः। प्रकृते शोधपत्रे प्रकृतिप्रक्रमभेदमधिकृत्य विचारः प्रस्तूयते। अत्रेदमवधेयं यत् प्रक्रमभेदो हि रसभङ्गहेतुः। अयं हि प्रक्रमानुसारेण वर्धमानां ज्ञातृज्ञानधारां निपात्य गर्त इव खेदं जनयति। अतः प्रक्रमो नाम प्रारम्भो यथा येन वा प्रकृतिविशेषेण प्रत्ययविशेषेण वा स्यादुपसंहारोऽपि तथा तेनैव विधेयः। यथा हि प्रक्रमे ताम्रशब्दः प्रयुक्तश्चेद् उपसंहारेऽपि ताम्रशब्दः प्रयोक्तव्यः– 'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।' इति शब्दार्थव्यवहारे सर्वत्र लोकसम्मतः पारम्परिकक्रमोऽनुसर्तव्यः। लोकप्रवृत्तिश्च रसास्वादप्रतीतौ परिम्लानता न स्यादित्युपक्रमानुसारेणैव शब्दार्थव्यवहार आदरणीय इति। महिमभट्टात् परवर्तिनो मम्मटविश्वनाथादय आचार्या भग्नप्रक्रमं नाम प्रक्रमभेददोषं मन्यन्ते।[6]

प्रक्रमभेदाख्यस्यास्य दोषस्य मूलं व्याकरणशास्त्रेऽपि लभ्यते। व्यक्तिविवेकस्य, द्वितीयविमर्शे प्रारम्भ एव रुय्यकेणेदं टीकायां प्रत्यपादि। रुय्यकेण विधेयाविमर्शादिदोषपञ्चकस्य मूलं व्याकरणसूत्रे महाभाष्ये व्याहृतम्। तत्र '**स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च**'[7] इति सूत्रे निर्दिष्टं यत् स्वामीश्वराधिपतिप्रभृतिशब्दयोगे सप्तम्यपि भवति विकल्पेन षष्ठ्यपि विधीयते। यथा 'गवामश्वानां च स्वामी' अथवा 'गोषु अश्वेषु च स्वामी'। व्याकरणदृष्ट्योभयमपि सङ्गच्छते। तत्र भाष्यकारेण लिखितं यत् न हि भवति गवां स्वामी अश्वेषु च। तात्पर्यमिदं भाष्यकारवचनस्य यदोभे विभक्ती प्राप्येते स्वामिशब्दयोगे, किन्तु यदि च सप्तम्यारभ्यते तर्हि सप्तम्येवोभयत्र प्रयोक्तव्या। यदि च षष्ठ्यारभ्यते तदोभयत्र षष्ठ्येव विधेयेति। अतः प्रयोक्तव्ये सति 'गवामश्वानाञ्च स्वामी, किंवा गोष्वश्वेषु च स्वामीति वाच्यम्, न तु गोष्वश्वानाञ्च स्वामी किंवाश्वेषु गवाञ्च स्वामीति। एकत्र षष्ठ्यन्यत्र च सप्तमीति सूत्रदृष्ट्या साध्वपि नैव सङ्गच्छत एतादृशः प्रयोगः। यदि प्रक्रमः सप्तम्या तर्हि सप्तम्यैवोपसंहारः समपेक्षितः, तदभावे प्रक्रमभेदो नाम दोष इति बीजं भाष्यकारेण प्रक्रमभेदस्य प्रस्तुतम्।[8]

तत्र प्रकृतिप्रक्रमभेदे प्रकृतिश्च सा यतः प्रत्ययो विधीयते। प्रकृतिश्च द्विधा प्रातिपदिकरूपा धातुरूपा च। अत्र प्रकृतेः प्रातिपदिकरूपाया धातुरूपायाश्च प्रक्रमभेदः प्रदर्श्यते।

प्रक्रमभेदो हि शब्दानौचित्यम्। रसप्रतिपत्तौ समाहितचित्तस्य प्रवृत्तस्य पाठकस्य दर्शकस्य वा समक्षं

यदा प्रक्रमनिर्वाहाभावः समुपतिष्ठते तदा स रसास्वादने विघ्नमनुभवति। यतः शब्दार्थव्यवहारे मनीषिणः सहृदया लौकिकमेव क्रममनुसरन्ति। लोकेऽप्ययं व्यवहारो विलोक्यतेऽभिव्यक्तौ यद् यस्य प्रक्रमः प्रारम्भः कृतस्तस्य समाप्तिपर्यन्तं निर्वाहो विधेयः। यद्येवं न विधीयते तर्हि सहृदयसमाजे वैरस्यमुत्पद्यते रसास्वादने च सहृदयो विघ्नमनुभवत्येव। आचार्यमहिमभट्टेन स्वीकृतं प्रक्रमभेदं नाम दोषं वीक्ष्य वक्तुं शक्यते यत् प्रकृतिर्वा प्रत्ययो वा भवतु सर्वस्यैव स्वतन्त्रोऽर्थः, सोऽर्थ शब्दान्तरेण प्रकटयितुं नैव शक्यते। साम्येन केचन शब्दाः पर्यायवाचिनः समानार्थकाः प्रत्ययाश्चाभिधीयन्त इति त्वन्यद्। एतद्विषये महिमभट्ट आह–

प्रक्रमभेदोऽपि शब्दानौचित्यमेव। स हि यथाप्रक्रममेकरसप्रवृत्तायाः प्रतिपत्तृप्रतीतेरुत्खात इव परिस्खलनखेददायी रसभङ्गाय पर्यवस्यति। किञ्च सर्वत्रैव शब्दार्थव्यवहारे विद्वद्भिरपि लौकिकक्रमोऽनुसर्तव्यः। लोकश्च माभूद् रसास्वादप्रतीतेः परिम्लानतेति यथाप्रक्रममेवैनमाद्रियते नान्यथा।[9]

अयं हि प्रक्रमभेदः प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादिभेदेन नानाविधः। तत्र प्रकृतिप्रक्रमभेदो महिम्ना व्याख्यातः।

तत्र प्रकृतिप्रत्ययपर्यायविभक्त्युपसर्गादिप्रक्रमस्य निर्वाहः कुन्तकेनाऽपि समाम्नातः। स हि विशिष्टयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वं स्वीकुर्वन् शब्दं सविशेषं परिभाषते यत् शब्दस्य नानापर्यायेषु सत्स्वपि कवेः विवक्षितार्थविशेषवाचक एक एव शब्दो भवति।[10] प्रक्रमभेदप्रस्तावे महिमभट्टस्येदं मतं यदेकस्य शब्दस्य स्थाने शब्दानां कस्याश्चित् प्रकृतेः प्रकृत्यन्तरं प्रत्ययस्थाने वा समानार्थकं प्रत्ययान्तरं प्रयोगानर्हम्। यदि क्वचित् काव्ये व्यतिक्रमो दृश्यते तर्हि तत्र प्रक्रमभेददोषो मन्तव्यः। यथा प्रकृतिप्रक्रमभेदः–

सततमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनानयन्त्या।
गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमनालपनादहं भवत्याः।।[11]

प्रस्तुतेऽस्मिन्नुदाहरणे वार्तालापरूपार्थमभिधातुं प्रथममभिभाषणशब्दः प्रयुक्तः, पुनस्तमेवार्थमभिधातुमालपनशब्दः प्रयुक्तः। प्रयोगोऽयं सहृदयदृशा नोचितः। अत्र प्रकृतिप्रक्रमभेदो नाम दोषः। अत्राधोलिखितः पाठः समुचितः स्यात्–

'गतधृतिरवलम्बितुं बतासूननलमभाषणतो ह्यहं भवत्याः।।

अत्रेदमवधेयं यत् पाणिनीयधातुपाठे 'लप व्यक्तायां वाचि' तथा च 'भाष व्यक्तायां वाचि' इति लप् धातुः, भाष् धातुश्च व्यक्तवचन एव पठितौ। अतो लपनम् भाषणञ्च पर्यायवाचिनौ शब्दौ। अतः सामान्येन एकस्य स्थानेऽपरस्य प्रयोगो नाऽनुचितः। किन्तु वस्तुतः प्रत्येकं पर्यायवाचिनः शब्दस्य प्रयोगे किमपि सूक्ष्ममन्तरं स्यादेव। अत एव कस्यापि शब्दस्य स्थानेऽपरस्य प्रयोगोऽथवैकेन शब्देनोपक्रम्यान्येनोपसंहारः नोचितः।[12] यतः एवं प्रक्रमाभेदस्य शब्दौचित्यस्य विध्यनुवादभावत्वेन परिणतिर्जायते।[13] किञ्च प्रक्रमभेदस्थितौ विध्यनुवादभावो न सम्भाव्यते। परिणामतः प्रक्रमभेदः सहृदयहृदये वैरस्यं जनयति। असति प्रक्रमभेदे वाक्ये साम्यजनितं सविशेषं चारुत्वमनुभूयते। यथा–

तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैगृह्यन्ते।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि।।[14]

यथा च

एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम्।

परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र एव वराकः।

उपर्युक्तयोरुदाहरणयोः कमलचन्द्रशब्दाभ्यामुपक्रमो विहितः, ताभ्यामेव च कमलचन्द्रशब्दाभ्यां तदनुवादो व्यधायि। यद्यपि द्वितीये कमलशब्दे चन्द्रशब्दे च पूर्णगुणशालितार्थस्य सत्त्वात् प्रतीयमानार्थभेदस्तथापि प्रक्रमाभेदनिर्वाहायैव पुनरपि तौ शब्दौ प्रयुक्तौ। द्वितीयोदाहरणे 'शशिबिम्बम्' इति पदस्य स्थाने 'चन्द्रबिम्बम्' इति पदप्रयोगे विहिते चारुत्वोत्कर्षः स्यात्।[15]

एवमेव–

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत।'[16]

इति पद्ये वच्-धातुना प्रक्रमः कृतः, किन्तु तदुत्तरवाक्ये भाष्-धातोः प्रयोगेण प्रतीतिसाम्यनिर्वाहो न कृतः। अतोऽत्र प्रकृतिप्रक्रमानौचित्यं नाम दोषो मन्तव्यः। दोषनिरासाय 'प्रत्यभाषत' इति पदस्थाने 'प्रत्यवोचत' इति पाठः समुचितः।[17]

एवमेव

नाथे निशाया नियते नियोगादस्तं गते हन्त निशापि याता।

कुलाङ्गनानां हि दशानुरूपं नातः परं भद्रतरं समस्ति।।[18]

अत्रापि गम्-धातुना प्रक्रमः, अतस्तस्य 'या'धातुनोपसंहारो नोचितः। अतः पाठविपर्यासेन **'हन्त गता निशापि'** इति पाठः सङ्गच्छते।[19]

अत्रेदमवधार्यं यददोषरूपत्वेनाभिमतं प्रक्रमाभेदं दृष्ट्वा क्वचित् पुनरुक्तिभ्रमोऽभिजायते **'नैकं पदं द्विः प्रयोज्यन्'** इति न्यायेन। किन्तु प्रक्रमाभेदशब्दपुनरुक्त्योः क्षेत्रं सर्वथा भिद्यते। पूर्वोद्दिष्टस्य प्रतिनिर्देशः प्रक्रमाभेदविषयः। तत्राऽभेदेऽसति दोषत्वम्। यत्र चोद्दश्यप्रतिनिर्देश्यभावाभावः तत्र शब्दपुनरुक्तिदोषविषयः वक्तुरसामर्थ्याभिव्यक्तये क्वचिद् विकृतशब्दप्रयोगेऽपि शब्दान्तरभ्रमहेतुतयोद्देश्यविशेषेण प्रयोगात् न प्रक्रमभेददोषः।[20]

यथा–

व्रजतः क्व तात! 'वजसीति' परिचयगतार्थमस्फुटम्।

धैर्यमभिनदुदितं शिशुना जननीनिर्भर्त्सनविवृद्धमन्युना।।[21]

अत्र 'व्रजतः' इति पदेन प्रक्रान्तस्य 'वजसि' इति पदेनानुवादो विहितः। अत्र व्रज्-धातुस्थाने 'वज्' धातुप्रयोगे प्रक्रमभेददोषभ्रमो न पालनीयः, कविना स्वनिबद्धवक्तुरत्यन्तशैशवद्योतनाय रेफरहितस्य 'व्रज्'धातोरेव प्रयोगात्, नतु 'वज्' धातोः। अतो नात्र प्रक्रमभेददोषः।[22]

एवं महिमभट्टः धातुरूपायाः प्रकृतेः प्रक्रमभेदं प्रदर्श्य प्रातिपदिकरूपायाः प्रकृतेः मध्ये च सर्वनामादीनां प्रकारवैचित्र्येण प्रक्रमभेदं दर्शयति। यथा–

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।

सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः।।[23]

पद्येऽस्मिन् भगवान् शङ्करः प्रकरणप्राप्तः। तस्य चास्मै इत्येन इदमा निर्देशः कृतः, अतस्तेनैव 'इदमा' परामर्शः समुचितः, न तु तच्छब्देन। अत्र तदुत्तरप्रयोगे तत् शब्दः प्रयुक्त इति सर्वनामप्रक्रमो भग्नः इति नोचितः। अतोऽत्र सर्वनामप्रक्रमभेदो नामाऽनौचित्यं दोषः।[24]

अत्रेदमाशङ्क्यते यद् यथा 'यत्तदोर्नित्यसम्बन्धः' इति नियमेन यच्छब्देन प्रक्रान्तस्य विषयस्योपसंहारः कृतः सन्न दोषाय मन्यते तथैव इदमपि प्रक्रान्तस्य विषयस्य तच्छब्देनोपसंहारो दोषाय न कल्पते। किंन्त्वत्रावधेयं यद्यथा यत्तदोर्नित्यसम्बन्धस्तथा तदिदमोर्न नित्यसम्बन्धः। इदम् शब्दस्तु सन्निकृष्टार्थस्य परामर्शकः, किन्तु तच्छब्दो दूरस्थस्य। एवमुभयं भिन्नार्थम्। अतश्तच्छब्द इदमः परामर्शको न स्यात्। एवं सति अभिन्नार्थकानाम् इदमेतददसामन्यतमस्य प्रयोगेऽपि दोषोऽयं सम्भावयितुं न शक्यते, स्वभावत एव इदम्-एतद्-अदस्-शब्दानां अन्योन्यसापेक्षसम्बन्धप्रतिपादनात्। अतः इदमः परामर्शः इदमेतददसामन्यतमेन कर्तुं शक्यते, न तदेति व्यक्तिविवेकवृत्तावपि स्पष्टम्।[25] एतद्धि पूर्वमेव व्यक्तिविवेककारेण स्पष्टीकृतम्–

यश्चैकवाक्ये कर्तृत्वेनोक्तो यश्चेदमादिभिः।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोरुपपद्यते।।
यतोऽध्यक्षायमाणोऽर्थः स तेभ्यः प्रतिपद्यते।
न चाऽसौ तत्परामर्शसहिष्णुरसमन्वयात्।।[26]

एवं व्याकरणशास्त्रसूचितः प्रकमभेदः, यो महिमभट्टेन विचारितः। तस्य नैके भेदा यद्यपि भवन्ति तथाप्यत्र मया प्रकृतिप्रक्रमभेद एव विचारितः। यतः प्रत्ययो भवति सा प्रकृतिरिति प्रसिद्धमेव। प्रक्रमभेदस्यानौचित्ये इदमेव बीजं वर्तते यत् यत्र उद्देश्यप्रतिनिर्दिश्यरूपेण एक एवार्थो विवक्षितो भवति तत्र यदि शब्दे भेदः जायते तदा अर्थप्रतीतावपि भेदो भवति। शाब्दबोधे शब्दोऽपि विशेषणत्वेन भासते। एवं पर्यायशब्दस्य प्रयोगे सति शब्दभेदजन्यः बोधभेदोऽपि भवति। एवं समरसत्वं विनश्यति। अतः प्रक्रमभेदोऽनौचित्ये स्वीकृतः। शब्दोऽपि शाब्दबोधे विशेषणत्वेन भासते इति भर्तृहरिणाऽपि वाक्यपदीये कथितमेव–

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।। इति।

एवमत्र प्रक्रमभेददोषेषु प्रकृतिप्रक्रमभेदः सोदाहरणं विचारितः। यथा सततमनभिभाषणमित्युदाहरणे यमर्थमभिधातुं प्रथममभिभाषणशब्दः प्रयुक्तस्ततस्तमेवार्थमभिधातुं तदग्रे लपनशब्द इति प्रकृतिप्रक्रमभेदो नाम दोषः। असति प्रक्रमभेदे साम्यजनितं चारुत्वमाविर्भवति। यथा- **'तदा जायन्ते गुणा'** इत्यादि श्लोके किञ्च **'चन्द्रश्चन्द्र एव वराकः'** इत्यत्र च द्वितीयकमलचन्द्रशब्दयोः पूर्णगुणशालितार्थस्य सत्त्वात् प्रतीयमानार्थभेदे सत्यपि प्रक्रमाभेदनिर्वाहायैव द्वयोः शब्दयोः प्रयोगः। 'एवमेव जनस्तस्याः' इत्यादि पद्य एव चन्द्रबिम्बमिति प्रयोक्तव्ये 'शशिबिम्बम्' इति प्रयुक्तम्। 'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः रावणः प्रत्यभाषत।' इत्यत्र वच्-धातुना प्रक्रमः कृतः, किन्तु भाष्-धातुनोपसंहार इति प्रकृतिप्रक्रमभेदोऽनौचित्यम्। अत्र 'प्रत्यभाषत' इति पदस्थाने प्रत्यवोचत इति पाठः समुचितः। एवं ह्यत्र विविधोदाहरणप्रत्युदाहरणसङ्गतिपूर्वकं व्यक्तिविवेके प्रकृतिप्रक्रमभेदो विवेचित इत्यलमतिविस्तरेण।

संदर्भः–

1. व्यक्तिविवेकः– 1/1
2. व्यक्तिविवेकः– पृ.182
3. काव्यप्रकाशः– 7.1
4. व्यक्तिविवेकः– पृ.182
5. व्यक्तिविवेकः– पृ.179–183
6. काव्यप्रकाशः– भग्नः प्रक्रमः प्रस्तावो यत्र (स भग्नप्रक्रमः) काव्यप्रकाशः– पृ.228
   साहित्यदर्पणः–वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा। (साहित्यदर्पणः– 7/78)
7. अष्टाध्यायी– 2,3,39
8. एता अवान्तरभेदभिन्नाः पञ्चदूषणजातयः। यदेतदिह ग्रन्थकृता विचारसरणिमाश्रित्य विधेयाविमर्शादिदोषपञ्चकमुद्भावितम्, न तत्राद्यतनपुरुषमात्रबुद्धिप्रणयनासूययानादरः करणीयः। पूर्वैरेवं विधदोषोद्भावनरूपस्य विचारस्य प्रणीतत्वात्। तथाहि दास्याः पुत्र इत्यादावाक्रोशे षष्ठ्या अलुकं प्रतिपादयता सूत्रकृता विधेयाविमर्शः सूचितः एव। तथा स्वामीश्वराधिपतिदायादे (2/3/39) इत्यत्र सूत्रे नहि भवति गवां स्वामी अश्वेषु चेति वदता भाष्यकृता स्पष्टमेव प्रकमभेदः प्रतिपादितः। व्यक्तिविवेकटीका पृ.180
9. व्यक्तिविवेकः – पृ. 287
10. शब्दो विवक्षितैकार्थैकवाचकोन्येषु सत्स्वपि। वक्रोक्तिजीवितम् –1/9
11. शिशुपालवधम्–7/9–10
12. अत्र हि भाषतिलपत्योरुभयोरपि वचनार्थाविशेषेऽपि यदा भाषतिप्रयोगक्रमेण वस्तु वक्तुमुपक्रान्तं तदा तेनैव निर्वाहः कर्तुमुचितो नेतरेण। व्यक्तिविवेकः – पृ. 288
13. एवंविधस्य प्रक्रमाभेदाख्यस्य शब्दौचित्यस्य विध्यनुवादभावप्रकारत्वोपगमात्। व्यक्तिविवेकः पृ.288
14. अलङ्कारसर्वस्वध्वन्यालोकादिग्रन्थेषु विषमबाणलीलातः समुद्धृतमिदं पद्यम्।
15. अत्र ह्युत्कर्षमात्रविवक्षया परिकल्पितभेदेऽप्येकस्मिन्नर्थे विधेयानुवाद्यविषयेण एकेनैवाभिधानेन विध्यनुवादभावो भणित इति प्रक्रमभेदप्रकार एवायमिति मन्तव्यम्। केवलं पर्यायप्रक्रमभेदनिवृत्तये शशिबिम्बमित्यत्र चन्द्रबिम्बमिति पाठः परिणमयितव्यः। व्यक्तिविवेकः– तत्रैव
16. व्यक्तिविवेकः– पृ.290
17. तेन प्रत्यवोचत इति अत्र पाठो युक्तः। व्यक्तिविवेकः– पृ.290
18. व्यक्तिविवेकः– पृ.290
19. अत्र हि 'गता निशापी ति युक्तः पाठः। व्यक्तिविवेकः– तत्रैव
20. न चैवं शब्दपुनरुक्तिदोषप्रसङ्गः– यथान्ये मन्यन्ते 'नैकं पदं' द्विः प्रयोज्यं प्रायेण (वामनस्य– का.सू. 5/1/1) इति, तयोर्भिन्नविषयत्वात्। यथोद्देशं हि प्रतिनिर्देशोऽस्य विषयः। उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभावाभावविषयस्तु शब्दपुनरुक्तिदोष इति कुतस्तस्य प्रसङ्गः। व्यक्तिविवेकः – पृ. 290
21. व्यक्तिविवेकः – पृ. 290
22. शिशुना व्रजतिरेव प्रयुक्तो न वजति, तत्रैव परिचयगतार्थत्वास्फुटत्वधैर्यभेदत्वसम्भवात्। केवलं शक्तिवैकल्याद्रेफोऽनेन नोच्चादित इति प्रत्युदाहरणमेतत्।
23. कुमारसंभवम्– 6/94
24. अत्र हि भगवन्तं शूलिनं प्रक्रान्तमिदमा परामृश्य तेनैवोक्तरीत्या तत्परामर्शः कर्तुं युक्तो न तदा। तयोर्देवदत्तयज्ञदत्त–शब्दयोरिव भिन्नार्थत्वात्। न चासौ कृत इति सर्वनामप्रक्रमभेदः। व्यक्तिविवेकः– 292
25. न चैवं यत्तदोरिदमेतददसां चाभिन्नार्थत्वेऽप्येतदोषविषयत्वप्रसङ्गः। तेषामुक्तप्रकारेण स्वभावतोऽन्योन्यापेक्षसम्बन्धोपपादनात्। तेनेदमादिभिस्त्रिभिस्तस्य परामर्शो न तदेति स्थितम्। व्यक्तिविवेकः– 292
26. व्यक्तिविवेकः – 2/6–7

वरिष्ठसहायकाचार्यः

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, भोपालपरिसरः

भारतीयवैदिकदर्शनसरितः उपधाराः

डॉ. कुलदीपशर्मा

वैदिकवाङ्मयं विश्वसभ्यतायाः प्रथमकोशत्वेन प्रशस्तमस्ति। कोशेऽस्मिन् जीव-ब्रह्मणोः सम्बन्धविषये सूक्ष्मविचारोऽजायत। तत्र व्यासाचार्येण ब्रह्मजिज्ञायासां ब्रह्मणः लक्षणं प्रतिपादितम् - **जन्माद्यस्य यतः**[1]

अर्थात् सृष्टिः, स्थितिः, प्रलयादीनि यतो भवन्ति, तद् ब्रह्म। सम्पूर्णमपि भारतीयदार्शनिकसाहित्यमस्यैव लक्षणस्य व्याख्यायै यतते। यथा महासरितः बहव्यः उपधाराः भवन्ति, तथैव भारतीयवैदिकदर्शनस्यापि वादाख्याः धाराः सन्ति। आभिरुपधाराभिरेव महासरिति ज्ञानप्रवाहो निर्बाधरूपेण स्रवति। कालान्तरे प्रत्येकमपि वादस्य भाष्यकृतामाचार्याणां तात्त्विकविवेचनानुसारेणैव सम्प्रदायाख्यानि मतानि समागतानि। तदाधारेण जीवब्रह्मणोः सम्बन्धस्य विविधपक्षाः विज्ञातुमर्हाः भवन्ति।

अद्वैतवादः

उपनिषदाधारितदर्शनेषु अद्वैतदर्शनं प्रथमम् अन्येषां दर्शनानाञ्च कृते पूर्वभूमिकारूपेण वर्तते। 'जीवब्रह्मणोः ऐक्यम्' इतीदं वचनम् शङ्कराचार्यप्रतिपादितस्य अद्वैतवादस्य हार्दमस्ति। सिद्धान्तस्यास्य मूलम् ऋग्वेदे द्वयोः पक्षिणोः रूपकमाध्यमेन उपस्थापितमस्ति, यथा हि-

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।[2]

अर्थात् सङ्गतौ द्वे पक्षिमित्रे (जीवात्मा परमात्मा च) भवतः। ते मित्रे एकमेव वृक्षम् (शरीरम्) आश्रित्य निवासं कुर्वतः। तयोः मित्रयोः एकः (जीवात्मा) स्वादिष्टफलानि (मायावशात् भोगादीनि सुखानि) भुङ्क्ते। द्वितीयः (परमात्मा) तानि फलानि अभुञ्जानः पश्यति।

जीवब्रह्मणोः ऐक्यं प्रतिपादयितुमेव 'ऐक्यवादः' इत्यस्य स्थाने 'अद्वैतवादः' इत्यस्य पदस्य प्रयोगः आचार्येण विहितः। एतादृशस्य नञ्समासविशिष्टस्य शब्दस्य प्रयोगेऽपि हेतुरस्ति। ब्रह्मात्मैक्यरूपानन्दमयस्थितेः अनुभवः अनिर्वाच्यः अस्ति। लोकव्यवहाराय अनुभवसङ्क्रमणाय च 'त्वम्-अहम्' इति पदावलीयुक्तायाः द्वैतविशिष्टायाः भाषायाः एव प्रयोगः कर्तव्यो भवति। यद्यपि तादृशे व्यवहारे अद्वैतीयानुभवस्य पूर्णतया व्यक्तीकरणम् असम्भवम्, तथापि द्वैतभाषायाः प्रयोगं विहाय अन्यः उपायः नास्ति। यथा यद्यपि सूर्यः सुस्थिरः (उदय-अस्तादिक्रियाभिः मुक्तः) इति सर्वोऽपि लोकः जानाति, तथापि सूर्योदयः, सूर्यास्तः इति व्यवहारः लोके भवत्येव।

भेदाभेदवादः

शङ्कराचार्यस्य मते कर्मणः त्यागेन विना मुक्तिः न भवति। मतस्यास्य प्रत्याख्यानाय भास्कराचार्येण कर्मज्ञानयोः समुच्चयसिद्धान्तः प्रत्यपादि। स्वाभिमतस्य निरूपणाय आचार्येणामुना भास्करभाष्यस्य रचना कृता।

भास्कराचार्यः नैव तु ब्रह्ममात्रस्य स्वतन्त्रसत्ताम् अङ्गीकरोति, नैव च जगन्मात्रस्य। तन्मते यदा मनुष्यः अज्ञानावस्थायां सांसारिकज्ञानमनुभवति, तदा ब्रह्मजगतोः भेदमनुभवति। भेदोऽयं अज्ञाननाशे नष्टो भवति। एवं हि भेदाभेददर्शनमिदं वस्तुनिष्ठं नास्ति, अपि तु व्यक्तिनिष्ठं तिष्ठति। यतो हि यस्य मनुष्यस्य यथार्थज्ञानं भवति, स एव अभेदस्यानुभूतिं करोति। स्वसिद्धान्तस्य समर्थने आचार्येण समुद्रतरङ्गानाम् उदाहरणमदायि, यथा समुद्रस्य तरङ्गाः तस्मात् भिन्नाः अपि सन्ति, अभिन्ना अपि सन्ति।

विशिष्टाद्वैतवादः

रामानुजाचार्येण ब्रह्मसूत्रस्य श्रीभाष्यं प्रतिपाद्य विशिष्टाद्वैतवादस्य प्रणयनं कृतम्। रामानुजीयवैष्णवसम्प्रदाये अस्य विशिष्टाद्वैतवादस्य मान्यता प्रामुख्येन वरीवर्तते। मतेऽस्मिन् शरीरं विशिष्टमस्ति, जीवात्मा च परमात्मनः अंशोऽस्ति। सृष्टिप्रक्रियायाः पूर्वं सूक्ष्मचिद्-विशिष्टब्रह्मणः जगदुत्पत्तेरनन्तरं स्थूलचिद्-विशिष्टब्रह्मणः सत्ता भवति।

दर्शनेऽस्मिन् त्रयाणां तत्त्वानां सत्ता भवति (1) ब्रह्म अर्थात् ईश्वरः (2) चित् अर्थात् आत्मतत्त्वम् (3) अचित् अर्थात् प्रकृतितत्त्वम्। आत्मनः उद्देश्यानां पूर्तये शरीरं कार्यं करोति, अतः शरीरात्मनोः विशिष्टः सम्बन्धः अस्ति। एवमेव ब्रह्मणः पृथग्रूपेण चित्-अचित्-तत्त्वयोः किमपि अस्तित्वं नास्ति। यथा रश्मिरहितः सूर्यो न भवति, रश्मिश्च सूर्येण विना न भवति, एवं हि द्वयोरपि विशिष्टः सम्बन्धः भवति। सामाजिकपरिप्रेक्ष्ये रामानुजदर्शनस्य अतीव महत्त्वमस्ति, यतो हि दर्शनमेतत् समाजस्य सर्वेषां वर्गाणां मुक्त्यर्थं भक्ति-आन्दोलनस्य प्रस्तावं करोति।

द्वैतवादः

मध्वाचार्यः दर्शनस्यास्य प्रतिपादकोऽस्ति। दार्शनिकविचारधारेयं सृष्टौ त्रयाणां तत्त्वानां सत्तां स्वीकरोति ईश्वरः, जीवात्मा प्रकृतिश्च। एतानि त्रीण्यपि तत्त्वानि नित्यानि सन्ति। एतेषु तत्त्वेषु जीवात्मनि प्रकृतौ च परिवर्तनानि जायन्ते, किन्तु; ईश्वरे किमपि परिवर्तनं न जायते। द्वैतवादीनां मते ईश्वरः सगुणोऽस्ति अर्थात् तस्मिन् दयालुता, न्यायपरायणता, समर्थता इत्यादयः शुभाः सद्गुणाः सन्ति। मध्वाचार्येण जीवनं वास्तविकं मत्वा तत् व्यावहारिकं रुचिपूर्णञ्च विधातुं स्वीयदर्शने प्रस्तावः कृतः। द्वैतवादोऽपि भगवतः विष्णोः जगदाधाररूपेण प्रतिष्ठामाचरति।

द्वैताद्वैतवादः

भास्कराचार्यस्य भेदाभेदवादस्य उत्तरक्रमे द्वैताद्वैतवादसिद्धान्तस्य प्रवर्तनमभवत्। वादस्यास्य प्रवर्तकः निम्बार्काचार्यः आसीत्। अस्य मूलं नाम नियमानन्दः आसीत्, किन्तु; रात्रिकाले निम्बवृक्षे अर्कस्य साक्षाद्दर्शनेनास्य नाम निम्बार्काचार्यः सञ्जातम्। महाप्रभुना निम्बर्काचार्येण द्वैतवादस्य अद्वैतवादस्य च सामञ्जस्यफलं लोककल्याणाय विज्ञापितम्। वादस्यास्यानुसारेण जगदतीतरूपेण ब्रह्म निर्गुणमस्ति, किन्तु; सर्वशक्तिमान् तदेतत् ब्रह्म सगुणरूपेण जगन्नियन्ता अस्ति। जीवः जगच्च ब्रह्मणः परिणामतः सत्तायां स्तः। एते द्वेऽपि तत्त्वे ब्रह्मणः पृथग्रूपेण अपृथग्रूपेण च वर्तेते। ब्रह्म जगतः निमित्तकारणम् उपादानकारणञ्चास्ति। जीवः मुक्तस्सन् जगतो ब्रह्मणः अभिन्नतामनुभवति। निम्बार्कसम्प्रदाये मुक्तेः एकमात्रसाधनं भक्तिरेव वर्तते।

प्रेमभक्त्याः उच्चतमादर्शरूपेण श्रीराधिका राज्ञी दर्शनस्यास्य अधिष्ठात्री देवी अस्ति। श्रीकृष्णाख्यस्य परब्रह्मणः पराशक्तिः सैषा श्रीराधिका एव दर्शनेऽस्मिन् अभेदस्य प्रतीकरूपेणानुष्ठिता।

शैवविशिष्टाद्वैतवादः

निर्विशेषब्रह्मणः प्रतिपादकानि दर्शनानि विहाय सविशेषब्रह्मप्रतिपादकदर्शनेषु वैष्णव-शैव-रूपेण द्वौ भेदौ वर्तेते। विशिष्टाद्वैतवादः, द्वैतवादः द्वैताद्वैतवादः इत्यादयः सम्प्रदायाः ब्रह्मरूपेण भगवतः विष्णोः उपासनायै दिङ्निर्देशं यच्छन्ति। वैष्णवमतस्य प्रतिक्रियायां भगवतः शिवस्य ब्रह्मरूपेण उपासनारतैः आचार्यैः शैवदार्शनिकधाराणां प्रस्फुटनं विहितम्। अमीषामाचार्याणां मते भगवतः शिवस्य सङ्कल्पमात्रेणैव समस्तचराचरजगतः सृष्टिरभवत्। तत्रादौ रामानुजस्य विशिष्टाद्वैतदर्शनमतसमं श्रीकण्ठाचार्येण शैवं मतमुपस्थापितम्। ब्रह्मसूत्रस्य शैवभाष्यं रचयित्वा आचार्येणामुना तारकब्रह्मरूपेण भगवतः शिवस्य निरूपणं कृतम्। दर्शनेऽस्मिन् त्रयः नित्यपदार्थाः सन्ति, यथा हि- (1) पतिः अर्थात् परमेश्वरः शिवः, (2) पशुः अर्थात् जीवात्मा, (3) पाशः अर्थात् कर्मव्यवहारश्च। दर्शनेऽस्मिन् कर्मणा उपासनया च सर्वज्ञस्य सर्वकारकस्य शिवस्य प्राप्तिः सायुज्यं वा मुक्तिः मता। दर्शनस्यास्य प्रतिपादकः नीलकण्ठः इत्यपरनामाख्यः श्रीकण्ठः शैवभाष्यं विहितवान्।

वीरशैवविशिष्टाद्वैतवादः

साम्प्रदायिकपरम्परानुसारेण रेवणसिद्धाचार्येण अस्य सम्प्रदायस्य संस्थापना कृता। सम्प्रदायेऽस्मिन् एकेश्वरवादस्य विचारः समाद्रियते। सोऽयमेकेश्वरः ब्रह्मा, विष्णुः, रुद्र इत्येतेषां त्रयाणामपि देवानां कारणीभूतः महासदाशिवः परमेश्वररूपेण जगतः पूर्वापरावस्थायां निर्लिप्तभावेन सन्तिष्ठते। वीरशैवमते सृष्टिः द्विविधा (1) शिवेन निर्मिता अप्राकृतसृष्टिः (2) ब्रह्मणा निर्मिता प्राकृतसृष्टिश्च।

तत्र नन्दी, भृङ्गी इत्यादीनां शिवगणानां सृष्टिः अप्राकृतसृष्टिरस्ति। ब्रह्मणा रचिता मैथुनी सृष्टिः प्राकृतसृष्टिः भवति।

वीरशैवमते ज्ञानशक्तियुक्तः क्रियाशक्तियुक्तश्च चित्-अचित्-विशिष्टः चेतनावान् शिवः अद्वैतरूपेण प्रख्यापितो वर्तते। वीरशैवमते शिवलिङ्गस्य अतीव महत्त्वं भवतीत्यतः सम्प्रदायोऽयं लिङ्गायतनाम्ना अपि प्रसिद्धो वर्तते। अस्य मतस्य अवलम्बिनः नान्यस्य देवस्य उपासनामाचरन्ति। गुरुपरम्परया प्राप्तस्य शिवलिङ्गस्य पूजनात्पूर्वं एते जनाः अन्न-जलादीनामपि सेवनं न विदधति। शैवपुराणवाङ्मयम् आधारीकृत्यैव एते जनाः जीवननिर्वाहं कुर्वन्ति।

शुद्धाद्वैतवादः

शुद्धाद्वैतवादस्य प्रवर्तकः वल्लभाचार्यः आसीत्। वल्लभाचार्यस्य दार्शनिकविचारानुसारेण ब्रह्मतत्त्वं मायातः अलिप्तं भवति, अतः नितान्तशुद्धं भवति। अस्मादेव कारणादस्य सम्प्रदायस्य नामकरणं शुद्धाद्वैतवादः इत्यभवत्। वादस्यास्य मान्यता वरीवर्तते यत् सर्वधर्मकारणं ब्रह्म सर्वधर्मविशिष्टमपि भवति, तस्मात्कारणात् विरुद्धधर्माणामपि तस्मिन् उपस्थितिः स्वाभाविकी एव। जगदिदं ब्रह्मणः लीलानां विलासमात्रमस्ति, न तु मायाकल्पितम्। ब्रह्मणः त्रीणि प्रकाराणि भवन्ति, यथा हि-

(1) परब्रह्म, (2) अक्षरब्रह्म, (3) जगच्च।

कार्यकारणयोः अभेदत्वात् कार्यरूपं जगत् कारणरूपं ब्रह्म इत्यनयोः भेदो नैव मन्तव्यः। यथा - विस्तृतं वस्त्रम् आकुञ्चितेऽपि जाते लघ्वाकारे तदेव वस्त्रं भवति, तथैव आविर्भावदशायां जगत् तिरोभूतं (आच्छादितं गुप्तं वा) ब्रह्म एकमेवास्ति। वल्लभाचार्यः भक्तिमार्गस्य अपि समर्थकः आसीत्। तन्मते भगवान् श्रीकृष्णः साक्षात् पूर्णब्रह्मरूपः अस्ति। भगवतः श्रीकृष्णस्य भक्तिः परमात्मनः अनुग्रहवशादेव मनुष्यस्य अन्तःकरणे समुदेति। वल्लभमतं सर्वमपि श्रीमद्भागवतमहापुराणस्य आध्यात्मिकतत्त्वेषु उपनिबद्धमस्ति।

अविभागाद्वैतवादः–

ब्रह्मसूत्रेषु विज्ञानभिक्षुणा विज्ञानामृतभाष्यं प्रणीतम्। एषा दार्शनिकधारा सम्प्रदायरूपेण प्रतिफलिता नास्ति। अस्यां चिन्तनपरम्परायां स्वीकृतिरस्ति यत् प्रकृतिः पुरुषश्च (जीवः) इत्युभावपि ब्रह्मतत्त्वतः विच्छिद्य विभक्तीभूय भवितुं नार्हतः, अपि तु एतावुभावपि ब्रह्मणि अन्तर्हित-गुप्त-अविभक्तरूपेण तिष्ठतः।

साङ्ख्यशास्त्रस्य पुरुषबहुत्वसिद्धान्तानुसारेण बहवः पुरुषाः (जीवाः) सन्ति। सोऽयं पुरुषः ब्रह्मणा सह जन्य-जनकसम्बन्धेन सत्तावानस्ति। यथा जन्मनः पूर्वं पुत्रः पितरि एव समाहितो भवति, तथैव जीवोऽपि ब्रह्मणि अवस्थितो भवति। जीवः ब्रहणः एव समुत्पद्यते प्रलयकाले च तत्रैव निलीनो भवति। ईश्वरेच्छया जीवः प्रकृतिः इत्यनयोः सम्बन्धे जाते जगदुत्पत्तिः जायते। अयं हि दार्शनिकवादः श्रुतिः, स्मृतिः इत्यादीनां प्रमाणानि अङ्गीकृत्य विविधदार्शनिकधाराणां तात्त्विकम् ऐक्यं प्रतिपादयति।

अचिन्त्यभेदाभेदवादः

अचिन्त्यभेदाभेदवादस्य प्रवर्तकः वंगदेशीयः चैतन्यमहाप्रभुः अस्ति। महाप्रभोः मते श्रीमद्भागवतमहापुराणमेव उपनिषदां ब्रह्मसूत्राणाञ्च भाष्यमस्ति, अतः तेषां मते महापुराणस्यास्य अतीव महत्त्वमस्ति। कालान्तरे चैतन्यमतावलम्बिनः आचार्यबलदेव-विद्याभूषणस्य गोविन्दभाष्यं वादस्यास्य प्रतिनिधिग्रन्थोऽस्ति। माध्वमतेन सह सम्बद्धोऽपि वादोऽयं द्वैतवादात् सुतरां भिन्नोऽस्ति, यतो हि अत्र मन्यते यत् शक्ति-शक्तिमतोः भेदः अभेदश्च इत्युभयोरपि सिद्धिः न भवति। वस्तुतस्तु अनयोः द्वयोरपि सम्बन्धः तर्केण अचिन्त्योऽस्ति। अस्मादेव कारणाद् वादस्यास्य अचिन्त्यभेदाभेदवाद इति संज्ञा सञ्जाता।

वादस्यास्यानुसारेण भगवान् श्रीकृष्ण एव अनन्तशक्तिसम्पन्नपरमतत्त्वरूपेण मन्तव्यः। यतो हि श्रीः, ऐश्वर्यम्, वीर्यम्, यशः, ज्ञानम्, वैराग्यम् इत्येतेषां षण्णां दिव्यगुणानां पूर्णता भगवतः श्रीकृष्णस्य स्वरूपे एव दृश्यते, अतः भक्तस्य जीवनस्य एतत्परमं ध्येयं भवति यत् सः (जीवः) ब्रह्मणः (श्रीकृष्णात्) भिन्नोऽपि सन् तस्य ध्याने तल्लीनो भूत्वा आत्मानं च विस्मृत्य ब्रह्मणा (श्रीकृष्णेन) सह एकाकारितां सम्पादयेत्। भगवतः श्रीकृष्णस्य सान्निध्यमेव मुक्तिरस्ति।

एवं हि सर्वासामपि उपनिषदाधारितदार्शनिकधाराणां पर्यालोचनेन इदं स्पष्टं भवति यत् सर्वाण्यपि दर्शनानि कर्मबन्धनेभ्यः मुक्त्यर्थं साधना मार्गस्य विरलतराणि सूक्ष्माणि सोपानानि सन्ति। उत्तरोत्तरवादशृङ्खलायां सर्वत्रापि जीव-जगत्-ब्रह्मानि इत्येतेषां सम्बन्धस्थापनस्य कृते उद्यमः विहितो वर्तते। एतेषु वादेषु क्वापि विवादो नास्ति, अपितु सर्वत्रापि आत्मानुभूतवादस्य प्रस्तावस्य संवाद एवास्ति। सर्वाण्यपि दर्शनानि मोक्षमार्गिणां कृते क्रमशः उत्तरोत्तराभिवृद्ध्यर्थं ज्ञानम्, कर्म भक्तिश्चेत्येतेषां दर्शनमार्गीयसोपानानां चोपस्थापनं विदधति।

श्रुतिपरम्परया यद्दर्शनं सम्प्राप्तम्, तदेव पुराणकारैः सूत्ररूपेण व्यवस्थापितम्। भगवतः वेदव्यासस्य उत्तरमीमांसादर्शनस्य (ब्रह्मसूत्रस्य) विविधैराचार्यैः भाष्यमकारि। तदाधारेण भारते बहूनां सम्प्रदायानां प्रतिष्ठा सञ्जाता। एतेषु सम्प्रदायेषु पारमार्थिकरूपेण भेदः नास्ति, यथोक्तम् –

तीर्थे तीर्थे निर्मलं ब्रह्मवृन्दम्, वृन्दे वृन्दे तत्त्वचिन्तानुवादः।
वादे वादे जायते तत्त्वबोधः, बोधे बोधे भासते चन्द्रचूडः।।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. गैरोला, वाचस्पति; भारतीय दर्शन, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
2. चौबे, एस.बी.; भारत हेतु शिक्षा दर्शन, मयूर पेपरबैक्स, दिल्ली।
3. द्विवेदी, देवीप्रसाद; प्राच्यशिक्षादर्शनम्, वीर बहादुर प्रकाशन, वाराणसी।
4. पाण्डेय, आर.एस.; शिक्षा दर्शन, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।।
5. पाण्डेय, के.पी.; शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार, विश्वविद्यालय, प्रकाशन, वाराणसी।
6. माथुर, एस.एस.; शिक्षा के दार्शनिक एवं सामाजिक आधार, अग्रवाल पब्लिकेशन, आगरा।
7. शर्मा, चन्द्रधर; भारतीय दर्शन आलोचना, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी।

सन्दर्भः–

1. ब्रह्मसूत्रम्, 1-1-2
2. ऋग्वेदः, 1-164-20
3. भास्करभाष्यम्, 2-1-18
4. शुकरम्भासंवादः-3

आचार्यः, शिक्षाशास्त्रविभागः,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जम्मूपरिसरः, जम्मू

व्यक्तिविवेके नञ्विषयो विधेयाविमर्शः

डॉ. हरीशचन्द्रतिवाड़ी

ध्वनिविरोधिष्वाचार्येष्वन्यतम आचार्योऽस्ति महिमभट्टः।अयमाचार्यः खिष्टसंवत्सरस्यैकादशशताब्द्यां काश्मीरभुवि जनिम् अलभत।अस्य पिता श्रीधैर्यः गुरुश्च श्रीश्यामलको विद्यते।अनेनाचार्येण जामातुर्मीमतनयानां स्वनसृणां योगक्षेमभोजानां काव्यशास्त्रीयां व्युत्पत्तिमाधातुं व्यक्तिविवेकनामा ग्रन्थो विरचितः,यत्र त्रयो विमर्शाः सन्ति।तत्र प्रथमो विमर्शः ध्वनिलक्षणाक्षेपनामको वर्तते, द्वितीयः शब्दानौचित्यनामकः, तृतीयश्च ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावोपदर्शननामकः।

अनेनाचार्येण व्यक्तिविवेकस्य प्रथमे विमर्शे ध्वन्यालोकोक्तध्वनिलक्षणं तर्कपुरस्सरं निराकृत्य काव्यानुमितिः प्रतिष्ठापिता वर्तते। काव्यानुमितेस्स्वरूपं प्रतिपादयन् कथयति आचार्यः-

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति।

सम्बन्धः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता।इति।।

अनुषङ्गतः नामपदानां घटनक्रियैव प्रवृत्तिनिमित्तम्,तदपेक्षमेव पौर्वकाल्यं क्त्वो विषयः,शब्दस्यैक एक एवाभिधाव्यापारः, तात्पर्यलक्षणाव्यञ्जनानामनुमानेऽन्तर्भावः,अर्थो द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च पुनरनुमेयस्त्रिविधः वस्तुमात्रम् अलङ्काराः रसादयश्चेत्यादयो नैकेऽभिनवाः सिद्धान्तास्तत्र द्रष्टुमुपलभ्यन्ते।

द्वितीये विमर्शे ध्वनिशास्त्रगतं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः' इति ग्रन्थान्तरं दूषयितुं व्यक्तिविवेककारः काव्यगतम् अनौचित्योल्लासरूपं दोषप्रपञ्चमुपपादयति। अनौचित्यपदस्य सामान्यः अर्थो भवति औचित्यभिन्नम् इति। भेदज्ञानं प्रति प्रतियोगिज्ञानं कारणं भवतीति रीत्या औचित्यभेदज्ञानं तावन्न भवितुं शक्नोति यावदौचित्यपदार्थज्ञानं न भवति, अत एव औचित्यमादाय किञ्चिदुच्यते-

अनौचित्यादृते नान्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

इति ध्वन्यालोकस्थया कारिकया ज्ञायते यत् संस्कृतवाङ्मये औचित्यशब्दस्य प्रयोगोऽतिप्राचीनादेव कालात्प्रवृत्तो वर्तते।औचित्यस्य भावना ध्वन्यादिसकलकाव्यतत्त्वानां मूलभावना विद्यते।अयं हि काव्यस्य व्यापकतमः सिद्धान्तः विद्यते। समस्ताः आलङ्कारिकाः हि स्वस्वग्रन्थेषु औचित्यरक्षणाय मतं निर्दिष्टवन्तः। नाट्यशास्त्रध्वन्यालोकादीन् ग्रन्थान् समालोच्यकाव्यस्य व्यापकरूपमादातुं क्षेमेन्द्रेण औचित्यविचारनामधेये ग्रन्थे औचित्यमेव काव्यस्य जीवातुतत्त्वरूपेण ग्रथितमस्ति। रसस्य जीवितभूतं तत्त्वमौचित्यमेव इति क्षेमेन्द्रेण समुद्घोषितम्-

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।

रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।

यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।

अलङ्कारास्त्वलङ्कारा गुणा एव गुणाः सदा।

औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।[3] **इति।**

भरतमुनिप्रणीते नाट्यशास्त्रे सिद्धान्तरूपेण तु नहि किन्तु व्यवहाररूपेण औचित्यं विहितमेवास्ते।तदनुसारेण लोके यद् वस्तु येन रूपेण येन वेषेण यया मुद्रया च समुपलभ्यते तस्य वस्तुनः तेनैव रूपेण वेषेण च तथैव मुद्रया अनुकरणं नाट्यस्य चरमं लक्ष्यम्। उक्तमपि–

अदेशजो हि वेषस्तु अशोभां जनयिष्यति।

मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।। इति।

'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यःकर्मणि च' इति पाणिनीयसूत्रेण उचितशब्दात् भावे ष्यञि प्रत्यये कृते उचितस्य भावः इति व्युत्पत्त्या औचित्यशब्दो निष्पद्यते। अस्य पदस्यार्थो भवति-उचितत्वम्।

'स्त्रीनपुंसकयोभावक्रिययोः ष्यञ् क्वचिच्च वुञ्।

औचित्यमौचिती मैत्री मैत्र्यं वुञ् प्रागुदाहृतः।[6] **इत्यमरः।**

'काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्'इति औचित्यविचारचर्चा।

'वयोऽनुरूपः प्रथमस्तु वेषो वेषानुरूपस्तु गीतप्रचारः।

गीतप्रचारनुगतश्च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।[7] इति भरतमुनिः

'वाच्यानां वाचकानाञ्च यदौचित्येन योजनम्।

रसादिविषयेणैतत् मुख्यं कर्म महाकवेः।।'[8] इति आनन्दवर्धनः।

'औचित्यनिबन्धनं रसभावादि मुक्त्वा नाश्रयत् किञ्चिदस्ति।'[9] इति अभिनवगुप्ताचार्यः।।

औचित्यस्य किं स्वरूपमिति जिज्ञासायां 'यो यत्सदृशः, येन परस्परं सम्मिश्रणं सम्मेलनं वा भवेत् तदेवोचितम्। अथ च उचितस्य भावः औचित्यम्। तथा चोक्तं क्षेमेन्द्रेण–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।

उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।[10]इति।

इदमेव औचित्यं रसस्य जीवितमास्ते। अदेशजो हि वेषस्तु अशोभां जनयिष्यति मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।। इति औचित्यसिद्धान्तस्य बीजभूतायाः भरतोक्तकारिकायाः भाष्यरूपं क्षेमेन्द्रस्य 'कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा ' इत्यादि पद्यमौचित्यसिद्धान्तं स्पष्टयति।

एतादृशौचित्यत्यस्य भेदः अनौचित्यमित्युच्यते। एतस्य च लक्षणमस्ति– 'विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविधायित्वम्'इति मुख्यार्थहतिरूपमिदमेवानौचित्यं काव्यदोष इत्यपि कथ्यते। काव्यस्य प्रयोजनं भवति रसास्वादसुखपिण्डदानद्वारा विनेयानां रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवदित्याद्युपदेशः। यदि काव्येऽनौचित्यं भवति तर्हि काव्यपरमप्रयोजनीभूतस्य रसस्य आस्वादस्य वा भङ्गो भवति। उक्तमेव ध्वन्यालोके 'अनौचित्यादृते नान्यद्'इत्यादि। रसभङ्गस्य कारणमिदमनौचित्यं द्विविधं भवति अर्थविषयं शब्दविषयञ्चेति।

साक्षाद्रसभङ्गहेतुत्वादर्थविषयमनौचित्यम् अन्तरङ्गमनौचित्यमस्ति। उक्तं हि व्यक्तिविवेके- 'विभावानुभावव्यभिचारिणामयथायथं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रलक्षणमन्तरङ्गम्'[11] इति। ध्वन्यालोकादौ एतद्विषये बहु उक्तमस्तिअत एव व्यक्तिविवेककारेण एतद्विषये विचारो न कृतः। अपरमस्ति शब्दविषयमनौचित्यम्। शब्दविषयमनौचित्यं पारम्पर्येण रसभङ्गहेतुत्वाद् बहिरङ्गमनौचित्यमस्ति,अस्यानौचित्यस्य कृते शब्दगतः काव्यदोष इत्यपि व्यवहारः कर्तुं शक्यते। अस्यैव शब्दविषयकस्य अनौचित्यस्य विस्तारपुरस्सरं निरूपणं व्यक्तिविवेकस्थद्वितीयविमर्शस्य प्रतिपाद्यं वस्तु विद्यते।।

बहिरङ्गमनौचित्यं पञ्चविधं सम्भवति, तद्यथा- विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनुरुक्त्यं वाच्यवचनञ्चेति। एता अवान्तरभेदभिन्नाः पञ्चदूषणजातयः सन्तीति रुय्यकः कथयति। विधेयस्य प्राधान्येनाभीष्टस्यार्थस्य अविमर्शः उपसर्जनीकरणादननुसन्धानं विधेयाविमर्शः अस्ति। कस्यचिद्वस्तुनो निर्वाहाय यः आरम्भः स्वीकृतः तस्य मध्येऽन्यथीकरणं प्रक्रमभेदः अस्ति। क्रमस्य परिपाट्या भेदः व्युत्क्रमः क्रमभेदः अस्ति। प्रतीतस्य अर्थस्य कृते पुनःशब्दोपादानं पौनुरुक्त्यमस्ति। वाच्यस्य वक्तुमर्हस्य अवचनम् अनुक्तिः वाच्यावचनम् अनौचित्यमस्ति।

एतेषु पञ्चसु बहिरङ्गानौचित्येषु अन्यतममनौचित्यमस्ति विधेयाविमर्शाख्यम् अनौचित्यम्। विधेयाविमर्शः कदाचित् नञ्विषयको भवति कदाचिद्यत्तदन्यतरपदानुपादानविषयकः, कदाचिच्च षष्ठीतत्पुरुषादिसमासविषयको भवति। शोधपत्रस्य विषयः अस्ति- **'व्यक्तिविवेके नञ्विषयो विधेयाविमर्शः'** इति। अत्र नञ् एको निपातो विद्यते। तस्य समासेऽसमासे वा कः अर्थः? नञ्समासे कस्य प्राधान्यं भवति, पूर्वपदार्थस्य प्राधान्यं भवति उत्तरपदार्थस्य प्राधान्यं वा ? इति जिज्ञासायां वैयाकरणभूषणसारे कथितमस्ति–

नञ्समासे चापरस्य प्राधान्यात् सर्वनामता।
आरोपितत्वं नञ्द्योत्यं नह्यसोऽप्यतिसर्ववत्।।[12] **इति।**

अर्थात् नञ्समासे असः असर्वः इत्यादौ उत्तरपदार्थस्य प्राधान्याद्विशेष्यत्वाद्वा सर्वनामसंज्ञा सिद्ध्यति, अत एव आरोपितत्वं नञ्द्योत्यमिति स्वीकार्यम्। नञर्थविषये सुप्रसिद्धा कारिकैका भर्तृहरेः विद्यते–

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः।।[13] इति।

अस्याः कारिकाया अनुसारेण नञः षडर्थाः सादृश्यादयः सन्ति-(1) अब्राह्मणः (ब्राह्मणसदृशः) (2) अपापम् (पापाभावः) (3) अनश्वः (अश्वभिन्नः) (4) अनुदरा (अल्पोदरा) (5) गोऽश्वेभ्योऽन्ये अपशवः (अप्रशस्तपशवः) (6)अधर्मः (धर्मविरोधी) सिद्धान्तपक्षे एते सादृश्यादयः नञः वाच्या द्योत्या वा अर्थाः न सन्ति अपितु तात्पर्यार्था आर्थिकार्था वा सन्ति। शाब्दार्थस्तु आरोपितब्राह्मणत्वविशिष्टः इत्यादिक्रमेण भवति। नञ्विषये तिस्रः कारिकाः साहित्यदर्पण-काव्यप्रकाश-परमलघुमञ्जूषा-वैयाकरणभूषणसारादौ समुपलभ्यन्ते–

नञर्थौ द्वौ समाख्यातौ पर्युदासप्रसज्यको।
पर्युदासः सदृग्ग्राही प्रसज्यस्तु प्रतिषेधकृत्।।

प्राधान्यं हि विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।।
अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।[14]

अर्थात् द्वौ नञर्थौ प्रसिद्धौ वर्तेते पर्युदासः प्रसज्यश्च, तत्र पर्युदासनञ् सदृशस्य बोधको भवति प्रसज्यश्च प्रतिषेधकृद् भवति। यत्र विधेः प्राधान्यं, प्रतिषेधे अप्रधानता, उत्तरपदेन सह नञः सम्बन्धश्च भवति तत्र पर्युदासनञ् भवति। पुनश्च यत्र विधेः अप्राधान्यं, प्रतिषेधे प्रधानता, क्रियया गुणेन वा सह नञः सम्बन्धः, असमर्थसमासः वाक्यभेदश्च भवति तत्र प्रसज्य प्रापय्य प्रतिषेध इति कृत्वा प्रसज्यप्रतिषेधनञ् भवति। इति उक्तकारिकात्रयस्य आशयो विद्यते।

द्विविधनञ्मध्ये पर्युदासनञ् प्रायः स्वसमभिव्याहृतपदेन सामर्थ्यात् समस्त एव भवति। क्वचिद् यजतिषु ये यजामहं करोति नानुयाजेषु, घटः अपटो भवति इत्यर्थके घटो न पटः इत्यादौ च समासविकल्पादसमासेऽपि दृश्यते, अत्रान्योन्याभावः फलितो भवति। व्यक्तिविवेककारोऽपि कथयति 'केचिद् व्यामोहात् न समासमाद्रियन्ते'[15] इति। तद्यथा–

ननु साधुकृतं प्रजासृजा शशिकान्तेषु मनो न कुर्वता।
नहि चेतनतामवाप्य ते विरमेयुर्गलितेन केवलम्।।

अर्थाद् यथा प्रसज्यप्रतिषेधे समासो नेष्टस्तथोक्तरीत्या पर्युदासेऽपि असमासो न इष्यते। अत्र अकुर्वतेति वक्तव्ये न कुर्वतेति क्रियांशनिषेधो न समीचीनः। अत्राभीष्टोर्थः आसीत् करणकियाकर्तृसदृशेन कियां प्रति उदासीनप्रायेणेति। अयमर्थस्तु 'अकुर्वता' इति प्रयोगेणैव सम्भवति न तु 'न कुर्वता' इति पदेन।

द्विविधनञ्मध्ये आरोपविषयत्वं पर्युदासनञः द्योत्यार्थो भवति। अतद्वतितत्प्रकारकं ज्ञानमारोपः भवति। आरोपः अत्र आहार्यज्ञानरूपः कल्पितज्ञानरूपो वा गृह्यते। एतादृशः आरोपः सदृशे एव भवति, अत एव पर्युदासः सदृग्ग्राहीति प्रवादः संगच्छते। पर्युदासे निषेधस्त्वार्थो भवति। अत एव अब्राह्मणः इति स्थले आरोपितब्राह्मणत्ववान् असत्यपि ब्राह्मणत्वे आरोपितब्राह्मणत्वयुक्तः क्षत्रियादिः इति बोधो भवति। ब्राह्मणत्वाभाववान् इत्यर्थस्तु आर्थः न तु शाब्दः।

प्रसज्यप्रतिषेधो नञ् द्विविधो भवति, समस्तः असमस्तश्च, तत्र समस्तस्य प्रसज्यप्रतिषेधनञः अत्यन्ताभावः एव अर्थः भवति, किन्तु असमस्तस्य प्रसज्यप्रतिषेधनञः लक्ष्यानुसारमत्यन्ताभावः अन्योन्याभावश्चेति अर्थद्वयं भवति, तत्र समस्तप्रसज्यप्रतिषेधनञः उदाहरणमस्ति– 'असूर्यम्पश्या राजदाराः'इति। अत्र 'असूर्यललाटयोर्दृशितपोः'[16] इति सूत्रेण असूर्ये कर्मणि उपपदे दृशेः खश् प्रत्ययो भवति। असूर्यम्पश्या इत्युदाहरणे असूर्यमित्यसमर्थसमासः सौत्रः कुतोऽसामर्थ्यमिति प्रसङ्गे सिद्धान्तकौमुद्यां बालमनोरमाकारः कथयति– सूर्यं न पश्यन्ति इत्यर्थे नो दृशिनान्वितत्वेन सूर्यशब्देनान्वयाभावादिति। आशयः अस्ति यद् एवं नाम राजदासाः गुप्ताः सन्ति यदपरिहार्यदर्शनं सूर्यमपि न पश्यन्ति किं पुनः परपुरुषमिति। तेन सत्यपि सूर्यदर्शने प्रयोगोऽयं न विरुध्यत इति भावः।अत्र नञः सम्बन्धः क्रियया सह वर्तते। अत एव नञ् प्रसज्यप्रतिषेधपरः। एवमेव

'अनचि च' इत्यत्रापि असमर्थसमासमाश्रित्य प्रतिषेधपरवाक्यान्तरम् अचि न भवति इत्याकारक निष्पन्नं भवति यत् फलं सुध्ध्युपास्यः इत्यत्र धकारस्य, वाक्ङ् इत्यत्र ककारस्यापि च द्वित्वं भवति। असमस्तस्य च नञः उदाहरणम्- 'गेहे घटो नास्ति' इति। अत्र अत्यन्ताभावः नञर्थः, घटो न पटः इत्यत्र च अन्योन्याभावः नञर्थः। एवमेव अनुपलब्धिः असन्देहः इत्यादीनि नैकानि उदाहरणानि प्रसज्यप्रतिषेधनञः परमलघुमञ्जूषादौ विचारितानि।

एवं नञर्थविषये व्याकरणशास्त्रेषु परमलघुमञ्जूषा-वैयाकरणभूषणसारप्रभृतिग्रन्थेषु विभिन्नपक्षमवलम्ब्य प्रभूतो गभीरो विचारः कृतो वर्तते।प्रकृतानुपयोगित्वादत्र अन्ये नञ्विषयाः पक्षाः न विचार्यन्ते। इदानीं विधेयाविमर्शाभिधानौचित्यं किञ्चिद् विचार्यते-

विधेयाविमर्शः- विधेयाविमर्शः पञ्चविधानौचित्येषु अन्यतममनौचित्यमस्ति। विधेयस्य प्रधानभागस्य अविमर्शः प्राधान्येनानिर्देशः विधेयाविमर्शनामा काव्यदोषः। काव्यस्य बहिरङ्गमनौचित्यं वा कथ्यते। मम्मटविश्वनाथादयः एनमेव विधेयाविमर्शम् अविमृष्टविधेयांश इत्यपि कथयन्ति। साहित्यदर्पणकारः कथयति- विधेयस्य विमर्शाभावेन गुणीभूतत्वम् अविमृष्टविधेयांशत्वमिति, उद्देश्यविधेयभावविषये तन्त्रवार्तिके उक्तमस्ति-

यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता।
तच्छब्दयोगेन औत्तर्यं साध्यत्वञ्च विधेयता।।[17]।।इति।।

अर्थात् यच्छब्दप्रतिपाद्यं सिद्धत्वेन प्रतीयमानमुद्देश्यम्, तदादिशब्दप्रतिपाद्यमुद्देश्यसम्बन्धितया अपूर्वबोधविषयीभूतं विधेयं यथा- यः क्रियावान् सः पण्डितः। इत्यादौ क्रियावन्तमुद्दिश्याभेदेन पण्डितः स्वरूपसम्बन्धेन पण्डितत्वं वा विधीयते। यद्यपि यत्तच्छब्दौ सर्वत्र न प्रयुज्येते तथापि प्रतीयेते तौ इति उद्देश्यविधेयताशालिबोधे विधेयवाचकप्राग्वर्त्युद्देश्यवाचकपदजन्योपस्थितिः कारणं भवति। उक्तमपि- अनुवाद्यमनुक्तवैव न विधेयमुदीरयेत् न ह्यलब्धास्पदं किञ्चित्कुत्रचित् प्रतितिष्ठति।। इति वृद्धवचनेन उद्देश्यविधेययोः पौर्वापर्यभावः नियमितो भवति। अत एव सर्वत्र वाक्येषु पूर्वमुद्देश्यं प्रयुज्यते ततः विधेयम्। यथा- 'इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिनयनयोः' इत्येव पर्वतो वह्निमान् इत्येव चेष्यते न तु व्यत्ययेन। किञ्च उद्देश्यं विधेयञ्च यदि पृथक्पदाभ्यामुपतिष्ठते तदा प्राप्तमुद्दिश्य अप्राप्तं विधीयते पर्वतो वह्निमान् इतिवत् न तु समासे अन्यथा वह्निमत्पर्वतः इत्यभिधानापत्तेः। अयं विधेयाविमर्शो दोषो नित्यदोषः प्रतिप्रसवाभावेन सर्वदैव हेयत्वात्। दोषोऽयं द्विधा भवति पदगतो वाक्यगतश्च।यत्र समासेन विधेयांशस्य प्रधानस्य वा अप्राधान्येन निर्देशो भवति तत्र पदगतो विधेयाविमर्शः। यत्र च उद्देश्यविधेययोः पौर्वापर्यविपर्ययेण निर्देशो भवति तत्र वाक्यगतः। पदगतस्य विधेयाविमर्शस्योदाहरणं यथा-

दर्शनत्रासदायीनि कठोरास्त्रकराणि च।
रक्षांस्यपि पुरःस्थातुमलं रामानुजस्य मे।।

अत्र राक्षस विनाशकत्वेनातिप्रसिद्धः राम एव। तेन हि प्रकृते रामस्य योऽनुजः तस्यापि मम पुरतः राक्षसाः स्थातुं समर्थाः किम्? इति हि रामसमबन्धादेव साहङ्कारं वक्तुर्लक्ष्मणस्याशयः। तत्र 'रामानुजस्य' इति समासविधानात् नाभीष्टसिद्धिः भवति, सिद्धिस्तु भवति सविभक्तिपदोपन्यासात् तथा च

रामसम्बन्धबोधिकायाः षष्ठ्यास्तत्पुरुषे लोपाद् रामसम्बन्धस्य विधेयस्य अविमर्शः षष्ठीसत्त्वे तु न दोषः वाक्यगतस्योदाहरणं तु 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि। अत्र मम यदरयः अयमेव न्यक्कारः इत्येवं क्रमेण निर्देशोचितस्य वाक्यद्वयस्य विपरीतक्रमेणोपन्यासाद् वाक्यगतो विधेयाविमर्शदोषः।

विधेयाविमर्शदोषस्योदाहरणपद्यं व्यक्तिविवेको यथा–

संरम्भः करिकीटमेघशकलोद्देशेन सिंहस्य यः
सर्वस्यैव स जातिमात्रनियतो हेवाकलेशः किल।
इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेप्यसंरब्धवान्
योऽसौ कुत्र चमत्कृतेरतिशयं यात्वम्बिकाकेसरी।।

अस्यार्थः इत्थमस्ति– कविः पद्येऽस्मिन् भगवत्या अम्बिकायाः महत्वं वर्णयति–सिंहस्य क्षुद्रगजानां गर्जितं वर्षणोन्मुखानां मेघानां गर्जितञ्च उद्दिश्य यः संरम्भः आक्रोशः सर्वेषां सिहानां सिंहत्वजातिमात्रेण कृतः हेवाकस्य अध्यवसायितायाः लेशः लवः विद्यते इत्यत्र न किमपि आश्चर्यम्। यः दिग्गजानां बृहणे प्रलयकालीनमेघानां गर्जने चापि असंरब्धवान् अनाकुष्टः अविचलितो वास्ति असौ प्रसिद्धः अम्बिकाकेसरी देवीवाहनसिंहः कुतः चमत्कृतेरतिशयं यातु प्राप्नोतु। अर्थात् निरतिशयं महत्त्वमस्ति देव्याः सिंहस्य इत्यर्थः।

अत्र पद्ये त्रिषु स्थलेषु विधेयाविमर्शदोषः 'असंरब्धवान्' इत्यत्र नञ्विषयो विधेयाविमर्शः, 'योऽसौ' इत्यत्र तत्पदानुपादानविषयः विधेयाविमर्शः, 'अम्बिकाकेसरी' इत्यत्र षष्ठीसमासगतः विधेयाविमर्शः दोषः। अत्र असंरब्धवान् इत्यस्य अर्थः अस्ति अनाक्रुष्टः परन्तु अत्र नञ् समासः उचितः नास्ति, नञ्समासस्य विषयः पर्युदास एव भवति।

पर्युदासे एव नञः विशेषणत्वाद् उत्तरपदेन सह समासो भवति इति व्यक्तिविवेककारस्य आशयः। उक्तमपि–

प्रधानत्वं विधेर्यत्र प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्।। इति।

यथा–

जुगोपमात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थमसक्तः सुखमन्वभूत्।।[19]

इत्यत्र नञर्थविशिष्टस्योत्तरपदार्थस्य प्राधान्यमस्ति। त्रस्तत्वादिनिषेधस्य प्राधान्यं नास्ति। तत्रापि अत्रस्तत्वादेः सिद्धत्वात् तदनुवादेन गोपनादि विधीयते, अत एव अत्रस्तत्वादौ नञः पर्युदासत्वम्। न तु प्रसज्यप्रतिषेधत्वम्। प्रसज्यप्रतिषेधः पर्युदासाद्विपरीतो भवति उक्तमपि[20]–

अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्।।इति।

यथा– 'नवजलधरः सन्नद्धयोऽयं न दृप्तनिशाचरः' इत्यादिपद्ये दृप्तनिशाचरप्रतिषेधः प्रतीयते न तु दृप्तनिशाचरविधिः। अस्मिन् प्रसङ्गे कश्चन प्रतिपक्षी कथयति यत् प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि नञः समासः भवति इति। मतमिदं साधयितुं स विविधान् तर्कानपि ददाति।[21]

काव्यार्थतत्वावगमो न वृद्धाराधनं विना।
अनिष्टवान् राजसूयज्ञो कः स्वर्ग मुख्यमश्नुते।। इति।
क्रियाकर्त्रंशभागर्थो वाक्येऽपोह्यो नञा यदि।
क्रियांश एवापोह्यः स्यान्नेष्टवानितिवत् तदा।।
अकुम्भकारः इतिवद् वृत्तौ तु स्याद्विपर्ययः।
इत्येष नियमोऽर्थस्य शब्दशक्तिस्वभावतः।।

अनेन प्रकारेण प्रतिपक्षी कथयति यद् यथा 'अश्राद्धभोजीब्राह्मणः'इत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समास इष्यते तद्वद् 'असंरब्धवान्' इत्यत्रापि भविष्यति, संरब्धवन्निषेधश्च प्रतिपत्स्यते न असंरब्धवद्विधिरिति प्रसज्यप्रतिषेध एवायमस्तु किं पर्युदासाश्रयेण अत्र बलाद्दोषाविष्करणं क्रियत इति। अत्र प्रतिपक्षिणः मतं खण्डयित्वा ग्रन्थकारो महिमभट्टः सिद्धान्तं समुपस्थापयति–[22]

नञर्थस्य विधेयत्वे निषेध्यस्य विपर्यये।
समासो नेष्यतेऽर्थस्य विपर्यासप्रसङ्गतः।इति।

निष्कर्षः– नञ्विषयविधेयाविमर्शदोषनिरूपणप्रसङ्गे महिमभट्टेन इदं सुस्थिरीकृतमस्ति यत् प्रसज्यप्रतिषेधस्थले समासो नैव भवितुं शक्नोति, यतो हि तत्र नञः प्राधान्यं भवति। 'असंरब्धवद्'इत्यत्र नञः प्राधान्यमस्ति अतः तस्य समासविधानाद् अप्राधान्यं जातमस्ति अत एव विधेयाविमर्शदोषः अस्ति इति। प्रतिपक्षी प्रसज्यप्रतिषेधेऽपि समासस्यास्तित्वं साधयितुमैच्छत् तेन एकमेतादृशमुदाहरणं दत्तं यत्र कारक क्रिया चेति अंशद्वयमासीत्, तत्र तस्यानुसारं नोऽन्वयःक्रियांशेन सह आसीत् तदुदाहरणमस्ति 'अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः'इति। अत्र 'अ' नास्ति, श्राद्धकर्मकभोजनं क्रिया अस्ति, णिनिप्रत्ययः कर्त्तृकारकवाचको विद्यते। प्रतिपक्षी विद्वान् नञः सम्बन्धं श्राद्धकर्मकभोजनक्रियया सह स्वीकरोति। प्रसज्यप्रतिषेधे नञः सम्बन्धः क्रिययैव सह भवति, अतः तस्य मन्तव्यमस्ति यद् अत्र समासस्तु अस्त्येव प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि अस्ति इति असंरब्धवद् इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधेन सह समासः समीचीन एव। परन्तु महिमभट्टः अत्र उत्तरयति यद् 'अश्राद्धभोजी'इति स्थले नञः सम्बन्धः क्रियया सह न भवति अपितु कारकांशेनैव सह भवति। अत्र कारके अपि द्वे स्तः प्रथमं श्राद्धं द्वितीयं णिनिप्रत्ययबोध्यः श्राद्धभोजनस्य कर्ता। अत्र नञः सम्बन्धः श्राद्धरूपकारकांशेन न भवति अपितु णिनिप्रत्ययार्थकर्तृकारकांशेन सह भवति। एवं स्थितौ श्राद्धभोक्तृव्यतिरिक्तोऽपि विघसाश्यादिः प्रतीयते। अस्य कारणमस्ति यद् विशेषणं कदापि विशेषणे न अन्वेति अपितु विशेष्ये एव अन्वेति। अत्र णिनिप्रत्ययार्थकर्तृकारकांश एव प्राधान्यं भजते न तु श्राद्धभोजनम्। अनेनैव प्रकारेण असूर्यंपश्या राजदारा इत्यादावपि नञः सम्बन्धः दर्शनकर्त्र्या सह भवति न तु सूर्येण सह।

अस्मात्कारणाद्वस्तुतः अश्राद्धभोजी इत्यत्र पर्युदास एवास्ति न तु प्रसज्यप्रतिषेधः। यदि प्रसज्यप्रतिषेधोऽभीष्टः स्यात् तर्हि न श्राद्धभोजी इत्येव वक्तव्यम्। महिमभट्टेन इदमेव रहस्यमुद्घाटयितुं 'भुङ्क्ते सदा श्राद्धमयम्'[23] इत्युदाहरणं समुपस्थापितमस्ति।

'निष्कर्षरूपेणेदं वक्तुं शक्यते यत् प्रतिपक्षिणा प्रतिपादितस्य प्रसज्यप्रतिषेधे नञ्समासस्य औचित्यं

सिद्धं न जातम्। फलतः तदीयतर्केण 'असंरब्धवान्' इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधे समासस्यौचित्यं सिद्धं नाभवद्, येन विधेयाविमर्शः दुर्वार एव इति दिक्।

पादटिप्पण्यः–

1. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) 1.25
2. ध्वन्यालोकः (लोचनटीकोपेतः चौ प्र वाराणसी) पृ 362
3. औचित्यविचारचर्चा (प्रभाटीकोपेता चौ वि भ वाराणसी) 3
4. नाट्यशास्त्रम् (चौ सं संस्थान वाराणसी)23.69
5. पाणिनि अष्टाध्यायी 5.1.124
6. अमरकोषः 3.5.39
7. नाट्यशास्त्रम् 14.68
8. ध्वन्यालोकः (लोचनटीकोपेतः चौ प्र वाराणसी)3.32
9. ध्वन्यालोकः (लोचनटीकोपेतः चौ प्र वाराणसी)3.32
10. औचित्यविचारचर्चा (प्रभाटीकोपेता चौ वि भ वाराणसी) 7
11. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ. 178
12. वैयाकरणभूषणसारः (दर्पणव्याख्योपेतः चौ सं प्रतिष्ठान दिल्ली) पृ. 288
13. वैयाकरणभूषणसारः (दर्पणव्याख्योपेतः चौ सं प्रतिष्ठान दिल्ली) पृ. 293
14. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ. 185-187
15. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ. 192
16. पाणिनि अष्टाध्यायी 3.2.36
17. साहित्यदर्पणः (लक्ष्मीटीकोपेतः) विधेयाविमर्शदोषः
18. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ 184
19. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ 185
20. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ 187
21. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ 188-189
22. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ 193
23. व्यक्तिविवेकः (पं रेवाप्रसादद्विवेदिकृतव्याख्यासमन्वितः) पृ 193

सहाचार्योऽध्यक्षश्च
हरिद्वारस्थ-उत्तराखण्डसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य
साहित्यविभागे

संस्कृतवाङ्मये महिलाविकासपरियोजनाः

डा. के. वरलक्ष्मीः

कूटपदानि – आजीविकोपायाः, DWCRA, Micro Finance Programme, सूत्रवानकर्म, वात्स्यायनः, कामशास्त्रम्, कौटिल्यः

शोधपत्रसारांशः– वात्स्यायनः कामशास्त्रे अङ्गविद्यानां वर्णनप्रसङ्गे उपदिशति यत् कन्याः अवश्यम् अङ्गविद्याकुशलिन्यः भवेयुः यतः वैधव्ये व्यसने च अङ्गविद्यानाम् आलम्बनेन महिलाः आजीविकां प्राप्तुं शक्नुवन्ति। तद्वत् अर्थशास्त्रेऽपि कौटिल्यः सूत्राध्यक्षः इति ग्रन्थभागे महिलानां विकासाय नैकान् आजीविकोपायान् निर्दिशति। वेतनपुरस्कारादीनां नियमान् कल्पयति कौटिल्यः। महिलासुरक्षायाः व्यवस्थामपि कौटिल्यः सुष्ठु प्रतिपादयति। शोधपत्रेऽस्मिन् नातिविस्तरेण वात्स्यायनकामशास्त्रे कौटिलीयार्थशास्त्रे च प्रतिपादिताः महिलाविकासपरियोजनाविशेषाः प्रस्तूयन्ते।

परिचयः – सुविशालं संस्कृतवाङ्मयं चतुर्दशधा विभक्तमस्ति।

'षडङ्गमिश्रिता वेदा धर्मशास्त्रं पुराणकम्।
मीमांसातर्कमपि च एता विद्याश्चतुर्दश।।'[1]

यद्यपि विद्यानां चतुर्दशत्वमुक्तं तथापि तत्तच्छास्त्रेषु एतासां चतुर्दशानां प्रधानविद्यानाम् अङ्गविद्याः प्रोक्ताः।

'धर्मार्थाङ्गविद्याकाला ननुपरोधयन् कामसूत्रं तदङ्गविद्याश्च पुरुषोऽधीयीत।'[2]

विभिन्नशास्त्रेषु एतासाम् अङ्गविद्यानां वैविध्यपूर्णं वर्णनं दरीदृश्यते।

'गीतं, वाद्यं, नृत्यम् आलेख्यं विशेषकच्छेद्यं तण्डुलकुसुमवलिविकाराः, पुष्पास्तरणं, दशनवसनाङ्गरागः, मणिभूमिकाकर्म, शयनरचनं, उदकवाद्यम् उदकाघातः चित्राश्च योगाः माल्यग्रथनविकल्पाः शेखरकापीडयोजनं नेपथ्यप्रयोगाः कर्णपत्रभङ्गाः गन्धयुक्तिः भूषणयोजनम् ऐन्द्रजालाः कौचुमाराश्च योगाः हस्तलाघवं विचित्रशाकयूषभक्ष्यविकारक्रियापानकरसरागासवयोजनं सूचीवानकर्माणि सूत्रक्रीडावीणाडमरुकवाद्यानि प्रहेलिकाप्रतिमालादुर्वाचकयोगाः पुस्तकवाचनं नाटकाख्यायिकादर्शनं काव्यसमस्यापूरणं पट्टिकावानवेत्रविकल्पाः तक्षकर्माणि तक्षणं वास्तुविद्यारूप्यपरीक्षाधातुवादः मणिरागाकरज्ञानं वृक्षायुर्वेदयोगाः मेषकुक्कुटलावकयुद्धविधिः शुकसारिकाप्रलापनम् उत्सादने संवाहने केशमर्दने च कौशलम् अक्षरमुष्टिकाकथनम्। म्लेच्छितविकल्पाः देशभाषाविज्ञानं पुष्पशकटिकानिमित्तज्ञानं यन्त्रमातृकाधारणमातृकासम्पाठ्यं मानसीकाव्यक्रिया अभिधानकोशः छन्दोज्ञानं क्रियाकल्पः छलितकयोगाः वस्त्रगोपनानिद्यूतविशेषः आकर्षक्रीडा बालक्रीडनकानि वैनयिकीनां वैजयिकीनां व्यायामिकीनां च विद्यानां ज्ञानम् इति चतुःषष्टिरङ्गविद्याः। कामसूत्रस्य अवयविन्यः।'[3] मानवजीवने एतासां चतुःषष्टिकलानां का आवश्यकतास्ति? अपिच आधुनिककाले एतासां प्रासङ्गिता कास्ति? इति विषयः अस्मिन् शोधपत्रे प्रपञ्चीक्रियते।

1. **आजीविकोपायाः –** 1982-83 Development of Women and Children in Rural Areas (DWCRA) इति काचित् परिकल्पना राष्ट्रस्तरे जनपदस्तरे च महिलानाम् अभ्युदयाय सर्वकारेण आचरेण आनीता। अस्याः परियोजनायाः प्रयोजनमस्ति महिलानां जीवनस्तरः उत्तमः भवेत्। स्वावलम्बनजीवनाः भवन्तुः स्त्रियः। सूचीवानकर्माणि, कुक्कुटमेषाविपालनं, भक्ष्यभोज्यलेह्यपेयादीनां निर्माणं तद्विक्रयणञ्च कृत्वा महिलाः धनार्जनपराः भूत्वा स्वकुटुम्बपोषणे करावलम्बनं दद्युः। अनेन स्वपरिवारस्य समाजस्य देशस्य च कल्याणं सिद्ध्यति।[4]

महिलानाम् अभ्युदयाय (एतादृश्यः कल्याणप्रदाः परियोजनाः संस्कृतशास्त्रेषु महर्षिभिः अक्षरबद्धाः कृताः इति वक्तुं नैकानि प्रमाणानि लभ्यन्ते।

महर्षिः पाणिनिः अष्टाध्याय्यामपि विषयमेनं परामृशति।

'नित्यं क्रीडाजीविकयोः।'[5]

क्रीडायां जीविकायाञ्च नित्यं षष्ठी समस्यते। षष्ठीतत्पुरुषश्च भवति। उदाहरणत्वेन उद्दालकपुष्पभञ्जिका वारणपुष्पप्रचायिका नखलेखकः दन्तलेखकश्चेति उदाहरणानि उल्लिखितानि। एताः क्रीडाः जीविकाश्च चतुःषष्टिकलासु अन्तर्भवन्ति।

चतुःषष्टिकलानाम् उल्लेखः कामशास्त्रे, ललितविस्तरग्रन्थे, दशकुमारचरिते, कादम्बर्यां, शुक्रनीतिसारे, श्रीबसवराजेन्द्रविरचिते शिवतत्त्वरत्नाकरे वराहमिहिरस्य बृहत्संहितायाञ्च क्वचित् विस्तरेण क्वचित् नाममात्रेण अक्रियत।

साहित्यसम्बद्धाः विलासक्रीडासम्बद्धाः मनोविनोदसम्बद्धाः नित्यजीवनसम्बद्धाश्चेति चतुःषष्टिकलानां वर्गीकरणं चतुर्धा कृतम्। जीवनयात्रानिर्वहणाय यद्यत् कर्म क्रियते तत् कलात्मकदृष्ट्या महर्षिभिः विवेचितम्। अतः चतुःषष्टिकलासु जीविकाः अपि स्थानं प्राप्तवत्यः।

शुक्राचार्यः कलायाः लक्षणम् अददात्।

'शक्तो मूकोऽपि यत् कर्तुं कलासंज्ञं तु तत् स्मृतम्।'[6] कलानां प्रयोजनं किमिति महर्षिः वात्स्यायनः सुष्ठु प्रतिपादयति।

'कलानां ग्रहणादेव सौभाग्यम् उपजायते।'[7]

'तथा पतिवियोगे च व्यसनं दारुणं गता।
देशान्तरेऽपि विद्याभिः सा सुखेनैव जीवति।'[8]

वैधव्ये प्राप्ते पत्यौ प्रोषिते च कलाकुशला स्त्री स्वावलम्बिनी भूत्वा जीवितुं शक्नोति।

यथा Development of Women and Children in Rural Areas (DWCRA) इति परिकल्पनायाः विधिविधानानि नियमावलिश्च अधिकारिभिः उल्लिखितानि तथैव कौटलीयार्थशास्त्रे महिलानाम् आलम्बनाय आजीविकाः तद्विधिविधानानि च विवृतानि। ग्रामस्तरे ग्रामसेविका, मुख्यसेविका चेति सहायकपरियोजनाधिकारी जनपदस्तरे परियोजनानिदेशकः राज्यस्तरे च परियोजनायाः कार्याचरणे योगदानं दद्युरिति आधुनिककाले सर्वकारेण विधिनियमाः कल्पिताः।[9]

ईदृशानेव नियमान् आचार्यः चाणक्यः अर्थशास्त्रे स्पष्टीकरोति।

'ऊर्णावल्ककार्पासतूलशणक्षौमाणि च विधवान्यङ्गाकन्याप्रव्रजितादण्डप्रतिकारिणीभी रूपाजीवामातृकाभिः वृद्धराजदासीभिः व्युपरतोपस्थानदेवदासीभिश्च कारयेत्।'[10]

चतुःषष्टिकलासु सूत्रवानकर्म अन्यतमकलात्वेन परिगणितम्। तत् कर्म मनुष्याणां विशिष्य असहायमहिलानां सहायार्थं कल्पनीयमिति कौटिल्यः स्पष्टयति। विधवाः विकलाङ्गमहिलाः अविवाहितकन्याः सन्यासिन्यः अपराधिन्यः वेश्यागणिकाः वृद्धदास्यः सूत्रनिर्माणकार्यं कुर्युरिति निर्दिशति आचार्यः।

आधुनिककालेडपि महिलाः सूत्रवानकर्म, अगरुवर्तिकानिर्माणं, सीवनकर्म, भोज्यभक्ष्यपेयनिर्माणं इत्यादीनि कार्याणि कृत्वा सर्वकारेण आयोजितेषु विपणिषु विक्रयणं कृत्वा धनं सम्पाद्य कुटुम्बभारं वहेयुः स्वावलम्बनजीवनं यापयेयुः चेति परियोजनायाः लक्ष्याणि निर्दिष्टानि।

2. **महिलाभ्यः कार्यनिर्वहणाय धनसाहाय्यम् –** 'Micro Finance Programme' इति परिकल्पनया आधुनिकयुगे वित्तकोशानां माध्यमेन अथवा महिलाविकासकेन्द्राणां माध्यमेन वस्तुनिर्माणाय अपेक्षितं वस्तुसामग्रीवितरणं क्रियते। निर्माणाय अपेक्षितस्य कौशलस्य सम्पादनाय प्रशिक्षणं दीयते। धनसाहाय्यं क्रियते।

प्राचीनकालेडपि ईदृशानि महिलाविकासकेन्द्राणि आसन्निति शास्त्रपरिशीलनेन ज्ञायते। विशिष्य कौटिल्यः एतादृशविषयेषु अवधानम् अददादिति अर्थशास्त्राध्ययनेन ज्ञायते।

3. **महिलाप्रोत्साहकानि – वेतनपुरस्कारादीनि –** महिलाभ्यः वेतनप्रदानं तासां कर्मकौशलं विदित्वैव कल्पनीयमिति वेतनविधिविधानं प्रतिपादयति।

'श्लक्ष्णस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनं कल्पयेत्, बह्वल्पतां च।'[11]

याः महिलाः नैपुण्यं प्रदर्शयन्ति ताः पुरस्कारभाजः इत्यपि शास्त्रं निर्दिशति। श्लक्ष्णं सूत्रं निर्मितवद्भ्यः महिलाभ्यः तैलम् आमलकम् उद्वर्दनं तन्नाम स्नानाय उपयुज्यमाना सामग्री च देयमिति शास्त्रनिर्देशः।

महिलाः सूत्रप्रमाणं ज्ञात्वा तैलामलकोद्वर्तनैरेता अनुग्रह्णीयात्।

'क्षौमदुकूलक्रिमितानराङ्कवकार्पाससूत्रवानकर्मान्ताश्च प्रयुञ्जानो गन्धमाल्यदानैः औपग्राहिकैः आराधयेत्।'[12]

'तिथिषु प्रतिमानदानैश्च कर्म कारयितव्याः।'[13]

कार्यहानिं जनयन्तीभ्यः महिलाभ्यः दण्डः अपि विधीयते स्म।

'सूत्रह्रासे वेतनह्रासो द्रव्यसारात्।'[14]

विभिन्नवस्त्रनिर्माणे भिन्नभिन्नसूत्राणि अपेक्षितानि। क्षौमदुकूलक्रिमितानराङ्कवकार्पाससूत्राणि वस्त्रवयनार्थम् उपयुज्यन्ते। तेषां सूत्राणां निर्माणे महिलाः कुशलिन्यः भवन्ति। अतः ताः एतादृशकर्मसु योजनीयाश्चेति कौटिल्यः निर्दिशति। अपिच सूत्रनिर्माणाय अपेक्षितां सामग्रीं महिलाभ्यः दातुं वितरणकेन्द्राणि प्रकल्पितानि।

'स्वयमागच्छन्तीनां वा सूत्रशालां प्रत्युषसि भाण्डवेतनविनिमयं कारयेत्।'[15]

4. **महिलानां सुरक्षाव्यवस्था –** कार्यं कुर्वतीनां महिलानां शोषणं पीडनम् अधिकारिणः यथा न

कुर्युः तथा व्यवस्थां प्रकल्पयति आचार्यः कौटिल्यः। स्त्रीणां मुखदर्शनलोलुपाः न भवेयुः पुरुषाः अधिकारिणः। कार्यनिर्देशनव्याजेन ताभिस्सह सम्भाषणरताः न स्युः। अतः कार्यनिर्वहणार्थमेव दीपव्यवस्था कार्या इति निर्दिशति कौटिल्यः।

'सूत्रपरीक्षार्थमात्रः प्रदीपः।'[16]

'स्त्रिया मुखसन्दर्शने अन्यकार्यसम्भाषायां वा पूर्वः साहसदण्डः वेतनकालातिपातने मध्यमः अकृतकर्मवेतनप्रदाने च।'[17]

सूत्रवानकर्मादीनि कारयित्वा महिलाभ्यः यदि सकाले वेतनं न दीयते अथवा अकृतस्य कर्मणः वेतनं दीयते तर्हि दण्ड्यः अधिकारी चेति आदिशति अर्थशास्त्रम्।

यदि महिलाः बहिरागन्तुं नेच्छन्ति तर्हि कर्मकरीणां माध्यमेन सामग्रीं प्राप्तुमपि व्यवस्था प्रकल्पिता।

'याश्च अनिष्कासिन्यः प्रोषिता विधवा न्यङ्गा कन्यका वात्मानं बिभृयुः ताः स्वदासीभिः अनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः।'[18]

सूत्रनिर्माणस्य कौशलस्याधारेण वेतनमपि निर्धारयति। कुशलतया कार्यं कुर्वतीनां महिलानां प्रोत्साहनाय अपि पुरस्कारप्रदानं प्रकल्पितम्। कार्यविघातं कल्पयन्तीनां महिलानां दण्डनमपि विहितम्। जीवननिर्वहणाय कार्यं कुर्वतीनां महिलानां सुरक्षाव्यवस्थापि सुष्ठु प्रतिपादिता चाणक्येन। महिलाभिस्सह दुर्व्यवहारं कुर्वतः कापुरुषान् दण्डयितुमपि आदिशति कौटिल्यः।

'कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिभिः कारुभिश्च कर्म कारयेत् प्रतिसंसर्गं च गच्छेत्।'[19]

आधुनिककाले यथा वस्त्रास्तरणप्रावरणादीनां निर्माणेनापि महिलाः जीविकां प्राप्नुवन्तु इति जीविकोपायाः निर्दिष्टाः तथैव अर्थशास्त्रे स्त्रीणां कृते जीविकोपायाः उल्लिखिताः सन्ति।

'वस्त्रास्तरणप्रावरणविकल्पानुत्थापयेत्।'[20]

अधिकारिणः कार्यम् अकुर्वतीः महिलाः दण्डयेयुः। अपराधस्तरानुगुणं दण्डनविधिर्भवेदिति निर्दिष्टमस्ति।

'गृहीत्वा वेतनं कर्म अकुर्वत्या अङ्गुष्ठसंदंशं दापयेत् भक्षितापहृतावस्कन्दितानां च।'[21]

'वेतनेषु च कर्मकराणाम् अपराधतो दण्डः।'[22]

पट्टिकावानवेत्रविकल्पाः अपि चतुःषष्टिकलासु अन्यतमास्ति। अर्थशास्त्रे वेत्रविकल्पकर्म उल्लिखितम्। यैः कर्मभिः स्त्रियः स्वावलम्बनजीवनं कर्तुं धनोपार्जनं कर्तुश्च शक्नुवन्ति तानि नैकानि संस्कृतशास्त्राणि निर्दिशन्ति। कर्मसाधकान् नियमांश्च परिकल्पयन्ति।

'रज्जुवर्तकैः वर्मकारैश्च स्वयं संसृज्येत्।'[23]

'भाण्डानि च वस्त्रादीनि वर्तयेत्।'[24]

'सूत्रवल्कमयी रज्जुर्वस्त्रा वैत्रवैणवीः।

सांनाह्या बन्धनीयाश्च यानयुग्यस्य कारयेत्।।'[25]

महिलाः शारीरिकायासं विनैव कार्यं कर्तुं सूत्रवानकर्माणि आस्तरणाच्छादननिर्माणकार्याणि पट्टिकावानवेत्रप्रकल्पादिव्यापारांश्च प्राप्नुवन्ति स्म इति अवगन्तुं शक्नुमः। महिलाः जीवनयात्रानिर्वहणाय अपेक्षितं

वेतनं प्राप्नुवन्ति। परम् अनेन कार्येण राज्यस्य आयः अपि वर्धते इति कौटिल्यस्य मतम्। राज्याभ्युदयकर्मणि महिलाः अपि सहकर्तुं शक्नुवन्ति। एका क्रिया द्वयर्थकरीति सूक्तिमनुसृत्य महिलाभ्यः स्वावलम्बनजीवनं कल्पयितुम् अपिच आयेन राष्ट्रकोशं धनेन पूरयितुश्च नैकाः युक्तीः आचार्याः तत्तच्छास्त्रेषु प्रदर्शितवन्तः इति सप्रमाणं निरूपयितुं शक्नुमः।

संस्कृतवाङ्मयस्य प्रासङ्गिकतां निरूपयितुं संस्कृतज्ञाः आधुनिकसमाजस्य परिशीलने तत्पराः स्युः। विभिन्नसंस्कृतशास्त्राणां समालोचननिरताः अपि स्युः। आधुनिककालेऽपि संस्कृतशास्त्रेषु उल्लिखिताः विषयाः कथम् आचरणयोग्याः भवन्ति? किमर्थम् हितकारिणः भवन्ति? इति विश्लेषयित्वा संस्कृतेतरजनाः बोधनीयाः।

उपसंहारः – वैदिकसाहित्ये लौकिकसाहित्ये च ये विषयाः वर्णिताः ते आधुनिककाले कथम् औचित्यं भजन्तीति जनाः सदा शङ्काग्रस्ताः भवन्ति। ऐदम्प्राथम्येन जनहितकारिणीः परियोजनाः परिकल्पयामः इति अधिकारिणः अपि भ्रान्तिम् अनुभवन्ति। राजकीयनेतारः विदेशीयविधिविधानानि परिशीलयितुम् उत्सुकमनसः भवन्ति। तान्येव अधीत्य गतानुगतिको लोकवत् अनुकरणशीलाः भवन्ति आधुनिकजनाः।

शास्त्रप्रणेतारः महर्षयः यान् विषयान् विभिन्नशास्त्रेषु परामृष्टवन्तः ते सर्वकालेषु सर्वावस्थासु च आचरणयोग्याः भवन्तीति निश्चप्रचं वक्तुं शक्नुमः। स्त्रियः परान्नभुजः भवन्ति चेत् समाजप्रगतिः वा देशप्रगतिर्वा न सिद्ध्यति। अनाथाः स्त्रियः भुवि भारभूताः न भवेयुः। अथवा अन्यजनान् न आश्रयेयुः। दुर्भगायाः वयमिति निस्सारजीवनं महिलाः न यापयेयुः। सगौरवं साभिमानं सानन्दं जीवनं यापयित्वा स्वार्थं परार्थञ्च साधयेयुः स्त्रियः इति राष्ट्रहितैषिणः सन्तः वात्स्यायनः शुक्राचार्यः कौटिल्यश्च भवतारकाणि शास्त्राणि रचयामासुः। जनाः अपि तानि शास्त्राणि परिशील्य तत्रत्यान् लोकहितकरान् विषयान् आचरणे आनीय जीवनं सार्थकं कुर्युरिति आशास्य विरम्यते।

सन्दर्भाः

1. कामसूत्रम् 3
2. तत्रैव 3.1
3. का.सू.3.15
4. www.agriinfo.in
5. पा. अ. 2.2.17
6. का.सू.3
7. का.सू.3.22
8. का.सू.3.20
9. www.agriinfo.in
10. अ.शा.2.24.1
11. अ.शा.2.24.3
12. अ.शा.2.24.7
13. अ.शा.2.24.4
14. अ.शा.2.24.5
15. अ.शा.2.24.12
16. अ.शा.2.24.13
17. अ.शा.2.24.14
18. अ.शा.2.24.11
19. अ.शा.2.24.7
20. अ.शा.2.24.9
21. अ.शा.2.24.15
22. अ.शा.2.24.16
23. अ.शा.2.24.17
24. अ.शा.2.24.18
25. अ.शा.2.23.19

आकरग्रन्थाः

1. कामसूत्रम् - वात्स्यायनः, डा.रामानन्दशर्मणः हिन्दीव्याख्यासहितं, चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
2. कौटिल्यार्थशास्त्रम्, मामिडिपूडि वेङ्कटरङ्गय्य, आन्ध्रयूनिवर्सिटी प्रेस्, विशाखपत्तनम्, 1981
3. अष्टाध्यायी, पाणिनिः, रव्वाश्रीहरिः तेलुगु अनुवादः, तेलुगु अकादमी, हैदराबाद
4. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, डां. रघुनाथसिंह, कृष्णदास अकादमी, चौखम्बा संस्कृत सिरीस आफिस्, वाराणसी
5. www.agriinfo.in
6. http://planningcommission.gov.in/reports/sereport/ser/maker
7. http://www.apwcfc.org/about.html
8. https://en.wikipedia.org/wiki/Self-helpšgroupš(finance)

उपनिदेशिका

संस्कृत अकाडमी,

(राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानेन मानिता आदर्शशोधसंस्था)

उस्मानियाविश्वविद्यालयः

हैदराबाद

असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे

डॉ. पशुपतिनाथमिश्रः

अवतरणिका–

श्रीमन्नागेशभट्टविरचिते परिभाषेन्दुशेखरेऽन्यतमा परिभाषा तावद् ''असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'' (प.50) इति। अस्याः परिभाषायाः प्राक् ''पूर्वपरनित्यान्तरङ्गापवादानामुत्तरोत्तरं बलीयः''(प.38) इति परिभाषा पठिता। तेन पूर्वपरशास्त्रापेक्षया नित्यत्वस्य बलवत्त्वं प्रदर्य नित्यापेक्षयान्तरङ्गशास्त्रस्य बलवत्त्वं प्रदर्शयितुं परिभाषेयमवतारिता।

परिभाषायाः अवतरणप्रसङ्गे परिभाषेन्दुशेखरे उच्यते ''नित्यादप्यन्तरङ्गं बलीयः अन्तरङ्गे बहिरङ्गस्यासिद्धत्वात्''[1] इति। अत्रापिशब्दः परस्य समुच्चायकस्तेन परशास्त्रापेक्षया तथा नित्यशास्त्रापेक्षयान्तरङ्गस्य बलवत्त्वमित्यर्थः। अन्तरङ्गे बहिरङ्गस्यासिद्धत्वमेवान्तरङ्गस्य बलवत्त्वे हेतुः। अन्तरङ्गे इति विषयसप्तमी वर्तते इति हेतोः अन्तरङ्गे कार्ये कर्त्तव्ये तत्समकालिकस्य बहिरङ्गकार्यस्यासिद्धत्वं भवतीति प्रतिपादयता ''असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे''(प.50) इति परिभाषाऽऽरब्धा।

परिभाषाघटकशब्दार्थविचारः–

अन्तः अङ्गानि यस्य तदन्तरङ्गम्। अत्र अन्तशब्दो मध्यार्थकः। अङ्गशब्दो निमित्तपर्यायः। अत्र प्रमाणं ''विप्रतिषेधे परं कार्यम्'' इति सूत्रस्थे भाष्ये प्रदीपे ''अन्तर्मध्येऽङ्गानि निमित्तानि पारार्थ्याद्यस्य तदन्तरङ्गम्'' इति।

एवं बहिरङ्गानि यस्य तद्बहिरङ्गमिति। अत्रान्तशब्दस्य मध्यार्थकत्वात्कस्य मध्यत्वमित्याकाङ्क्षायां बहिरङ्गशास्त्रनिमित्तसमुदायस्य मध्यत्वमन्तरङ्गत्वमिति लभ्यते। एवमन्तरङ्गशास्त्रनिमित्तसमुदायाद्बहिर्भूतत्वं बहिरङ्गत्वमिति।

शब्दरूपार्थरूपनिमित्तयोः प्रसिद्धत्वादङ्गशब्देनात्र किंविधं निमित्तमिति शङ्कायामुच्यते– व्याकरणशास्त्रे शब्दस्यैव प्राधान्याच्छब्दरूपनिमित्तमेवाङ्गशब्देन गृह्यते इति। एवं शब्दनिमित्तकस्याङ्गशब्देन ग्रहणात् ''न तिसृचतसृ'' (अ. 6।4।4) इति निषेधश्चरितार्थः। तथा हि– स्त्रियां त्रिशब्दात् षष्ठीबहुवचने त्रि आम् इति स्थिते ''त्रेस्त्रयः'' (अ. 7।1।53) इति त्रयादेशे ''त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ'' (अ.7।2।99) इति सूत्रेण तिस्रादेशे प्राप्ते परत्वात्तिस्रादेशे ''ह्रस्वनद्यापो नुट्'' इति सूत्रेण नुडागमे तिसृ नाम् इति स्थिते नामि इति सूत्रेण दीर्घ प्राप्ते न तिसृचतसृ इति सूत्रेण दीर्घस्य निषेधे णत्वे तिसृणामिति सिद्ध्यति।

अत्रार्थरूपनिमित्तस्य आश्रयणे ''त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ'' इति सूत्रेण तिस्रादेशस्य स्त्रीत्वरूपार्थनिमित्तकत्वाद्बहिरङ्गत्वात्तदपेक्षया ''त्रेस्त्रयः'' इति अन्तरङ्गत्वात्त्रयादेशे नुडागमे दीर्घ स्थानिवद्भावेन पुनस्त्रीत्यतिदेशे तिस्रादेशेऽपि ''लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्तते'' इति न्यायेन ''नामि'' इति सूत्रेण दीर्घस्याप्राप्त्या ''न तिसृचतसृ'' इति सूत्रं व्यर्थमेवेति। अतस्तद्व्यर्थीभूय ज्ञापयति अर्थनिमित्तस्य न बहिरङ्गत्वमिति। तेन परत्वात्तिस्रादेशे ''नामि'' इति सूत्रेण दीर्घ प्राप्ते ''न तिसृचतसृ'' इति सूत्रेण दीर्घप्रतिषेधश्चरितार्थो भवति।

परिभाषार्थः–

परिभाषेन्दुशेखरे परिभाषार्थनिर्णयावसरे उच्यते ''अन्तरङ्गे कर्त्तव्ये जातं तत्कालप्राप्तिकं च बहिरङ्गमसिद्धमित्यर्थः''[2] इति। अस्यायमाशयः अन्तरङ्गकार्ये कर्त्तव्ये जातस्य तत्कालप्राप्तस्य च बहिरङ्गकार्यस्यासिद्धत्वं भवतीति परिभाषार्थः इति।

अत्र जातबहिरङ्गस्योदाहरणं यथा– पचावेदमिति। अत्र पचाव इदम् इति स्थिते ''आद्गुणः'' (अ. 6।1।87) इति सूत्रेण गुणे एकारादेशे ''अन्तादिवच्च'' (अ. 6।1।85) इति सूत्रेण पूर्वान्तबद्धावेनैकारे लोडुत्तमत्वातिदेशे ''एत ऐ'' इति सूत्रेणैकारस्य ऐकारादेशः प्राप्नोति। परन्तु एकारादेशस्यान्तरङ्गत्वं, तदपेक्षया पदद्वयसम्बन्धिवर्णद्वयनिमित्तकस्य गुणस्य बहिरङ्गत्वम्। अत्र बहिरङ्गो गुणो जातो वर्तते। अतोऽन्तरङ्गकार्ये ''एत ऐ'' इत्यैकारादेशे कर्त्तव्ये गुणस्य जातबहिरङ्गत्वादसिद्धत्वम्। तेनैकारस्य ऐकारादेशो न भवति।

समकालप्राप्तस्य बहिरङ्गस्योदाहरणं यथा– अयजे इन्द्रमिति। अयजे इन्द्रमित्यत्र वाक्यसंस्कारपक्षे भ्वादिगणीयः, सेट ''यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु'' इति धातोः लङ्लकारे ''कर्तरि शप'' (अ. 3।9।68) इति शब्विकरणे ''आर्धधातुकस्येवलादेः'' (अ. 7।2।35) इति सूत्रेणेडागमे ''लुङ्लङ्लुङ्क्ष्वडुदात्तः'' (अ. 6।4।71) इति सूत्रेणाडागमे अयज इ इन्द्रम् इति स्थितेऽकारेकारयोः गुणस्तथा चेकारद्वयोः दीर्धस्समकाले प्राप्नौ। परन्तु दी(कादेशस्य बहिरङ्गत्वात्प्रकृतपरिभाषया तस्यासिद्धत्वादन्तरङ्गस्य गुणे कृते अयजे इन्द्रमिति रूपं सिद्ध्यति।

परिभाषायाः लिङ्गम्–

परिभाषेन्दुशेखरेऽस्याः परिभाषायाः लिङ्गविषये उच्यते ''अन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्या लिङ्गम्''[3] इति। अस्यायमाशयः– यत्रान्तरङ्गशास्त्रत्वेनान्तरङ्गशास्त्रस्य ज्ञानं वर्तते तत्रैवेयं परिभाषा प्रवर्तते। तेन त्रैपादिके ''पूर्वत्रासिद्धम्'' (अ. 8।2।1) इति सूत्रेण त्रिपाद्याः असिद्धत्वेन त्रिपादीस्थशास्त्रस्य सपादसप्ताध्यायीस्थशास्त्रदृष्ट्या स्वयमेवासिद्धत्वात्तत्रानया परिभाषया बहिरङ्गस्यासिद्धत्वं नैव प्रतिपादयति।

अस्याः परिभाषायाः ''वाह ऊठ्'' (अ.6।4।132) इति सूत्रस्थमूठग्रहणं ज्ञापकम्। तच्च सपादसप्ताध्याय्यां वर्तते। अतः ''पूर्वत्रासिद्धम्'' इति सूत्रेणास्याः परिभाषायाः लिङ्गमन्तरङ्गशास्त्रमसिद्धं भवति। अन्तरङ्गत्वस्यैव परिभाषाया लिङ्गे स्वीकृते त्रैपादिकस्थमप्यन्तरङ्गमसिद्धं न स्यात्। यतो हि ''पूर्वत्रासिद्धम्'' इति सूत्रेण शास्त्रस्यासिद्धत्वं प्रतिपाद्यते न त्वन्तरङ्गस्य। तेन त्रैपादिकेऽस्याः परिभाषायाः प्रवृत्तिस्स्याद्यन्नाभीष्टम्। अतोऽन्तरङ्गशास्त्रत्वमस्याः लिङ्गमिति स्वीकर्त्तव्यम्।

परिभाषायाः ज्ञापकत्वम्–

अस्याः परिभाषायाः ज्ञापकं वर्तते ''वाह ऊठ्'' इति सूत्रे ऊठ्ग्रहणमिति। तथा हि– यदीयं परिभाषा न स्यात्तर्हि ''वाह ऊठ्'' इत्यस्य स्थाने ''वाहः'' इत्येव सूत्रं क्रियताम्। तत्र पूर्वसूत्रात्सम्प्रसारणमित्यनुवर्त्य सूत्रार्थस्स्याद्धस्य वाहस्सम्प्रसारणमिति। तेन विश्वोपपदाद्वधातोः ण्यन्ताद् ''वहश्च'' (अ.3।2।64) ण्विप्रत्यये सर्वापहारिलोपे ''कृत्तद्धितसमासाश्च''(अ.1।2।46) इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञायां द्वितीयाबहुवचने शसि विश्ववाह् अस् इति स्थिते वकारस्य सम्प्रसारणे उकारे ण्विप्रत्ययनिमित्तके लघूपधगुणे विश्व ओह् अस् इति स्थिते ''वृद्धिरेचि'' (अ. 6।1।88) इति सूत्रेण वृद्धौ विश्वौहः इति रूपं सिद्ध्यति।

एवं पूर्वोक्तरीत्या ऊठ्ग्रहणं व्यर्थीभूयेमां परिभाषां ज्ञापयति। ज्ञापनोत्तरमन्तरङ्गकार्यस्य लघूपधगुणदृष्ट्या बहिरङ्गकार्यसम्प्रसारणस्यासिद्धत्वादुणस्याप्राप्त्या विश्वौहः इति रूपं न स्यादिति हेतोः विश्वौहः इति रूपस्य सिद्ध्यर्थमूठग्रहणं स्वांशे चरितार्थं भवति।

परिभाषायाः लोकन्यायसिद्धत्वम्–

इदमन्तरङ्गत्वं लोकन्यायसिद्धत्वम्। यथा लोकेऽपि दृश्यते मनुष्याः प्रातः उत्थाय स्वशरीरकार्यं कुर्वन्ति, यतो हि सर्वेषामपेक्षया स्वशरीरमेवादावुपतिष्ठति। ततः सुहृदां, ततः स्वसम्बन्धिनाम्। एवं शब्दशास्त्रे शब्दश्रवणात्परं शब्दस्य शब्दशास्त्रकल्पितजातिः उपतिष्ठति।

तदनन्तरं जातिपुरस्कृतव्यक्तिभानं भवति। तदनन्तरं जातिविशिष्टव्यक्तौ लिङ्गसंख्याकारकाणां सम्बन्धमानं भवति। येन क्रमेण जात्यादीनां भानं भवति तेनैव क्रमेण तत्तद्बोधकशब्दानामप्युपस्थितिः भवति। तेनैव क्रमेण तेषां कार्यमपि विधीयते। अत एव पटुशब्दस्य स्त्रीलिङ्गे ङीप, ततस्तृतीयैकवचने टाविभक्तौ पटु इ आ. इति स्थितौ उकारस्य स्थाने तथा इकारस्य स्थाने समकाले यणादेशे प्राप्तेऽन्तरङ्गत्वात्पूर्वं पूर्वयणादेशः परयणादेशस्य बहिरङ्गतया परयणादेशं बाधते। तेन पट्ट्या इति रूपं सिद्ध्यति।

परिभाषायाः अनित्यत्वम्–

अस्माकं सम्प्रदाये अन्तरङ्गपञ्चकमिति प्रसिद्धमेव। अन्तरङ्गपरिभाषायाः अनित्यत्वादेवाग्रिमाश्चतस्रः परिभाषास्सिद्ध्यन्ति। ताः परिभाषाः यथा ''नाजानन्तर्ये बहिष्वप्रक्लृप्तिः'' (प.51), ''अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो लुग्बाधते'' (प.52) ''पूर्वोत्तरपदनिमित्तकार्यात् पूर्वमन्तरङ्गोऽप्येकादेशो न''(प. 53), ''अन्तरङ्गानपि विधीन् बहिरङ्गो ल्यप् बाधते'' (प.54) इति। तत्र कथमन्तरङ्गपरिभाषायाः अनित्यत्वादेतासां परिभाषाणां सिद्धिः इति एकां परिभाषां स्वीकृत्य उदाहरणत्वेनोपस्थाप्यते। यथा ''नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लृप्तिः'' इति।

अत्र अक्षैर्दीव्यति इत्यर्थे अक्षपूर्वकाद्दिब्धातोः क्विप्प्रत्यये ''च्छ्वोः शूडनुनासिके च'' (अ.6।4।19) इति सूत्रेण वकारस्य ऊठि कृते अक्ष दि ऊ इति स्थिते यणादेशः प्राप्तः। किन्तु क्विब्निमित्तकोठादेशस्य बहिरङ्गत्वाद् ''असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे'' इति परिभाषया तस्यासिद्धत्वाद्यणादेशो न स्यादिति शङ्का वर्तते। अस्याः शङ्कायाः निवारणाय ''नाजानन्तर्ये बहिष्ट्वप्रक्लप्तिः'' इति परिभाषाऽऽरभ्यते। अव्यवहितोत्तरमचं निमित्तीकृत्यान्तरङ्गकार्यं कर्त्तव्यं भवति चेद्बहिरङ्गकार्यस्यासिद्धत्वं न भवतीति परिभाषार्थः। तेन ''नाजानन्तर्ये बहिष्वप्रक्लुप्तिः'' इति परिभाषासामर्थ्यादन्तरङ्गपरिभाषायाः अनित्यत्वज्ञापनात् अक्ष दि ऊ इति स्थितेऽचं निमित्तीकृत्यान्तरङ्गकार्ये यणादेशे कर्त्तव्ये बहिरङ्गकार्यस्य ऊठादेशस्यासिद्धत्वाभावाद्यणादेशे कृते विभक्तिकार्येऽक्षय्यूः इति रूपं सिद्ध्यति।

उपसंहारः–

नागेशभट्टकृतपरिभाषेन्दुशेखरस्यात्मस्वरूपान्तरङ्गपरिभाषा। यथा आत्मज्ञानं जीवनस्य मुख्यमुद्देश्यन्तस्य ज्ञानाय सर्वे प्रवर्तन्ते, तथैव परिभाषेन्दुशेखरस्यात्मस्वरूपान्तरङ्गपरिभाषाज्ञानाय सर्वैरपि प्रवर्तितव्यम्। तस्य मार्गप्रदर्शनाय ममायं प्रबन्धः। वस्तुतस्त्वन्तरङ्गपरिभाषा बहुविस्तृतत्वात्सर्वथा तस्याः आलोचनमसम्भवम्। अतो यावच्छक्यमत्र मया दर्शितमिति शम्।

तथ्यसूत्राणि–

1. परिभाषेन्दुशेखरः(सम्पा. विश्वनाथमिश्रः।)। पृष्टाङ्कः- 180
2. तत्रैव। पृष्टाङ्कः- 189
3. तत्रैव। पृष्टाङ्कः- 190 संकेताक्षरसूची

   अ.- अष्टाध्यायी।

   प.-परिभाषेन्दुशेखरः।

सन्दर्भग्रन्थसूची–

1. एन. एस रामानुजताताचार्य (सम्पा.)। शाब्दबोधमीमांसा। दिल्ली: राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थानम्, 2005।
2. जानमदिरामकृष्ण (सम्पा.)। लघुमञ्जूषाभाट्टरहस्यविमर्शः। तिरुपतिः: राष्ट्रियसंस्कृतविद्यापीठम्, 2002।
3. झा रमेशचन्द्रः (सम्पा.)। पाणिनीयव्याकरणम्। वाराणसी: चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, 2005।
4. पाणिनिः। अष्टाध्यायी। स्पमा. -पुष्पादीक्षितः, दिल्ली: ज्ञानभारती पाब्लिकेशन्, 2009।
5. पाणिनिः। पाणिनीयशिक्षा। सम्पा.- रमाशङ्कर मिश्रः। वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2015।
6. नागेशः। परिभाषेन्दुशेखरः। सम्पा. जयदेवशर्ममिश्रः। वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2009 (प्रथमसंस्करणंम्)।
7. नागेशः। परमलघुमञ्जूषा। सम्पा.- जयशङ्करलालत्रिपाठी। वाराणसी: चौखम्बा कृष्णदास अकादमी, 2006।
8. नागेशः। परिभाषेन्दुशेखरः। सम्पा. विश्वनाथमिश्रः। वाराणसी: चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, 2014 (प्रथमसंस्करणम्)।
9. भर्तृहरिः। वाक्यपदीयम् (ब्रह्मकाण्डम्)। सम्पा. सत्यनारायण खण्डूडी। वाराणसी: चौखम्बा विद्याभवन, 2006।
10. भट्टोजिदीक्षितः। सिद्धान्तकौमुदी(तत्वबोधिनीसहिता)। सम्पा. गिरिधरशर्मा, परमेश्वरानन्दशर्मा। दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास, 1961 (प्रथमसंस्करणम्)।
11. युधिष्ठिरमीमांसकः सम्पा.। संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास।। वारणसी: चौखम्बा पब्लिशर्स, 2003।

प्रभारी प्राचार्यः,

हरियाणासंस्कृतविद्यापीठम्,

बघौला, पलवलम, हरियाणा

स्मृतिषु वर्णितदण्डविधानस्य विवेचनम्

डॉ.कृष्णा शर्मा

शोधसारांशः – धर्मशास्त्रे चतसृणां विद्यानाम् उल्लेखः प्राप्यते। ताः आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्चेति सन्ति। वर्तमानसमये समाजे सर्वत्र भयस्य वातावरणं दृश्यते। अपराधनिरोधाय दण्डस्य महत्वपूर्णा भूमिका प्रतिभाति। शोधलेखेऽस्मिन् अपराधस्वरूपवर्णनेन सह व्यवहारस्य व्याख्याऽपि वर्णिता। दण्डविषये महाभारते भीष्मेनोक्तं यदुद्दंडानां दुष्टानां च दमनं करोति स दण्डःभवति। अतः चतसृषु विद्यासु अत्र दण्डस्य विशदं वर्णनं कृतम्।

विषयप्रस्तावना –

धर्मशास्त्रे आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता दण्डनीतिश्चेति चतस्रःविद्याः सन्ति। तत्र प्रथमा विद्या आत्मविश्लेषणात्मिका विद्या आन्वीक्षिकी, द्वितीया त्रिषु वेदेषु प्रतिपादितधर्माधर्मविवेचनीया विद्या त्रयी विद्या प्रकल्प्यते, तृतीया विद्या वार्ता वर्तते या च व्यापारविषयकज्ञानप्रदायिका, पशुपालनं, कृषिकार्यम्, अन्यवणिक्वृत्तिज्ञानप्रदर्शिका विद्या वार्ता विधीयते। चतुर्थविद्या दण्डनीतिः दण्डविषयिका, उचितानुचितकार्यफलप्रदायिका अस्ति। एतासु सर्वासु विद्यासु प्रधानविद्या दण्डनीतिः प्रतिपादिता यतोहि दण्डनीत्या एव सर्वे जनाः स्वकर्मरताः भवन्ति। दण्डनीत्याः प्रवर्तकः नृप एव भवति , सः सर्वेषां स्वामीरूपेण प्रतिष्ठितः अतएव सर्वप्रथमं नृपस्य सृष्टिरभवत्। मनुनोक्तम् –

अराजके हि लोकेऽस्मिन् सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः।। [1]

अस्मिन् संसारे यदा सर्वत्र अराजकता व्याप्ता अभवत् , सर्वे जनाः भयेन कम्पमानाः अभवन् तदा ईश्वरेण राज्ञः सृष्टिः कृता। यतोहि स एक एव अस्ति यः प्रजायाः संरक्षणं कर्तुं शक्यते। यदा कोऽपि नेता न भवति तदा प्रजायाः नेतृत्वं दुष्करं भवति, नेतृत्वप्रदानाय च दण्डशक्तिः आवश्यकी यया नृपः स्वप्रजायां धर्मस्थापनां कर्तुं शक्यते। प्राचीनस्मृतिशास्त्रेषु दण्डविधेः समुचितं वर्णनं प्राप्यते। दण्डभयेन जनाः स्वकर्मसु रताः भवन्ति। दण्डाभावेन सबलाः जनाः निर्बलजनेषु मात्स्यन्यायस्यारोपणं कृत्वा तान् प्रताडयिष्यन्ति। अतः दण्डस्य समुचितप्रयोग एव राजधर्मः। अपराधिजना एव दण्डनीयाः न च निरपराधिनः। अपराधविषयेऽपि स्मृतिकाराणां विस्तृतं विवेचनं प्राप्यते। स्मृतिचन्द्रिकायाः मन्तव्यमस्ति यत् नृपः केषाञ्चित् विषयाणामवलोकनं स्वयं कर्तुं शक्नोति। जनानां सूचनया, प्रार्थनापत्रस्योपस्थापनया विनाऽपि नैकान् प्रपञ्चान् अपराधस्वरूपेण स्वीकर्तुं शक्नोति। अन्योन्यस्य परस्परहितानां हानिप्रक्रिया अनुचिता प्रतीयते।अतः वधः, स्तेयं, स्त्रीसंग्रहणं, साहसं च शाश्वतम् अनुचितम् अपराधश्च स्वीक्रियते। यदा जनेषु कामक्रोधलोभमोहादीनां महारिपुणां समावेशो जायते तदा ते अपराधिनः बोध्यन्ते। मानवस्य विवेकः एतेषां महारिपुणामग्रे मन्दः जायते तदा सः अपराधं

प्रति अग्रेसरति। अपराधनिरोधाय अस्माकं स्मृतिशास्त्रेषु दण्डविधानस्योल्लेखः प्राप्यते। दण्डविधानेन जनेषु अपराधप्रवृत्तीनां निरोधो जायते। अपराधविषये नारदेनोक्तम् –

आज्ञालंघनकर्तारः स्त्रीविधो वर्णशंकरः।
परस्त्रीगमनचार्यं गर्भश्चैव पतिं विना।।
वाक्पारुष्यमवाच्यं यादण्डपारुष्यमेव च।
गर्भस्य पातनं चैवेत्यपराधा दशैव तु।।[2]

इमे दशविध– अपराधकर्मकर्तारःअपराधीपदेन बोध्यन्ते। अनुचितरीत्यनुसारं व्यवहृतव्यवहारः अपराधरूपेण गण्यते। प्राचीनकालादेव मनुयाज्ञवल्क्येनोक्तं यत् व्यवहारस्य यदि अनुचितप्रयोगः भवति तदा अपराधस्वरूपं परिवर्तितं भवति। अष्टादशव्यवहारपदानां विषये मनुस्मृत्यामुल्लिखितमस्ति यत्–

तेषामाद्यऋणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रमः।
संभूय च समुत्थानं दत्तस्यानपकर्म च।।
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशयो विवादःस्वामिपालयोः।।
सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च।।
स्त्रीपुंधर्मो विभागस्य द्यूतमाह्वय एव च।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारःस्थितावेह।।[3]

मनु–नारद–बृहस्पति–याज्ञवल्क्येत्यादिषु स्मृतिकारेषु व्यवहारपदानां संख्यायाः विषये मतभिन्नता प्राप्यते। अत्र सर्वेषां मतानुसारं व्यवहारपदानि उल्लिखितानि सन्ति।

सर्वप्रथमं *कौटिल्यानुसारम्* – ऋणादानम्, उपनिधिः, अस्वामिविक्रयः, समयस्यानपाकर्म, विक्रीत–क्रीतानुशयः, सीमाविवादः, वाक्पारुष्यम्, दण्डपारुष्यम्, साहसम्, स्त्रीसंग्रहणम्, दायभागम्, द्यूतसमाह्वय, प्रकीर्णकः इत्यादयः।

याज्ञवल्क्यानुसारम् – संभूयसमुत्थानम्, दत्ताप्रदानिकः, वेतानादानः, ऋणादानम्, उपनिधिः, अस्वामिविक्रयः, संविदव्यतिक्रमः, क्रीतानुशयः, विक्रीयांसप्रदानम्, स्वामीपालविवादः, सीमाविवादः, वाक्पारुष्यम्, दण्डपारुष्यम्, स्तेयम्, साहसम्, स्त्रीसंग्रहणम्, दायविभागः, द्यूतसमाह्वयम्, अभ्युपेत्याशुश्रूषा, प्रकीर्णकः इत्यादयः।

नारदानुसारम्– निक्षेपः, अस्वामिविक्रयः, सम्भूय च समुत्थानम्, दत्ताप्रदानिकः, ऋणादानम्, वेतनस्यानपाकर्म , समयस्यानपाकर्म, क्रीतानुशयः, विक्रीयांसप्रदानम् , क्षेत्रविवादः , वाक्पारुष्यः, दण्डपारुष्यः, साहसम्, स्त्रीपुंयोगः, दायभागः, द्यूतसमाह्वयम् , अभ्युपेत्याशुश्रूषा, प्रकीर्णकः इत्यादयः।

बृहस्पत्यनुसारम्– कुसीदम्, निधिः, अस्वामिविक्रयः, सम्भूय च समुत्थानम्, अदेयाद्यः, भृत्यदानम्,

समयातिक्रमः, क्रयविक्रयानुशयः, भूवादः, वाक्पारुष्यः, दण्डपारुष्यः, स्तेयः, वधः, स्त्री-संग्रहणम् , स्त्रीपुंसंयोगः, दायभागः, अक्षदेवनम्, अशुश्रुषा, प्रकीर्णकः इत्यादयः।

याज्ञवल्क्यनुसारम् – धर्मशास्त्रप्रतिपादितमार्गविरुद्धमार्गेणाभिभूतःकस्मैश्चित् राज्ञे प्राड्विवाकाय न्यायाधीशायवा निवेदयति स एव व्यवहारविषयो भवति। व्यवहारपदशब्दस्यार्थविषये याज्ञवल्क्येनोक्तं यत्

स्मृत्याचारव्यपेतेन मार्गेणाऽऽधर्षितः परैः।
आवेदयति चेद्राज्ञे व्यवहारपदं हि तत्।।[4]

व्यवहारशब्दस्य विषये धर्मशास्त्रकाराणां मताः भिन्नाः सन्ति। कौटिल्येन व्यवहारपदस्य स्थाने विवादपदं प्रयुक्तम्। अतः विवादे स्वपक्षं सिद्धकरणार्थं साधनरूपेण प्रमाणस्यावश्यकता भवति येन सिद्धिर्भवति। प्रमीयते परिच्छिद्यतेऽनेनेति प्रमाणम्। लिखितम्, भुक्तिः, साक्षी चेति प्रमाणत्रयं प्रतिपादितम्। यत्र प्रमाणैः दोषी निर्दोषी वा सिद्ध्यति तत्र यं प्रति अभियोगं सिद्ध्यति तस्मै दण्डनीत्यनुसारं दण्डः विधीयते। स्मृतिग्रन्थेषु दण्डविषये दण्डनीतिः विस्तरेण वर्णिता अस्ति। मनोः मन्तव्यमस्ति यत् दण्डविधानेन दण्डभयेन वा जनाः स्वकर्मरताःभवन्ति। यथा –

तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्मान्न चलन्ति च।।[5]

याज्ञवल्क्यनुसारं दुराचारिणामपराधिणां दमनमेव दण्डः। दमनं दण्डप्रक्रिया च दण्डः उच्यते। महाभारते भीष्मेनोक्तं यदुद्दण्डानां दुष्टानां च दमनं करोति स दण्डः भवति। मानवेभ्यःप्रमादनिरोधार्थं, धनरक्षार्थं, धर्मरक्षार्थं, लोकमर्यादानां-परम्पराणां रक्षार्थश्च दण्डविधानमावश्यकम्। दण्डविधिना सामाजिकसम्बन्धानां, दायादाधिकाराणां सर्वासां परम्पराणाश्च सम्यग् रूपेण परिपालनं कर्तुं समर्थाःभवन्ति जनाः।

उक्तश्च याज्ञवल्क्येन –

तद्वाप्य नृपो दण्ड दुर्वृत्तेषु निपातयेत्।
धर्मो हि दण्डरूपेण ब्रह्मणा निर्मितः पुरा।।[6]

दण्डोत्पत्तिविषये मनुनोक्तं –

तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः।।[7]

याज्ञवल्क्येनापि उक्तं यत् सृष्ट्यादौ ब्रह्मणा दण्डस्वरूपे धर्ममसृजत्, धर्मरक्षणार्थं स्थापनार्थश्च दण्डोत्पत्तिरभवत्। मनुना अस्मिन् प्रसंगे उक्तं यत्-

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूःस्मृतः।।
दण्डशास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म विदुर्बुधाः।।[8]

अन्यवस्तुनां विनाशः, पशुनामाघातः, वापीकूपतडागानां नाशः, सीमालङ्घनं विनाशश्च, क्षेत्रेषु अग्निदाहः,

औद्योगिकविनाशः, राष्ट्रसम्पत्तिनां हानिः इत्यादयःअपराधश्रेण्यां गण्यन्ते। एतेषाम् अपराधानां दण्डविधानमपि भिन्नं कल्पितम्। नारदेनोक्तं यत् स्त्रीपुरुषैः सह अप्राकृतिकव्यवहारेऽपि वैश्याकुलस्य शुल्कस्य अष्टगुणं दण्डं निर्धारितम्।

उपर्युक्तविवरणेन ज्ञायते यत् आपराधिजनानां सन्मार्गं प्रति प्रेरणाय तथा समाजे अपराधानां पुनः प्रवृत्तिर्न भवेत् एतादर्थं जनाः स्वस्वधर्माचरणेषु रताः भवेयुः, सुखशान्तिप्राप्त्यर्थं मनुयाज्ञवल्क्यनारदबृहस्पति-इत्यादीनां स्मृतिशास्त्रेषु न्यायोचितदण्डव्यवस्था समुपवर्णिता अस्ति। अस्याःपरम्परायाः परिपालनाय कैश्चन् परिवर्तनैः सह अद्यापि ईदृशी दण्डव्यवस्था न्यायालयेषु व्यवह्रियते।

टिप्पणी –

1. मनुस्मृतिः 7 /03
2. नारदस्मृतिः
3. मनुस्मृतिः 8/4-7
4. याज्ञवल्क्यस्मृतिः
5. मनुस्मृतिः 7 /15
6. याज्ञवल्क्यस्मृतिः1/355
7. मनुस्मृतिः 7 /14
8. मनुस्मृतिः 7 /17-18

सहाचार्या, विभागाध्यक्षा
धर्मशास्त्रविभागः,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः
एकलव्यपरिसरः, अगरतला, त्रिपुरा

व्यक्तिविवेके वचनप्रक्रमभेदः

डॉ. किशोरकुमारदलाई

अलंकारशास्त्रस्य ध्वनिविरोध्याचार्येषु ख्रीष्टसंवत्सरस्येकादशशताब्द्यां स्वजन्मना कश्मीरभुवं विभूषितवान् महिमभट्टः अन्यतमः। अनेन ध्वनिकृदानन्दवर्धनेन प्रवर्तितः ध्वनिसिद्धान्तो निराकृतः काव्यानुमितिः सिद्धान्तिता च। अस्य व्यक्तिविवेकनामा ग्रन्थः प्रसिद्धः वर्तते। अस्य प्रथमे विमर्शे ध्वनिलक्षणं साटोपं निराकृतम्, तत्र काव्यानुमितिश्च साधिता। द्वितीये विमर्शे काव्यगतमनौचित्यं तथा विस्तरेण स नवविचारं च प्रतिपादितवान्। यदन्यत्र न लभ्यते। तृतीये विमर्शे ध्वन्यालोकगतध्वन्युदाहरणेषु काव्यानुमितिः सविस्तरं सयुक्तिश्च प्रदर्शिता। प्रकृते द्वितीये विमर्शे विवेचितेष्वनौचित्येषु प्रक्रमभेदरूपस्य वचनक्रमरूपो भेदो विचार्यते। अत्र विचारणीया विषयबिन्दवः इमे सन्ति–

(1) अनौचित्यम्।

(2) औचित्यस्य भेदाः।

(3) प्रक्रमभेदप्रभेदस्य वचनप्रक्रमभेदः तदुदाहरणञ्च।

एतद् क्रमेण प्रदर्श्यते–

(1) गुणालङ्कारविशिष्टस्य शब्दार्थयुगलस्य काव्यस्यात्मा रसः। महिमभट्टः कथयति यद् रसस्य काव्यात्मत्वे कस्यचिदपि विदुषो विवादो न विद्यते।[1] अस्य काव्यात्मभूतस्य रसस्य प्रतीतौ यद् विघ्नं विदधाति तदनौचित्यं उच्यते।[2] अनौचित्यस्य एतद् लक्षणं ध्वनिकृतः अनेन श्लोकेन साम्यं वहति–

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम्।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा।।[3]

इदमेवान्यैः आचार्यैं दोषपदेनापि निगद्यन्ते। अनौचित्यमिदं द्विधा भवति– शब्दगतम् अर्थगतञ्चेति। तत्रार्थगतमनौचित्यम् अन्यैराचार्यैः विचारितमिति महिमभट्टेन न विचारितम्। किन्तु व्याकरणशास्त्रस्य बीजस्य षड्विधस्य शब्दगतानौचित्यस्य एव प्रतिपादनं कृतम्।

(2) तत्रानौचित्यस्य षट् प्रकाराः इमे सन्ति यथा– विधेयाविमर्शः, प्रक्रमभेदः, क्रमभेदः, पौनरूक्त्यं, वाच्यावचनम्, अवाच्यवचनं चेति।

(3) उपक्रमः प्रारम्भो वा प्रक्रमोच्यते। तस्य भेदः प्रक्रमभेदः कथ्यते। येन शब्देन येन प्रकारेण च कस्यचित् कथनस्य प्रारम्भः क्रियते तेनैव तेन प्रकारेण च उपसंहारः कर्तव्यः। अन्यथा स्वरसवाहिन्याः प्रतीतेः भेदेन विच्छेदे सति रसप्रतीतौ व्यवधानं भवति यथा–''उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।'' इत्यत्र ताम्रशब्देन प्रारम्भे कृते यदि रक्तशब्देन उपसंहार क्रियते तदा शब्दस्यापि शाब्दबोधे विशेषणत्वेन प्रतीत्या शब्दरूपविशेषणभेदे सति अर्थस्यैकत्वेपि प्रतीतेर्भेदो भवति। अतः तादृशे स्थले ताम्रपदेन प्रारम्भस्य रक्तपदेनोपसंहारे प्रक्रमभेदो जायते। अत एवोक्त श्लोके 'ताम्र एव' इति 'ताम्र' शब्देनोपसंहारः कृतः। अस्य

प्रक्रमभेददोषस्य बीजं व्याकरणशास्त्रे लभ्यते। 'स्वामी' शब्दस्य योगे सति षष्ठी सप्तमी वा भवति। यथा– ''देवदत्तः गवाम् अश्वानां च अथवा गोषु अश्वेषु च स्वामी'' इत्यत्र महाभाष्यकारः सूचयति यद् यदा षष्ठ्या प्रारम्भः तदा पष्ठ्यैव समाप्तिः स्यात् एवं यदा सप्तम्याः प्रारम्भः तदा सप्तम्या एव समाप्तिः कार्या, किन्तु षष्ठ्या प्रारम्भः सप्तम्या समाप्तिः, सप्तम्या प्रारभ्य षष्ठ्या समाप्तिर्वा न कर्तव्या। यथा– देवदत्तः गवां अश्वेषु च स्वामी, अथवा देवदत्तः गोषु अश्वानां च स्वामी इति प्रयोगो न कर्तव्यः। इदं व्यक्तिविवेकस्य व्याख्याने रूय्यकेण एवं प्रकारेणोक्तम्– तथा ''स्वामीश्वराधिपतिदायादे'' इत्यत्र सूत्रे ''नहि भवति गवां स्वामी अश्वेषु चेति'' वदता भाष्यकृता स्पष्टमेव प्रक्रमभेदः प्रतिपादितः।[4]

प्रकृति–प्रत्यय–सर्वनाम–पर्याय–विभक्ति–उपसर्ग–वचन–तिङन्त–काल–कारकशक्ति–शब्दार्थक्रमवस्तु–भेदेन नानाविधो भवति। तत्र व्यक्तिविवेके वचनप्रक्रमभेदः कथं विचारितोऽस्तीति प्रदर्श्यते–

वचनप्रक्रमभेदः– ''येन वचनेन प्रारम्भः तेनैवोपसंहारः'' इति नियमो यत्र अतिक्रम्यते तत्र वचनप्रक्रमभेदो भवति। अस्योदाहरणद्वयं व्यक्तिविवेके लभ्यते। तत्र प्रथमोदाहरणं यथा–

काचित् कीर्णा रजोभिर्दिवमनुविदधौ मन्दवक्त्रेन्दुलक्ष्मी–
रश्रीकाः काश्चिदन्तर्दिश इव दधिरे दाहमुद्भ्रान्तसत्त्वाः।
भ्रेमुर्वात्या इवान्याः प्रतिपदमपरा भूमिवत् कम्पमानाः
प्रस्थाने पार्थिवानामशिवमिति पुरो भावि नार्यः शशंसुः।।[5]

अत्र ''काचित्'' इति एकवचनेन प्रारम्भः कृतः किन्तु ''काश्चित् नार्यः'' इत्यत्र बहुवचनेनोपसंहारो कृतः। अतो वचनप्रक्रमभेदो वर्तते। अत्र यदि ''काचित्'' इत्यस्य स्थाने काश्चित् इति यदा बहुवचनं क्रियते तदा बहुवचनेनैव प्रारम्भो उपसंहारश्च भवति। ततश्च वचनप्रक्रमभेदो निवर्तते।

वचनप्रक्रमभेदस्य द्वितीयमुदाहरणमिदं वर्तते–

''अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति युष्मत्प्रसादेन इति।''[6]

अत्र भगवति इति एकवचनान्तसम्बोधनेन प्रारम्भः कृतः, किन्तु ''युष्मत् प्रसादेन'' इत्यत्र युष्मच्छब्देन बहुवचन–निर्देशात् बहुवचनेनैव समाप्तिः कृतेति वचनप्रक्रमभेदः। यदि तु युष्मत् 'प्रसादेन' इत्यस्य स्थाने भवत्प्रसादेन इति पाठः क्रियते तदा वचनप्रक्रमभेदो निवर्तते।

एवं इह व्यक्तिविवेके यो वचनप्रक्रमभेदः प्रदर्शितः स विचारितः। इदमनौचित्यम् अन्यत्रापि काव्ये गवेषणीयं भवति।

सन्दर्भाः–

1. व्यक्तिविवेके, प्रथमविमर्शे पृ.111
2. व्यविवेके पृ.–182 द्वि.वि.
3. ध्वन्यालोके, 2 उद्योते
4. महाभाष्ये, 2.3.39
5. व्यक्तिविवेके, 2 विमर्शे, पृ.299
6. व्यक्तिविवेके, पृ.300

सहायकाचार्यः, साहित्यविभागः,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

वेदार्थ में स्वर की उपयोगिता

डॉ. सुधीर कुमार शर्मा

वेदाध्ययन के सम्बन्ध में मनुस्मृतिकार कहते हैं कि जो द्विज वेद को न पढ़कर अन्यत्र श्रम करता है वह अपने जीते जी ही वंश सहित शीघ्र ही शूद्रता को प्राप्त होता है। अतः प्रत्येक द्विज का कर्तव्य है कि वह वेदाध्ययन कर अपना तथा अपने कुल का कल्याण करे

योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।।[1]

किन्तु वेदार्थ को जाने बिना वेद पढ़ना श्रेयस्कर नहीं है। इस सम्बन्ध में महर्षि यास्क का कथन इस प्रकार है

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा।।[2]

अर्थात् जो मनुष्य वेद पढ़कर उसके अर्थों को नहीं जानता वह भारवाही पशु अथवा ढूँठ वृक्ष के समान है, परन्तु जो अर्थ का ज्ञाता है वह यहाँ समस्त सुखों को प्राप्त होता है तथा कल्याण को प्राप्त करता हुआ अन्त में दुःखरहित होकर मोक्ष को प्राप्त करता है। इसी प्रकरण में महर्षि वेदव्यास भी महाभारत में अर्थसहित वेदाध्ययन के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुये कहते हैं–

यो हि वेदे च शास्त्रे च ग्रन्थधारणतत्परः।
न च ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञस्तस्य तद्धारणं वृथा।।
भारं स वहते तस्य ग्रन्थस्यार्थं न वेत्ति यः।
यस्तु ग्रन्थार्थतत्त्वज्ञो नास्य ग्रन्थागमो वृथा।।[3]

अर्थात् जो वेदादि शास्त्रों को कण्ठस्थ करने में तत्पर है परन्तु उनके अर्थों से अनभिज्ञ है, उसका कण्ठस्थीकरण व्यर्थ ही है क्योंकि जो ग्रन्थ के तात्पर्य को नहीं समझता, वह ग्रन्थ को रटकर मानो उसका भार ही ढोता है। परन्तु जो ग्रन्थ के अर्थ तत्त्व को जानने वाला है उसका ग्रन्थ पढ़ना कदापि वृथा नहीं होता अपितु सार्थक कहलाता है। अतः सर्वकल्याण के लिये वेद परमावश्यक हैं तथा वेदों को हृदयंगम करने के लिये वेदार्थ-ज्ञान अनिवार्य है। अत एव बड़े-बड़े मनीषियों ने वेदों की रक्षा को कर्त्तव्य बताया है। इस सम्बन्ध में महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि कहते हैं- 'रक्षार्थ वेदानामध्येयं व्याकरणम्'[4] अर्थात् वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण शास्त्र पढ़ना चाहिए। व्याकरण शास्त्र को वेदों का मुख भी कहा गया है- '**मुखं व्याकरणं स्मृतम्।**'[5] वेदों को जानने के लिये व्याकरण उसी प्रकार उपयोगी है जिस प्रकार मानव शरीर में मुख उपयोगी होता है।

वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझने के लिए जितने साधन प्राप्त होते हैं उनमें स्वर-शास्त्र

प्रधानता रखता है। 'स्वर ज्ञान के महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक अपनी 'वैदिक स्वर-मीमांसा' नामक पुस्तक में लिखते हैं कि- 'वेद के वास्तविक अभिप्राय तक पहुँचने के जितने साधन हैं, उनमें स्वरशास्त्र सब से प्रधान है। व्याकरण और निरुक्त जैसे प्रमुख शास्त्र भी स्वर-शास्त्र के अंग बनकर ही वेदार्थ-ज्ञान में सहायक होते हैं। स्वर-शास्त्र का विरोध होने पर ये दोनों शास्त्र पंगु बने रहते हैं। स्वर-ज्ञान के बिना न केवल मन्त्र का वास्तविक अभिप्राय ही अज्ञात रहता है अपितु स्वरशास्त्र की उपेक्षा से अनेक स्थानों में अर्थ का अनर्थ भी हो जाता है। इसलिये वेद के सूक्ष्मतम अभिप्राय तक पहुँचने के लिये उदात्त आदि स्वरों का ज्ञान नितान्त आवश्यक है।[6] उपर्युक्त विद्वद् वचन से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि स्वरों का ज्ञान कितना आवश्यक है किन्तु उपर्युक्त प्रकरण में व्याकरण से तात्पर्य केवल शब्द-व्युत्पत्ति अर्थात् प्रकृति-प्रत्यय-विभाग से है क्योंकि स्वर-शास्त्र भी व्याकरण का एक प्रकरण देश है। निरुक्त अर्थ-निर्वचन शास्त्र है, शब्द व्युत्पत्ति शास्त्र नहीं है। इसी कारण व्याकरण और निरुक्त एक दूसरे के पूरक होते हुये भी पृथक्-पृथक् शास्त्र हैं।

महर्षि दयानन्द सरस्वती ने वेदार्थ में स्वरों की महत्ता को जानते हुये ही स्वर-विषयक 'सौवर' ग्रन्थ की रचना की जिसमें वे लिखते हैं

वेदार्थोपयोगितया संक्षेपत, स्वराणां व्यवस्था लिख्यते

अर्थात् वेद के अर्थ में उपयोगी होने से स्वरों की व्यवस्था संक्षेप से लिखते हैं। इसी प्रकरण में ऋग्वेद के प्रसिद्ध भाष्यकार वेंकट माधव कहते हैं–

अन्धकारे दीपिकाभिर्गच्छन्न स्खलति क्वचित्।
एवं स्वरैः प्रणीतानां भवन्त्यर्थाः स्फुटा इति।।[7]

अर्थात् यथा अन्धकार में मशालों की सहायता से चलता हुआ कहीं ठोकर नहीं खाता उसी प्रकार स्वरों की सहायता से किए गए अर्थ स्फुट (सन्देह-रहित) होते हैं, इत्यादि विद्वद्वचनों से वेदार्थ में स्वरों की उपयोगिता सुस्पष्ट ही है। अन्यत् महर्षि दयानन्द सरस्वती ने 'सौवरः' ग्रन्थ की भूमिका में सुस्पष्ट उल्लेख किया है कि- इस सौवर ग्रन्थ के बनाने का मुख्य प्रयोजन यही है कि जिससे सब मनुष्यों को उदात्तादि स्वरों की व्यवस्था का बोध यथार्थ हो जावे। जब तक उदात्तादि स्वरों को ठीक-ठीक नहीं जानते तब तक लौकिक एवं वैदिक वाक्यों अथवा छन्दों का स्पष्ट, प्रिय उच्चारण, गान और ठीक-ठीक अर्थ भी नहीं जान सकते है। उच्चारण आदि के यथार्थ न होने से लौकिक एवं वैदिक शब्दों से यथार्थ सुखलाभ भी किसी को प्राप्त नहीं होता है।[8] इस प्रकार लिखकर महर्षि दयानन्द महाभाष्य के पस्पशाह्निक के प्रसिद्ध उदाहरण को प्रकृत प्रसंग में दर्शाते हुये लिखते हैं- 'देखो इस विषय में प्रमाण–

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्।।[9]

जो शब्द अकारादि वर्गों के स्थान प्रयत्नपूर्वक उच्चारण नियम और उदात्तादि स्वरों के नियम से विरुद्ध बोला जाता है उस को मिथ्याप्रयुक्त कहते हैं, क्योंकि जिस अर्थ को जताने के लिये उसका

प्रयोग किया जाता है उस अर्थ को वह शब्द नहीं कहता किन्तु उससे विरुद्ध अर्थान्तर को कहता है। इसलिये उच्चारण किया हुआ वह शब्द अभीष्ट अभिप्राय को नष्ट करने से वज्र के तुल्य वाणीरूप होकर यजमान अर्थात् शब्दार्थ सम्बन्ध की संगति करने वाले पुरुष ही को दुःख देता है। जैसे 'इन्द्रशत्रुः शब्द स्वर के विरोध से ही विरुद्धार्थक हो जाता है। इन्द्रशत्रु तत्पुरुष समास में तो अन्तोदात्त इन्द्र अर्थात् सूर्य का शत्रु मेघ बढ़कर विजयी हो। 'इन्द्रशत्रु' यहाँ बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृति स्वर से आधुदात्त स्वर होता है और शत्रु शब्द का अर्थ यही है कि शान्त करने वा काटनेवाला– **इन्द्रोस्थ शमयिता वा शातयिता वा**[10] अतः तत्पुरुष समास में तो इन्द्र नाम सूर्य का शत्रु जिसका शत्रु शान्त करने वा काटने वाला है ऐसा अन्य पदार्थ मेघ आया। अधुना प्रकृत स्थान पर कोई व्यक्ति 'सूर्य को शान्त करने वाला मेघ है, इस आशय से इन्द्रशत्रु शब्द का उच्चारण करना चाहिए, परन्तु यदि इस 'इन्द्रशत्रु' पद में आधुदात्त उच्चारण कर दिया जाये तो उसका अभिप्राय नष्ट हो जायेगा अर्थात् भाव बदल जायेगा क्योंकि आधुदात्त उच्चारण से बहुव्रीहि समास में मेघ का शान्त करने वा काटने वाला सूर्य ऐसा भाव प्रकट होगा।

अतः जिसको अपना जैसा अर्थ (भाव) इष्ट हो उसको वैसे ही स्वर और वर्णों का नियमानुसार उच्चारण करना चाहिए। मनुष्यों को जब उदात्त आदि स्वरों का यथावत ज्ञान हो जाता है तब स्वरप्रयुक्त लौकिक एवं वैदिक शब्दों के नियत अर्थों को सहजता से जान लेता है। यथा किसी एक शब्द को आधुदात्त स्वरयुक्त देखा तो समझ में आयेगा कि अमुक अर्थ में अमुक जित् वा णित् प्रत्यय हुआ है, इसलिये इस का यही अर्थ होना चाहिए, इससे विपरीत अर्थ नहीं होगा, ऐसा निश्चय केवल स्वरज्ञ (स्वर ज्ञाता) को ही हो पाता है। उदाहरणार्थ यहाँ महर्षि दयानन्द 'सौवरः' ग्रन्थ की भूमिका में एक और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं– जैसे स कर्त्ता, स कर्त्ता इन दो वाक्यों में दो प्रकार के स्वर होने से दो प्रकार के अर्थ होते हैं। प्रथम वाक्य में तृन् प्रत्ययान्त आधुदात्त कर्ता शब्द है। अतः अर्थ होगा वह अच्छा (साधु) करनेवाला है और दूसरे वाक्य में लुडन्त अन्तोदात्त कर्ता शब्द क्रियारूप है। अतः अर्थ होगा वह कल करेगा। एवंविध एक प्रकार के पदों का अर्थभेद स्वर व्यवस्था के जानने से ही समझ में आता है अन्यथा अज्ञान से वेदमन्त्रों के अर्थ का अनर्थ होकर बहुविध भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो जाती है जिससे **'संशयात्मा विनश्यति'** की उक्ति चरितार्थ हो जाती है। अतः वेद के सूक्ष्मतम अभिप्राय को जानने के लिये स्वरों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक हो जाता है। एतदर्थ स्वरों को जानने के लिए उनके अंकन (चिह्न) प्रकार को जानना आवश्यक है।

वर्तमान में जितने भी सस्वर वैदिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें उदात्तादि स्वरों के अंकन प्रकार अर्थात् चिह्न भी एक जैसे नहीं हैं कहीं तो अत्यन्त विषमता उपलब्ध होती है। इसका विवरण पं. युधिष्ठिर मीमांसक अपनी पुस्तक 'वैदिक-स्वर मीमांसा में देते हैं–

1. ऋग्वेद[11], यजुर्वेद[12] तथा अथर्ववेद में प्रयुक्त नीचे की पडी रेखा अनुदात्त का चिह्न है। यथा अग्निमीळे[13] इषे त्वोर्जे त्वां[14] ये त्रिषप्ताः[15] उपर्युक्त मन्त्र स्थानों में नीचे की पड़ी रेखा (–) शतपथ ब्राह्मण (माध्य. काण्व.) में उदात्त का चिह्न है। यथा– इषे त्वोर्जे त्वेति[16]

2. ऋग्वेद (काश्मीर पाठ से अन्यत्र) यजुर्वेद (माध्य., काण्व., तैत्ति.) तथा अथर्ववेद में ऊपर की खड़ी रेखा स्वरित का चिन्ह है यही ऊपर की खड़ी रेखा ऋग्वेद के काश्मीर पाठ तथ मैत्रायणी संहिता में उदात्त के लिए प्रयुक्त होती है। यथा–

अग्निमीले[17]**, इषे त्वा सुभूताय**[18]

पं. युधिष्ठिर मीमांसक की कृति 'वैदिक-स्वर-मीमांसा' के अनुसार सामवेद में उदात्तादि स्वरों का अंकन रेखाओं के स्थान में 1,2,3 संख्याओं तथा उनके साथ क्वचित् 'क', 'र', 'उ' अक्षरों द्वारा होता है यथा अग्न आ याहि[19],

वैदिक ग्रन्थों में स्वर चिह्नों की इन विषमतओं के कारण स्वरज्ञाता भी किंचित् चिन्तन में पड़ जाता है तो स्वरशास्त्र के न जानने वालों की स्थिति क्या होगी। अतः स्वरों के विविध भेद एवं उनकी वेदार्थ में उपयोगिता और उनकी उपेक्षा से होने वाले भयंकर परिणाम तथा स्वर चिह्नों के विविध अंकन प्रकारों का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है।

स्वर कहते किसको हैं तथा स्वर शब्द से अन्य कौन-कौन से अर्थ ग्रहण होते हैं। सामान्यतः स्वर शब्द लौकिक और वैदिक दोनों वाङ्मय में प्रयुक्त होता है यथा– वाक् शब्द स्वर के अर्थ में प्रयुक्त है '**अधि स्वरे**'[20] सायणाचार्य इसका अर्थ **स्वरोपेते शब्दवति** अर्थात् 'स्वरों से युक्त शब्दात्मक वाक्' करते हैं। निघण्टु में भी स्वर शब्द वाङ्नामों में पढ़ा है। संहितोपनिषद् ब्राह्मण, शिक्षा शास्त्र, भरत नाट्यशास्त्र, प्रातिशाख्य, ऋक्तन्त्र और कातन्त्र आदि में स्वर शब्द उन अकारादि वर्गों के लिए प्रयुक्त होता है जिनका उच्चारण व्यंजनों की सहायता के बिना अर्थात् स्वतन्त्र रूप से होता है। यथा '**ववृतकरणाः स्वराः**'[21] '**अकाराद्याः स्वरा ज्ञेया औकारान्ताश्चतुर्दश**'।[22], '**एते स्वराः**[23], **तत्र चतुर्दशादौ स्वराः**[24] इत्यादि। पाणिनीय वैयाकरण इन अकारादि स्वरों का अच् प्रत्याहार से और फिट् सूत्रकार 'अष्' प्रत्याहार से व्यवहार करते हैं।

संगीत-शास्त्र और उससे संबद्ध प्रकरणों में षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद नामक ध्वनि-विशेषों के लिए 'स्वर' शब्द का प्रयोग होता है यथा–

षड्जश्च ऋषभश्चैव गान्धारो मध्यमस्तथा।
पचंमो वश्चैव निषादः सप्तमः स्वरः।।[25]

'**स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमपंचमधैवतनिषादाः**'[26] उव्वट ने ऋक्प्रातिशाख्य की व्याख्या में इन षड्जादि स्वरों को यम नाम से उद्धृत किया है।[27] पूर्व वर्णित षड्जादि सप्तक ही सामगान में क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, मन्द्र और अतिस्वार्य नाम से उल्लिखित हैं।

नासिका के दाएं-बाएँ रन्ध्र से प्रवाहित होने वाले प्राण के लिए भी स्वर शब्द प्रयोग में आता है। इस प्रकार सूर्य, सोम, प्रजापति, पशु, श्री, प्रणव इत्यादि के लिए भी स्वर शब्द पृथक्-पृथक् शास्त्रों में उपलब्ध होता है।

महाभाष्य में सात स्वरों का निर्देश किया गया है–

'सप्त स्वरा भवन्ति–उदात्तः, उदात्ततरः, अनुदात्तः अनुदात्ततरः स्वरितः, स्वरिते य उदात्तः सोऽन्येन विशिष्टः, एकश्रुतिः सप्तमः'।[28]

महाभाष्यानुसार उदात्त, उदात्ततर, अनुदात्त, अनुदात्ततर, स्वरित, स्वरित के आरम्भ में विद्यमान उदात्त (अन्य उदात्त से भिन्न) तथा एकश्रुति ये सप्त स्वर माने जाते हैं। नारदीय शिक्षा में भी सामगानोपयोगी सात स्वरों का उल्लेख मिलता है– षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद्। क्रुष्ट, प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ मन्द्र और अतिस्वार्य कहा गया है।[29] महर्षि दयानन्द 'सौवर' ग्रन्थ में महाभाष्य का उदाहरण देते हुये समझाते हैं– **'स्वयं राजन्त इति स्वराः, अन्वग्भवति व्यंजनम्'।।**[30] स्वर उनको कहते हैं जो बिना किसी की सहायता से उच्चरित और स्वयं प्रकाशमान हों और व्यंजन वे होते हैं जिनका उच्चारण स्वर के आधीन हो। पुनः अष्टाध्यायी के सूत्रों तथा महाभाष्य के प्रत्युदाहरणों से उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, स्वरित के भेद, एकश्रुति, उदात्त से परे जिस अनुदात्त को स्वरित विधान किया उस (अनुदात्त) से परे उदात्त वा स्वरित हो तो उस अनुदात्त को स्वरित न होना, यज्ञकर्म अर्थात् यज्ञसम्बन्धी कर्म में एकश्रुति स्वर का विधान इत्यादि स्वरों के नियमों का सुस्पष्ट वर्णन किया है। इन समस्त नियमों को जानकर ही स्वर-विषय हृदयंगम होता है, तदनन्तर ही वेदार्थ में बुद्धि गति करती है अन्यथा स्वर-नियमों के अज्ञान से अर्थ का अनर्थ हो जाता है। भर्तृहरि भी अनेकार्थक शब्दों के अर्थनियमन के लिए अनेकप्रकार के हेतुओं का वर्णन करते हैं जिनमें स्वर भी हैं–

सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः।।[31]

वेंकटमाधव जैसे विद्वान् भी स्वविरचित स्वरानुक्रमणी के आरम्भ में पदार्थज्ञान के हेतुओं में स्वर का निर्देश करते हुये लिखते हैं– **'नामाख्यातविभागश्च स्वरदेवावगम्यते'** अर्थात् नाम और आख्यात का विभाग स्वर से ही जाना जाता है। अनन्तर अपनी स्वरानुक्रमणी का प्रयोजन दर्शाते हुये लिखते हैं–

'अनुक्रमणिका षष्ठी स्वरतोऽर्थस्य निर्णयः।
प्रदर्शयति मन्त्रेषु ग्राह्या सा निपुणैर्नृभिः।।[32]

अर्थात् षष्ठी अनुक्रमणी मन्त्रों में स्वर से अर्थ का निर्णय दर्शाती है। उसे बुद्धिमान मनुष्यों को ग्रहण करना चाहिये।

संस्कृत वाङ्मय में ऐसे शब्द अतिस्वल्प हैं जो कि एक अर्थ के वाचक हों, अधिकांशतः शब्द अनेकार्थक हैं और उसमें भी वैदिक शब्दों का तो कोई उदाहरण ही मिलेगा जो एकार्थक हो। अतः कहाँ किस शब्द का क्या अर्थ ग्रहण करना चाहिए इसके लिये आचार्यों ने अनेक उपाय बतायें हैं उनमें स्वर-ज्ञान भी अति विशिष्ट है। इसके अभाव में वेदार्थ यथार्थ से वंचित रह जाता है। अतः वेद के सूक्ष्मतम, विशालतम शाब्दिक चमत्कारों के ज्ञान के लिए स्वर-ज्ञान भी अत्यावश्यक है। वेदार्थ में स्वर की अनुपयोगिता को दर्शाने वाले व्यक्तियों के लिए वेंकटमाधव का कथन निम्नानुसार है–

भाषमाणास्तमेवार्थमथ सम्प्रति मानवाः।
मयाविनो लिखन्त्यन्ये व्याख्यानानि गृहे गृहे।।[33]

सन्दर्भाः–

1. मनुस्मृति 2.1683.
2. निरुक्त 1.18
3. महाभारत शान्तिपर्व 305, 13, 14
4. पस्पशाहिक, महाभाष्य
5. ऋक्प्रातिशाख्य पाणिनीय शिक्षा 41,42
6. वैदिक-स्वर-मीमांसा, पं. युधिष्ठिर मीमांसक
7. स्वरानुक्रमणी 1.8
8. भूमिका, सौवरः
9. महाभाष्य 3.1
10. निरुक्त अध्याय -2
11. काश्मीर पाठ के अतिरिक्त
12. माध्यन्दिन, काण्व., तैतिः
13. ऋग्वेद 1.1.1
14. यजुर्वेद 1.1.1
15. अथर्ववेद 1.1.1
16. माध्य.शत. 1.7.1.2
17. ऋग्वेद काश्मीर पाठ 1.1.1
18. मैत्रायणी. 1.1.1
19. सामवेद 1.1.1
20. ऋग्वेद 8.72.7
21. पाणिनीय शिक्षा 3.8
22. नाट्यशास्त्र 14.8
23. ऋक्प्रातिशाख्य 1.3
24. कातन्त्र 1.1.2
25. नारदशिक्षा 1.2.4
26. पिगंलसूत्र 3.64
27. ऋक्प्रातिशाख्य 13.44 की उव्वट व्याख्या
28. महाभाष्य 1.2.33
29. तैत्तिरीय प्रातिशाख्य- 23.14
30. महाभाष्य 1.2.23
31. वाक्यपदीयम
32. स्वरानुक्रमणी
33. मन्त्रार्थानुक्रमणी

सह-आचार्य,
संस्कृत विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर।

लोक कल्याणकारी राज्य और कौटिल्य

डॉ. सीमा अग्रवाल

सारांश– प्रस्तुत पत्र लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट करता है। पत्र में राजतंत्र की समाप्ति से अहस्तक्षेपवादी राज्य से लोककल्याणकारी राज्य में परिवर्तन की यात्रा को स्पष्ट करते हुए राज्य के लोककल्याणकारी कार्यों पर प्रकाश डाला गया है। प्रस्तुत पत्र प्राचीन भारतीय चिन्तन के साथ लोककल्याणकारी राज्य की नवीनतम अवधारणा के सम्बन्ध का विश्लेषण करता है। पत्र में विशेष रूप से कौटिल्य के चिन्तन में राज्य के कार्यक्षेत्र की समीक्षा की गई है। कौटिल्य ने अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में राज्य के जिन विस्तृत एवं लोककल्याणकारी कार्यों पर चर्चा की है वह उसे वर्तमान लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा के निकट ले आता है। प्रस्तुत पत्र में यही विश्लेषण करने का प्रयास है कि प्राचीन भारतीय चिन्तन भी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से समृद्ध था एवं वर्तमान धारणाओं के साथ प्रासंगिकता रखता है।

Key Words

लौकिक – इस लोक का
पारलौकिक – आध्यात्मिक या इस लोक से बाहर
दुर्भिक्ष – अकाल
द्यूतक्रीड़ा – जुआ

राजनीति सिद्धान्त के क्षेत्र में लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अधिक पुरानी नहीं है। सामंतवादी राज्य से नकारात्मक या अहस्तक्षेपवादी राज्य और नकारात्मक से सकारात्मक या कल्याणकारी राज्य में परिवर्तन काफी संघर्षों और चुनौतियों के बाद सम्भव हो पाया। इसके लिए वर्तमान समाज एवं राजनीतिक सिद्धान्त ने लम्बी यात्रा की है।

औद्योगिक क्रान्ति, पुनर्जागरण, ज्ञानोदय इत्यादि के फलस्वरूप उदारवाद अस्तित्व में आया तब व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए राज्य की नकारात्मक भूमिका पर बल दिया।[1] उदारवाद ने सामंतवाद के पतन के बाद राजनीति को मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के अनुरूप मोड़ने के लिए अहस्तक्षेप या लैसे-फेयर नीति का समर्थन किया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक प्रायः पूरे यूरोप, अमेरिका में इसी नीति का समर्थन होता रहा कि राजय को कम से कम कार्य करने चाहिये या स्वंय को कुछ बुनियादी कार्यों जैसे कानून, व्यवस्था एवं सुरक्षा तक सीमित रहना चाहिये। इस समय राज्य पुलिस राज्य या प्रहरी राज्य की भूमिका में था।[2]

असीमित स्वतन्त्रता, नगरों, उद्योग-धन्धों एवं व्यापार के राष्ट्रव्यापी एवं विश्वव्यापी विस्तार के

बाद भी किसानों, मजदूरों एवं आमजन की स्थिति में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ बल्कि बाजार-नियमों एवं पूंजीवाद की घोर विषमताओं के कारण मजदूर वर्ग का बेहद शोषण होने लगा। एक व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता दूसरे के उत्पीड़न का स्रोत बन गई। मुक्त बाजार के भयानक परिणाम सामने आ रहे थे। साथ ही इस शोषण के कारण उदारवाद को मार्क्सवाद एवं समाजवाद की कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ा। सम्पूर्ण विश्व में मजदूर आन्दोलनों एवं साम्यवादी क्रान्तियों की बाढ़ आ गयी इसलिए उदारवाद को संशोधन कर नागरिकों के कल्याण विशेषतः निर्बल एवं निर्धन व्यक्ति के कल्याण को महत्व देना पड़ा। सकारात्मक उदारवाद के अन्तर्गत यह माना जाने लगा कि राज्य को अपनी भूमिका का विस्तार कर सकारात्मक भूमिका निभानी चाहिए यही कल्याणकारी राज्य की संकल्पना के रूप में सामने आया।

जब से अहस्तक्षेप के सिद्धान्त का पतन हुआ तब से आधुनिक राज्य अपने नागरिकों के कल्याण के लिए बहुत सजग हो गये हैं। कल्याणकारी राज्य न केवल सामाजिक या सार्वजनिक सेवाओं की यथेष्ट व्यवस्था करता है अपितु नियम व कानून बनाकर व्यक्तियों और संस्थाओं की गतिविधियों को नियंत्रित भी करता है। आज का लोककल्याणकारी राज्य शिक्षा, स्वास्थ्य, न्यूनतम आय, सामुदायिक आश्रय, सार्वजनिक सुविधाओं के विस्तार, बिजली-पानी, ईंधन, परिवहन, डाक-तार, सड़क, पुल, पुस्तकालय, खेल के मैदान, आपदा में सहायता, बीमारी, बुढ़ापे, अशक्तता में सहायता इत्यादि की व्यवस्था करता है।[4]

इस तरह से देखा जाये तो लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा 20वीं शताब्दी की घटना है लेकिन यदि लोककल्याणकारी राज्य के इन कार्यों के संदर्भ में प्राचीन भारतीय विचारक कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्यक्षेत्र की समीक्षा की जाये तो हम पाते हैं कि भारतीय राजनीतिक चिन्तन के इतिहास में कल्याणकारी राज्य की अवधारणा अत्यन्त प्राचीन है।

कौटिल्य का अर्थशास्त्र भारतीय चिन्तन की नीतिशास्त्र परम्परा का प्रतिनिधि ग्रन्थ है। अर्थशास्त्र राज्य की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक, दोनों प्रकार की समस्याओं से सम्बन्धित है। इसीलिए यह प्रजा को संतुष्ट रखने के लिए कौटिल्य ने लोककल्याणकारी राज्य की धारणा प्रस्तुत की है जो वर्तमान कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के साथ प्रासंगिकता रखती है।[5]

अर्थशास्त्र में राज्य के कार्यक्षेत्र को अत्यन्त विस्तृत माना गया है तथा प्रजा की भौतिक सुरक्षा एवं उसके लौकिक एवं पारलौकिक कल्याण के लिए विभिन्न गतिविधियों को सम्पन्न करने के लिए राज्य की आवश्यक भूमिका को स्वीकार किया गया है।[6]

कौटिल्य ने राज्य की सम्पूर्ण संस्थाओं को मनुष्य के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कल्याण का साधन बना दिया है। कौटिल्य ने जहाँ एक ओर राज्य के अस्तित्व के सैद्धान्तिक पक्ष में यह स्पष्ट किया है कि राज्य जनता के लौकिक और पारलौकिक कल्याण के लिये ही अस्तित्व में है वहीं उसने जनता के कल्याण के लिए राज्य के कार्यों की विस्तृत सूची प्रस्तुत करके राज्य

के लोककल्याणकारी स्वरूप को भली-भाँति स्पष्ट किया है जो आज के कल्याणकारी राज्य से भी बेहतर दिखाई देता है।

कौटिल्य ने सभी प्रकार के आंतरिक एवं बाह्य संकटों से प्रजा की रक्षा को राज्य का प्राथमिक कर्त्तव्य माना है। उनके अनुसार अशान्ति एवं असुरक्षा वाली मत्स्य न्याय की अवस्था से मुक्ति के लिए ही राज्य की उत्पत्ति हुई है।[7]

कौटिल्य ने न केवल बाह्य आक्रमणों, अपराधों एवं समाजकंटकों से प्रजा के जीवन की रक्षा को राज्य का दायित्व माना है अपितु प्रजा की सम्पत्ति एवं सदाचार की रक्षा का भार भी राज्य को सौंपा है। कौटिल्य ने राज्य को धर्म की रक्षा के साथ ही पति-पत्नी, पिता-पुत्र, भाई-बहिन, गुरू-शिष्य इत्यादि के सम्बन्धों की पवित्रता की रक्षा का दायित्व भी सौंपा है।

कौटिल्य ने आठ प्रकार की दैवीय विपत्तियों- आग, बाढ़, महामारी, दुर्भिक्ष, सांप, शर और भूत-प्रेत इत्यादि से जनता की रक्षा करने एवं सहायता के आवश्यक उपाय करने का कार्य राज्य का माना है।

प्रजा-रक्षण के इस कार्य के साथ ही कौटिल्य ने 'प्रजा को न्यूनतम हानि हो' ऐसे प्रयास करने का दायित्व भी राज्य का माना है। इसीलिए राज्य को यथासंभव युद्धों से बचाने के प्रयास पर बल दिया गया है।

कौटिल्य ने दरिद्रों, गर्भवती स्त्रियों, नवजात शिशुओं, अनाथों, वृद्धों इत्यादि को साहायता पहुंचाने का भार राज्य पर डालकर सामाजिक सुरक्षा की विस्तृत व्याख्या की है।

राज्य के लोककल्याणकारी कार्यों की सूची में कौटिल्य ने जनसाधारण के लिए मनोरंजन की व्यवस्था, नाटकों, द्यूत क्रीडा, सार्वजनिक भवनों में शयन और बैठने की व्यवस्था के साथ-साथ जनता के नैतिक कल्याण के लिए मद्य-निषेध तथा अन्य अनैतिक कार्यों के नियंत्रण का भी प्रावधान किया है।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राज्य के विस्तृत कार्यों के लिए अनेक विभागों के गठन का प्रावधान किया है जिससे वह जन सुरक्षा एवं जन कल्याण के कार्यों को नियमित एवं सुचारू रूप से सम्पन्न कर सके।

कौटिल्य ने जनता के आवागमन के लिए सड़कों और जलमार्गों के निर्माण, नदियों पर पुल के निर्माण की व्यवस्था की है। स्वास्थ्य की रक्षा के लिए चिकित्सालयों की सफाई एवं संचालन की व्यवस्था, नैतिक एवं बौद्धिक कार्यों में लगे लोगों, तथा पीड़ित एवं वंचितों के जीवन निर्वाह की व्यवस्था. पर्यावरण की रक्षा के लिए वन एवं ज्यानों क विकास, विस्तार की व्यवस्था, जलाशयों की स्वच्छता की व्यवस्था, कृषि उपयोगी भूमि के विस्तार, समुचित सिंचाई इत्यादि की व्यवस्था करके कौटिल्य का लोक कल्याणकारी राज्य मनुष्य के आध्यात्मिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक कल्याण का साधन प्रतीत होता है।

इस लोक कल्याणकारी राज्य की तुलना वर्तमान वेलफेयर स्टेट से की जाये तो यह उससे बेहतर दिखाई देता है साथ ही यह संकेत देता है कि वेलफेयर स्टेट का सिद्धान्त प्राचीन भारतीय दर्शन में बहुत पहले ही प्रतिपादित हो चुका था।

वितरणात्मक न्याय के कौटिल्य के इस सूत्र में राज्य के लोक कल्याणकारी स्वरूप का सुन्दर चित्रण दिखाई देता है।

अलब्धलाभायः लब्धपरिरक्षिणो, रक्षितविधिनी वृद्धस्यतीयेषु प्रतिपादिनी च।।

संदर्भ सूची –

1. ओ.पी. गावा – राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, पृष्ट संख्या 435-450
2. ओ.पी. गावा – राजनीति सिद्धान्त की रूपरेखा, पृष्ठ 448
3. विल किमलिका – समकालीन राजनीति दर्शन
4. डैविड मार्श – द वैलफेयर स्टेट
5. बी.एल. सालेटोर – एन्सीएन्ट इण्डियन पॉलिटिकल थॉट एण्ड इन्स्टीट्यूशन्स, एशिया पब्लिकेशन हाऊस, मुम्बई
6. प्रमुख भारतीय राजनीतिक चिन्तक – प्रो. मधुकर श्याम चतुर्वेदी, कॉलेज बुक हाऊस, 2006
7. कौटिल्य अर्थशास्त्र, प्रथम अधिकरण, तेरहंवा अध्याय, 6-7
8. अर्थशास्त्र द्वितीय अधिकरण, प्रथम अध्याय 9, 10, 11, 22, 24, 34, 35
9. चाणक्य प्रणीत सूत्र-4

सहायक आचार्य,
आधुनिक विभाग,
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
जयपुर परिसर, जयपुरम

वर्तमान मे चरित्रमाध्यम से शिक्षा प्रदान

डॉ. हरिओम शर्मा

प्राचीन शिक्षा व्यवस्था में गुरु-शिष्यों की प्रगाढ़ता, पूर्ण समर्पणता, अपने-अपने कर्त्तव्यों के प्रति सजगता में मूलभावना थी कि प्रत्येक व्यक्ति का विकास चतुर्दिक हो, साथ ही किसी भी क्षेत्र में वह अपने आपको असमर्थ न पाए। अतः गुरु कुलीय व्यवस्था में अपने आपको पूर्ण समर्पित कर देता था। जिससे उसका चारित्रिक विकास सुसंगठित होता था। इसके पीछे गुरु-शिष्य की दिनचर्या का महत्त्वपूर्ण योगदान था। यह थी वैदिक शिक्षा की मुख्य विशेषता, इसके आगे बौद्ध शिक्षा व मुस्लिमकालीन शिक्षा में विभिन्न दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। आधुनिक शिक्षा में तो और भी पृथकता दिखलाई देती है। लेकिन किसी भी शिक्षा प्रणाली की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि - क्या वह व्यक्ति के नैतिक तथा आध्यात्मिक अभ्युत्थान के लिए उसकी शक्तिओं का पूर्ण विकास करती है, अथवा नहीं ? इस दृष्टिकोण से यह ऐतिहासिक सत्यता दिखलाई देती है कि मध्यकालीन शिक्षा - प्रणाली, व्यक्ति के नेतृत्व के गुणों का विकास करने में असमर्थ रही और जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में असाधारण व्यक्तिओं की पूर्ति नहीं कर सकी।[1]

यदि मध्यकालीन शिक्षा प्रणाली में प्रखर व्यक्तित्व का निर्माण करने की क्षमता होती, तो सम्भवत: भारत का मानचित्र लालरंग से न रंगा गया होता। इसी का प्रभाव आधुनिक शिक्षा प्रणाली में दिखलायी देता है। जिसमें शिक्षा के बीजारोपण में विदेशी व्यापारिक कम्पनियों का बोलबाला रहा है। जिनमें पुर्तगाली, फांसीसी, डच, डेन आदि मिशनरियों का प्रमुख स्थान है और डेन मिशनरियों को भारत में आधुनिक शिक्षा का पथ-प्रदर्शक माना जाता है। क्योंकि भवनों के आतंको से हिन्दू-शिक्षा व्यवस्था की नींव डगमगा चुकी थी। इसी दिशा में इन मिशनरियों ने निःशुल्क शिक्षा की योजना बनाकर और भारी संख्या में व्यक्तिओं को ज्ञान का रसास्वादन कराकर पथ-प्रदर्शक का कार्य किया, जिसमें जीगेनबल्ग (Ziegenbalg) के जीवन काल में ही 1716 में ट्रानक्यूबर में अध्यापकों की दीक्षा के लिए, एक प्रशिक्षण महाविद्यालय खोल दिया था। जहाँ से प्रशिक्षित अध्यापकों को प्राथमिक स्कूलों में नियुक्त कर दिया जाता था।[2]

इस प्रकार यह प्राचीन शिक्षा-व्यवस्था से लेकर आधुनिक शिक्षा-व्यवस्था का बीजारोपण स्पष्ट होता है। लेकिन आज चरित्र माध्यम से शिक्षा प्रदान करना एकाकी रूप में रह गया है। क्योंकि आज धार्मिक और नैतिक शिक्षा को संकुचित कर दिया, जिसमें धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त को समाहित कर लिया गया है। इसी कारण आध्यात्मिक अतृप्ति से चारों तरफ अशांति ही दिखलायी देती है। किसी भी धार्मिक दर्शन में चार बातों की प्रमुखता होती है–

(1) तत्त्वज्ञान (मेटाफिजिक्स), (2) ज्ञान शास्त्र (इपिस्टेमोलोजी), (3) नीतिशास्त्र (इथिक्स)

तथा (4) कर्मकाण्ड (रिचुअल)। यहाँ नीति-शास्त्र ही व्यवहार का मूल्यांकन करने में अपनी महती भूमिका निभाता है। जिसमें व्यक्ति के सद् और असद् में अन्तर करके विवेक सम्मत लेने तथा सदाचार का प्रशिक्षण दिया जाता है। अतः यह नीतिशास्त्र ही नैतिकता का जनक है। जिसमें धर्म पूर्व आवश्यकता है। यदि धर्म कारण है तो नैतिकता परिणाम, जिसकी पूर्णता का समागम भारतीय धर्मग्रन्थों में पूर्णतः मिलता है। जैसे-श्रीमद्भगवद्गीता सम्पूर्ण विश्व के लिए अनूठा ग्रन्थ है। इसी तरह अरस्तू ने ''निकोमेकियन एथिक्स'' में पश्चिमी नीतिशास्त्र को विवेचित किया है। अतः जो सच्चे अर्थों में धार्मिक है, नैतिक आचरण युक्त अवश्य होगा और दुराचारी विद्वान् से सदाचारी मूढ़ उत्तम माना गया है। लेकिन आज दुराचारी विद्वानों की अधिकता दिखलायी देती है, जो समयपरस्त हैं। अपने आपको ऐसी प्रवृत्तियों में सलंग्न कर देते हैं। जो सामाजिक बन्धनों की डोर को भी अनायास ही तोड़ डालती है। स्वार्थवश अपने अस्तित्व को विस्मृत करते हुए, उन असामाजिक तत्त्वों को अंजाम देते हैं। जबकि छात्र का चारित्रिक विकास शिक्षक के चरित्र का अनुगामी होता है। वह गुरु को जिस परिस्थिति-काल देश में अनुप्राणित मानता है। उसी परिस्थिति में वह भी अनुरंजित हो जाता है। लेकिन प्राचीन काल से ही चरित्र निर्माण शिक्षा का एक आवश्यक उद्धेश्य रहा है। जैसेकि राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी भी शिक्षा का चरम-लक्ष्य चरित्र निर्माण मानते थे। लेकिन यह धार्मिक व नैतिक शिक्षा के बिना अधूरा है। बालक पर बड़ों के आचरणों का प्रभाव पड़ता है। ब्रिट्रिशकाल में तो बच्चों के आदर्श राजनीतिक आन्दोलनकारी होते थे। लेकिन आज आदर्श व्यक्ति हैं, राजनेता या सिने जगत की हस्तियाँ, ये दोनों ही अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। विद्यालय में अध्यापक और परिवार में माता-पिता अपने विशेष दायित्वों से विमोहित होते जा रहे हैं। जिससे आज का युवा दिशाविहिन हो गया है। जैसा कि कोठारी शिक्षा आयोग ने भी कहा है कि युवा पीढ़ी चारित्रिक संकट से गुजर रही है। जिसमें धर्म ही चरित्र निर्माण में सहायक हो सकता है। मन्दिर-मस्जिद, गुरूद्वारे और गिरजाधर सभी राजनीति प्रेरित हैं और हमारे राजनेता इनका दुरूपयोग कर रहे हैं। जिससे बेईमानी, व्यक्तिगत, स्वार्थ, सामाजिक लाभ से महत्त्वपूर्ण अधिकारों की माँग, कर्त्तव्यों की उपेक्षा, समाज विरोधी गतिविधियों में वृद्धि, आदर्शहीन व सिद्धान्तहीन कृत्यों में वृद्धि तथा निःस्वार्थ एवं निष्काम समाज सेवा का लोप तथा रिश्वत व कालाबाजारी का बोलवाला बढ़ता ही जा रहा है। यहाँ तक कि हाल ही समाचार एजेन्सियों के माध्यम से पता चला है कि जो व्यक्ति उच्चपदासीन रहकर, अपने कर्त्तव्य के प्रति वफादारी से युक्त होना चाहिए, वहीं आज विदेशी (पाकिस्तान) मुल्कादि के लिए जासूसी में लिप्त है। जिससे यह बात सामने आती है कि हमारे देश में नागरिकों का चारित्रिक पतन किस हद तक जा सकता है। जिसकी कल्पना करना ही असम्भव है। सुप्रसिद्ध अंग्रेज लेख स्माइल्स के अनसार चरित्र मानवजीवन का मुकुट मणि है। मनु के शब्दों में व्यक्ति का प्रथमधर्म सदाचार है। चरित्रवान् मनुष्य का विशेष महत्त्व बतलाया गया है। अतः मनुष्य को अपने चरित्र की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए।''[3] महाभारत में भी बताया गया है कि मनुष्य को आचार (चरित्र) की यत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए, धन तो आता जाता रहता है। जिसमें वित्त से यदि

व्यक्ति दुर्बल है तो वह क्षीण नहीं कहा जा सकता, किन्तु वृत्त (चरित्र) से नष्ट होने वाला तो सर्वथा नष्ट हो जाता है।[4] इसी में आगे वशिष्ठ धर्म सूत्र में बताया गया है कि ''चरित्रहीन अथवा आधारहीन व्यक्ति की इहलौकिक और पारलौकिक स्थिति कैसी होती है? जैसी कि षड् अंगों सहित वेद भी आचारहीन व्यक्ति को पवित्र नहीं करते, और वे मृत्युकाल में उन्हें इसी प्रकार छोड देते है, जैसे पंख निकल आने पर पक्षी घोंसला छोड़ देते हैं।[5] अतः चरित्र वह रत्न है, जो समाज में व्यक्ति को प्रतिष्ठित करता है। अनेक उदाहरणों के माध्यम से चरित्र निर्माण की आवश्यकता बलवती होती है। इसीमें आचार्य रेवानन्द जी गौड़ कल्याण में चरित्र निर्माण को मानव जीवन का आवश्यक अंग मानते हुए स्पष्ट करते हैं कि- आज स्थिति भयावह है। इस जगत् के शिक्षक-शिक्षार्थी और शिक्षा ये तीनो अंग आत्मस्वरूप से विमुख हैं। जिसमें धर्मनिरपेक्ष प्रशासन का अनर्थीकरण सिद्ध होता है। जिसमें लॉर्ड मैकाले की दुरभिसन्धि सफल हुई, इसी के फलतः जो शिक्षा अमृतलता थी, वह विषवल्लरी बन गयी। सम्पूर्ण राष्ट्र इस विष से आहत है। जिसमें विद्यार्थी वर्ग पर सबसे अधिक कुप्रभाव है। इसमें वह वेशभूषा, आचार-विचार से कल का नास्तिक डॉक्टर, इंजीनियर और अध्यापक बनकर वातावरण को दूषित करता रहेगा।''[6] माँ सरस्वती के पावन मन्दिर का पुजारी जुआरी, विद्यालय भ्रष्ट राजनीति के अखाडे और छात्रावास असामाजिक तत्त्वों के अड्डे बने हैं। वस्तुतः न माँ संयम आचरण का है और न विद्या की कोई बात ही। राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री तक ने शिक्षा में आमूलचूल परिवर्तन की बात बतायी, सभी ने एक मत से शिक्षा में धर्मशिक्षा व नैतिकता के समावेश की महत्ता को स्वीकार किया, लेकिन विचार, विचारों के रूप में ही रह गये। यहाँ स्थिति वैसी हो गयी, जैसे कि फूल हैं, पर महक नहीं, इन्सान हैं पर इन्सानियत नहीं, शिक्षा है पर सदाचार नहीं। अतः संख्यात्मक दृष्टि से शिक्षा, शिक्षालय, शिक्षार्थी और शिक्षकों की भरमार है। पर गुणात्मक दृष्टि से शून्य ही दिखलायी देती है। विद्यार्थी सृष्टि का शृंगार है। उसमें चरित्र निर्माण हो, ऐसी नैतिक शिक्षा नितान्त आवश्यक है। धर्म को नैतिकता का जनक माना गया है, जिसमें धर्म समन्वित शिक्षा ही नैतिक शिक्षा है। सत्-असत् सूचक शिक्षा विद्यार्थी जीवन में राडार यन्त्र है। सत् शिक्षा ही वह दिव्यौषधि है, जिसके सेवन से विद्यार्थी सन्मार्ग पर चलता है। अतः अध्यापक को चरित्रमाध्यम से सत् शिक्षा को ही बल प्रदान करना चाहिए, जिसमें धार्मिक शिक्षा-तन्त्र को मजबूत बनाना चाहिए, ऐसा करने पर विद्यार्थी प्रगतिशील और उदीयमान प्रकाश की भांति स्वतः ही चमकने लगेगा। क्योंकि विद्यार्थी ही समाज का श्रेष्ठ अंग है। उसका अन्तःकरण स्वच्छदर्पण है। उस पर समाज के दुश्चरित्रों का विधानसभा-लोकसभा के अभद्र क्रिया-कलापों का, अश्लील चलचित्रों का, चमकीली चुस्त वेश-भूषा का, 'सेक्स पुस्तकों' का और छात्रावास की कुसंग व्याधि का प्रभाव स्वतः ही हो जाता है। जिसमें निन्दनीय नेता, व्यसनी आचार्य, अन्ध, गूंगा, बहरा प्रशासन भी उसके अधः पतन का कारण सिद्ध होता है। अतः विद्यालयों में चरित्र निर्माण के माध्यम से शिक्षा प्रदान करते हुए इन बाधक तत्त्वों का मिटाना अत्यावश्यक है। अन्यथा यह भूल जीवन भर के लिए, अभिशाप सिद्ध हो जायेगी। इस सुधार के लिए माता-पिता, गुरू-परिवार, मित्र-मण्डल और प्रशासन तंत्र की

अति स्वच्छता आवश्यक है। एक विद्यार्थी का सुधार केवल इकाई का सुधार नहीं, वह सैंकडों व्यक्तिओं का सुधार है। इस चरित्र माध्यम से शिक्षा प्रदान करने में दस बातें सम्मिलित होती हैं–

1. सुसंस्कृत बालक को ही जीवन में प्रकाश और शक्ति दोनों प्राप्त होते हैं।
2. उनकी प्रारम्भिक शिक्षा योग्य सदाचारी आचार्य द्वारा सम्पन्न हों।
3. विद्यालयों में दार्शनिक महात्माओं को आमन्त्रित कर प्रवचन की व्यवस्था हो।
4. अश्लील साहित्य, चलचित्र, रोमांटिक, जासूसी पुस्तकों पर प्रतिबंध हो।
5. पूर्णमनोयोग के साथ अध्ययन।
6. गुरूजनों का अभिवादन।
7. नित्य का काम नित्य करना।
8. सादा जीवन।
9. ब्रह्मचर्य, व्रत-पालन तथा
10. मादक पदार्थों का त्याग भी परमावश्यक है।[7]

इन उपरोक्त बातों का गुरू, माता-पिता, समाज व प्रशासन अपने चरित्र में समाहित करते हुए, सृष्टि के श्रृंगार बालक को शिक्षा प्रदान करे। क्योंकि आज की शिक्षा पढ़े-लिखे युवकों को तो अत्यधिक संख्या में प्रदान कर रही है। लेकिन चरित्रवानों को नहीं, अतः इस परिप्रेक्ष्य में और भी अधिक चरित्रप्रधान शिक्षा की आवश्यकता बलवली होती है। ऐसा नहीं है कि आज चरित्रवान् लोग नहीं है, परन्तु उनका प्रतिशत घटता जा रहा है। धार्मिक व नैतिक शिक्षा चरित्र-निर्माण में महती भूमिका निभाती है।

अतः चरित्रमाध्यम से शिक्षा प्रदान करने में इस बात की महती आवश्यकता है कि बालकों को धार्मिक व नैतिक शिक्षा से सरोकार किया जावें, इसके लिए सर्वप्रमुख शिक्षक अपने नैतिक आचरणों में उन्हीं प्राचीन (परम्परागत मूल्यों) मूल्यों को पूर्णतः आश्रय प्रदान करेगा, तभी छात्रों का शिक्षा प्रदान की जायेगी।

सन्दर्भ–

1. It would be histoically true to assert that the medieval system of education failed to impart the qualities of leadership and thus ensure the supply of out standing personalities in the different walks of life. - ibid, P.97
2. N.NLaw : Promotion of learning by early european settlers, P. 68
3. आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च; तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्यादात्मवान्द्विजः।। मनु. 1/108
4. वृत्तं यत्नेन संरक्षेद् वित्तमेति च याति च। अक्षीणो वित्ततः क्षीणो वृत्तस्तु दृतो दृतः।। (महा. उद्योग 36/60)
5. आचारहीनं न पुनन्ति वेदा, यद्यप्य धीताः सह षडभिरगैः। छन्दांस्येन मृत्युकाले त्यज्यन्ति, नीडं शकुता इव जात पक्षाः।।
6. आचार्य, रेवानन्द : कल्याण (चरित्र निर्माणांक) पृ. 17 सन् 1983 वशिष्ठ धर्मसूत्र - पृ. सं. 613
7. वशिष्ठ, के.के., विद्यासंगठन एवं भारतीयशिक्षा की समस्याएँ : पृ. 190-191, सन् 1983 (धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा)

सहायकाचार्य, शिक्षाशास्त्रविभाग,

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, जयपुर

अभिनवगुप्तपादस्याभिनवोक्तयः

डॉ. पवनव्यासः

विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्यात्मतत्त्वमुद्घोषयतः आनन्दवर्धनप्रणीतकाव्यालोकस्य सद्भावेऽपि लोचनं विना पदार्थप्रतिपत्तये प्रवृत्तानां प्रमातॄणां प्रवृत्तिसाफल्यमाकाशकुसुमचयनवत् सुदुर्लभं विद्यते। यथाह स्वयं लोचनकारः

किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयापि हि।
तेनाभिनवगुप्तोऽत्र लोचनोन्मीलनं व्यधात्।।[1]

यथा लोचनं विना लोकः चन्द्रिकया अपि नोद्भास्यते तथैव लोचनटीकां विना आलोकः (काव्यालोकः ध्वन्यालोको वा) चन्द्रिकया टीकया अपि नावबुद्ध्यते। अत एव अभिनवगुप्तपादाचार्यः काव्यालोके विद्यमानं यथार्थमवबोधनाय लोचनोन्मीलनं व्यधादिति स यथार्थमेवाह न गर्वमिति विदितमेव काव्यतत्त्वविदाम्।

संस्कृतसाहित्यजगति श्रीमदभिनवगुप्तपादाचार्यस्य 'महामाहेश्वर' इत्यभिख्यया दार्शनिकत्वेन, लोचनकार इत्यभिख्यया आलङ्कारिकत्वेन सरसकाव्यप्रणयनात् कवित्वेन चापि प्रसिद्धिः विद्यते। डॉ. कान्तिचन्द्रपाण्डेयविरचिते 'अभिनवगुप्त' इत्याख्ये ग्रन्थे अभिनवगुप्तपादेन विरचितानां ग्रन्थानां सङ्ख्या चतुष्चत्वारिंशत् वर्तते। सर्वशास्त्रविशारदेन गुप्तपादेन प्रत्यभिज्ञाशैवदर्शनमवलम्ब्य तन्त्रालोक-तन्त्रसारप्रभृतयः ग्रन्थाः प्रणीताः। नाट्यशास्त्रे तस्य 'अभिनवभारती' टीका विद्वज्जगति सुप्रसिद्धा। अलङ्कारशास्त्रे रससिद्धान्तसन्दर्भे तस्य 'अभिव्यक्तिवादः' सुप्रतिष्ठितः। अलङ्कारशास्त्रपरम्परायामानन्दवर्धनप्रणीते काव्यालोके श्रीमदभिनवगुप्तकलितायाः लोचनटीकायाः अनन्यसाधारणं महत्त्वं विद्यते। अस्मिन्नालेखे लोचनटीकायाः कांश्चन अभिनवोक्तीः सङ्गृह्य यथामति समीक्षणं विहितमस्ति।

श्रीमदभिनवगुप्तोन्मीलिते सहृदयालोकलोचने पदे पदे काश्चन अभिनवोक्तयः विराजन्ते यासामनुशीलनेन न केवलं टीकाकारस्य विविधशास्त्रवैदग्ध्यमुद्भाव्यते अपितु तस्य सहजलोकव्यवहारपटुत्वमपि विज्ञायते। काभिश्चिदुक्तिभिः लोचनकारस्य व्यक्तित्वस्य विविधाः पक्षाः अपि प्रकाशिताः भवन्ति। स्थालीपुलाकन्यायेन केचन सन्दर्भाः अत्र प्रस्तूयन्ते।

अभिनवगुप्तपादस्य विनोदशीलता–

ध्वन्यालोके ग्रन्थादौ ध्वन्यभाववादिनां विकल्पान् सम्भाव्य दूषयता श्रीमता आनन्दवर्धनाचार्येण यत्र पूर्वपक्षस्य द्वितीयः विकल्पः-प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वमेव न सम्भवतीति प्रस्तुतः तत्र पूर्वपक्षपक्षतः पङ्क्तिरियं पठिता– ''न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते''। अस्याः पङ्क्तेराशयं प्रकाशयता टीकाकारेण श्रीमता अभिनवगुप्तपादाचार्येण विनोदशैल्या यदभिनवखड्गलक्षणं प्रस्तुतं तत्पठित्वा कस्य रसिकस्यानने अनायासमेव हासः न सञ्जायेत? तद्यथा–

यथा हि खड्गलक्षणं करोमीत्युक्त्वा आतानवितानात्मा प्रारिप्सितः सकलदेहाच्छादकः

सुकुमारश्चित्रतन्तुविरचितः संवर्तनविवर्तनसहिष्णुरच्छेदकः सुच्छेद्य उत्कृष्टः खड्ग इति ब्रुवाणः, परैः पटः खल्वेवंविधो भवति न खड्ग इत्युक्ततया पर्युनुयुज्यमान एवं ब्रूयात्– ईदृश एव खड्गो ममाभिमत इति तादृगेवैतत्।[2]

प्रसिद्धं हि लक्ष्यं भवति न कल्पितमिति भावं प्रकाशयितुं यदत्र टीकाकारेणाभिनवगुप्तेनाभिनव विनोदशैल्या खड्गलक्षणमुपस्थापितं तत्सकलविद्वन्मनोग्राहितामवश्यमवलम्बते। एवमेव द्वितीये उद्योते अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य उदाहरणरूपेण यत्र ध्वनिकृता वाल्मीकिरामायणस्य पद्यमेतदृदाहृतम्–

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते।।[3]

अत्र पद्यस्यास्य भट्टनायकसम्मतमन्वयनिराकरणप्रसङ्गे लोचनकारेण परिहासपूर्वकमाक्षेपः कृतः– **''जैमिनीयसूत्रे ह्येवं योज्यते न काव्येऽपीत्यलम्''।**[4]

एवमेव प्रथमे उद्योते अन्विताभिधानवादिनां 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थ' इत्यत्र शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घतरं मन्वानां मीमांसकानां पक्षखण्डनावसरे लोचनकारस्य व्यङ्ग्यपरिहासात्मिका शैली दर्शनीया–

''निमित्तेषु सङ्केतः, नैमित्तिकस्त्वसावर्थस्सङ्केतानपेक्ष एवेति चेत्–पश्य श्रोत्रियस्योक्तिकौशलम्। यो ह्यसौ पर्यन्तकक्षाभाग्यर्थः प्रथमं प्रतीतिपथमवतीर्णः, तस्य पश्चात्तनाः पदार्थावगमाः निमित्तभावं गच्छन्तीति नूनं मीमांसकस्य प्रपौत्रं प्रति नैमित्तिकत्वमभिमतम्।[5]''

काव्यालोकलोचनटीकायां टीकाकारेण लोकोक्तीनां बहुत्र (विशेषतः पूर्वपक्षखण्डनप्रसङ्गेषु) सम्प्रयोगः प्रदर्शितः। तद्यथा दीपकालङ्कारस्य सर्वत्र उपमान्वये नास्तीति विवरणकारस्य मतस्य निस्सारतां दर्शयितुं तेन भणिता लोकोक्तिः–

''तस्मात् क्रमिकत्वं समं वा प्राकरणिकत्वमुपमां निरुणद्धीति कोऽयं त्रास इत्यलं गर्दभीदोहानुवर्तनेन।''[6]

लोके सर्वत्र गर्दभीदोहनं व्यर्थमिति प्रसिद्धं का कथा पुनः तस्य अनुवर्तनस्य। एवं पूर्वपक्षखण्डनप्रसङ्गेषु अभिनवगुप्तपादस्य व्यङ्ग्यपरिहास-समन्विता विनोदप्रियता लोकोक्तिप्रयोगनिपुणता चावलोक्यते।

लोचने लौकिकन्यायाः–

अभिनवगुप्तपादस्य काव्यालोकलोचनटीकायां बहुत्र लौकिकन्यायाः सम्प्रयुक्ताः सन्ति। सर्वेषामपि भारतीयशास्त्राणां लोकेन सममविनाभावसम्बन्धो विद्यते। यथा शास्त्रेषु लोकः समन्वितः तथैव लोकेऽपि शास्त्रस्य सङ्गतिः भारतवर्षस्यान्यतमं वैशिष्ट्यमस्ति। केचन लोकेषु प्रयुक्ताः लौकिकन्यायाः शास्त्रेषु प्रयुज्यन्ते, केचन शास्त्रीयन्यायाः लोकेषु प्रयुक्ताः भवन्ति। एवं लोकशास्त्रयोः परस्परं विनिमयः संस्कृतभारत्याः सततमभिवृद्धिं करोतीति नाविदितं धीमताम्। लोकस्य शास्त्रेण सह सम्बन्धनिर्माणे समन्वितिकरणे च टीकाकाराणां महत्त्वपूर्णं योगदानं वर्तते। अभिनवगुप्तपादाचार्याणां लोचनटीकायामपि गहनशास्त्रीयविषयाणां प्रतिपत्तये बहुत्र लौकिकन्यायाः प्रयुक्ताः दृश्यन्ते। तद्यथा काकतालीयन्यायः[7], लोष्टप्रस्तारन्यायः,[8] काकदन्तपरीक्षान्यायः[9], राजनिकटव्यवस्थिताततायिद्वयन्यायः,[10] पठितमनुपठतीतिन्यायः (गजनिमीलिका)[11] गड्डुरिकाप्रवाहन्यायः इत्येवमादयः बहवः लौकिकन्यायाः काव्यालोकतत्त्वं प्रकाशयितुं सम्प्रयुक्ताः सन्ति। आलेखविस्तरभयाद् यद्यप्यत्र सर्वेषां लौकिकन्यायानां वर्णनं न विधीयते तथापि श्रीमदभिनवगुप्तपादस्याभिनवप्रतिभानदर्शनाय स्थालीपुलाकन्यायेय द्वित्राः अभिनवलोकोक्तयः प्रस्तूयन्ते। तद्यथा–

स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत्– मूलस्य रक्षणाय यः उपायः आचर्यते तेनैव यदि मूलस्योच्छेदो भवति तर्हि एषः न्यायः प्रवर्तते। भारतस्य विविधलोकभाषास्वपि इयं लोकोक्तिः एतादृशेषु सन्दर्भेषु प्रयुज्यते। रसादि– 'तात्पर्यपर्यालोचनया गुणीभूतव्यङ्ग्यचोऽपि काव्याप्रकारो ध्वनिरूपतां धत्ते' इत्यानन्दवर्धनोक्तविषयस्य व्याख्यानप्रसङ्गे चन्द्रिकाकारस्य मतं खण्डयितुमभिनवगुप्तपादेन इयमुक्तिः प्रयुक्ता– ''यस्तु त्रिष्वपि श्लोकेषु प्रतीयमानस्यैव रसाङ्गत्वं व्याचष्टे स्म। स देवं विक्रीय तद्यात्रोत्सवमकार्षीत्।[12]

पथ्यानुपयोगो हि न तथा व्याधिं जनयति यद्वदपथ्योपयोगः।[13]

केनापि कारणेन यदि काश्चिज्जनः पथ्यस्योपयोगं न कर्तुं शक्नोति तर्हि तेन तथा व्याधिः नोत्पद्यते यथा अपथ्यस्य उपयोगेन। पथ्यानुपयोगस्य अपेक्षया अपथ्योपयोगः अधिकं व्याधिं जनयतीति तात्पर्यम्। यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानां विरोधिनां निरूपणप्रसङ्गे इयमुक्तिः लोचनकारेण पठिता अतीव शिक्षाप्रदा वर्तते।

''न हि वीतरागो विपर्यस्तान् भावान् पश्यति। न ह्यस्य वीणाक्वणितं काकरटितकल्पं प्रतिभाति''[14] उक्तिरियं लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः...इति वृत्तौ उदाहृतस्य पद्यस्य व्याख्यानप्रसङ्गे लोचनकारेण पठिता लोकेऽपि सङ्गच्छते।

एवं काव्यालोकलोचनटीकायां श्रीमदभिनवगुप्तपादस्याभिनवप्रतिभानसमन्विताः उक्तयः न केवलं काव्यशास्त्रीयविषयाणां सम्यग्ज्ञानाय उपयोगिन्यः सन्ति अपितु विविधलौकिकसन्दर्भेषु मानवस्य समुचितं मार्गदर्शनमपि कुर्वन्ति।

सन्दर्भाः–

1. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, प्रथमे उद्योते, 19, पृ.क्र.-171
2. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकेलोचनटीकायाम्, प्रथमे उद्योते, पृ.क्र. 25।
3. वाल्मीकेः, श्रीमद्रामायणे, अरण्यकाण्डे, 16/13, ध्वन्यालोके द्वितीये उद्योते वृत्तौ उद्धृतम्, पृ.सं. 180।
4. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, द्वितीये उद्योते, पृ.सं. 181
5. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, प्रथमे उद्योते, पृ.सं. 63
6. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, प्रथमे उद्योते, पृ.सं. 124
7. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, तृतीये उद्योते, पृ.सं. 386
8. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, तृतीये उद्योते, पृ.सं. 396
9. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, तृतीये उद्योते, पृ.सं. 400
10. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, तृतीये उद्योते, पृ.सं. 408
11. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, पृ.सं. 451, प्रथमे उद्योते च, पृ.सं. 103
12. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, पृ.सं. 451, तृतीये उद्योते च, पृ.सं. 515
13. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, पृ.सं. 451, प्रथमे उद्योते च, पृ.सं. 396
14. अभिनवगुप्तस्य, ध्वन्यालोकलोचनटीकायाम्, पृ.सं. 451, प्रथमे उद्योते च, पृ.सं. 519

सहायकाचार्यः, सर्वदर्शनविभागः,
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

मीमांसा सम्मत मोक्ष का स्वरूप तथा आचार्य शंकर द्वारा उसका खण्डन

डॉ. रानी दाधीच

मीमांसकों ने मोक्ष के सन्दर्भ में बहुत ही सुन्दर विवचेनापूर्ण विचार किया है। वे वेदान्तियों अथवा अन्य दर्शनकारों के स्वर में स्वर न मिलाकर अपना स्वतन्त्र मत देते हुए कहते हैं- प्रपञ्चसम्बन्धविलयो मोक्षः। इस जगत् के साथ आत्मा के सम्बन्ध के विनाश का नाम मोक्ष है। प्रपञ्च के तीन बन्धनों ने आत्मा को जगत् कारागार में डाल रखा है।

आत्मा शरीरावच्छिन्न बनकर इन्द्रियों के साहाय्य से बाह्य विषयों का अनुभव करता है। अतः इन बन्धनों ने संसारशृंखला में जीव को जकड़ रखा है - (1) भोगायतन शरीर (2) भोगसाधन इन्द्रिय एवं (3) भोगविषय पदार्थ।

इन तीन प्रकार के बन्धनों के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहते हैं। आत्यन्तिक का अभिप्राय यह है कि पूर्वोत्पन्न शरीर, इन्द्रिय और विषयों का नाश हो जाता है और तदुत्पादक धर्माधर्मादि कारणों के न रहने से नवीन शरीर, इन्द्रिय और विषयों की उत्पत्ति नहीं होती। धर्माधर्म का उच्छेद उत्पन्न हुए धर्मों के फलोपभोग से और नित्य नैमित्तिक कर्मों के अनुष्ठान से होता है।

मीमांसकों के मोक्ष की निन्दा करते हुए व उनके मत पर आक्षेप लगाते हुए कुछ लोग कहते हैं कि मीमांसकों के मत में मोक्ष है ही नहीं,वे तो स्वर्ग को ही मोक्ष कहते हैं। परन्तु यह कथन अपनी अल्पज्ञता का प्रकाशन मात्र है।

मीमांसक आचार्य श्री नारायण भट्ट एवं नारायण पण्डित ने अपने मीमांसक ग्रन्थ रत्न मानमेयोदय में मोक्ष के स्वरूप की स्थापना करते हुए अन्य दर्शनों के मोक्ष का खण्डन किया है। यथा -
चार्वाकगण जो यह कहते हैं कि लौकिक सुख, स्वर्ग, दुःख, नरक तथा शरीर-पात मोक्ष है। वह देहादि से भिन्न आत्मा के सिद्ध कर देने पर अपने आप निरस्त हो जाता है।

बौद्ध जो विज्ञान के स्वरूपेण अवस्थान को मोक्ष मानते हैं उसका भी खण्डन करते हुए मीमांसकाचार्यों ने कहा है कि क्षण-क्षण में निरन्तर उत्पत्ति-विनाश से ग्रस्त किसी भी ज्ञानक्षण को मोक्षरूप फल का अनुभव नहीं हो सकता, अननुभूत वस्तु में पुरुष की अभिलाषा न होने के कारण उक्त मोक्ष में पुरुषार्थता ही उपपन्न नहीं होती।

तार्किकगण (नैयायिक) कहते हैं कि इक्कीस दुःखों का उच्छेद ही मोक्ष पदार्थ है। तार्किकों के इस मोक्ष में दुःख के साथ सुख का भी विनाश मान लिया गया है, असुखस्वरूप मोक्ष में भी पुरुषार्थत्व नहीं बनता, अतः यह भी उपेक्षणीय है।

इस प्रकार मीमांसकों ने तार्किकाभिमत मोक्ष का भी यह कहकर खण्डन कर दिया है कि स्वर्ग के समान अनुपम सुख-सम्पत्ति को ठुकराकर मोक्ष की लालसा महापुरुषों में होती है, वह मोक्ष में केवल दुःखाभाव के कारण नहीं हो सकती, मोक्ष में सुख या सुखरूपता मानना परम आवश्यक है।

प्रभाकर गुरु के अनुसार आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो निःशेषधर्माधर्मपरिक्षयनिबन्धनो मोक्षः मोक्ष का स्वरूप है किन्तु प्रभाकर सम्मत इस मोक्ष में भी सुख का विलोप हो जाने के कारण अपुरुषार्थता ही पर्यवसित होती है। जैनाचार्यों ने जो सतत ऊर्ध्वगति को मोक्ष कहा है- तदनन्तरमूर्ध्वि गच्छन्त्यालोकान्तात्'' उसमें परम पुरुषार्थत्व सम्भव नहीं है।

सांख्याचार्यों का जो मत है कि प्रकृति और पुरुष का विवेकज्ञान हो जाने पर आत्मा का स्वरूपावस्थान ही मोक्ष तत्त्व है- तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्। इस मोक्ष तत्त्व में भी आनन्द का अभाव है, अतः पुरुषार्थता असिद्ध है।

आचार्य शङ्कर का जो सिद्धान्त है कि प्रपञ्च का विलय ही मोक्ष तत्त्व है। प्रपञ्च-विलय आत्मस्वरूप और आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतः पुरुषार्थता की उपपत्ति हो जाती है। वह शाङ्कर सिद्धान्त भी संगत नहीं, क्योंकि प्रपञ्च का अत्यन्त विलय कभी सम्भव नहीं। प्रपञ्च को मायामय मानकर ज्ञान के द्वारा जो प्रपञ्च के विलय का उपपादन किया जाता है, वह संगत नहीं, क्योंकि प्रपञ्च मायामय नहीं, वास्तविक है। दूसरी बात यह भी है कि आनन्द आत्मा का गुण है, आत्मा आनन्दरूप नहीं। पुरुषों की अभिलाषा भी 'सुखं मे स्यात्' ऐसी ही होती है, सुखमह स्याम्', ऐसी नहीं, अतः आनन्दरूपता में पुरुषार्थता भी नहीं बनती।

''प्रपञ्चविलयो मोक्ष इति शाङ्कराः। न च तस्यापुरुषार्थत्वम्, आत्मन आनन्दमयत्वाभ्युपगमात्। तदपि न सङ्गच्छते, प्रपञ्चविलयस्यैवाभावात्। ननु प्रपञ्चस्य मायामयत्वादुपपद्यत एव विज्ञानोदये विलयः शुक्तिकास्वरूपावबोधे रजतावबोधविलयवदिति चेत्, मैवम्, प्रपञ्चस्य मायामयत्वस्य निराकरिष्यमाणत्वाद्, आत्मानन्दयोः परस्परभेदस्य समर्थितत्वाच्च आनन्दानुभवस्यैव पुरुषार्थत्वेन तद्भावप्राप्तेरपुरुषार्थत्वाच्च।

इस प्रकार अन्य सभी दर्शनों के मोक्ष के स्वरूप का खण्डन करने के पश्चात् स्वपक्षी मोक्ष का स्वरूपोद्भावन करते हुए नारायणद्वय कहते हैं -

दुःखात्यन्तसमुच्छेद सति प्रागात्मवर्तिनः।
सुखस्य मनसा भुक्तिर्मुक्तिरुक्ता कुमारिलैः।।''

अर्थात् दुःख का आत्यन्तिक समुच्छेद हो जाने पर जो आत्मा में पहले से ही वर्तमान आनन्द की मन के द्वारा अनुभूति होती है, उसे ही मोक्ष पदार्थ माना है। मोक्षावस्था में अनुभूयमान आनन्द पहले से ही आत्मा में वर्तमान रहता है, फिर भी संसारावस्था में उसकी अनुभूति नहीं होती है। इस प्रसङ्ग में श्रुतिप्रमाण द्वारा अपनी बात को स्पष्ट करते हैं –

आनन्दं ब्रह्मणो रूपं तच्च मोक्षेऽभिव्यज्यते''।

अर्थात् ब्रह्म का वास्तविक रूप या गुण सुख होता है, जिसकी अभिव्यक्ति मोक्ष में ही होती

है। मुक्ति को नित्यत्व तथा अपुरुषार्थत्व से युक्त सिद्ध करने के लिये श्रीनारायण भट्ट एवं नारायणपण्डित ने मानमेयोदय में मीमांसामत को स्पष्ट किया है –

निषिद्धकाम्यकर्मभ्यः सम्यग्व्यावृत्तचेतसः।
नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तप्रध्वस्तदुष्कृतेः ।।26।।
सुखदुःखानुभूतिभ्यां क्षीणप्रारब्धकर्मणः ।
युक्तस्य ब्रह्मचर्याद्यैरङ्गै शमदमादिभिः ।।27।।
कुर्वाणस्यात्ममीमांसा वेदान्तोक्तेन वर्त्मना।
मुक्तिः सम्पद्यते सद्यो नित्यानन्दप्रकाशिनि ।।28।।

अतः मीमांसक जगत् को मिथ्या नहीं मानते। यह दर्शन वस्तुवादी या बाह्यार्थसत्तावादी है। जगत् की सृष्टि करने की शक्ति कर्म में है। उसमें ईश्वर का अधिकार नहीं है। कर्म की अपनी स्वतन्त्र शक्ति है जिसे अदृष्ट या अपूर्व कहते हैं। वही जगत् का संचालन करती है। कर्म स्वयं अपना फल देता है। आत्मज्ञान से धर्माधर्म दोनों का उच्छेद होता है। काम्य कर्म का अनुष्ठान न करने, प्रतिषिद्ध कर्म न करने एवं केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करते रहने से प्रत्यवाय परिहार होता है। इस प्रकार शरीरादि के आरंभक हेतुओं के न रहने पर और पूर्व शरीर के नष्ट हो जाने पर यह आत्मा अशरीर अर्थात् शरीररहित अवस्था में रहता है, तभी उसे मुक्त कहते हैं।

तत्र ज्ञातात्मतत्त्वानां भोगात् पूर्वक्रियाक्षये।
उत्तरप्रचयासत्त्वाद् देहो नोत्पद्यते पुनः।।
कर्मजन्योपभोगार्थं शरीरं न प्रवर्तते।
तदभावे न कश्चिद्धि हेतुस्तत्रावतिष्ठते।।
मोक्षार्थी न प्रवर्तेत तत्र काम्यनिषिद्धयोः ।
नित्यनैमित्तिके कुर्यात् प्रत्यवायजिहासया।।

तात्पर्य यह है कि मोक्षावस्था को पाने के लिये कर्म ही प्रधान कारण है और आत्मज्ञान सहकारी कारण है। अतः मीमांसा दर्शन ज्ञान-कर्मसमुच्चदयवादी है ।

आचार्य शङ्कर द्वारा मीमांसा सम्मत मोक्ष का खण्डन –

मोक्ष के विषय में अद्वैत वेदान्त और मीमांसा का अन्तर बहुत बड़ा है। मीमांसा दर्शन प्रपञ्च सम्बन्ध विलय को मोक्ष कहते हैं जबकि वेदान्त तो प्रपञ्चविलय को ही मोक्ष स्वीकार करता है। स्वप्नप्रपञ्च के समान यह संसार प्रपञ्च अविद्यानिर्मित है। अतः ब्रह्मज्ञान होने से अविद्या के विलीन होने पर जगत् की सत्ता ही नहीं रहती। प्रपञ्च का ही विलय हो जाता है, परन्तु वास्तववादी मीमांसा की दृष्टि इससे बिल्कुल भिन्न है। मुक्तावस्था में संसार की सत्ता उसी प्रकार रहती है, जिस प्रकार अविद्यादशा में रहती है। केवल बन्ध का नाश हो जाता है। यही दोनों दशाओं का पार्थक्य है। प्रभाकरमत का मोक्ष भाट्टमत से भिन्न है। प्रभाकर के मत में बिना किसी बाहरी फल की कामना किये कर्तव्यबुद्धि से नित्य

कर्मों का अनुष्ठान ही मोक्ष है। अतः मुक्ति अनवरत कार्य की दशा है, जिसमें क्रिया को छोड़कर अन्य फल की आकांक्षा रहती ही नहीं है।

यहाँ आचार्य शङ्कर अपनी भाष्यरचना द्वारा मीमांसकों के मोक्ष विषयक मत का निरसन कर स्वपक्ष को स्थापित करते हुए यही मत सिद्ध कर रहे हैं कि यह जगत् का प्रपञ्च अविद्या के द्वारा पैदा किया गया है। यह स्वप्न के प्रपञ्च के समान है। जैसे जागने पर स्वप्न का प्रपञ्च स्वयमेव नष्ट हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्मविद्या के द्वारा अविद्या के नष्ट हो जाने पर संसाररूपी प्रपञ्च का नाश स्वयमेव हो जाता है।

आत्मज्ञान में मानसिक क्रिया का निषेध –

मीमांसक ज्ञान को मानसिक क्रिया मानकर मोक्ष को कर्म से प्राप्य बताते हैं। शङ्कर ज्ञान को कर्म से विलक्षण मानते हैं। क्रिया के सामान्यतः चार रूप होते हैं। (1) उत्पाद्य (2) विकार्य (3) आप्य और (4) संस्कार्य। संक्षेप में कहा जा सकता है –

(1) यदि मोक्ष उत्पाद्य हो तो वह अनित्य होगा, जैसा कि सभी उत्पाद्य वस्तुओं में देखा जाता है जबकि मोक्ष तो नित्य है।

(2) दधि आदि विकारी पदार्थ भी नित्य नहीं होते, इसलिये मोक्ष विकार्य भी नहीं है।

(3) ब्रह्म आत्मरूप होने के कारण प्राप्य भी नहीं है। यदि ब्रह्म को भिन्न मानें तो भी वह प्राप्य नहीं है क्योंकि आकाश के समान सर्वव्यापक होने के कारण वह नित्य है।

(4) मोक्ष संस्कार्य भी नहीं है। संस्कार करने के लिये वस्तु में कुछ गुण लाने होते हैं या उसके दोष निकालने होते हैं। मोक्ष ब्रह्मरूप है अतः न तो उसमें गुण लाया जा सकता है और न ही उसमें कोई दोष है जो हटाया जा सकता है ।

''अतोऽन्यन्मोक्षं प्रति क्रियानुप्रवेशद्वारं न शक्यं केनचिद्दर्शयितुम्। तस्माद् ज्ञानमेकं मुक्त्वा क्रियाया गन्धमात्रस्याप्यनुप्रवेश इह नोपपद्यते।''[16]

अतः मोक्ष में ज्ञान के सिवाय क्रिया के लेशमात्र का भी सम्बन्ध नहीं बनता।

ज्ञान मानसी क्रिया भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान उससे विलक्षण है। क्रिया उसे कहते हैं, जिसका वस्तुस्वरूप की अपेक्षा के बिना ही विधान किया जाता है और जो पुरुष के संकल्प के अधीन है।

''क्रिया हि नाम सा यत्र वस्तुस्वरूपनिरपेक्षैव चोपपद्यते, पुरुषचित्तव्यापाराधीना च यथा 'यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायेत' (ऐ. ब्रा. 3.8.1) इति चैवमादिषु ध्यानं चिन्तनं यद्यपि मानसम्, तथापि पुरुषेण कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुं शक्यम्, पुरुषतन्त्रत्वात्।[17]

ध्यान-चिंतन आदि मानसी क्रियायें हैं। वे पुरुष के अधीन होने के कारण पुरुष के द्वारा करने, न करने अथवा अन्यथा करने योग्य हैं। ज्ञान तो प्रमाणजन्य है और प्रमाण यथार्थ वस्तु विषयक होता है, इसलिये ज्ञान करने, न करने अथवा अन्य प्रकार से करने योग्य नहीं होता। वह केवल वस्तु के अधीन है, न विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन। अतः मानसिक होने पर भी ज्ञान का ध्यान से महान अन्तर है।

आचार्य शङ्कर ज्ञान और मानसीक्रिया का अन्तर एक दृष्टान्त से स्पष्ट करते हैं। यदि हम कहें पुरुष अग्नि है, स्त्री अग्नि है' तो यहाँ पुरुष और स्त्री में अग्नि- बुद्धि मानसिक है और वह केवल विधिजन्य होने के कारण क्रिया ही है। वह पुरुष के अधीन भी है। लोकप्रसिद्ध अग्नि में जो अग्निबुद्धि है, वह न विधि के अधीन है और न पुरुष के अधीन है। किसी प्रत्यक्ष विषयवस्तु के अधीन है। अतः वह ज्ञान है क्रिया नहीं। इसी प्रकार समस्त प्रमाण विषयक वस्तु में भी समझना चाहिये। ब्रह्मात्म विषयक ज्ञान भी विधि के अधीन नहीं है, अतः वह कर्म नहीं है।

आत्मा देह से अतिरिक्त है –

पुरुषार्थाधिकरण के द्वारा आचार्य शङ्कर यह सिद्ध करते हैं कि 'देह से अतिरिक्त आत्मा है' इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त किये बिना क्रतु में किसी पुरुष की प्रवृत्ति नहीं होती है, इसलिये आत्मविज्ञान क्रतु का अङ्ग ही है। ऐसा जो जैमिनि आचार्य का मत है वह युक्तियुक्त नहीं है क्योंकि अद्वैत आत्मतत्त्वज्ञान कर्महेतु नहीं है प्रत्युत वह कर्म का विरोधी है। विज्ञान स्वतन्त्ररूप से ही पुरुषार्थ साधन है, क्रतु द्वारा नहीं।

महर्षि बादरायण पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते हुए सूत्र उद्धृत करते हैं, ''शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथाऽन्येष्विति जैमिनिः''। इनका कहना है कि चूंकि आत्मा कर्ता है, इसलिये उसका ज्ञान भी पर्णता के समान कर्म के अंगभूत आत्मा द्वारा क्रतु का अंग है, क्योंकि फलशून्य होकर कर्मांग का आश्रयण करता है, विशेषण की असिद्धि के निरास के लिये पुरुषेत्यादि का पठन है- जैसे अन्य द्रव्य संस्कार कर्मों में अपाप आदि फलश्रुति अर्थवाद है, वैसे ही 'तरति शोकमात्मवित्' आदि भी पुरुषार्थवाद-अर्थवाद है, यह जैमिनि आचार्य का मत है। अपने मत को अर्थात् कर्मवाद को पुष्ट करने के लिये जैमिनि आचार्य और भी उदाहरण प्रस्तुत करते हैं -

''यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति''[20] इत्यादि तृतीया श्रुति से विद्या में कर्माङ्गत्व का श्रवण होने से भी विद्या कर्म का अङ्ग है।[21]

''तं विद्याकर्मणी समन्वयारभेते''[22] इत्यादि श्रुति से भी विद्या और कर्म का साहित्य देखा जाता है, अतः विद्या कर्म का अंग है।[23]

''आचार्यकुलाद्वेदमधीत्य''[24] इस श्रुति से सम्पूर्ण वेदविद्या से सम्पन्न पुरुष के लिये कर्म का विधान किया जाता है, इससे भी विद्या कर्माङ्ग है।[25]

मीमांसा दार्शनिकों की तरफ से अन्य भी कई श्रुति-प्रमाण प्रस्तुत करते हुए आचार्य शङ्कर ने विद्या को कर्माङ्ग सिद्ध किया है फिर स्वपक्ष का प्रतिस्थापन करते हुए उक्त मतों का बादरायण के निम्न सूत्र के द्वारा खण्डन किया है।

''अधिकोपदेशात्, तु बादरायणस्य, एवम्, तद् दर्शनात्।''[26]

आचार्य शङ्कर कहते हैं कि निष्फल होकर कर्माङ्ग का आश्रय होने से पूर्वपक्षी ने तत्त्वज्ञान को कर्माङ्ग कहा है। वह युक्त नहीं है क्योंकि हेतु में विशेष्य की असिद्धि प्राप्त हो रही है।

कर्तृत्वादि धर्मों से युक्त संसारी आत्मा (जीव) का अनुवाद करके शुद्ध, बुद्ध, उदासीन ब्रह्मरूपता के विधान में उपनिषदों का तात्पर्य निहित है। शब्द प्रमाण का यह स्वभाव है कि वह प्रमाणान्तर सिद्ध पदार्थ का अनुवाद करके अनधिगतार्थरूपता का विधान किया करता है, अतः उपनिषत्प्रमाण से प्रतिपादित नित्य, शुद्ध, असङ्गस्वरूप आत्मा का ज्ञान कर्मानुष्ठान का विरोधी होने के कारण कर्म से कोई सम्बन्ध ही नहीं रखता, फिर वह अव्यभिचरित क्रतु-सम्बन्धी होकर क्रतु का अङ्ग क्यों होगा? इस प्रकार आत्मज्ञान स्वतन्त्र पुरुषार्थ है और फलपरक है ।

अतएव प्रियादि शब्दों से सूचित संसारी आत्मा का अनुवाद करके उसके अनधिगत स्वरूप की विवक्षा से उपनिषत् शास्त्र जीव में ब्रह्म के अत्यन्त अभेद का उपदेश वैसे ही करता है, जैसे रज्जु में सर्प-भ्रमवाले व्यक्ति का भ्रम दूर करने के लिये ''योऽयं सा रज्जु'' ऐसा उपदेश दिया जाता है।

''यदेवं विद्यया करोति''[28] यह व्याप्ति प्रदर्शन सर्वविद्या विषयक नहीं है, अपितु केवल उद्गीथ विद्या को ही विषय करती है क्योंकि वही प्रकान्त है, जैसे सर्वे ब्राह्मणा योज्यन्ताम् यह वाक्य केवल निमन्त्रित ब्राह्मणों को ही विषय करता है, क्योंकि वे ही प्रकृत हैं।[29]

''विद्याकर्मणी समन्वारभेते''[30] यहाँ जो पूर्वपक्ष ने विद्या और कर्म का साहित्य प्रतीत होता है, कहा है, वह भी उचित नहीं है क्योंकि यहाँ विभागशः अन्वय विवक्षित है जिससे कोई दोष नहीं रहता।

''विद्या अन्यं पुरुषमन्वारभते कर्मान्यं पुरुषमन्वारभते''।

''कुर्वन्नेवेह कर्माणि''[31] ऐसा नियम अविद्यावान् पुरुष के लिये किया गया है, अविशेषतः सबके लिये नहीं और यदि यह नियम विद्यावान् के प्रति मान भी लिया जाए तो भी विरोध प्रसक्त नहीं होता क्योंकि स्तूयतेऽनुमतिर्वा' अर्थात् ब्रह्मविद्या का ही यह सामर्थ्य है कि विद्वान् यदि अपने पूर्वाभ्यास के आधार पर जन्म भर कर्म करता रहे, तब भी उससे किसी प्रकार का बन्धन नहीं हो सकता। इसमें भी श्रुतिप्रमाण देते हैं -

''न कर्म लिप्यते नरे''[33] ब्रह्मविद्या का ब्रह्मसाक्षात्कारात्मक फल प्रत्यक्ष है अतः वह परोक्षफलक कर्म का अङ्ग नहीं हो सकती, अत एव तत्त्ववेत्ताओं ने अपनी इच्छा से ही कर्मफलों का त्याग किया है। आचार्य शङ्कर ने छठे सूत्र के भाष्य में समस्त क्रिया, कारक और फलादि विभाग एवं उसके उपमर्दन (बाध) का प्रदर्शन किया है।

ऊर्ध्वरिता संन्यासियों में ब्रह्मविद्या विश्रुत है, कर्मप्रधान संस्थानों में नहीं, इसलिये भी विद्या में स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है, कर्माङ्गत्व नहीं।

यहाँ पर जैमिनि आचार्य एक और शंका उठाते हैं कि ''ब्रह्म संस्थोऽमृतत्वमेति''[35] इत्यादि शास्त्र अन्धपरम्परान्याय से प्राप्त संन्यासाश्रम का अनुवादक है। कारण कि इस वाक्य में विधायक लिङ्ग आदि नहीं है और 'वीरहा'[36] इत्यादि श्रुति संन्यासाश्रम का प्रतिषेध भी करती है।

किन्तु बादरायणाचार्य 'अन्य आश्रम अनुष्ठेय हैं' ऐसा मानते हैं। उनका कहना है कि गार्हस्थ्य के समान अन्य आश्रमों की परामर्शश्रुति देखी जाती है ''त्रयो धर्मस्कन्धाः।''[37] जैसे यहाँ अन्यश्रुति में विहित ही गार्हस्थ्य का परामर्श किया गया है। इसी प्रकार अन्य श्रुति में विहित ही अन्य आश्रम का भी परामर्श समझना चाहिये और जैसे कि उपवीतविधिपरक वाक्य में शास्त्रों से प्राप्त विनीत और प्राचीनवीत का परामर्श होता है। इसलिये गार्हस्थ्य के साथ अन्य आश्रम का अनुष्ठेयत्व समान है।[38]

''एतमेव प्रवाजिनो लोकमिच्छन्तः प्रव्रजन्ति''[39] अर्थात् इसी आत्मलोक की इच्छा करने वाले संन्यासी सब कामों का संन्यास करते हैं, इसका वेद के अनुवचन आदि के साथ उल्लेख है।

''ये चेमेऽरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते''[40] इसका पञ्चाग्निविद्या के साथ उल्लेख है।

''तप एव द्वितीयः''[41] इसमें अन्य आश्रम का अभिधान संदिग्ध है। इस प्रकार का कोई दोष नहीं है क्योंकि निश्चय का कारण विद्यमान है। धर्म के तीन स्कन्ध होने की प्रतिज्ञा की गई है और ''ये चेमेरण्ये श्रद्धातप इत्युपासते''[42] इसमें भी अरण्यलिङ्ग से अर्थात् श्रद्धा और तप से आश्रम का ग्रहण होता है। इस प्रकार परामर्श होने पर भी अन्य आश्रम अनुष्ठेय हैं।

और स्मृति भी कहती है कि ''अथ परिव्राड् विवर्णवासा मुण्डोऽपरिग्रहः शुचिरद्रोही भैक्षाणो ब्रह्मभूयाय भवति''[43] विवर्ण वस्त्र वाला मुण्ड, परिग्रहरहित, पवित्र, द्रोहरहित, भिक्षा लेने वाला परिव्राट् ब्रह्मसाक्षात्कार के लिये समर्थ होता है इसलिये ऊर्ध्वरेताओं के आश्रम सिद्ध हैं और ऊर्ध्वरेताओं के लिये विद्या का विधान होने से विद्या स्वतन्त्र है, उसे कर्म की अपेक्षा नहीं है और मोक्ष प्राप्ति के लिये कर्म की नहीं ब्रह्मज्ञान की आवश्यकता है।

संदर्भ संकेत–

1. भारतीय दर्शन, पद्मभूषणाचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा मन्दिर, वाराणसी, 2001 पृ. सं. 333-334
2. भारतीय दर्शन, डॉ. नन्दकिशोर देवराज, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ, 2002, पृ. सं. 485
3. मानमेयोदय, स्वामीयोगिन्द्रानन्द, चौखम्बाविद्याभवन वाराणसी 1996, पृ. सं. 197-198, लौकिकेषु सुखदुःखेष्वेव स्वर्गनरकादि व्यपदेशः, मोक्षस्तु शरीरपात एव- इति देहात्मवादिनश्चार्वाकस्य मतम्। तत्तु देहव्यतिरिक्तात्मसद्भावप्रतिपादनेन निरस्तं वेदितव्यम्।
4. वहीं - पृ. सं. 198, सौगतास्तु नीलपीतादिविषयोपधानविलये सति निरूपधानस्य बोधसन्तानस्य स्वरूपेणावस्थानं मोक्षमाचक्षते। तदयुक्तम्, निर्विषयस्य बोधसन्तानस्य स्वयमवस्थानानुपपत्तेः। क्षणे-क्षणे निरतन्तरमुपजायमानेषु विनश्यत्सु च बोधसन्तानेषु कस्यापि मोक्षफलानुभवानुपपत्तेः मुक्तेरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गाच्च।
5. वहीं -पृ. 199 एकविंशतिप्रभेददुःखोच्छेदो मोक्ष इति तार्किकाः कीर्तयन्ति।.....। तत् सुखस्यापि विनाशेन मुक्तेरपरपुरुषार्थत्वप्रसङ्गादुपेक्षणीयम्।....। तस्मात् स्वर्गादिसुखमुन्मुच्य मोक्षमात्राकाङ्क्षा न मोक्षस्य दुःखाभावमात्रस्वरूपत्वे संभवति।
6. मानमेयोदय पृ. सं. 199
7. तत्त्वार्थसूत्र 10/5
8. योगसूत्र 1/3
9. मानमेयोदय, श्रीनारायणभट्ट एवं नारायणपण्डित, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 1996, पृ. सं. 200
10. मानमेयोदय, प्रमेयप्रकरण, श्लोक सं. 25

11. मानमेयोदय, मोक्षप्रकरण, श्लोक सं. 25 पर नारायणद्वय की स्वोपगत टीका में उद्धृत
12. मानमेयोदय प्रमेय प्रकरण श्लोक सं. 26-28 मीमांसक नारायणद्वय द्वारा अन्यदर्शनाभिमत मोक्ष स्वरूप का खण्डन मीमांसाश्लोक वार्तिकानुसार (मीमांसाश्लोक वार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार में श्लोक 70-110) ही है। अतः विशेष विवरण के लिये मीमांसाश्लोक वार्तिक दृष्टव्य है।
13. ईश्वरकारणता कर्मविषयक मीमांसकों के मत में पूर्व में उद्धृत है। अतः विस्तारभय से पुनः कथन नहीं करके यहाँ संकेतमात्र किया जा रहा है।
14. मीमांसाश्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक सं. 108-110
15. ब्रह्मसूत्र 1.1.4 पर शाङ्करभाष्य, दृष्टव्यः
16. ब्रह्मसूत्र 1.1.4 पर शाङ्करभाष्य
17. - वहीं -
18. ब्रह्मसूत्र 1.1.4 पर शाङ्करभाष्य
19. ब्रह्मसूत्र 3.4.2
20. छान्दोग्योपनिषद् 1.1.10
21. ब्रह्मसूत्र 3.4.4 पर शाङ्करभाष्य
22. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.2
23. ब्रह्मसूत्र 3.4.5 पर शाङ्करभाष्य
24. छान्दोग्योपनिषद् 8.15.1
25. ब्रह्मसूत्र 3.4.6 पर शाङ्करभाष्य
26. ब्रह्मसूत्र 3.4.8
27. ब्रह्मसूत्र 3.4.8 पर भामतीटीका
28. अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तदर्शनात् यदि शरीराद्यतिरिक्तः कर्ता भोक्तात्मेत्येतन्मात्र उपनिषदः पर्य्यवसिताः स्युस्ततः स्यादेवं, न त्वेतदस्ति। तास्त्वेवम्भूतजीवानुवादेन.....अत एव प्रियादिसूचितेन संसारिणात्मनोपक्रम्य तस्यैवात्मनोऽधिकोपदिदिशायां परमात्मनोऽत्यन्ताभेद उपदिश्यते। यथा समारोपितस्य भुजगस्य रज्जुरूपादत्यन्ताभेदः प्रतिपाद्यतेयोऽयं सर्पः सा
29. रज्जुरिति।
30. छान्दोग्योपनिषद् 1.1.10
29. ब्रह्मसूत्र 3.4.10 असार्वत्रिकी पर भामती
'यदेव विद्यया करोति' इत्येषा श्रुतिर्न सर्वविद्याविषया प्रकृतविद्याभिसम्बन्धात। प्रकृता चोद्गीथविद्या-'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत' इत्यत्र।
30. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.2
31. ईशावास्योपनिषद् 2
32. ब्रह्मसूत्र 3.4.13 नाविशेषात।
33. ईशावास्योपनिषद् 2
34. ब्रह्मसूत्र 3.4.6
35. छा. उ. 2.23.1
36. तैत्तिरीयोपनिषद् 1.11.1
37. छान्दोग्योपनिषद् 2.23.1
38. ब्रह्मसूत्र 3.4.19 पर शा. भा. यथेह श्रुत्यन्तरविहितमेव गार्हस्थ्यं परामृष्टमेवमाश्रमान्तरमपीति प्रतिपत्तव्यम्। यथा च शास्त्रान्तरप्राप्तयोरेव निवीतप्राचीनावतीयोः परामर्श उपवीतविधिपरे वाक्यो। तस्मात् तुल्यमनुष्ठेयत्वं गार्हस्थ्येनाऽऽश्रमान्तरस्य।
39. बृहदारण्यकोपनिषद् 4.4.22
40. छान्दोग्योपनिषद् 5.10.1
41. - वहीं -2.23.1
42. - वहीं - 5.10.1
43. जाबालि 5

सहायकाचार्य, सर्वदर्शनविभाग,
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, श्रीरणवीरपरिसर, जम्मू

'आवन्तिकम्' काव्यस्य शब्दपाकभाववैभवप्रकाशः

डॉ. राजकुमारमिश्रः

अवन्ती नगरी रम्या रम्या चास्याः परम्परा।
आवन्तिकमवन्तीं तां मधुपस्य तनोत्यदः[1]।।

भगवत्याः सरस्वत्याः कृपाप्रसादेन संस्कृतसाहित्यं सदैव निर्बाधं प्रसरति। संस्कृतसाहित्ये यथा वैविध्यं वर्तते तथाऽन्यत्र दुर्लभमेव। संस्कृतसाहित्ये भावध्वनिपूर्णस्तोत्रकाव्यानां संख्या भूयसी वर्तते। भावध्वनिसंवलिते स्तोत्रकाव्ये आदिशङ्कराचार्यादीनाम् आचार्याणां महत्त्वपूर्णं स्थानं वर्तते। स्तोत्रकाव्यस्य रचना प्रत्येकस्मिन् काले जायते। कोऽपि कविः तादृशो न भवति यो हि स्तुतिं न कुर्यात्। वैदिकवाङ्मयत आरभ्य लौकिकसाहित्यस्य एकविंशशताब्दिं यावन्नैकानि स्तोत्रकाव्यानि प्रणितानि तत्तदाचार्यैः, यथा- बाणभट्टेन 'चण्डिशतकम्', मयूरेण 'सूर्यशतकम्', अभिराजेन 'पराम्बाशतकम्' चैवमादीनि। एवमेव एकविंशशताब्द्याः प्रथमे दशके आचार्येण रमाशङ्करमिश्रेण 'मधुपो'पाह्वेन अस्याः स्तोत्रपरम्परायाः श्रीर्वर्धिता। महाकविना 'मधुपेन' रमाशङ्करमिश्रेण 'आवन्तिकम्' इतिसंज्ञं खण्डकाव्यं प्रणीतम्। 'आवन्तिकम्' इति शब्देनैव ज्ञायते यदिदं काव्यम् अवन्तीसम्बद्धं वर्तते।

काव्येऽस्मिन् 'वन्दितं', 'नन्दितं' चेति खण्डद्वयं वर्तते। वन्दिते खण्डे अवन्तिकामहत्त्वम्, उज्जयिनीवर्णनम्, उज्जयिनीमहाकुम्भः, महाकालमन्दिरम्, उज्जयिनीललनावर्णनं, कालिदासः, उज्जयिनीपरमोत्कर्षः, शिवजटायां गङ्गा, उज्जयिनीसौभाग्यं, भर्तृहरिः, भक्तसौभाग्यं, भोजराजः, गुप्तवंशजा नृपाः, क्षिप्रा नदी, समुद्रगुप्तभोजादिदाक्षिण्यं चेति विषयाः प्रामुख्येन वर्णिताः सन्ति। द्वितीये च नन्दिते खण्डे वेदप्रियकृताराधना, आराधनाफलाप्तिः, वेदप्रियस्य पुत्रचतुष्टयी, दानवराजदूषणकथा, दूषणकृतं विप्रचतुष्टयतपोनिवारणं, दूषणदूतोत्पातः शिवाविर्भावश्च, शिवानुकम्पनं, विप्रचतुष्टयकृता स्तुतिः, शिवेच्छया महाकालमन्दिरपूर्णता, अवन्तीश्वरचन्द्रसेनकथा, चिन्तामणिलोलुपभूपानामाक्रमणं, निराश्रितचन्द्रसेनस्य शिवचरणप्रपत्तिः, महाकालमहत्ता चेति विषया वर्णिता वर्तन्ते।

काव्यस्यास्य प्रारम्भो यथापरम्परं मङ्गलाचरणेन जायते। कविर्मङ्गलाचरणे शिवं नौति-

चन्द्रांशु-निर्गलदमन्द-सुधाऽभिषिक्तं
वेदाद्यगम्यमथ विष्णु-विधि-प्रणम्यम्।।
सम्पीत-पुष्कल-हलाहल-नीलकण्ठं
गौरी-गजास्य-कलितं शिवमेकमीडे[2]।।

कविरयं व्याकरणानुकूलपदप्रयोगे दक्षः, एतस्य पदप्रयोगे दाक्ष्यं श्लोकस्य प्रथम-तृतीय-चतुर्थपादैर्द्रष्टुं शक्यते। तत्रापि प्रथमतृतीयचरणौ पूर्णतः समासेन युक्तौ वर्तेते। मङ्गले पद्येऽस्मिन् कविः शिवं नौति, शिवम् अर्थात् कल्याणम्, अतः कल्याणात्मक ईशे सर्वमपि वर्णनीयवस्तुजातं कल्याणमयमेव भवेदिति दृशा यदि

कवेर्मधुपस्य काव्यार्थो परिशील्येत तर्हि कल्याणपरकस्य अर्थस्य निर्वाहच्छटा विलोकयितुं शक्यते। शिवस्य अभिषेकः चन्द्रस्य किरणेभ्यः प्रवहमाणाभिः सुधाभिः क्रियते, एतादृशः सुधाभिः अभिषिक्तः शिवः कल्याणस्वरूप एव। स कल्याणमयः शिवो वेदादिभिरपि अगम्यः, एतेन तस्य विष्णुविधिद्वारा प्रणमनयोग्यत्वं स्वत एव सिध्यति अतः कविना मधुपेन 'विष्णुविधिप्रणम्यम्' इति अर्थ उपन्यस्तः। पुनश्च स कल्याणमयः शिवो लोककल्याणाय कियान् उद्यतो वर्तते तस्यापि अर्थस्य निवेशः कविना कृतो वर्तते 'सम्पीतपुष्कलहलाहलनीलकण्ठम्' इति कथयित्वा, येन हि जगत्कल्याणाय पुष्कलं हलाहलं पीतं तादृशं शिवमीडे नमामीत्यर्थः। इत्थं कवेरस्य मधुपस्य शब्दपाके भावयोजनायां च पाटवं प्रतिपदं व्यक्तिमायाति।

द्वितीये च मङ्गलपद्ये कविश्शिवमेव नौति किन्तु भावविस्तारेण–

यस्याङ्ग–सङ्गित–विभूतिकणं समेत्य
देवा मखं विदधते भृतभूरिभाग्याः।
तं लोक–शोक–दमनं मदनारिमीशं
वन्दे सुधांशु–रवि–वह्नि–दृशं गिरीशम्[3]।।

अस्मिन् पद्येऽपि कविकृतः पदप्रयोगो द्रष्टुं शक्यः, अत्र प्रथमे चरणे 'सङ्गित' इति पदं मिलितार्थवाचकं विलिप्तार्थवाचकं वा वर्तते किन्तु 'सङ्गित' इति पदं प्राक्तनेषु काव्येषु प्रयुक्तं न दृश्यते एतत्तु कवेर्मधुपस्य असाधारणव्याकरणज्ञानस्य फलमेव, येनास्य काव्ये शब्दा नवनवायमाना दृश्यन्ते। मन्ये कविरयं अनेकान् तादृशान् प्रयोगान् सहृदयलोकाय प्रददाति येभ्यः परिचिता भूत्वा अन्येऽपि काव्यप्रयोगमाध्यमेन संवादप्रयोगमाध्यमेन संस्कृतभाषां विस्तारयेयुः। अत्र 'गिरीशः' सुधांशु–रवि–वह्नि–दृक् इतिरूपेण वर्णितः, 'गिरीशः' त्रिनयनः त्रिलोचनो वा कथ्यते, तस्मिन् किं किं नयनं किंकिंस्वरूपमिति रहस्यं प्रकटितं कविना मधुपेन, येन काव्यस्य भावो नितान्तमेव रमणीयतां भजते तथा च कवेः पुराणादिज्ञानस्यापि प्रभावो व्यक्तो भवति।

आचार्यो रमाशङ्करमिश्रः कविः स्वकाव्ये विविधान् अलङ्कारान् प्रयुनक्ति तथापि मन्ये तस्य हृदये अनुप्रासालङ्कारे बृहती एव प्रीतिर्वर्तते। क्वचिद् अनुप्रासच्छटा क्वचिद् अन्त्यानुप्रासच्छटा किं बहुना अनुप्रासस्य समेऽपि भेदा अस्य काव्ये स्वत एव आत्मानं प्रकटयन्ति। अन्त्यानुप्रासच्छटा इत्थं द्रष्टुं शक्यते–

सर्ग–स्थिति–प्रलय–केलि–विलोल–लीलं
संसार–सागर–समुद्धरणैक–शीलम्।
श्रीलं रमारमणकञ्च तमाल–नीलं
नीलाब्ज–मञ्जुल–तनुं हरिमाश्रयामि[4]।।

अत्र 'लीलं', 'शीलं', 'नीलम्', इति प्रयोगः कामभि अभिख्यां तनोति सहृदयहृदये, भावविस्तारः पुनस्सुतरां रमणीयः।

कवेरस्य मधुपस्य शब्दजालेन सह अर्थगाम्भीर्यमित्थं द्रष्टुं शक्यते–

यस्याः समस्त–सुरता सुरतापहन्त्री
मन्त्री मुनीन्द्र–मनसां त्रिजगन्नियन्त्री।

प्रोद्दण्ड–चण्ड–भुजदण्ड–विखण्डनोत्का
कोदण्ड–दण्डित–खलाऽवतु चण्डिका नः[5]।।

यद्यपि कविरयं शब्दभावविस्तारे अत्यन्तं दक्षस्तथापि स विनीतः। स मङ्गलाचरणात् परं स्वविनयभावमित्थं प्रकटयति–

क्व नन्दनोद्यान–मरन्द–माधुरी
क्व चार्क–पुष्पे मधु–बिन्दु–वैधुरी।
क्व वा महाकाल–महो–महार्णवः
क्व मे मरुन्नर्तित–शेमुषी–तरी।।
तथाप्यवन्ती–महिमोच्छलन्मना
मनाग् बुध–क्षुण्ण–पथं समुल्लिहन्।
कवीन्द्र–कीर्त्यै स्पृहयन् पदे पदे
स्खलत्–पदोऽहं कवयामि मन्दधीः[6]।।

उपर्युक्तं पद्यद्वयं युग्मकं वर्तते, युग्मकेऽस्मिन् निदर्शनालङ्कारच्छटा विराजते। युग्मके 'माधुरी', 'वैधुरी', 'तरी' इति पदयोगेनोत्पन्नोऽन्त्यानुप्रासः कामपि विच्छित्तिं तनोति सचेतसां चेतसि।

उपक्रमानन्तरं काव्यस्यास्य प्रारम्भोऽमुना पद्येन जायते–

मुनीनां सिद्धानाममर–रमणीनां रमणभूः,
कवीनां काव्यानां कवन–कल–कीर्ति–प्रथन–सूः।
नृपाणां गुप्तानां ध्वज–धवलतेव त्रिगुणिता,
सिता भस्मोत्क्षेपैस्सुखयतु महाकाल–नगरी[7]।।

प्रस्तुतपद्ये उदात्तालङ्कारो वर्तते '**उदात्तो वस्तुनः सम्पद्**'[8] इति लक्षणात्। यत्र कस्यचिद् वस्तुनो गुणसम्पद्वर्णनं जायते तत्रोदात्तालङ्कारो भवति। प्रस्तुते पद्ये महाकालनगरी मुनीनां सिद्धानाम् अमररमणीनां च रमणभूमिः, अनेकेषां कवीनां काव्यानां तदीयकीर्त्यादीनां च उत्पत्तिस्थानं वर्तते, एवञ्च गुप्तवंशजानां नृपाणां ध्वजधवलतेव विलसिता, भस्मोत्क्षेपैः सिता च महाकालनगरी वर्तते, एवम्भूता सर्वतो भव्यायमाना महाकालनगरी नः सुखयतु। अत्र अनेके उदात्ता अर्थाः कविना मधुपेन वर्णिताः, तस्मादत्र आद्यन्तमुदात्तालङ्कारो वर्तते।

आवन्तिके काव्येऽस्मिन् भगवतः शिवस्य विविधानि रूपाणि कविना चित्रितानि, एकं रूपमित्थमपि द्रष्टुं शक्यते–

अहीन्द्रे पर्य्यङ्के गुह–गणप–गौरी–परिवृतं
भुजङ्गं प्रत्यङ्गं दधतमलकोद्बन्ध–सुभगम्।
शिरश्चन्द्रं भसित–लसितं मन्द–हसितं
सितं कुन्दैश्शम्भुं महयति महाकाल–नगरी[9]।।

महाकालनगरी शिवं महयति अर्थात् पूजयति, कीदृशं शिवं महयति इति आकाङ्क्षायां कविः शिवं विविधैर्विशेषणैर्वर्णयति अहीन्द्रे अर्थात् सर्पमये पर्य्यङ्के गुण-गणप-गौरी-परिवृत्तम् व्याप्तं, प्रत्यङ्गं सर्पावलीं दधतम्, जटाजूटेन शोभितम्, शिरसि चञ्चच् चन्द्रः यस्य स शिरश्चञ्चच्चन्द्रः तम्, भसितलसितम् इत्युक्ते भस्मना लसितं, मन्दहसितं, कुन्दैः सितं शम्भुं महाकालनगरी महयति पूजयति वा। अत्रापि 'भसितलसितम्' 'मन्दहसितम्' 'सितम्' इति आनुप्रासिकः शोभाभरः प्रयोगः सहृदयहृदयमावर्जयति।

उज्जयिन्या महाकुम्भपर्वणो महत्त्वं केन वा विस्मर्येत? कविर्महाकुम्भमित्थं विशदयति-

कदा नृत्यद्-भक्त-व्रज-पद-निनादाकुल-पथे
दिगन्ताश्चद्-विद्वद्गण-गणित-'सम्मेलन'-कथे।
परस्कोटि-भ्राम्यज्जन-'जय-जया' ऽऽराव-मुदिते
'महाकुम्भं' द्रक्ष्याम्यविरतमवन्ती-शिवपुरे[10]।।

अत्र आद्यन्तं पदप्रयोगशोभा जनयति सहृदयानन्दम्। काव्यस्था भावविच्छित्तिरपि रम्या वर्तते।

महाकालनगर्या विलक्षण एव इतिहासः, अत्र मृता अपि प्राणिनः कवयो वा जीवन्तो लक्ष्यन्ते। कविः प्राचीनानां महत्त्वभृतां प्राणिनां कवीनां च वर्णनेन मनोरमं चित्रमुपस्थापयति अधोऽङ्किते पद्ये-

क्वचित् कालीदासं रसयति रसस्यन्दि-वचनैः
क्वचिद् योगोत्कर्षं सपदि गमिता भर्तृहरिणा।
क्वचित् त्यागं शौर्य्यं च वहति सतां गुप्त-कुभृतां
भजत्येषा कालं क्वचिदपि महाकाल-नगरी[11]।।

अत्रापि उदात्तालङ्कारः प्रतिपादं विलसति।

मधुपस्य काव्ये न केवलमुदात्तालङ्कारो भूम्ना दृश्यते प्रत्युत अन्येऽपि अलङ्कारा नरीनृत्यन्ति, यथा काव्यलिङ्गालङ्कारः-

नमद्भालः कालः प्रणमति करालोऽपि सभयं
सुर-स्त्री-सङ्घातः परिचरति यत्राञ्जलिपुटैः।
निनादैर्वेदानां विलयमयते शोकलहरी,
तदेतन्मे भद्रं विकिरतु महाकालसदनम्[12]।।

अत्र 'शोकलहरी विलयमयते' इति शोकलहर्याः विलयस्य कारणं वेदनिनाद उपन्यस्तो वर्तते, अतः **'काव्यलिङ्गं हेतोर्वाक्यपदार्थता'**[13] इति मम्मटवचनात् काव्यलिङ्गालङ्कारः स्पष्टमेव विराजते।

रमाशङ्करमिश्रस्य मधुपोपाह्वस्य कवेः विविधेषु छन्दस्सु दृढा गतिर्वर्तते, स स्वकथनमाधारीकृत्यैव छन्दः समाश्रयति। यदि कथनं किञ्चिदुत्तेजकं स्यात् तदा स तत् प्रकटयितुं तादृशं छन्दश्चिनोति येन कथने दार्ढ्यं स्याद्, अस्मिन् सन्दर्भे द्रष्टुं शक्यते स्रग्धरावृत्तमत्र-

उद्यत्तुङ्गतरङ्गरङ्गविहसच्छिप्राटट-प्रोन्नमन्-
मज्जन्मालवमानिनी-कुचतटास्फालोत्थ-पाथो-घटाम्।

नृत्यद्भक्तिवधूविलासविचलद्भक्तावलीघस्मरां
नानापीठमठाधिपार्चितमहाकालां विशालां नुमः[14]।।

अत्र स्रग्धरावृत्तेन साकं षड्वारं कृतः शतृप्रत्ययस्य प्रयोगोऽपि रमणीयतामाविष्करोति। एतत्प्रत्ययेन कस्यचिद् विशालस्य अर्थस्य संक्षेपो जायते, अतः कविः स्वकाव्ये अर्थस्य अधिकं विस्तारं न ईहते। अत्र गाढपदानां सुप्रयोगेण वैचित्र्येण च वैदर्भीरीतिच्छटाऽपि कामपि अभिख्यां तनोति सहृदयचेतसि।

एवमेव अग्रिमे पद्येऽपि कविः 'मधुपः' स्वपदप्रयोगनिपुणतया भावसौन्दर्यश्रिया च हरति मनांसि सचेतसाम्-

वहद्-गङ्गोत्तुङ्गोल्लसित-सित-भङ्गोन्नत-जटो
जटाजूटोदञ्चद्-रुचिरतर-चन्द्रोज्ज्वलतनुः।
मिषन् सानन्दां तां स्मित-मित-मरन्दां नगसुतां
जगन्मूलं भूत्यै मम हृदि महाकाल उदियात्15।।

पद्यस्य प्रथमद्वितीययोश्चरणयोः समस्तपदप्रयोगच्छटा अद्भुतैव। पुनश्च 'स्मित' 'मित' इति आवृत्त्या अनुप्रासो विराजति।

आवन्तिकस्य वन्दितखण्डानन्तरं नन्दितखण्डस्य आरम्भो वेदप्रियनामकस्य शिवभक्तस्य वर्णनेन जायते। शिवभक्त्या सपत्नीकस्य वेदप्रियस्य महादेवप्रसादात् पुत्रप्राप्तिवर्णनं यथा-

एवं गणेश-गिरिजा-गिरिशार्चनोत्कौ तौ दम्पती गमयतः स्म दशाब्द-राशीन्।
गौरीमहेशदृगपाङ्गतरङ्गजातान् लब्ध्वा मुदा तुतुषतुश्चतुरः सुपुत्रान्16।।

अत्र 'दशवर्षाणि अवाहयत्' इति स्थाने 'दशाब्दराशीन् गमयतः स्म' इति प्रयोगेण कवेः वर्णनवैचित्र्योद्भावकं सामर्थ्यं प्रकटितं जायते।

कविः 'मधुपो' बहुत्र विशालमपि अर्थजातं संक्षेपेण प्रकटयति, द्रष्टुं शक्यते 'क्त्वा'प्रत्ययमाध्यमेन तदीयकृतोऽर्थसङ्कोचो, यथा-

भूपान् स्वबाहुविजितान् मनुजानधीनान् विद्रद्रणान् स्ववशगान् भुजगांश्च भीतान्।
शक्रादिदैवतमुखान् सुरलोकभग्नान् कृत्वाऽभवत् स भुवनत्रयभूतिभोक्ता[17]।।

अत्र ब्रह्मणः प्राप्तवरो दूषणनामको दैत्यः स्वोग्रेण तेजसा सर्वान् लोकान् भयाकुलान् अकरोत्। अस्यां स्थितौ कस्य कस्य प्राणिनः कीदृशी कीदृशी स्थितिर्जाता इत्यर्थं कविः 'मधुपः' क्त्वा प्रत्ययेन समासेन वर्णितवान्।

कविः आवन्तिककाव्यस्य फलश्रुतिमपि प्रकाशयति-

इदं महाकालयशोनिकेतनं तदीयधाम्नश्च नभोगकेतनम्।
पठन्ति ये मज्जितमोहमत्सराः सुकाव्यमावन्तिकमुन्नमन्ति ते[18]।।

इत्थमेव अस्मिन्नपि भागे कविना अनेके भावभरिता विषयाश्चित्रिता वर्तन्ते, काव्यान्तं च अमुना पद्येन कृतम्-

कविकुलकमनीयामीप्समानः सुकीर्तिं गुणिगणगणनीयां गौरवार्चाञ्च लिप्सुः।
गिरिशगिरिसुताऽङ्घ्रिद्वन्दभृङ्गायितोऽयं 'मधुप' कविरकार्षीत् काव्यमावन्तिकाख्यम्[19]**।।**

इत्थं द्रष्टुं शक्यते यत् स्तोत्रकाव्यपरम्परायां महनीयेयं कृतिः। अत्र अनेके अस्पृष्टा भावाः कविना वर्णिताः तथैव पदानां पटुप्रयोगोऽपि संस्कृतस्य अपारां समृद्धिं सूचयतीति शम्।

पादटिप्पणयः–

1. लेखकेन विरचितम्।
2. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.01
3. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.02
4. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.03
5. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.04
6. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.05, 06 च
7. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.16
8. काव्यप्रकाशः द.उ. सू.सं.175
9. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.18
9. काव्यप्रकाशः, द.उ. सू.सं.175
10. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.24
11. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.25
12. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.32
13. काव्यप्रकाशः, द.उ. सू.सं.173
14. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं. 35
15. आवन्तिकम्, वन्दितखण्डः, श्लो.सं.58
16. आवन्तिकम्, नन्दितखण्डः, श्लो.सं. 05
17. आवन्तिकम्, नन्दितखण्डः, श्लो.सं. 09
18. आवन्तिकम्, नन्दितखण्डः, श्लो. सं. 50
19. आवन्तिकम्, नन्दितखण्डः, श्लो.सं. 51

परिशीलितौ ग्रन्थौ–

1. आवन्तिकम् , शैलजाप्रकाशनम्, अझारा, लालगंज, प्रतापगढ, प्रकाशनवर्षम् 2005, प्रथमसंस्करणम्।
2. काव्यप्रकाशः, विश्वेश्वरटीका, प्रकाशकः ज्ञानमण्डललिमिटेड, वाराणसी, संस्करणवर्षम् 1998।

सहायकाचार्यः, साहित्यविभागः
हरियाणासंस्कृतविद्यापीठम्,
बघौला, पलवलं, हरियाणा

योगांग ध्यान का स्वरूप

डॉ. विनी शर्मा

योग एक बहुत गहन विषय है। योग सार्वभौम, सर्वकालीन एवं सर्वजनीन दीर्घायुष्यदायिनी एवं सर्वांगीण विकास की पूर्ण विद्या है। विगत कुछ वर्षों तक लोगों की यह धारणा थी कि योग मात्र ध्यान या ज्ञान के लिए साधु-सन्तों एवं योगियों की विद्या है। परन्तु अब योग ने यह प्रमाणित कर दिया है कि उसके पास इनके अतिरिक्त वैज्ञानिक, सामाजिक एवं व्यावहारिक उपलब्धियाँ भी है। विश्व में आज योग पर नये-नये अनुसंधान किए जा रहे हैं। वैज्ञानिकों ने यह माना है कि योग मनुष्य-जीवन के सर्वांगीण विकास से पूर्ण सक्षम है। योग-क्रिया पूर्णतः वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित है। योग को अगर महाविज्ञान कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। त्रिकालदर्शी ऋषियों द्वारा निर्मित योग-विद्या का जीवन के सभी क्षेत्रों में उपयोग किया जा सकता है। परन्तु इसके लिये पुरातन योगशास्त्रों को वैज्ञानिक पहलुओं के आधार पर समझना होगा तभी इसकी आधुनिक उपयोगिता सिद्ध हो सकेगी।

योग का स्वरूप :

योग शब्द वेदों, उपनिषदों, गीता एवं पुराणों आदि में अति पुरातन काल से व्यवहृत होता आया है। भारतीय दर्शन में योग एक अति महत्त्वपूर्ण शब्द है। आत्म दर्शन के उपदेष्टा महर्षि पतंजलि योग शब्द का अर्थ चित्तवृत्ति-निरोध[1] करते है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति[2] ये पंचविध वृत्तियाँ जब अभ्यास एवं वैराग्यादि[3] साधनों से मन में लय को प्राप्त हो जाती है और मन दृष्टा (आत्मा) के स्वरूप में अवस्थित हो जाता है, तब योग होता है।[4]

महर्षि व्यास योग का अर्थ समाधि[5] से करते है। व्याकरण शास्त्र में युज् धातु के भाव में घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ ऋषि पाणिनी धातुपाठ के दिवादिगण में युज् का अर्थ 'युज् समाधौ' रूधादिगण में 'युजिर् योगे' तथा चुरादिगण में 'युज् संयमने' अर्थ में युज् धातु आती है। संक्षेप में हम कह सकते है कि संयम पूर्वक साधना करते हुए आत्मा का परमात्मा के साथ योग करके (जोड़कर) समाधि का आनन्द लेना योग है।

उपरोक्त ऋषियों की मान्यताओं के अनुसार योग का तात्पर्य स्वचेतना और चेतना के मुख्य केन्द्र परम चैतन्य प्रभु के साथ संयुक्त हो जाना है। सम्यक् बोध से रागोपहति[6] होने पर जब व्यक्ति वैराग्य के भाव से अभिभूत होता है तब वह समस्त क्षणिक भावों, वृत्तियों से ऊपर उठकर आत्मसत्ता के सम्पर्क में आता है। चित्त की पाँच अवस्थाएं है-[7] क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरूद्ध। इनमें से प्रथम तीन अवस्थाओं में योग समाधि नहीं होता। एकाग्र और निरूद्ध अवस्था में अविद्यादि पंच क्लेशों एवं कर्म के बन्धन के शिथिल होने पर क्रमशः सम्प्रज्ञात समाधि और असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है।

भारतीय वाङ्मय में गीता का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। भारत की आधुनिक सन्तों ने गीता के योग का प्रचार विश्वभर में किया है। गीता में योगेश्वर श्री कृष्ण योग का अर्थ बताते हुए कहते है कि जो कुछ भी कर्म किया जाए उसे पूर्ण होने न होने में तथा उसके फल में समभाव रहने का नाम समता योग है।[8] ''कर्मों में चतुरता (विशेषज्ञता) को'', कौशल को गीता में योग कहा गया है।[9]

मनुस्मृति के अनुसार ध्यान-योग से ही आत्मा को जाना जा सकता है इसीलिए ध्यान-योग परायण होना चाहिये।[10] और मनुस्मृति में बताया गया है कि योगाभ्यास से परमात्मा की सूक्ष्मता को देखना चाहिये।[11] जैनाचार्यों के अनुसार जिन साधनों से आत्मा की सिद्धि और मोक्ष की प्राप्ति होती है वह योग है अन्यत्र जैन दर्शन में मन, वाणी एवं शरीर की वृत्तियों को भी कर्मयोग कहा गया है।[12]

आधुनिक युग के योगी श्रीअरविन्द के अनुसार परमदेव के साथ एकत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना तथा इसे प्राप्त करना ही सब योगों का स्वरूप है।[13]

इस प्रकार योग का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है, परन्तु सभी का लक्ष्य स्थान एक ही है।

योग के प्रकार :- दत्तात्रेय योगशास्त्र तथा योगराज उपनिषद् में योग के चार प्रकार बताये है- कर्मप्रधान, भक्ति प्रधान, हठयोग, राजयोग (बुद्धि प्रधान)।[14] मनुष्यों की प्रवृत्तियाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। अतः सभी का जीवन-पथ अलग-अलग तरीकों का होता है। लेकिन लक्ष्य एक ही परम तत्त्व की उपलब्धि है। मार्ग भिन्न-भिन्न होने पर भी प्राप्तव्य स्थान एक ही है। ये चारो मार्ग परस्पर विरोधी न होकर एक-दूसरे के सहायक है।

1. **कर्मयोग :-** फल और आसक्ति को त्यागकर ईश्वरार्पण कर्त्तव्यबुद्धि से समत्वभाव रखते हुए विहित् कर्मों को करना अर्थात् निष्काम कर्म, कर्मयोग कहलाता है। कर्मयोग में मल का नाश होता है, चित्त की शुद्धि होती है और कर्मों में कुशलता आती है।
2. **भक्तियोग :-** भक्तियोग ईश्वर के प्रति श्रद्धा, विश्वास एवं आस्तिक भावना की जितनी ही अधिक प्रबलता होगी, अपने लक्ष्य की प्राप्ति से उतनी ही अधिक सफलता मिलेगी। भक्तियोग से विक्षेप दूर होता है और प्रेम एवं सद्भावना का विकास होता है।
3. **हठयोग :-** स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर का ही परिणाम है। स्थूल शरीर का प्रभाव सूक्ष्म शरीर पर बराबर समान रूप से पड़ता है। अतः स्थूल शरीर के अवलम्बन से सूक्ष्म शरीर पर प्रभाव डालकर चित्तवृत्ति निरोध करने की जितनी शैलियाँ है, उनको हठयोग कहते है। विभिन्न मुद्राओं, आसनों, प्राणायाम एवं बन्धों के अभ्यास से शरीर को निर्मल एवं मन को एकाग्र करना होता है।
4. **राजयोग :-** यम-नियमादि के अभ्यास से चित्त को निर्मल कर ज्योतिर्मय आत्मा का साक्षात्कार करना राजयोग कहलाता है। राजयोग शब्द का अर्थ है : राजृ-दीप्तौ धातु से राज का दीप्तिमान, ज्योतिर्मय तथा योग का अर्थ समाधि अथवा अनुभूति है।

गीता में ध्यान योग, सांख्ययोग एवं कर्मयोग के बारे में विस्तृत विवेचना है। गीता के पंचम अध्याय में सन्यासयोग एवं कर्मयोग को श्रेष्ठ माना गया है।

महर्षि पतंजलि ने योगों में अष्टांग योग को प्रमुखता दी है। यौगिक भेदों के बारे में जब हम शास्त्रों को दृष्टिपात करते है तो यही निष्कर्ष निकलता है कि आध्यात्मिक साधनों के क्षेत्र में जितनी भी उपाय या विधियां प्रचलित थी उन सबको योग के नाम से अभिहित किया जाता था।

अष्टांग योग :– अष्टांग योग के अभ्यास से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति होकर क्रम से पंचविभाग वाली अविद्या नष्ट होती है। अविद्या का नाश होने से तद्जन्य अन्तःकरण की अपवित्रता का क्षय होता है और आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। जैसे-जैसे साधक योगाङ्गो का आदरपूर्वक अनुष्ठान करता है वैसे-वैसे उसके चित्त की मलिनता का क्षय होता जाता है और मलिनता के क्षय के परिणाम में उसके चित्त में ज्ञान की उत्कृष्टता होती जाती है और अन्त में विवेक ख्याति की प्राप्ति होती है।

अष्टांग योग का केवल योगियों के लिये ही नहीं अपितु, जो भी व्यक्ति जीवन में स्वयं पूर्ण सुखी होना चाहता है तथा प्राणिमात्र को सुखी देखना चाहता है उन सब के लिए अष्टांग योग का पालन अनिवार्य है। अष्टांग योग धर्म, अध्यात्म, मानवता एवं विज्ञान की प्रत्येक कसौटी पर स्वयं उतरता है। इस संसार को हिंसात्मक संघर्ष से रोकने के लिए यह अष्टांग योग पूर्ण रूप से सिद्ध होगा। जीवन के पूर्ण सत्य से परिचित कराता है अष्टांग योग।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये योग के आठ अंग है।[17]

(1) **यम :–** अष्टांग योग का प्रथम अंग है यम। यम शब्द यम उपरतौ धातु से निष्पन्न होता है जिसका अर्थ है अनुष्ठान से इन्द्रियों एवं मन को हिंसादि अशुभ भावों से हटाकर आत्म केन्द्रित किया जाए। महर्षि पतंजलि के अनुसार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ये पाँच यम है।[18]

(2) **नियम :–** 'अहं ब्रह्मास्मि' मैं ब्रह्म हूँ - वृत्ति का सजातीय प्रवाह और विजातीय वृत्तियों का तिरस्कार नियम है। अर्थात् जन्म के हेतुभूत निष्काम धर्म से निवृत्त कराके मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में प्रेरणा कराने वाले तय आदि नियम कहलाते है। अपने कर्म के फल से दुःखी न होना पड़े इसलिए योगी को नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए। महर्षि पतंजलि लिखते है :

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय तथ ईश्वर-प्राणिधान ये पाँच नियम है।[19]

(3) **आसन :–** पद्मासन, भद्रासन, सिद्धासन या सुखासन आदि किसी आसन मे स्थिरता और सुखपूर्वक बैठना आसन कहलाता है।[20] आसन का मुख्य उद्देश्य है मेरूदण्ड (spine) और सिर को सीधा रखना। क्योंकि उसी के अन्दर सुषुम्ना नाडी विद्यमान है जिसके भीतर क्रमशः वज्रिणी चित्रिणी तथा ब्रह्मनाडी विद्यमान है, आसन मुद्रा एवं ध्यान द्वारा कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है और वह ब्रह्मनाडी के भीतर षट्-चक्रों में पहुँचती है जहाँ साधक समाधिस्थ हो जाता है।

आसन की सिद्धि होने पर शीत-उष्ण, क्षुधा-तृष्णा, राग-द्वेष प्रभृति किसी प्रकार के द्वन्द्व नहीं रह जाते है। नाड़ी समूह की मृदुता, सहनशीलता की वृद्धि, शरीर की लघुता, मन की एकाग्रता और प्राणतत्त्व का उर्ध्वगमन होता है तथा शरीर के अनेक रोगों की निवृत्ति होती है।

(4) **प्राणायाम :–** प्राण, अपान, समान आदि वायु से मन को रोकने का अभ्यास करना अर्थात् प्राणों का आयाम प्राणायाम कहलाता है। प्राणायाम के तीन अंग है- रेचक, पूरक, कुम्भक। प्राणायाम के अभ्यास से संसार को स्थायी बनाने, वाले रागस्पर्शी मोह शनैः शनैः दुर्बल होने लगते है और मन धारणा में निर्विष्ट होने के लिए सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। योग दर्शन के अनुसार प्राणायाम के चार प्रकार है[22]- (i) ब्रह्मवृत्ति (ii) आभ्यन्तर वृत्ति (iii) स्तम्भ वृत्ति (iv) ब्रह्माभ्यन्तर विषयाक्षेपी।

(5) **प्रत्याहार :–** प्रति+आहार = प्रत्याहार। इन्द्रियों की विषयों की ओर से पीछे की ओर लौटाना अर्थात् वृत्ति का अन्तर्मुखी होना प्रत्याहार कहलाता है। अर्थात् इन्द्रियों को स्वाभाविक विषयों से विवेकरूपी बल द्वारा निवृत्त करके, उनके अयोग्य आहार को बन्द करके चित्त को अधीन करना प्रत्याहार कहलाता है।

जितेन्द्रिय मनुष्य की चक्षु आदि इन्द्रियाँ ध्येय वस्तु में परिणत चित्त के सदृश हो जाती है। स्वतन्त्ररूप से वे मन से निकलकर दूसरे-दूसरे विषयों का चिन्तन नहीं करती। चित्त के निरूद्ध होते ही वे स्वयं बिना परिश्रम निरूद्ध होने लगती है। अतः वे उस समय चित्तानुकरिणी समझी जाती है अर्थात् इन्द्रियाँ चित्त की अपेक्षा नहीं रखती और जिन-जिन कामों में चित्त प्रवृत्त होता है उन्हीं में इन्द्रियाँ प्रवृत्त होती रहती है। प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियों की अत्यन्त वश्यता, मन की निर्मलता, तप की वृद्धि, दीनता का क्षय, शरीर की आरोग्यता और समाधि में प्रवेश करने की चित्त की योग्यता प्राप्त हो जाती है।

अतः यम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त बहिरङ्ग योग है। इसके बाद धारणा, ध्यान तथा समाधि रूप अन्तरंग योग है।

(6) **धारणा :–** धारणा वह उपाय है जिससे चित्त को एकाग्र करने में सहायता मिलती है। किसी मन्त्र के जप, किसी देव, देवी या महात्मा के विग्रह या सूर्य, अग्नि, दीपशिखा आदि को अथवा शरीर के किसी स्थान विशेष जैसे हृदय, मूर्धा, तिल अर्थात् आँखों में बीच के बिन्दु, नाभि, कण्ठ, मुख, नासिकाग्र, भूमध्य, इनमें से किसी जगह कल्पना में स्थित करना धारणा है। जैसा कि कुछ उपायों को बतलाने के बाद महर्षि पतंजलि ने बताया कि जो वस्तु अपने को अच्छी लगे उस पर ही चित्त को एकाग्र करने से काम चल सकता है।

चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय के आधार पर लगा देना धारणा है। धारणा में चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय स्थान पर बाँधा जाता है।[24]

(7) **ध्यान :–** चित्तवृत्ति का तैलधारावत् अखण्ड प्रवाह तथा मन का निर्विषयक होना ध्यान कहलाता है। धारणा के स्थान पर ध्येय विषयक ज्ञान की एकाग्रता का नाम ध्यान है। परन्तु वास्तव

में ध्यान का अर्थ है : जब ध्यान में ध्याता तथा ध्यान क्रिया का लोप होकर केवल ध्येय मात्र रह जाये तो वह ध्यान है और यही ध्यान समाधि का रूप ग्रहण कर लेता है।

(8) **समाधि :–** ध्यान ही जब ध्येयाकार होकर साक्षी रूप में निर्भासित होने लगता है चित्त के ध्येय स्वरूपाविष्ट हो जाने के कारण ज्ञानकारक वृत्तियों का उदय न होने से जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य सा हो जाता है तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से प्रतीत हाने लग जाये और ज्ञानाकार रूप से उसका अलग निर्भासन न हो तब ध्यान ही समाधि हो जाती है।

ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग-अलग ज्ञान रहता है और समाधि में इनका पृथक मान नहीं रहता है केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यान मे विभिन्नता है। समाधि दो प्रकार की होती है :

(i) **सम्प्रज्ञात समाधि :–** इस समाधि को सविकल्प समाधि भी कहते है जिसमें ज्ञाता और ज्ञानादि के विकल्प लय की अनपेक्षा हो और अद्वितीय ब्रह्मा के आकार की आकारता हो।

इसमें चित्त की वृत्ति को ब्रह्म में लय कर देना होता है और इसका कुछ विचार नहीं रहता कि ज्ञाता और ज्ञान में भेद है या नहीं। इस समाधि में किसी न किसी अवलम्बन की आवश्यकता रहती है। इसमें प्रज्ञा के संस्कार भी रह जाते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि चित्त की एकाग्रता अवस्था में होती

(ii) **असम्प्रज्ञात समाधि :–** इसे निर्विकल्प समाधि भी कहते है। इसमें ज्ञाता-ज्ञानादि के भेद की कोई अपेक्षा नहीं रहती। जैसे जल में लवण मिलकर जल-रूप हो जाता है उसी प्रकार ब्रह्म में चित्त वृत्ति लीन हो जाने के ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं दिखाई देता।

इसमें कोई अवलम्बन नहीं रहता। सब वृत्तियाँ विलीन हो जाती है। यह समाधि चित्त की निरूद्धावस्था में होती है और पर-वैराग्य इसका कारण है। इसके अन्त में चित्त का विनाश हो जाता है। इसी अवस्था को आत्मसाक्षात्कार की अवस्था भी कहते हैं। यही जीव का अन्तिम लक्ष्य है।[28]

ज्ञान की पराकाष्ठा ही वैराग्य है। समाधि द्वारा ज्ञान के इस उच्चतम क्षितिज की प्राप्ति होने पर मोक्ष अवश्यभावी है जिसे पाकर योगी इस प्रकार अनुभव करता है कि प्राप्त करने योग्य सब कुछ पा लिया, क्षीण करने योग्य अविद्यादि क्लेश नष्ट हो गये है। मनुष्य अपने सभी प्रकार के अभीष्ट को सिद्ध करने में समर्थ हो गया है। समाधि द्वारा जो आनन्द प्राप्त होता है, इसका वर्णन नहीं हो सकता, उसकी केवल अन्तःकरण में अनुभूति मात्र होती है।

ध्यान की उपादेयता

नाभिचक्र, भ्रूमध्य या हृदय आदि में ध्येय रूप परमेश्वर में प्रत्यय एकतानता-ज्ञान का सदृश प्रवाह (एक सा प्रवाह)-ध्यान है। जैसे नदी जब समुद्र के बीच प्रवेश करती है तब वह समुद्र के साथ एकाकार हो जाती है। सदृश प्रवाह हो जाती है। वैसे ही ध्यान के समय सच्चिदानन्द परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य विषय का स्मरण नहीं करना, अपितु उसी अन्तर्यामी ब्रह्म के आनन्दमय, ज्योतिर्मय व शान्तिमय स्वरूप में मग्न हो जाना ध्यान है।

ध्यान हमारे जीवन के साथ प्रतिपल जुडा हुआ है। भारतीय संस्कृति में तो ध्यान प्रत्येक क्रिया का पूरक होता था। इसीलिए आज भी हमें अपने घर व परिवार के बड़े व्यक्ति किसी कार्य को विधिवत् सम्पन्न करने हेतु जब कहते है तो सर्वत्र यही वाक्य होता है ध्यान से पढ़ना, ध्यान से चलना, प्रत्येक कार्य को ध्यान से करना। आज हम ध्यान शब्द का प्रयोग तो करते है परन्तु यह ध्यान क्या है, इस ओर किसी का ध्यान नहीं जाता है। लेकिन जीवन के प्रत्येक कार्य के साथ जुड़े इस ध्यान शब्द से हम यह तो जान ही सकते है कि ध्यान जीवन का अपरिहार्य अङ्ग है। ध्यान के बिना जीवन अधूरा है। ध्यान के बिना हम अपने किसी भी भौतिक व आध्यात्मिक लक्ष्य में सफल नहीं हो सकते। ध्यान से ही हम सदा आनन्दमय व शान्तिमय जीवन जी सकते है। यद्यपि ध्यान अपने आप में एक बहुत बडी यौगिक प्रक्रिया है फिर भी ध्यान की कुछ विधियो पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है :

(1) ध्यान करने से पहले प्राणायाम करना चाहिये क्योंकि प्राणायाम के द्वारा मन पूर्ण शान्त व एकाग्र हो जाता है। शान्त मन के द्वारा ही धारणा व ध्यान हो सकता है।

(2) कपालभाति और अनुलोम-विलोम-प्राणायाम विधिपूर्वक करने से मन निर्विषय हो जाता है, अतः ध्यान स्वतः लगने लगता है। साधक जब कम से कम 3 मिनट कपालभाति और 5 से 10 मिनट अनुलोम-विलोम प्राणायाम करता है तो उसके मूलाधार चक्र में सन्निहित ब्रह्म की दिव्यशक्ति जागृत होकर ऊर्ध्वगामी होने लगती है, जिससे समस्त चक्रों और नाड़ियों का शोधन हो जाता है। आज्ञाचक्र में, एक दिव्यज्योतिपुंज में सच्चिदानन्द स्वरूप आकार में मन अवस्थित हो जाता है। अत्यन्त चंचल मन भी प्राणायाम के द्वारा एकाग्र हो जाता है।

(3) ध्यान करते समय ध्यान को ही सर्वोपरि महत्त्व देना चाहिए। ध्यान के समय किसी भी अन्य विचार को चाहे वह कितना ही शुभ हो, महत्त्व नहीं देना चाहिए। ध्यान के समय चिन्तन, मनन, निदिध्यासन व साक्षात्कार का लक्ष्य ईश्वर है।

(4) ध्यान के समय मन एवं इन्द्रियों को अन्तर्मुखी बनाएं तथा ध्यान से पहले प्रतिदिन मन मे यह चिन्तन भी अवश्य करना चाहिए कि मैं प्रकृति, धन, ऐश्वर्य, भूमि, भवन, पुत्र, पौत्र, भार्या आदि रूप नहीं हूँ ये सब व्यक्त-अव्यक्त तत्त्व मेरे रूप नहीं है। मैं समस्त जड़ व चेतन ब्रह्म पदार्थों के बन्धन से परे हूँ। यह शरीर भी मेरा स्वरूप नहीं है। मैं आनन्दमय, ज्योतिर्मय, प्रकाशमय, शान्तिमय, परमसुखमय, त्रिगुणातीत, भावातीत, शुद्धसत्त्व हूँ। मैं सदा प्रभु में हूँ और प्रभु सदा मुझमें हैं, यह तादात्म्य भाव, तद्स्पता व तदाकार भाव ही हमे परम आनन्द प्रदान करेगा।

(5) साधक को सदा विवेक-वैराग्य के भाव में रहना चाहिए। स्वयं को द्रष्टा-साक्षी में अवस्थित रखकर अनासक्त भाव से समस्त शुभ कार्यों को भगवान् की सेवा मानकर करना चाहिए। कर्त्तव्य का अहंकार व फल की अपेक्षा रहित कर्म भगवान का क्रियात्मक ध्यान है।

(6) ब्रह्म सुख प्राप्ति का विचार व सुख के समस्त साधन सब दुःख रूप है। संसार में जब तक

सुख बुद्धि बनी रहेगी तब तक भगवत् समर्पण, ईश्वर प्राणिधान नहीं हो सकेगा तथा बिना ईश्वर प्राणिधान के ध्यान व समाधि तक पहुँचना असम्भव है। तस्य वाचकः प्रणवः। (योग 1/27) तत्जपस्तदर्थभावनम्। (योग 1/28)

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म। (गीता)

ओं खं ब्रह्म। (यजुर्वेद)

ध्यान के लिए अर्थ पूर्वक ओंकार जप का अवलम्बन सर्वोत्तम है। भगवान् ने ध्रुवों की आकृति, आँख, नाक, ओष्ठ, कान, हृदय व छाती समस्त अङ्गों की आकृति ओंकारमयी बनाई है। यह देह तथासमस्त ब्रह्माण्ड ओंकारमय है। इस प्रकार साधक ओंकार का जाप करता हुआ सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी, सच्चिदानन्द ब्रह्म परमेश्वर को ही सर्वत्र अनुभव करता हुआ दिव्यस्वरूप में समाहित होने लगता है।

(8) श्वास-प्रश्वास पर मन को एकाग्र करके प्राण के साथ ओंकार की उपासना की जाती है। सभी इन्द्रियाँ सदोष है क्योंकि आँखें शुभ-अशुभ दोनों प्रकार से देखती है। कान भद्र-अभद्र सुनते है, घ्राण गन्ध-दुर्गन्ध दोनों को ही सूंघते है, वाणी झूठ-सत्य बोलती है, रसना भक्ष्य-अभक्ष्य दोनों की प्रकार का भक्षण करती है, मन में भी कुविचार व सुविचार आदि रूप में पूर्ण निर्दोषता नहीं है। प्राण पूर्ण निर्दोष व निर्विकार है। अतः निर्विकार व निर्दोष ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए हमें निर्दोष प्राण का आश्रय लेकर प्राण के साथ ओंकार उपासना करनी चाहिए। जब भी समय उपलब्ध हो बैठ जाएं ओर द्रष्टा बनकर श्वास-प्रश्वास को दीर्घ व सूक्ष्म गति से लेते और छोडते हुए प्रत्येक श्वास के साथ ओंकार का ध्यान करें। श्वास की गति सूक्ष्म होनी चाहिये। प्रयास करें कि एक मिनट में एक श्वास तथा एक प्रश्वास चले। इस प्रकार कुछ समय तक ओंकार जाप करने से ध्यान स्वतः होने लगता है। यही सहजयोग है तथा ध्यान करते-करते साधक सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म के स्वरूप में तद्रूप होता हुआ समाधि के अनुरूप दिव्य आनन्द को भी प्राप्त कर लेता है।

साधक को सोते समय भी इस प्रकार ध्यान करते हुए सोना चाहिए, ऐसा करने से निद्रा भी योगमयी हो जाती है ऐसा करने से साधक का सम्पूर्ण जीवन योगमय होने लगेगा।

(9) इस प्रकार प्रत्येक मुमुक्षु को प्रतिदिन कम से कम एक घंटा जप, ध्यान व उपासना अवश्य करनी चाहिए। ऐसा करने पर इसी जन्म में सम्पूर्ण दुःखों की समाप्ति और परम पिता परमेश्वर की अनुभूति हो सकती है।

निष्कर्षतः अग्नि की तरह है ध्यान। बुराइयाँ उसमें जलकर भस्म हो जाती हैं। ध्यान है धर्म और योग की आत्मा। ध्यान से ही हम अपने मूल स्वरूप या कहें कि स्वयं को प्राप्त कर सकते है। ध्यान से ही हिंसा और मूढ़ता का नाश हो सकता है। ध्यान के अभ्यास से जागरूकता बढ़ती है। ध्यान शांति प्रदान करता है। ध्यान से सभी व्यर्थ के विचारों का नाश होता है। विचारों पर नियंत्रण

हो जाता है। ध्यान तन, मन और आत्मा के बीच लयात्मक सम्बन्ध बनाता है और उसे बल प्रदान करता है। ध्यान का नियमित अभ्यास करने से आत्मिक शक्ति बढ़ती है और मानसिक शांति की अनुभूति होती है।

सन्दर्भ सूची

1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध : योग दर्शन 1/2
2. प्रमाणविपर्यय-विकल्प-निद्रास्मृतय : योग दर्शन 1/6
3. अभ्यासवैराग्याभ्यां तभिरोध : योग दर्शन 1/12
4. तदा द्रष्टु : स्वरूपेऽवस्थानम् 1/3
5. योगः समाधि व्यास भाष्य यो. द. 1/1
6. ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। व्यासभाष्यम् यो.द. 1/16
7. क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्र निरूद्धमिति चित्तभूमयः। व्यास भाष्यम् यो.द. 1/1
8. आत्मस्थ कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय। सिद्ध्यसिद्धयोः समोभूत्वा समत्वं योग उच्यते। गीता 2/48
9. योगः कर्मसु कौशलम्। गीता 1/50
10. ध्यानयोगेन सम्पश्यद्गतिमस्यान्तरात्मनः। मनुस्मृति 6/73
11. सूक्ष्मता चान्वपेक्षेत योगेन परमात्मनः। मनुस्मृति
12. कायवाङ्मनः कर्मयोग - तत्त्वार्थसूत्र 6/1
13. श्री अरविन्द - योग समन्वय पृ. 605
14. मन्त्रयोगो लयश्चैव हठयोगस्तथैव च। राजयोगश्चतुर्थः स्यद्योगानामुत्तमस्तु सः। दत्ता योग 18,19
15. ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना। अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे। गीता 3/24
16. सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ। तथोस्तु कर्मसंन्यासात् कर्मयोगो विशिष्यते। गीता 5/2
17. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयः अष्टौ-अङ्गानि। योग दर्शन 2/29
18. अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः। यो.द. 2/30
19. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः। यो.द. 2/32
20. स्थिरसुखममासनम्। यो.द. 2/46
21. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः। योग द. 2/49
22. बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः। योग.द. 2/50
    बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपीश्चतुर्थः यो.द. 2/51
23. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो.द. 2/54
24. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। यो.द. 3/1
25. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो.द. 3/2 26.
26. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः। यो.द. 3/3 27.
27. पातंजलयोगदर्शनम, डॉ. सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव, वाराणसी, पृ. 32-33 28.
28. उपरोक्त, पृ. 33-36

सहायकाचार्य (राजनीति विज्ञान)

केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, जयपुर

वेदमतानुसारेण व्याकरणस्योत्पत्तिः

धर्मेन्द्रकुमार पाठकः

प्राचीनासु भारतीयभाषासु यथा संस्कृतं सर्वातिशायि वर्तते तथैव वैदिकवाङ्मयं प्रामाणिकरूपेण स्वीक्रियते सर्वैरपि सुधीभिः। सर्वत्र ''वेदाः प्रमाणम्'' इति मतं सर्वेषु वाङ्मयेषु वेदाङ्गानां निर्माणं वैदिकयुगस्योत्तरार्द्धभागेऽभवत्। वेदानां रक्षकत्वाद्, वेदार्थावबोधने सहायकत्वात् प्रकृतिप्रत्ययोपदेशपुरस्सर-पदस्वरूपप्रतिष्ठापकत्वादर्थनिर्णयेन कृत्साधनेष्वन्यतमसाधनत्वेन प्रयुक्तत्वाद् व्याकरणं नाम अङ्गं नितान्तमेव महनीयं श्रेष्ठञ्च तदङ्गेषु स्मृतम्।

''व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्'' इति व्याकरणस्य व्युत्पत्तिलभ्योऽर्थोऽस्ति पदमीमांसाकारं शास्त्रम्। तत्र वेदस्य मुख्यत्वेन स्मृतम्-''मुखं व्याकरणं स्मृतम्'' भाषालोकव्यवहारं प्रवर्तयति। यदि भाषा न स्यात् तर्हि जगदिदमन्धे तमसि मज्जेत् यथोक्तं दण्डिना-

इदमन्धंतमः कृत्स्नं जायते भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते।।''[1]

भाषायाः शुद्धये व्याकरणस्य अपेक्षा भवत्येव। न हि व्याकरणज्ञानशून्यः साधून् शब्दान् प्रयोक्तुमीशः।

स्वयं ऋक्संहितायाम् अस्य व्याकरणस्य प्रशंसायाम् अनेके मन्त्राः भिन्नभिन्नस्थानेषूपलब्धा भवन्ति। ऋग्वेदस्यैकस्मिन् सुप्रसिद्धे मन्त्रे व्याकरणं वृषभस्य रूपकत्वेन प्रतिपादितमस्ति। चत्वारि शृङ्गाः त्रयोअस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्ता सोऽस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्याम् आविवेशः।।''[2]

इत्यादिशब्दैस्तत्प्रशंसा श्रूयते। अस्य वृषभरूपी व्याकरणस्य चत्वारि शृङ्गाणि सन्ति नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपातरूपाणि। त्रिपादोस्य भूत भविष्य, वर्तमानाः। सुप्तिङन्तश्च द्वे शीर्षे स्तः। सप्तविभक्तयश्च सप्तहस्ताः सन्ति। उरसि, शिरसि च कण्ठे त्रिधा बद्धो वृषभोऽयमस्ति। एवंविधव्याकरणज्ञानाद् योऽनभिज्ञोऽस्ति सः जानन्नपि न जानाति। पश्यन्नापि न पश्यति, शृण्वन्नपि न शृणोति। किञ्च यो हि जनो व्याकरणशास्त्रज्ञोऽस्ति (यथा....नाम) तत्सन्निधौ वाणी सुसज्जिता कामिनीव समागत्य सर्वतोभावेन समर्पिता भवति-

उतत्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उतत्वः शृण्वन्न शृणणोत्येनाम्
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः।।[3]

वेदस्य रक्षार्थं व्याकरणस्य अध्ययनं परमावश्यकम्।''रक्षार्थवेदानामध्येयं व्याकरणं लोपागमवर्णविकारज्ञो हि पुरुषः सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यति।।''[4] इति पतञ्जलिः।

वेदरक्षायै व्याकरणस्य वेदाङ्गत्वमपि समर्थ्यते। व्याकरणस्य सर्वाणि प्रयोजनानि उक्तानि महाभाष्ये-''रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्।''[5] रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्।

मनुष्येषु पारस्परिकभावविनिमयार्थं भाषा प्रमुखं साधनं भवति। अनया भाषयैव मानवः पशुभ्यः श्रेष्ठतम इत्युच्यते। एषा भाषासमुदायस्य कोऽपि वाङ्निधिरस्ति। या कण्ठतालवादिभिः उच्चारणस्थानैरुच्चार्यते,

यथा च वक्तुर्विवक्षितभावाभिव्यक्तिः सम्भवति। एषा भाषा द्विविधा विभज्यते। वैदिकी लौकिकी च। वेदाङ्गेषु प्रधानमिदं व्याकरणं योऽधीते स एवेतराणि शास्त्राण्यधिगन्तुं समर्थो भवति। तदुक्तं–

यो वेद वेदवदनं सदनं हि सम्यक्
स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम्।।
यस्मादतः प्रथमेतदधीत्य धीमान्।
शास्त्रान्तरेषु भवति श्रवणेऽधिकारी।।''[6]

व्याकरणस्योत्पत्तिः कदा जाता इति कथनं दुष्करमेव। वैदिककालादारभ्य इदानीं यावत् सर्वत्र व्याकरणस्य सूचना लभ्यते। यजुर्वेदे यथा–

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः[7] **।।19।।77।।**

गोपथब्राह्मणे व्याकरणस्यं स्पष्टं व्याख्यानं लभ्यते। यथा-ॐ कारं पृच्छामः। को धातु? किं प्रातिपादिकम्? किं नामाख्यातम्? किं लिङ्गम्? किं वचनम्? का विभक्तिः? कः प्रत्ययः? कः स्वरः? उपसर्गो निपाताः। किं वै व्याकरणम्? को विकारः? को विकारी? कतिमात्रः? कतिवर्णः? कत्यक्षरः? कतिपदः? कः संयोगः? किं स्थाननादानुप्रदानानुकरणम्? इति।''[8]

निरुक्तशास्त्रे उच्यते-''न सर्वाणीति गार्ग्यो वैयाकरणानां चैके।।''[9]

अनेन प्रकारेण व्याकरणस्योत्पत्तिविषये वेदे यत्र-तत्र प्रामाण्यं समुपलभ्यते। यदा काऽपि भाषा व्यवहारातीततां प्रयाति तदा तस्य भाषाया ज्ञानं व्याकरणमन्तरेण न प्रतिपत्तुं शक्यं भवति। व्याकरणमेव भाषायाः स्वरूपसंघटनं सर्वात्मना कुरुते। तस्मात् व्याकरणमेव भाषाज्ञानलाभाय सर्वेषामपि अष्टानां शक्ति यग्राहकाणां मध्ये मूर्धन्यस्थानमध्यास्ते। एतदेव व्याकरणस्य नितान्तमेवोपादेयतां श्रेष्ठताञ्च तत्र तत्रावलोक्यैव तन्महिम्नि शास्त्रज्ञैः अभिहितमिदम्–

यद्यपि बहुनाधीषे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम्।
स्वजनः श्वजनो मा भूत् सकलं शकलं सकृच्छकृत्।।
शब्दशास्त्रमनधीत्य यः पुमान् वक्तुमिच्छति वचः सभान्तरे।
बद्धुमिच्छति वने मदोत्कटं हस्तिनं कमलनालतन्तुना।।

संदर्भग्रन्थाः–

1. काव्यादर्श - 4/187
2. ऋग्वेद - 4/58/6
3. ऋग्वेद - 10/71/1
4. पस्पशाह्निवु
5. महाभाष्य
6. भास्कराचार्य
7. शु.यजुर्वेद-19/77
8. गोपथब्राह्मण-1/24
9. निरुक्त-1/12

वेदविभागः सहायकाचार्यः
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

ज्योतिषशास्त्रे राजयोगानां निरुपणम्

डॉ. सुभाषचन्द्र मिश्र

पूर्वजन्मशुभपुण्यफल मानवेन अस्मिन् जन्मनि प्राप्यते। अत्र एते विशेषशुभफलप्रदाः ग्रहयोगाः राजयोगशब्देनाङ्गीकृताः सन्ति। एषां योगानां विज्ञाने निम्नाङ्कितानां ज्ञानमावश्यकम्। तेनैव योगानां बलाबलत्वं विशिष्ते। ते च–

ग्रहयोगोऽनेकग्रहयोगेनैव भवति न चैकन ग्रहेणेति। ग्रहाणां शुभाशुभत्वमपि प्रकारद्वयेन ज्ञायते।

स्वाभाविकशुभत्वमशुभत्वञ्च। एवं च राशिभावग्रहयोगानुरूपं शुभत्वमशुभत्वं च। प्रथमतया गुरुशुक्रौ शुभग्रहसंयुतौ बुधः क्षीधा रहित चन्द्रमा च स्वाभाविकाः शुभग्रहाः सन्ति। एवञ्च त्रिकोण-स्थितग्रहाः शुभग्रहाः भवन्ति। अस्मिन-विषये लघुपाराशर्यां सम्यक-वर्णनं प्राप्यते। यथा-

सर्वे त्रिकोणनेतारो ग्रहाः शुभफलप्रदाः।
पतयः तिपडायानां यदि पापफलप्रदाः।।[1]

अत्र आशयोऽस्ति सर्वेत्रिकोणस्था ग्रहाः स्वाभाविकाशुभग्रहाश्च एवञ्च **त्रिषडायेशाश्च** सर्वेग्रहाः अशुभा एव भवन्ति। लघुपाराशरीग्रन्थानुसारेण द्वितीय-द्वादश भावाधिपौ समौ। यथोक्तम्–

लग्नाद्व्ययद्वितीयेशौ परेषां साहचर्यतः।
स्थानान्तरानुगुण्येन, भवतः फलदायकौ।[2]

एवञ्च-

भाग्यव्ययाधिपत्येन रन्ध्रेशो न शुभप्रदः।
स एव शुभ संधाता लग्नाधिशोऽपि चेत्स्वयम्।।[3]

राशिभावानुसारेणाऽपि ग्रहाणां शुभाशुभत्वं वर्ण्यते। तत्र द्वादशलग्नवशादऽपि कारकमारकादिग्रहाणां निर्णयं कर्तुं शक्यते।।

राजयोगः–

यस्मिन् योगे समुत्पन्नः जातकः राजाः इव फलभाग् भवति स योगः राजयोगनाम्ना ज्ञायते। ज्योतिषशास्त्रे विभिन्नग्रन्थे राजयोगादिविषये सम्यक् विवेचनं प्राप्यते। तत्र विविधानां राजयोगानां धनदरिद्रादि-योगानां विवेचनं विहितम्। विविधराजयोगज्ञाने द्वादशराशिचक्रमधिकृत्य सूर्यादिग्रहाणां पापपुण्यकारकमारक-दिविषयक वर्णनमपि तत्रैव विद्यते। होराशास्त्रे राजयोगाध्याये पञ्चमहापुरुषः भास्करः, इन्द्रयोगः, मरुतयोगः, बुधयोगः, केमद्रुमयोगः, सुनफानफा दुरुधराधि योगः, पारिजातादि अधमादि, चन्द्राधि, लग्नाधि, आमलायोगः, वेभि-वाशि उभयचरी योगः, काहल-पर्वत-मालिका-चामर-शंख-मेरी-श्रीनाथ-शारद-मत्स्य-कूर्म-लक्ष्मी-गजकेशरी प्रभृतिकानां राजयोगादिफलप्रतिपादिकानां योगानां वर्णनं दृश्यते।

बृहत्पाराशर-होराशास्त्रे सप्तसु अध्यायेषु, जातकपारिजात ग्रन्थे सप्तमे अध्याये, वृहज्जातकग्रन्थे एकादशाध्याये एवञ्च अन्येषु फलितज्योतिषशास्त्रीयग्रन्थेषु अपि राजयोगादि विषये सम्यक वर्णनं विहितम्।

ज्योतिष-महर्षिणः ग्रहाणां राशिभावादीनाञ्च योगेन व्यक्तिविशेषस्य कृते न केवलं राजयोगशब्देन वर्णनं विहितमपितु मूक-बधिर-रोगाक्रान्ता-दरिद्रजनानामपि विशदं निःपणम् अङ्कितम् ग्रहाणां योगायोगेनैव पुरुषादिकस्य भाविफलविचारोऽत्र उपलभ्यते। यस्य माध्यमेन पुरुषो कस्मिन्-समये भाग्योदयमुपयास्यति तद्सम्बद्धवर्णनं वयं कर्तुं शक्नुमः।

विभिन्न राजयोगाः तत् फलञ्च–

गजकेशरीयोगः तस्यफलम्–

गजकेशरीसंज्ञक राजयोगाः निम्नप्रकारकाः भवन्ति। प्रथमतया जातकस्य कुण्डल्यां चन्द्राधदि बृहस्पतिः केन्द्रे स्यात्तदा गजकेशरी राजयोगः भवति।

द्वितीयः यदा गुरु-शुक्र-बुधः नीचङ्गता-अस्तमिताः व न भवेयुः तैश्चन्द्रश्च दृष्टः स्यात्तदापि गजकेशरी नामको योगः।यथोक्तम्-[4]

केन्द्रास्थिते देवगुरौ मृगाङ्कोद्योगस्तदादुर्गजकेसरीति।
दृष्टे सितार्येन्दुसुतैः शशाङ्के नीचस्तहीनैर्गजकेसरीस्यात्।।

जातकस्य कुण्डल्यां चन्द्रराश्ये केन्द्रे यदा बृहस्पतिः स्यात्तदा गजकेसरीयोगः। लग्नाच्चन्द्राद्वा यदि केन्द्रे शुभग्रह दृष्टो युतो भवेत्तथा स च नीचास्तङ्गतः शत्रुदृष्टश्च न स्यात्तदा गजकेशरी योगः। यदि गुरुशुक्रबुधाः नीचङ्गताः अस्तमिताः वा न भवेयुः तैश्यन्द्रश्च दृष्टः स्यात्तदपि गजकेसरी नामकोयोगः।

फलम्– अत्रोत्पन्नो नरो मेधावी तेजस्वी गुणसम्पन्नो राजप्रियकरो धनवान् च भवति।

पञ्चमुहापुरुष योगः–

जातक पारिजाते एवञ्च ज्योतिषशास्त्रस्य अन्येऽपि ग्रन्थेः पञ्चमहापुरुषयोगानां वर्णनं विहितम्। अत्र राजयोगानां मध्ये भौमबुधगुरुशुक्रशनयो यदि स्वस्था उच्चस्था वा केन्द्रे भवेयुस्तदा क्रमानुदरुचकभद्रहंसमालव्य शशकसञ्ज्ञकाः पञ्चमहापुरुषनामकयोगाः भवन्ति। एतेषां योगानां प्रायः सर्वेषु ग्रन्थेषु विस्तरोपलभ्यते। यथोक्तम्–

मूलात्रिकोण निगतुङ्गगृहोपयाता, भौमज्ञजीवसितभानुसुता बलिष्ठाः।
केन्द्रास्थितास्यु यदि तदा रुचभद्रहंसमालव्यशशयोगकरा भवन्ति।।[5]
केन्द्रोच्चगा यद्यपि भूसुताधा मार्तण्डशीतांशुयुता भवन्ति।
कुर्वन्ति नोर्वोपतिमात्मपाके यच्छन्ति ते केवलसत्फलानि।। (मानसागरी)

रुचक योगफलम्– अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः बलान्वितः कीर्तियुक्त, शीलवानश्च भवति। सप्तति वर्षाणि आयुश्च प्राप्यते।[6]

एकादशेशः, नवमेशः द्वितीयेशः यदा चन्द्रात् केन्द्रे स्यात् एवञ्च गुरुः लाभेश भवति तर्हि जातकः चक्रवर्ती राज्ञः भवति।[7]

भद्रयोगफलम्– अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः सिंह सदृश्यैव बलवानः गजसमानैव गतिः, पुष्टवक्षस्थलयुक्तः मानीः, उपकारीः, प्रज्ञावानः धनयशयुक्तश्चैव भवति। अशीतिमितापुर प्राप्यते।[8]

हंसयोगफलम्– अस्मिन् योगे उद्भद्जातकः गौराङ्गः हंसस्वरः, श्लेष्मक सुकुमारः शास्त्रज्ञः, कामदेव सदृशः, गुणवानः, आचारयुक्तश्च (82) वर्षाणि आयुप्राप्यते।[9]

मालव्ययोगफलम्– अस्मिन् योगेसमुत्पन्नस्य जातकः कामिनी सदृशगुणरुपयुक्तश्च, तेजस्विनः, स्त्री-पुत्रादि धनवाहनयुक्तश्च शास्त्रार्थ पण्डितः, उदार प्रकृतिः परस्तरितः, सप्तसहितं सप्तति वर्षाणि (77) आयुः प्राप्यते।

शशयोगफलम्– शशयोगे समुद्भूद्जातकः, राज्ञः, मन्त्रीः, सेनापतिः पर्वतारोहिणः, धातुव्यवसाययुक्तः, दानशीलः, तेजस्विनः, मातृभवतः श्यामलवर्णः परस्तीरतः भवति।

फलदीपिकाकारानुसारेण–

लग्नेन्द्वोरपि योगपञ्चकमिदं साम्राज्यसिद्धिप्रदं
तेष्वेकादिषु भाग्यवान् नृपसमो राजा नृपेन्द्रोऽधिकः।।

सारावती प्रभृतग्रन्थानुसारेण पञ्चमहापुरुषयोगस्य लक्षणम्–

स्वक्षेत्रे च चतुष्टये च वलिभिः स्वोच्चास्थि तैर्वा ग्रहैः,
शुक्राङ्गारकमन्दजीवशशिजैरैतैर्यथानुक्रमम्।
मालव्यो रुचकः शशोऽथ कथितो हंसश्च चभद्रस्तथा,
सर्वेषामपि विस्तरं मतिमतां संक्षिप्यते लक्षणम्।।

फलदीपिकाग्रन्थानुसारेण–

रुचक भद्रकहंसकमालवाः सशशका इति पञ्च च कीर्तिताः।
स्वभवनोच्चगतेषु चतुष्टये क्षितिसुतादिषु तान् क्रमशो वदेतः।।

मानसागरीनुसारेण–

केन्द्रोच्चगा यद्यपि भूसुताधा मार्तण्डशीतांशुयुता भवन्ति।
कुर्वन्ति नोर्वीपतिमात्मपाके यद्यन्ति ते केवलसत्फलानि।।

आमलायोगतत्फलञ्च–[10]

लग्नाच्चद्राच्च दशमे शुभग्रहः स्थितश्चेतदामलाख्यो योगः। अस्मिन् योगे जातः पुरुषो राज्यपूज्यो महायोगी, दाता बन्धुजनप्रियः परोपकारी गुणवान् जायते।

यस्य जन्मसमये शशिलग्नात् सद्ग्रहो यदि च कर्मणि संस्थः।
तस्य कीर्तिरमला भुवि तिष्ठेदायुषोऽन्तविनाशनसम्पत्।।

मालिकायोगतत्फलञ्च–[11]

लग्नद्वितीयादिद्वादशभावेभ्यः आरभ्य यदि सप्तस्थानेषु क्रमशः सप्तग्रहाः भवेयुस्तदा द्वादशभेदात्मको मालिका भवति। तज्ज्ञाः फलञ्च निम्नप्रकारेण भवति।

लग्नादारभ्य लग्नमालिका। फलम्– महापतिरनेक, गजाश्वनाथः, द्वितीय स्थानादारभ्य वित्तमालिका। फलम्– निधिपतिपितृभक्तिरतः, धीरोग्ररूपो धनवान् चक्रवर्ती च। तृतीयास्थानादारभ्य विक्रममालिका। फलम्– भूपः शूरो धनिकश्च रोगी। सुखस्थानादारभ्य सुखमालिका।

फलम् –बहुदेशभाग्यभोगी, महादानीभूपः। पुत्रस्थानादारभ्य पुत्रमालिका।

फलम्– नरपतिर्यज्वा कीर्तिमान्। षष्ठस्थानादारभ्य षष्टमालिका।

फलम्– क्वचित् धनसुखयुतो दरिद्रो वा। सप्तस्थानादारभ्य कामादिग्रहमालिका।

फलम्– बहुस्त्रीवल्लभोभूपतिश्च। अष्टमस्थानादारभ्यष्टममालिका।

फलम्– दीर्घायुर्धनवर्जितः स्त्रीनिर्जितश्च। एवं धर्मादिग्रहमालिका।

फलम्– गुणनिधिर्यज्वा तपस्वी विभुः। कर्मादिमालिका।

फलम्– धर्मकर्मनिरत सम्पूजितः सज्जनैः। लाभमालिका।

फलम्– राजवराङ्गनामधिपतिः सर्वक्रियदक्षकः। रिःफगृहमालिका।

फलम्– बहुव्ययकरः, सर्वत्र पूज्यश्च जातको भवति।

नाभसयोगाः

एतेषां सङ्ख्याष्टादशशतमस्ति। तत्र मुख्या द्वात्रिंशत्संख्यकाः सन्ति।[12] एतेषु त्रय आश्रययोगाः, द्वौ दलयोगौ, विशतिसङ्ख्यका आकृतियोगाः, सप्तसङ्ख्यकाः योगा उपलभ्यन्ते। अनेनैषां चतुर्विधत्वं सुस्पष्टम्। एषां नाभसंयोगानां वर्णनं बहुसंख्यक ज्योतिषे ग्रन्थेषु उपलभ्यते। यथा–वृहज्जातके सारावल्यां, जातकपारिजातादि ग्रन्थेषु।

आश्रययोगाः[13] – रज्जुमूसलनलनाम्नात्रयः आश्रययोगाः भवन्ति।

रज्जुयोगाः– यदासर्वेग्रहाःचरराशिशु मेषकर्कतुलामकरेषु भवेयुस्तदा रज्जुनामस्यं योगः। अस्मिन् योगे उत्पन्नः जातकः प्रवासी, पर्यटनपरः क्रूरः खलश्च भवति।

मूसलयोगाः– यदि सर्वेग्रहाः स्थिरराशिशु (2,58,11) भवेयुः तदा मूसलयोगः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नो नरः मानी, धनी, ज्ञानी, भूपप्रियः, बहुपुत्रयुतः, स्थिरचित्तमेव भवति।

नलयोगाः– यदासर्वेग्रहाः द्विस्वभावराशिषु (3,6,9,12) भवेयुस्तदा नलनामकोऽयं योगः। अत्रोत्पन्नो जातकः, कृशकाय, बन्धुहितकरः, धनसञ्चयकर्ता रुपवानः च स्यात्।

दलयोगाः[14]– अगाः द्वयप्रकारकाः सन्ति। मालासर्पनामकश्च। केन्द्रत्रयगता यदि सौम्यग्रहाः भवेयुस्तदा मालानामकोऽयं योगः।

मालायोगफलम्– केन्द्रत्रिकोणगैः शुभैः शुभफलं भवतीति माला योगः। अत्र समुत्पन्नो नरः सुखी, वाहनवस्त्रान्नभोगसम्पन्नः स्वरुपः बहुस्त्रीकश्च भवति।

सर्पयोगः– केन्द्रात्रयगताः यदि पापग्रहाः स्युत्तदा सर्पनामको योगः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः विषमः, क्रूरः नित्यदुखार्दितः।

आकृतियोगाः तस्यफलञ्च– आकृतियोगाः विंशति प्रकारकाः सन्ति। (1) यूपः (2) इषुः (3)

शक्तिः (4) भवः (5) दण्डः (6) गदाः (7) समुद्रः (8) घटाः (7)समुद्रः (8) छत्रः (9) अर्धचन्द्रः (10) शकटः (11) अम्बुजः (12) पक्षिः (13) नौका (14) चक्र (15) वज्रः (16) हल (17) कार्मुकः (18) कूटः (19) वावपी (20) शृङ्गाटकः।

गदा-शकट-विहग-शृंगारकः-हलयोगः-[15]

1. **गदायोगः-** समीपस्थकेन्द्रद्वये सर्वग्रहावस्थाने गदा नामकोऽयं योगः। अत्रोत्पन्न जातकः धनार्जनेरतः यज्ञादिकर्तारः भवति।

2. **शकटयोगः-** लग्नसप्तमगैः सर्वैः ग्रहैः शकटोनामयोगः। अस्मिन योगैः समुत्पनस्य जातकः वाहनादि माध्यमेन वृत्ति प्राप्यते, रोगतिः मूर्खः, सर्वस्यजनविहीनो, तस्य स्त्री दुष्टाः भवति।

3. **विहगयोगः-** चतुर्थदशमस्थैः सर्वग्रहैर्विहिगो नामयोगः। अत्रोत्पन्नः भ्रमणरुचिरो, दूतो, धृष्टः, कलहाप्रियो मानवो भवति।

4. **शृङ्गाटकयोगः-** त्रिकोणस्थैः(लग्नपञ्चमनवमगैः) सर्वग्रहैः शृङ्गाटको नाम योगः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः कलहप्रियः, योद्धा, धनढ्यो परमसुखी भवति।

5. **हलयोगः-** अन्यत्रिकोणस्थैः लग्नेत्तर भावे सर्वेग्रहापरस्पर त्रिकोणे स्यात् यथा- द्वितीयषष्ठदशमस्थैतृतीयसप्तमैकादशस्थानगैर्वा। सर्वैः ग्रहैर्हलनामको योगः। हलजातो नरो, दरिद्रः, कृषकः, दुखितः सुहृदबन्धुयुतः, प्रेष्यश्च भवति।

वज्रादियोगः[16]

6. **वज्रयोगः-** लग्नसप्तस्थशुभैः ग्रहैस्तथा चतुर्थदशमगैः, पापैर्व्रजो नामयोगः। अत्र जातो नरः आद्यन्तवयः शूरः शुभगो, खलो, भाग्यहीनश्च भवति।

7. **यवयोगः-** लग्नसप्तमस्थैः पापस्थैः चतुर्थदशमस्थैः, शुभै (पूर्वयोगस्य वैपरीत्ये) यथा नाम योगः। इह जातोमानवो व्रतनियममङ्गलपरो वयसो मध्ये सुखी, सुखधनपुत्रयुतो दात स्थिरचित्तश्च भवति।

8. **कमलयोगः-** केन्द्रचतुष्टगतैः सर्वैग्रहैः यदा भवेत् तर्हि कमलसञको योगः सञ्जायते। अत्रोत्पन्न जातकः विपुलकीर्तिः शुद्धोः, गुणाढ्यः, स्थिरापुः, पृथ्वीपतिश्च भवति।

9. **वापीयोगः-** यदा केन्द्रादन्यस्थानगैः सर्वैग्रहैः वापीसञ्ज्ञको योगो निगदितः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः स्थिरासम्पत्तिसुखसंयुतो, नयनाभिरामः धीमानः पुत्रात् युक्तश्च भवति।

यूपादि योगः[17]

10. **यूपयोगः-** लग्नादारम्य भावचतुष्ट्यपर्यन्तगैः सर्वैग्रहैः यूपयोगः भवति। अत्रोत्पन्न जातकः सत्त्वसम्पन्नः स्त्रीयुतो, यज्ञादिकर्मणि संलग्नः, व्रत-नियमतस्य तेषां रुचि स्यात्।

11. चतुर्थस्थानादारभ्य सप्तस्थानगैःग्रहेः शरो नामयोगो स्यात्। अत्रजातो मानवः, इषुकारः कारागारधीशो, मृग्यानसेवितो, मांसादोहिंस, शिल्पकारश्च भवति।

12. **शक्तियोगः-** सप्तमावादरभ्य दशमादिचतुष्टयभावस्थैर्ग्रहैः सव्रैः शक्तिनाम्ना योगो भवति। अयम् जातकः धनहीनो, आलस्य युक्तः, प्रमादी, दुःखीः, नीचः, सग्रामबुद्धिनिपुणो दीर्घायुश्च नरः स्यात्।

13. **दण्डयोगः–** दशमस्थानादारभ्य लग्नादिचतुष्टयभावस्थैः सर्वेग्रहैः दण्डसंज्ञको योगः। अस्मिन् योगे उत्पन्नः नरो–हतपुत्रदारो, दुःखितो, नीचकर्मरतः प्रेश्यच भवति।

नौकादियोगः–[18]

14. **नौकयोगः–** लग्नादारभ्य सप्तमभावस्थगैः सकलैर्ग्रहैर्नौका नामको यागः। अत्रोत्पन्न जातः सलिलोपजीवी, दुष्टप्रकृतिः, कृपणो, मलिनो लुब्धः खलश्च प्रोक्तः।

15. **कूटयोगः–** चतुर्थस्थानादारभ्य सप्तमभावदशमस्थानपर्यन्तर्ग्रहैः कूटसञ्ज्ञक योगो निगदितः। अत्र जातो नरोऽनूतनवादी कारागारपतिर्निस्व, शठः, क्रूरो गिरीदुर्गवासी च भवति।

16. **छत्रयोगः–** सप्तमभावादारभ्य सप्तस्थानिचतुर्थभावान्तगै सर्वैर्गहैश्छत्रोा नामयोगो निगदितः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नो नरः दयावान् नानानृपवल्लभः प्रकृष्टमतिर्दीर्घायुः, प्रथमान्म्यवयः सुखी नरः स्यात्।

17. **चापयोगः–** दशमभावादारभ्य सप्तमभावादिचतुर्थस्थानपर्यन्तर्गर्ग्रहैश्चापाख्यो योगः। अनेन भाग्यहीनो, चौश्रौतकर्मप्रवृतः, वयोमध्येशुभो गुप्तपालः भवति।

18. **अर्धचन्द्रयोगः–** अर्धचन्द्रयोगः सप्त प्रकारकाः सन्ति। द्वितीयतृतीयपञ्चमषष्ठनवमएकादश–द्वादशस्थानादारभ्य क्रमानुसारेण सप्त स्थानान्तं सर्वैग्रहैः यदा स्यात् तर्हि अर्धचन्द्रोः योगो जायते।

द्वितीयस्थानादष्टमभावपर्यन्तम्। तृतीयस्थानारभ्य नवमभावपर्यन्तम्। पञ्चमस्थानादारभ्य दशमपर्यन्तम्। अष्टमादद्वितीयपर्यन्तम्। नवमादतृतीयान्तम्। एकादशारभ्य पञ्चम् पर्यन्तम्। द्वादशारभ्य षष्ठपर्यन्तम् अस्ययोगस्य निर्माणं भवति। अत्रोत्पन्नः जातः नृपप्रियो, बली, सुवर्णभूषणस्य युतश्च भवति।

19. **चक्रयोगः–**[19]लग्नादारभ्यएकान्तरस्थैः सर्वै ग्रहैः चक्रनाम्ना योगो निर्मायते। अनेन जातः नरः चक्रवर्ती सम्राट भवति।

20. **समुद्रयोगेः**[20]– द्वितीयस्थानादं एकान्तरस्थैः। (द्वितीय–चतुर्थ–षष्टाष्टम–दशमस्थै) सर्वैर्ग्रहैः समुद्राख्यो नाम योगः। अनेन जातः नरः विपुलधन युक्तः, भोगयुतो, धनजनप्रियः, स्थिरविभवस्थः, साधुस्वभावश्च भवति।

संख्यायोगः[21]– गोलयोगः– यदा जातकस्य कुण्डल्यां सर्वैग्रहाः एकस्मिन् भावे भवेत् तर्हि गोलख्योनाम योगः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः विद्याविज्ञानंविहिनः, नित्यदुःखितो, मलिनो, दीनश्च नरो भवति।

युगयोगः– राशिद्वये यदा सर्वैग्रहाः भवेयुस्तदा युगाख्यो नामयोगः। अत्रोत्पन्न जातकः पाखण्डी, धनहीनश्च, लोकबहिष्कृतः, सुतमातृधर्मरहितश्च जातकः भवति।

शूलयोगः– भावत्रये सर्वैग्रहाः शूलाख्यो नामकोयोगः। अत्रोत्पन्नः जातकः धनहीनश्च, शूरवीरः, हिंसकप्रवृत्तियुक्तः, विजेतास्वजातको तीक्षणोऽलसः भवति।

केदारयोगः– सर्वैग्रहाः भावचतुष्ट्यगतेस्यात्, तर्हि केदारनाम योगः। अत्रोत्पन्न जातकः कृषकः, सत्यवादी, सुखी, धनी, चञ्चलस्वभावयुक्तश्च स्यात्।

पाशयोगः– पञ्चभावस्थै सर्वैग्रहैः पाशयोगः। अत्रोत्पन्नः जातकः कार्यकुशलः, शीलहीनश्च, बहुभृत्ययुक्तश्च, बहुभाषी, प्रपञ्ची च भवति।

दामिनीयोगः- षड्भावस्थितैः सर्वैः ग्रहैर्दामाख्यो नामको योगः। अनेन जातकः धनी, मानी, महेश्वरो, विद्वांश्च भवति।

वीणायोगः- सर्वमस्थगैः सर्वैग्रहैः वीणाख्यो योगः। अनेन जातकः नृत्यगीतवाध निपुणः सुखी, धनी, राजनायकः, बहुभृत्ययुक्तश्च स्यात्।

अन्यराजयोगः-

पर्वतयोगः[22]- द्वयप्रकारकाः सन्ति। केन्द्रेषु शुभग्रहाः भवेयुः षष्टाष्टमस्थानो ग्रहाभावः शुभग्रहयुतो वा स्यात्। लग्नेश-द्वादशेशः यदि परस्परं केन्द्रगतौ मित्रदृष्टौ स्याताम् तदाऽप्यायंयोगः। अत्रोत्पन्न जातकः भाग्यशालिनः, विद्यायुक्त, दाता, यशस्वी, कामी, तेजस्वी, नायकश्च भवति।

शङ्खयोगः[23]- द्वयप्रकारकाः सन्ति। यदिपञ्चमेषषष्ठेशौ परस्परं केन्द्रगौ भवेतान्तथा लग्नेशश्च बलवान् स्यात् तदा शङ्खयोगः। लग्नेशदशमेशौ चरराशिस्थौ भवेताम् एवं च भाग्येशः बलवान् भवेत् तदा शङ्खयोगः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नः नरः, दयालु, भोगशीलो, स्त्रीपुत्रादियुक्तः शास्त्रज्ञः आशीतिवर्षाणि आयुः प्राप्यते।

मत्स्ययोगतत्फलञ्च[24]- लग्नान्नवमे च पापयुते सति पञ्चमे च शुभाशुभोभयग्रहयुते चतुर्थेष्टमे वाऽपि पापयुते सति मत्स्याख्यो योगः। अत्रोत्पन्न जातकः कालज्ञः करुणासिन्धुर्गुणवान-बलरुपवान्-यशस्वी-तपस्वी च भवति।

कलानिधियोगः तस्यफलञ्च[25]- द्वितीये पञ्चमे वा गुरुर्बुधशुक्रयुतो दृष्टो वा स्यात् अथवा शुक्रबुधयोः क्षेत्रेषु(यथा- मिथुन-कन्या-वृष-तुला) स्थितो भवेत्तदा कलानिधि योगः। अस्मिन् योगे समुत्पन्नस्य जातकः गुणवान्, कामी, धनी-मानी विद्वान नृपवन्दितो च भवति।

पारिजातयोगः[26]- लग्नेशाधिष्ठितराशिनाथो यद् भावस्यः स्यात्तद्राशिस्वामी यदा तन्नवांश स्वामी वा केन्द्रतिकोणस्थः स्वोच्चगो वा स्यात् तदा पारिजातसंज्ञको योगः भवति अत्रोत्पन्न जातकः योद्धा, स्वकर्मधर्मरतः दयालुश्च नरो भवति।

संदर्भग्रन्थः-

1. लघुपाराशरी, संज्ञाध्यायः, श्लोक-3
2. तत्रैव, संज्ञाध्यायः, श्लोक-5
3. तत्रैव, संज्ञाध्यायः, श्लोक-6
4. जातकपारिजात, राजयोगाध्याय, श्लोक-116,117 एवञ्च वृहत्पाराशरछेदशास्त्रे 22/9-10
   गजकेसरिसञ्जातस्तेजस्वी धनधान्यवान्।
   मेधावी गुणसम्पन्नो राजप्रियकरो भवेत्।।
5. जा.पा. राजयोगा., श्लोक-59
6. जा.पा., '' श्लोक-60
7. जा.पा. राजयोगाध्यायः श्लोक - 61
8. जा.पा. राजयोगाध्यायः श्लोक - 62
9. तत्रैव, श्लोक - 63
10. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-118

11. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-132.135
12. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-164,165
13. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-166
14. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-166
15. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-168
16. वज्र, यव कमल-कार्मायोगः जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-169
17. यूप-इषु-शक्ति-दण्डयोगः जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-170
18. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-171
19. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-172
20. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-172
21. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-173
22. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-128
23. जातकपारिजात, राजयोगाध्यायः श्लोक-138
24. जातकपारिजात, 7/146
25. जातकपारिजात, 7/158
26. जातकपारिजात, 7/156

सहायकाचार्य
ज्योतिषविभाग, जयपुर परिसर

रसे सारश्चमत्कारः

डॉ. राधावल्लभशर्मा

सर्वथा समुपासनीयं किमपि परमप्रमेयं सहृदयहृदयावर्जकं विशिष्टं तत्त्वमिति प्रख्यो राधान्तो भारतीयकाव्यशास्त्रस्येति रस एव खलु तत्। काव्यसंपठनेन अथवा श्रवणेनाथ चाभिनयदर्शनेन यादृश आनन्दो भवत्यस्माद्शां स एवानन्दो रस इति सार्वजनीनानुभवो विषयः। कानि साधनानि सन्ति यानि रसं निष्पादयन्तीति चेत्? विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगादिभिस्तन्निष्पादनस्य प्रतिपादितत्वात्। रसतत्त्वस्यास्य महत्त्वमङ्गीकृत्य भरतमुनिप्रमुखैर्वन्दनीयपुरुषैः- **अत्राह रस इति कःपदार्थः? उच्यते-आस्वाद्यत्वात्** इति सर्वथा रसतत्त्वस्य रहस्यात्मकमतिगभीरं स्वरूपं समुद्घाटितमिति न तिरोहितं रससारविदाम्।तत्र रसवैशिष्ट्यमनुरुन्धानःसर्वैरपि परमप्रामाणिकैः रससिद्धान्तसमीक्षकैः **न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते** इति सर्वात्मनानुभवपथमारूढ्या महामुनिभरतोक्तदिशा आत्मस्थानीयरसं विना देहमिव शब्दार्थशरीरमिव काव्यमपि निष्क्रियमेवेति निर्विवादरूपेण रसतत्त्वस्य काव्यात्मत्वम् (soul of the poetry) काव्यजीवनाधायकत्वं च (life of the poetry) नितरामङ्गीकृतमिति।

रसशब्दनिरुक्ति- पाणिनीयधातुपाठे भ्वादिगणे रसशब्दे अथ च चुरादिगणे **रस आस्वादनस्नेहनयोइ**त्युभयथा रसशब्दस्य व्युत्पत्तिः दृश्यते। रस्यते आस्वाद्यते इति रसः, रस आस्वादनस्नेहनयोः इत्यस्माद्धातोः अच्प्रत्यये सति रसशब्दो निष्पद्यते। भावे घञ् प्रत्यये कृते सत्यपि रसशब्दो निष्पन्नतां याति। अयं शब्दः आस्वादनीये अर्थे वर्तते। आस्वादनीयश्चार्थः चित्तवृत्तिविशेषा भावाः। तदास्वादनं नाम पौनःपुन्येन अनुभवविषयीकरणम्। व्युत्पत्त्यानया रसशब्दोऽयं परमात्मस्वरूपरसमधुसोमगन्धमधुरादीनामर्थानां द्योतको वर्तते। रस्यते अनेनेति रसः अनया व्युत्पत्त्या रसशब्दःगुणवीर्यरागदेहादीनामर्थानां द्योतको वर्तते। रसति रसयति वा रसःइति कर्तरि रसशब्दःधातुपारदद्रवजलादीनामर्थानां बोधकः। रसनं रसःआस्वादः व्युत्पत्त्यामस्यां रसशब्दः श्रृङ्गारादीनां रसानामर्थं प्रकटयति। इत्थं रसशब्दस्य नाना व्युत्पत्तयो दरीदृश्यन्ते। शब्दकल्पद्रुमे इत्थं रसपदनिरुक्तिःसम्पाद्यतेऽभियुक्तैः-

यत्पार्थो रसधातुर्यस्ततोऽभवदयं रसः।
सद्रवं सकलं देह रसतीतिरसःस्मृतः।।

रसति द्रवतीति व्युत्पत्त्यापि रसतत्त्वे द्रवत्वम्, रस्यते आस्वाद्यत इति व्युत्पत्तिमहिम्ना आस्वाद्यत्वं चेत्युररीक्रियते बुधैः।

रसतत्त्वबीजम् इदम्प्रथमतया ऋग्वेदे रसशब्दस्योल्लेखःसोमरसस्यार्थे विहितो वर्तते। यथा - **दधानः कलशे रसम्** इति। अथर्ववेदे रसशब्द आत्मानन्दस्यार्थे दृश्यते। यथा-**अकामो धीरो अमृतःस्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनो नः तमेव विद्वान् न विभाय मृत्योरात्मानं धीरमजर युवानमिति।** कठोपनिषदि रसस्य प्रयोगःआध्यात्मिकधरातले विहितो वर्तते, तद्यथा-**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्'।**

तैत्तिरीयोपनिषदि द्रव्यरूपेऽपि रसशब्दःप्राप्यते। यथा–**अग्ने रापः, अद्भ्यःपृथिवी पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम् अन्नात् पुरुषः। स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः।**[5] रस आनन्दस्वरूपः यत्र कुत्रचित् रसोपलब्धिर्जायते जनास्तत्रानन्दमेवानुभवन्ति। उच्यते– **रसं ह्यायेवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति**[6]। अस्मादानन्दादेव सर्वाणि भूतानि जायन्ते।तेनानन्देनैव प्राणिनो जीवनं धारयन्तः स्थिता भवन्ति। अन्ते चानन्दे प्रविशन्ति एव। भण्यते– **आनन्दाद्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देन जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।**[7] अस्य समुल्लेखःकोशग्रन्थेषु विभिन्नेष्वर्थेषु समवलोक्यते। यथा–

रसो गन्धे रसे स्वादे तिक्तादौ विषरागयोः।
शृङ्गारादौ द्रवे वीर्ये देहधातुभ्यपारदे ।।[8]
शृङ्गारादौ कषायादौ घृतादौ च विषे जले।
निर्यासे पारदे रागे वीर्येऽपि रस इष्यते।।[9]

पदार्थसारो हि रसःअर्थाद् मधुराम्ललवणाद्यर्थबोधको रसः। अयं तावद् रसःसाक्षात् परम्परया वा कश्चनऽऽस्वादसम्पादको वनस्पतिदलनिष्यन्दभूतो द्रवविशेष एवेति। आयुर्वेदशास्त्रे पारदादिविषये रसशब्दःप्रयुज्यते। तद्यथा–

सम्यक् पक्वस्य भुक्तस्य सारो निगदितो रसः।
स तु द्रवःसितःशीतःस्वादुःस्निग्धश्चलोभवेत्।।[10]

मोक्षस्य भक्तेर्वा रसः इत्यर्थेऽपि रसशब्दस्य प्रयोगःसमुल्लसति। अयं मोक्षरसो भक्तिरसो वा ब्रह्मानन्दस्याऽऽत्मानन्दस्य वा बोधकः।

इत्थं विविधेष्वर्थेषु शब्दस्यास्य संप्रयोगः संलक्ष्यते इति विविधग्रन्थपर्यालोचनेन प्रमाणीभवति।

रसतत्त्वस्य काव्यात्मत्वप्रतिष्ठापनाअलङ्कारशास्त्रे रसतत्त्वस्य प्रयोगःकदारभ्य सञ्जात इति विचारे सति वाल्मीकिरामायणमेवैकं शरणम्। तत्रोच्यते–

पाठ्ये गेये च मधुरं प्रमाणैस्त्रिभिरन्वितम्।
जातिभिःसप्तभिर्बद्धतन्त्रीलयसमन्वितम्।।
रसैःशृङ्गारकरुणरौद्रवीरभयानकाः।
वीरादिभिश्चसंयुक्त काव्यमेतद गायताम्।।[11]

रतिरेव रस इति स्वीकुर्वन् आचार्यो वात्स्यायनः कामसूत्रे लिलेख– **रसो रतिः प्रीतिर्भावो रागो वेगःसमाप्तिरिति रतिपर्यायः।**[12] कामसूत्रस्यास्य ग्रन्थस्य जयमङ्गला टीकायामित्थं रसस्य वर्णनं प्राप्यते– **नायकस्य शृङ्गारादिषु य इष्टो रसो भावःस्थायिसञ्चारी सात्त्विकेषु लीलाचेष्टितानि तेषामनुवर्तनम्।**[13] वस्तुतः रसपरम्परायाः प्राचीनतायां नास्ति कापि विप्रतिपत्तिः। स्वयमेवाचार्यभरतेन नाट्यशास्त्रस्य षष्ठेऽध्याये प्रोक्तम् – **एते ह्यष्टौ रसाःप्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना** इत्यादिना पूर्वाचार्याणां सङ्केतः कृतः। तदनु कोयं रस इति चिन्तने सति प्राह भरतमुनिः– **विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।**[14] विभावानुभावव्यभिचारिभावानां संयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवतीति। रसं विहाय कस्याप्यर्थस्य प्रवर्तनं न भवति। अत एवोच्यते– **नहि रसादृते कश्चिदर्थः**

प्रवर्तते।[15] **यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवोदया रसाःनिवर्तन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्तीति। अत्रा रस इति कः पदार्थः। उच्यते आस्वाद्यत्वात्। कथमास्वाद्यते रसः? यथा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति। तस्मान्नाट्य रसा इत्यभिव्याख्याताः।**[16] दशरूपककारो धनञ्जयाचार्योऽपीत्थं रसस्वरूपं प्रस्तौति–यदा रत्यादयः स्थायिभावाः विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः आस्वादयोग्या भवन्ति तदैव ते रससंज्ञयाभिधीयन्ते।[17] इत्थं रसमहत्त्वमुररीकुर्वन् ध्वन्यालोककारो नैजं मतं परामृशतीत्थम्–

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाःकाव्ये रसपरिग्रहात्।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः।।[18]

यथा पूर्वदृष्टा अपि तरवो वसन्तसमये कौसुमसम्पद्विशेषेण सर्वतोभावेनाभिनवा भान्ति तथैव लौकिकप्रमितिगोचराःप्राचीनकविवर्णिता अपि पदार्था व्यज्यमानप्रधानरसादिसम्बन्धमहिम्ना नवा इवाभान्ति। तेन च परिमितामप्यर्थानां नवनवीभावे नानन्त्यं न दुरुपपादम्। पुनःचरमेऽध्याये तेनोवाच–

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि।
रसादिमय एकस्मिन् कविःस्यादवधानवान्।।[19]

एवं रसस्य काव्यात्मत्वं प्रतिष्ठापयति ध्वन्यालोककारः। तदनु श्रीमङ्खकेन श्रीकण्ठचरिते स्वीये काव्ये काव्यस्य जीवनाधायकं तत्त्वं रस एवेति प्रत्यपादि–

तैस्तैरलंकृतशतैरवर्तसितोऽपि
रूढो महत्यपि पदे धृतसौष्ठवोऽपि।
नूनं विना घनरसप्रसराभिषेक
काव्याधिराजपदमर्हति न प्रबन्धः।।[20]

पदे धृतसौष्ठवोऽपि अलङ्कारशतैः सिद्धोऽपि प्रबन्धो रसं विना काव्याधिराजत्वं मनागपि न प्राप्नोति। ध्वनिसिद्धान्तखण्डनशेमुषीसम्पन्नेनाचार्यमहिमभट्टेनापि काव्ये रसात्मकत्वं नितान्तमपेक्षितं भवतीति महता तारस्वरेण समुद्घोषितम् – काव्यमात्रस्यध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात्तस्य रसात्मकत्वोपगमात्।[21] रसतत्त्वशून्यस्य काव्यस्य महिमभट्टो न काव्यत्वमपि समर्थयति। अत एवाह–**तस्य रसात्मकताभावे मुख्यवृत्त्या काव्यत्वव्यपदेश न स्यात् किमुत वैशिष्ट्यम्।**[22] इत्थं रस एव काव्यात्मत्वमिति। अमुमेव प्रकरणं लक्ष्यीकृत्य वाग्भटाचार्येण काव्यानुशासने स्पष्टं संकेतितम्–

साधुपाकेष्वनास्वाद्यभोज्यं निर्लवर्ण यथा।
तथैव नीरसं काव्यमिति ब्रूमो रसान् वयम् ।।[23]

अर्थात् लवणेन विना यथा साधुपाकेष्वपि भोज्यम् अनास्वाद्यत्वं भवति तथैव रसं विना अपि काव्यं नीरसमेव तिष्ठति।अतः काव्ये रसस्य प्राधान्यं स्यादेव। अपि च–

यामिनीवेन्दुना युक्ता नारीव रमणं विना।
लक्ष्मीरिव ऋते त्यागान्न वाणी भाति नीरसा।। [24]

यथाकथञ्चिदपि नीरसा वाणी न शोभते इत्यर्थबलाद् रसं विना काव्यं न शोभते। यथा यामिनी इन्दुना युक्ता एव भाति। रमणं विना नारी न भाति।त्यागात् ऋते लक्ष्मीः न सुशोभते तद्वदेव।

पण्डितराजजगन्नाथेनापि श्रुतिद्वयसमवलम्बनेन रसतत्त्वस्य श्रुतिसम्मतचारुत्वं महता कौशलेन प्रादर्शि– **अस्त्यत्रापि रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवतीति।**[25] **एवं पञ्चात्मके ध्वनौ परमरमणीयतया रसध्वनेस्तदात्मा रसस्तावदभिधीयते।** इत्थं महनीयस्य रसतत्त्वस्य सर्वथा काव्ये परमोपयोगित्वम्, सर्वातिशयशोभाकारकत्वमिति पण्डितेन्द्रेण जगन्नाथेनाभिव्यक्तम्। आचार्यरुद्रटेण काव्ये रसस्यासाधारणमपरिहार्यञ्चोपयोगित्वं सुस्पष्टतया प्रत्यपादि। तेनोच्यते काव्यालङ्कारे–

एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंसः
सम्यग विभज्य रचितश्चतुरेणचारु।
यस्यादिकाननमधिगम्य न सर्वरम्य–
काव्यं विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।।[26]

पुनश्च

अनुसरति रसानां रस्यतामस्य नान्यः
सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीयःसम्यगेषप्रयत्नाद्
भवति विरसमेवानेन हीनं हि काव्यम्।।[27]

अतः काव्ये रसो भवेदेवेति निश्चप्रचम्।

अग्निपुराणेऽपि रसस्य काव्यात्मत्त्वं प्रकटीकुर्वता महर्षिणा वेदव्यासेन स्वाभिप्रायः एभिः शब्दैः समाम्नातः।

वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्।
पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यवाग्विक्रमणिरसाद् वपुः।।[28]

रसस्यानिर्वचनीयत्वं चैतन्यचमत्काररूपात्मकत्वमिह स्वीकृतम् अग्निपुराणकारेण। किञ्च

आनन्दःसहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन।
व्यक्तिःसा तस्य चैतन्यचमत्काररसाह्वया।।[29]

तथा च

रसादिविनियोगोऽथ कथ्यते ह्यतिमानतः।
तमन्तरेण सर्वेषामपाचँव सरस्वती।।[30]

इत्थं रसस्य अनतिरसाधारणं वैशिष्ट्यं परामृशत्यग्निपुराणकारः। प्रसङ्गेऽस्मिन् काव्यमीमांसाकारो राजशेखरो जगाद– **रसवत् एव निबन्धो युक्तः न नीरसस्य।**[31] कस्मिंश्चिदपि निबन्धे रसस्य प्राधान्यमङ्गीकृत्य नीरसस्य सत्तां निषेधयति कविशेखरो राजशेखरः। पुनःतेनोच्यते तत्रैव तथैव–

मजनपुष्पावचयनसन्धायचन्द्रोदयादिवाक्यमिह।
सरसमपि नातिबहुलं प्रकृतिरसानन्वितं रचयेत्।।[32]

अतिबहुलं प्रकृतिरसान्वितं सरसमपि कदाचिद् दोषाय एव तस्मात् कविःवस्तुसापेक्षं सरसं विरचयेदिति तात्पर्यार्थःकाव्यमीमांसाकारस्य। इत्थं रसस्य काव्यत्मत्वमङ्गीकुर्वता केनचित् कविना प्रोक्तम्–

अस्ति चेद्रससम्पत्तिःअलङ्कारा वृथा इव।
नास्ति चेद्रससम्पत्तिःअलङ्कारा वृथैव हि।।[33]

एवं प्रकारेण रसस्य प्राधान्यं शास्त्रविचक्षणैःरसतत्त्वज्ञैःसमालोचितम्। आचार्यमम्मटेन नवरसरुचिरां, ह्लादैकमयीम, इति विलिख्य सद्यः परनिर्वृतये इति मौलिभूतं काव्यप्रयोजनञ्च स्वीकृत्य रसतत्त्वस्य विशिष्टं स्वरूपं व्याख्यायि। अभाणि तेन– **सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव विगलितवेद्यान्तरमानन्दम् इति**

कविराजविश्वनाथःसाहित्यदर्पणे **वाक्यं रसात्मक काव्यमिति** काव्यलक्षणप्रसङ्गे रसस्यानिवार्यत्वं सर्वातिशयशोभाकारकत्वमिति अङ्गीचकार। रसादिश्चात्मा इति स्वीकुर्वन् रसादिरेव काव्यस्य प्राणभूतं तत्त्वमिति। पाश्चात्त्यकाव्यशास्त्रिणोऽपि प्रसङ्गेऽस्मिन् दत्तादरो वर्तन्ते। यद्यपि काव्यविचारपरम्परा तावत्तत्र न तदनुरूपिणि तदपि ते काव्यात्मविषये विविधान् मौलिकान् विचारान् प्रकटयन्तीति। डेकाटेमहाशयेन रसानुभूतिरेव काव्यसौन्दर्यबोधिकेति गदितम्– Aesthetic experience, according to him, is intellectual joy accompanied passion or emotion that may be aroused by reading a storange adventure, a creation of free imagination or by presentation of it on the stage.[34] इत्थं विविधैःपर्यालोचनैःरसतत्त्वस्य काव्यात्मत्वप्रतिष्ठापना विहितास्माभिः।

रसनिष्पत्तिः– ऐदम्प्राथम्येन आचार्यभरतो नाट्यशास्त्रे रसनिष्पत्तिं लक्ष्यीकृत्य स्वमतमित्थं जनयामास–

यथा बहुद्रव्ययुतैर्व्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम्।
आस्वादयन्ति भुञ्जाना भक्तं भक्तविदो जनाः।।
भावाभिनयसम्बद्धान्स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाःस्मृताः।।[35]

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः अर्थाद् विभावैरनुभावैस्तथा व्यभिचारिभिस्सह संयोगात् स्थायिभावो रसरूपेण परिणमते। उक्तस्यास्य भरतस्य रससूत्रस्य व्याख्यां मीमांसकाः, नैयायिकाः, सांख्याः, आलङ्कारिकाश्च स्वस्वसम्प्रदायानुगुणं विहितवन्तः। तेषां भट्टलोल्लटशंकुकभट्टनायकाभिनवगुप्तपादनामान्यवगन्तव्यानि। तत्र संयोगात,निष्पत्तिःइति पदद्वयमेव विविधव्याख्यायां मूलम्। आचार्यभट्टलोल्लटस्य उत्पत्तिवादः, आचार्यशङ्कुकस्य अनुमितिवादः, आचार्यभट्टनायकस्य भुक्तिवादः, आचार्याऽभिनवगुप्तस्य अभिव्यक्तिवादःरससम्प्रदाये प्रथितो वर्तते। अभिनवभारत्याम् आचार्याभिनवगुप्तेन इदम्प्रथमतया वादानाममीषामुल्लेखो विहित इति।

भट्टलोल्लटस्योत्पत्तिवादः – रससूत्रस्योपरि अयमेव सर्वप्रथमो व्याख्याता। अयं काश्मीरदेशीय आसीदिति लोल्लटनाम्ना प्रतीयते। रसस्य स्थितिश्च रामाद्यनुकार्ये न तु नटेषु सहृदयेषु वेति। विभावानुभावव्यभिचारिभिरित्यत्र सहयोगे तृतीया भवति। संयोगाद् यस्य सम्बन्धसामान्योऽर्थः, निष्पत्तिःअस्य उत्पत्ति इत्यर्थः। विभावो द्विविधःआलम्बनोद्दीपनविभावभेदत्वात्। ललनादय आलम्बनविभावाः, चन्द्रिकादय उद्दीपनविभावाः। इत्थं रत्यादेः स्थायिनः विभावेन ललनादिनोद्यानादिना च सह संयोगात् जन्यजनकभावसम्बन्धात् रत्यादिस्थायिभावो जनितः।

यद्यप्युद्दीपनविभावा उद्दीपका एव न जनकास्तथापि विशेषाकारपरिणतिजनकत्वात तेषामपि जनकत्वं ज्ञेयम्। अनुभावेन कटाक्षभुजाक्षेपादिना सह संयोगाद् गम्यगमकभावरूपसम्बन्धात् रत्यादिस्थायिभावः प्रतीतिविषयीकृतः, व्यभिचारिभिश्च निर्वेदग्लानिहर्षादिभिश्च सह संयोगात् पोष्यपोषकभावरूपसम्बन्धात् रत्यादि स्थायिभावः पुष्टीकृतः रसः। स च सीतादिविषयकःरामादावनुकार्ये एव साक्षात्सम्बन्धेन विभावादिप्रतिपादककाव्यशब्दाभिधया वा प्रतीयते। नायकतुल्यवेषभूषाभिनयादिकर्तरि नटे च तत्तुल्यरूपतानुसन्धानवशादसन्नपि आरोप्यमाणःसहृदयानां साश्चर्यानुभवचमत्कारहेतुरिति।

अस्यायं सारः– यद् विभावैःस्थायिभावा उत्पद्यन्ते, ततोनुभावैः प्रतीयन्ते, ततश्च व्यभिचारिभिः पुष्टाः सन्तो मुख्यतो रामादावनुकार्ये रामादिरूपानुसन्धानबलान्नटेऽपि रसःप्रतीयते।अत एवात्र विभावादिभिः रसस्योत्पाद्योत्पादकभावसम्बन्धेन रामादावनुकार्ये रसस्य निष्पत्तिर्नामोत्पत्तिरिति भवति।

स्थायिभावैस्सह–संयोगः (संयोगात् इति शब्दस्यार्थः) निष्पत्तिः

विभावानां–उत्पाद्योत्पादकभावसम्बन्धः–उत्पत्तिः

– अनुभावानां–गम्यगमकभावसम्बन्धः–प्रतीतिः

– व्यभिचारिभावानां–पोष्यपोषकभावसम्बन्धः–पुष्टिः

विमर्शः– उत्तरमीमांसाशास्त्रानुगुणं मतमिदं वर्तते। यथाऽसत्यपि सर्पे सर्पतयावलोकनाद् दाम्नो भीतिरुदेति, कम्पादिश्च जायते इति आध्यासिकप्रतीतिः तथैव अभिनयादिसमये सीतानुरागरूपा रतिर्नटेऽविद्यमानाऽपि नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव प्रतीयमाना सामाजिकानां चमत्कुर्वाणा रसपदवीमधिरोहतीति।नटे नायं स्थायीभावस्तिष्ठति किन्तु रूपसमानताया विद्यमानत्वेन तत्र(नटे)एतस्यारोपो भवति। अत एवैनमारोपवादमपि प्रतिपादयन्ति शिष्टाः।

मतेस्मिन् विप्रतिपत्तयः भरतसूत्रे स्थायिभावानां पृथगुल्लेखो नास्ति। स्थायिभावा एव रस इति भरतस्याभिप्रायः। रसात्पृथक् स्थायिभावानां सत्ता नास्ति अत एव तेन स्वसूत्रे तदुल्लेखो न व्यधायि। इदं च तादृशं वस्तु नास्ति यत्पूर्वमपुष्टरूपेण विद्यमानं सत् पश्चात् पुष्टीभूय रसरूपं विद्यते। विभावादिकं विना मूलाश्रये स्थायिभावो भवितुमेव नार्हति कुतःपुनस्तेन पुष्टिः? किञ्च स्थायिभावोऽयं न कार्यरूपः। भवेद्यदि कार्यरूपस्तदा निमित्तकारणम् एव स्यात्। तथा च सति निमित्तकारणव्यपगमे घटादिकं कार्यं स्वात्मना तिष्ठति किन्तु न ह्येवं तथा, विभावादि विनष्टे सति रसोऽपि न तिष्ठति। अत एव न विभावादिः कारकहेतुर्न वा जनकहेतुः। पूर्वमविद्यमानत्वान्न न ज्ञापकहेतुरपि। रस उत्पद्यते इति यद्येतन्मतं तर्हि दर्शके केन प्रकारेण संक्रमितो भवति?रतिर्यत्र तिष्ठेत्तत्रैव रसोऽपि भवितुं युक्तः, कार्यकारणयोरेकाधिकरणवृत्तित्वनियमात्। यदि दुष्यन्ते शकुन्तलाविषयिणी रतिस्तदा सामाजिके रसः कथमुत्पद्येत? अनुकरणसफ़लतया भविष्यतीति चेत्? अनुकार्यावलोकनाभावेनानुकरणस्य साफ़ल्यं वैफ़ल्यं वा कथं वक्तुं कोऽपि प्रभवेत्। अनुकार्योऽस्मदृष्टिगोचरात्परः। अनुकर्तरि तस्यारोपो भवति। आरोपितो रसो दर्शकेषु कथं चमत्कारमुत्पादयेत् तत्राधारत्वस्य मिथ्यात्वं स्पष्टं भवेत्। अनुकार्ये रसस्वीकारे सीमितो रसःस्यात्, न चेष्टापत्तिस्तस्यापरिमितत्वात्।

श्रीशंकुकस्यानुमितिवाद न्यायशास्त्रपण्डितःश्रीशङ्कुको लोल्लटसमकालिक एव। भुवनाभ्युदयम् इति नाम्ना कस्यचिद् ग्रन्थस्य रचनानेन विहितेति राजतरङ्गिणीकारस्याभिप्रायः। अभिनवभारतीटीकाकारो लिलेख–

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि।।
विरुद्धबुद्धयसभेदादविवेचितविप्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवःकथा।।[36]

अस्मिन् मते निष्पत्तिः शब्दस्यास्य अर्थःअनुमितिः, संयोगशब्दस्यार्थः गम्यगमकभावसम्बन्धः। नटः कृत्रिमरूपेण अनुभावादीन् प्रकाशयन् अभिनयमाचरति। तस्याभिनयस्य सौन्दर्यबलात् तत्र वास्तविकता सम्प्रतीयते। कृत्रिमान् अनुभावादीन् विलोक्य नटेऽविद्यमानेऽपि सामाजिकः तस्मिन् नटे रसस्यानुमानं विधत्ते ततो वासनाबलात् अनुमीयमानं रसमास्वादयति।

वस्तुतो हि लोके चतुर्धा प्रतीतयो जायन्ते, सम्यक्-मिथ्या-संशय-सादृश्यप्रतीतिभेदात्। तथा हि राम एवायम् इति रामत्वायोगव्यवच्छेदिका प्रतीतिः, अयमेव रामःइत्यन्ययोगव्यवच्छेदिका प्रतीतिःसम्यक् प्रतीतिः, न रामोऽयम् इत्युत्तरकालिक बाधे सति रामोऽयमिति या प्रतीतिःसा मिथ्या प्रतीतिः, रामःस्याद्वा न वा इति संशयप्रतीतिः, रामसदृशोऽयम् इति सादृश्यप्रतीतिरिति लौकिकचतसृभ्यः प्रतीतिभ्यो भिन्नया चित्रतुरगादिन्यायेन रामाद्यभिनयकर्तरि नटे रामोऽयम् इति प्रतीतिर्जायते तया प्रतीत्या विषयीकृतो नटो भवति। शिक्षाभ्यासबलान्नटः कृत्रिमस्मितकटाक्षादीन् प्रदर्शयति। इत्थं कृत्रिमालम्बनरूपाभ्यां सीतारामाभ्यां नटैः क्रियमाणैः कृत्रिमरूपेण प्रकाशितैः स्मितकटाक्षादिभिः इयं सीता रामविषयक रतिमती, अयं रामः सीताविषयक रतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षादिमत्त्वात् इति आनुमानिकरसस्य प्रतीतिर्भवति।

अत्र विप्रतिपत्तयः रसानुभवे साक्षात्कारात्मकप्रतीतिरावश्यकी। इयं प्रतीति अनुमानेन न सम्भाव्यते यत अनुमानेन जायमानं ज्ञानं परोक्षं भवति साक्षात्कारात्मकं नैव, अतः अनुमित्या रसास्वादनं न जायते।

भट्टनायकस्य भुक्तिवादः साङ्ख्यमतानुगुणमिदं मतम्। अत्र रससूत्रस्य संयोगात् इत्यस्य भोज्यभोजकभावसम्बन्धात् निष्पत्तिरित्यस्य भुक्तिरित्यर्थः। रसो न नटे, नाप्यनुकार्ये न जायते, नाप्यनुमीयते, न च सामाजिकेऽभिव्यज्यते, अपि त्वभिधाव्यापारेण प्रतीता विभावादयो भावकत्वव्यापारेण साधारणीकृतः सन्तो रत्यादयःस्थायिभावा भोजकत्वव्यापारान्तरसहकारेण भुज्यन्ते। एतेन भावकत्वभोजकत्वरूपनवीनव्यापारान्तरद्वयसहकारेण रत्यादिस्थायिभावस्य विभावादिभिः सह भोज्यभोजकभावसम्बन्धेन रसस्य भुक्तिरिति।

अभिधा-लक्षणा-भावकत्वव्यापार-साधारणीकरणम् भोजकत्वव्यापार-रसस्य भोगः

यथा सांख्ये सुखदुःखादीनि वस्तुत अन्तःकरणस्य धर्माः, आत्मनो नैव। परन्तु पुरुषस्य अन्तःकरणेन सह सम्बन्धत्वात् पुरुषे एतेषामौपाधिकी प्रतीतिर्भवति। इत्थं सामाजिके अविद्यमाने सत्यपि रसस्य भोगःतस्मिन् भवति।

अत्र विप्रतिपत्तयः- मतेस्मिन् भावकत्व-भोजकत्वव्यापारद्वयकल्पने मानाभावः। भावकत्वं भावना एव। सा च सहृदयानां व्यापारो न काव्यस्येति। रसस्य भोगो रामसीतादिगतो उत नटगतो सामाजिकगतो वेति न निश्चीयते।

अभिनवगुप्तस्य अभिव्यक्तिवादः आचार्याभिनवगुप्तो मूलतो व्यञ्जनावादी तथा ध्वनिवादी आलङ्कारिको वर्तते। रसध्वनिमङ्गीकृत्य रसो एव व्यङ्ग्यः, अभिधादिवृत्तित्रयागम्यःकेवलं व्यञ्जनावृत्तिद्वारा अभिव्यक्तो भवति। काव्यनाटकादिषु प्रयुक्ता विभावादयो रसव्यञ्जका रसश्चाभिव्यङ्ग्यः। रसविभावादिषु परस्परमयं व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावं प्रतिष्ठापयति। अत्र रससूत्रस्य संयोगात् इत्यस्य व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावात् निष्पत्तिरित्यस्य च अभिव्यक्तिरित्यर्थो भवति। सामाजिकेषु स्थायिभावो वासनारूपेण तिष्ठति।साधारणीकृतविभावादिद्वारा स्थायिभाव उद्बुद्धो भवति। विभावादिसंयोगादव्यक्तरूपेणाभिव्यक्तो भवति। वैयक्तिकरागद्वेषादीनां लोपात् साधारणीकरणहेतुनैव रसानुभुतिर्भवति।काव्यगतविभावादिद्वारोबोधितो रजोगुणतमोगुणविमुक्तः सत्त्वगुणप्रधानात्मप्रकाशेन प्रकाशमानः सहृदयवासनागतस्थायिभावस्यास्वादजन्यानन्दो रसः।

अस्यायं सारः– लौकिकाः कार्यकारणसहकारिणः काव्ये नाट्ये च समर्पिता विभावानुभावव्यभिचारिपदव्यपदेश्याः सन्तो विभावनादिव्यापारबलेनैव साधारण्येन प्रतीयन्ते। ततस्तैः विभावादिजीवितावधिः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी अभिव्यक्तः सहृदयैरास्वाद्यते।

निष्कर्षः– सामाजिकेषु वासनारूपेण सूक्ष्मतया स्थितः स्थायी काव्यशब्देनाभिनयेन वोपस्थापितेषु विभावादिषु भावनया साधारणतया प्रतीतेषु तैःप्रादुर्भावितेन व्यञ्जनाव्यापारेणापसारितेऽज्ञानावरणे निजस्वरूपानन्देन विषयीक्रियमाणः पानकरसन्यायेन विभावादिसंवलितोऽलौकिकचमत्कारकारी रसः।

रसस्वरूपम्– आचार्यमम्मटःकाव्यप्रकाशे रसस्वरूपमित्थं लक्षयामास–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेःस्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायीभावो रसःस्मृतः।।[37]

वस्तुतो लोके यूनां कामिनीनां च मिथःसौन्दर्यावलोकनेन गुणश्रवणेन वा काचिद् प्रीतिर्जायते। सैव प्रीतिःचन्द्रिकाद्युद्दीपनकारणैःउद्दीप्ता अभिलाषरूपे परिणमते, एषैव प्रीतिः रतिः। पुनः एषैव रतिः कटाक्षादिभिरनुभावैः चेष्टादिकं जनयति। तत उभयोरपि समागमो भवति। इत्थं रसस्यापि निष्पत्तिर्भवति। विभावानुभावव्यभिचारिभावस्थायिभावसंयोगेन रसनिष्पत्तिर्भवति। रत्यादीनां स्थायिभावानां यानि जनककारणानि ललनादीनि तानि नाट्ये काव्ये च यदा निबध्यन्ते तदा विभावा इत्युच्यन्ते। यानि च तत्कार्याणि कटाक्षभुजाक्षेपस्तम्भरोमाश्चादीनि तानि काव्ये नाट्ये च यदा निबध्यन्ते तदा अनुभावा इति कथ्यन्ते। यानि च तत्परिपोषहेतुभूतानि सहकारिकारणानि चिन्ताग्लानिहर्षादीनि तानि नाट्ये काव्ये च यदा निबध्यन्ते तदा व्यभिचारिणःकथ्यन्ते।

स्थायिभावः– व्यवहारदशायां यथा-यथा अनुभूयते जनैः तथैवाभिलक्ष्य स्थायिभावाःपरिगण्यन्ते रसशास्त्रे। अमी स्थायिभावाःरसानुभूतेःआन्तरिकहेतवस्सन्ति। स्थायिभावानाममीषामभिव्यक्तिरेव रसास्वादजनकत्वाद् रस्यमानत्वाद् वा रसशब्देन बोध्या भवतीति प्राचामभिप्रायः। ये भावा रसास्वादनकाले आदितोऽन्तपर्यन्तं स्थिरतया भवन्ति तथा अपरे अविरुद्धा विरुद्धाश्च भावा यं तिरोधातुमक्षमास्ते रसास्वादस्याङ्कुरभूताःस्थायिन इत्युच्यन्ते।

भणितं दर्पणे– **अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।**

आस्वादाकुरकन्दोऽसौभावः स्थायीति सम्मतः।।[38]

सर्वेषु भावेषु प्रधानत्वादमीषां भावानां स्थायित्वम्। यथा नरेषु नृपतिः, शिष्येषु गुरुः, तथैव भावेष्वपि स्थायी प्रधानः प्रोच्यते नाट्यशास्त्रे –

यथा नराणां नृपतिः शिष्याणां च यथा गुरुः।

एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह।।[39]

पुनः स्थायिभावविषये कथ्यते –

सक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः।

न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ।।[40]

यथा मालायाः पुष्पाणि अथवा मौक्तिकाः गुम्फनसूत्रं प्रकाशयन्ति परिपोषयन्ति च तथैव अन्यैर्भावैः सम्पोषितः परिपुष्टाश्चायं, स्थायिभावः। अर्थाद् यथा मणिभिस्तदा धारभूतं सूत्रं न तिरस्क्रियते प्रत्युत परिपुष्टो विधीयते। इत्थञ्च रसो हि मालास्थानीयः स्थायी, अनुभावादिश्च मणिस्थानीय इति ज्ञेयम्, सूत्रस्थानीयः।

सर्वेष्वपि भूतेषु रतिर्हासादयः स्थायिभावाः स्थायित्वेन भवन्ति तस्मादमी स्थायिभावा इति।

अत्र निष्कर्षः– यथा हि समानलक्षणास्तुल्यपाणिपादोदरसमाना अपि पुरुषाः कुलशीलविद्याकर्मशिल्पविचक्षणत्वयुक्ता राजत्वमाप्नुवन्ति तत्रैव मन्दबुद्ध्योऽनुचरा भवन्ति तथा विभावानुभावव्यभिचारिणः स्थायिभावानुपाश्रिता भवन्ति तत्र बह्वाश्रितत्वात्स्वामिभूता स्थायिनो, तत्स्थानीयपुरुषगुणभूता अन्ये भावास्तान् गुणतया श्रयन्ते परिजनभूता व्यभिचारिणो भावाः। को दृष्टान्त इति। यथा नरेन्द्रो, भावाः बहुजनपरिवारोऽपि सन् स एव नाम लभते नान्यः सुमहानपि पुरुषः बहुषु, गच्छत्सु कश्चित् कश्चित् प्रच्छति को ऽयमिति स च तमाह – राजेत्येव तथा, विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायिभावो रसनाम लभते।

भावाः – भावानां स्वरूपम् आचार्यभरतेनेत्थं नाट्यशास्त्रे प्रत्यपादि–

भावा इति कस्मात् – तद्यथा? किं भवन्तीति भावाः ? किं वा भावयन्तीति भावाः? उच्यते वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् – भावयन्तीति भावा इति।

विभावैराहृतो योऽर्थो ह्यनुभावस्तु गम्यते।

वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः।।

वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च।

कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते।।

नानाभिनयसम्बन्धान् भावयन्ति रसानिमान्।

यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नथ्योक्तृभिः।।[41]

अर्थात् आङ्गिकवाचिकसात्त्विकाहार्याभिनययुक्तान् काव्यार्थान् ये भावयन्ति त एव भावाः। काव्यार्थश्च रसरूप एव। अतो ये रसं भावयन्ति ते भावाः। ते च विभावैराधीयन्तेऽनुभावैश्च प्रतीयन्ते।

यथोच्यते ''सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्'' अर्थात् यस्मात् सुखदुःखादिभिः स्थायिभावैस्तद्भावभावनं सामाजिकानां तत्तन्मयत्वबोधनं तस्मात् विभावादिसमुदायो भावो भावसंज्ञकः। भावयति सामाजिकान् सुखित्वदुःखित्वादिरूपेण परिणमयतीति व्युत्पत्तिलभ्यो भाव इति।

विभावाः – विभावयन्ति रत्यादीन् विशेषणस्वादाङ्कुरयोग्यतामानयन्तीति विभावा उच्यन्ते। कविराजविश्वनाथः परामृशति साहित्यदर्पणे–

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।[42]

''ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः'' इति विभावाः।

विभाव इति कस्मादुच्यते– नाट्यशास्त्रे भण्यते? विभावो विज्ञानार्थः। विभावः कारणं निमित्तं हेतुरिति पर्यायाः। विभाव्यन्तेऽनेन वागङ्गसत्त्वाभिनया इति विभावः। यथा विभावितं विज्ञातमित्यर्थान्तरम्।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः।

अनेन यस्मात्तेनाऽयं विभाव इति संज्ञितः।।[43]

अर्थाद्वागङ्गसत्त्वाद्यभिनयाश्रयाः काव्यार्था येन विभाव्यन्ते स विभावः।

नाट्यदर्पणकारेणेत्थमभिमतमस्मिन् प्रसङ्गे– ''**वासनात्मतया स्थितं स्थायिनं रसत्वेन भवन्तं विभावयन्ति आविर्भावनाविशेषेण , प्रयोजन्ति इत्यालम्बनोद्दीपनरूपा ललनोद्यानादयो विभावाः।**[44]''

अयं विभावस्तावद्द्विविधः आलम्बनविभावः उद्दीपनविभावश्च।

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।[45]

1. **आलम्बनविभावः** – यमाश्रित्य रसस्य भावस्य वोद्गमो भवति स आलम्बनविभावः। यथोच्यते– **आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।**[46]

अर्थाद् यमालम्ब्य लौकिकरस आविर्भवति स आलम्बनविभावः। तेन नायकनिष्ठे लौकिकरसे नायिकालम्बनविभावः। नायिकानिष्ठे लौकिकरसे नायकः आलम्बनविभावः। इत्थं रसप्रकृतिभूतरत्याद्याश्रयत्वमालम्बनविभावत्वमिति लक्षणं पर्यवस्यति।

2. **उद्दीपनविभावः** – ये रसमुद्दीपयन्ति त उद्दीपनविभावा इत्युच्यन्ते। यथोच्यते –

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये। आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्ता ।।

अर्थाद् ये पदार्थाः आलम्बनविभावेनाङ्कुरितं रसम् उद्दीपयन्ति परिपोषातिशयं नयन्ति ते उद्दीपनविभावाः। नायिकादेः चेष्टाद्याः नेत्रविक्षेपादयः तथा देशकालादयः चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझङ्कारादय उद्दीपनविभावाः। इत्थम् आलम्बनभिन्नत्वे सति रत्याद्युद्दीपकत्वम् उद्दीपनविभावत्वमिति लक्षणं फलितम्।

अनुभावाः– अनु पश्चाद्भाव उत्पत्तिर्येषां ते अनुभावाः। अनुभावयन्तीति अनुभावा इति पण्डितराजस्य मतम्। आचार्यो भरतो जगाद नाट्यशास्त्रे–

वागङ्गाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।

शाखाङ्गोपाङ्गसंयुक्तस्त्वनुभावस्ततः स्मृतः।।[48]

साहित्यदर्पणेऽपि अनुभावस्य लक्षणं यथा–

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।

लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः।।[49]

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणै रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते स, काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः। रत्यादीन् स्थायिनः अनुभावयन्ति अनुभवविषयीकुर्वन्तीति अनुभावाः।

एवमेव नाट्यदर्पणकारेणापि अनुभावस्य लक्षणं प्रोक्तम्। तद्यथा–

"अनु लिङ्गनिश्चयात् पश्चाद् भावयन्ति गमयन्ति लिंगिनं रसमित्यनुभावाः स्तम्भादयः।"[50]

मनोगतानां भावानां साक्षादभिव्यञ्जकोपादानानि भ्रूविक्षेपादीनि अनुभावा इत्युच्यन्ते। अमी चतुर्धा विभज्यन्ते 1. चित्तारम्भका अनुभावाः 2. गात्रारम्भकाऽनुभावाः 3. वागारम्भकाऽनुभावाः 4. बुद्ध्यारम्भकाऽनुभावाः।

1. चित्तारम्भकाऽनुभावा यथा हावभावहेलादयः।
2. गात्रारम्भकाऽनुभावा यथा लीलाविलासविच्छित्त्यादयः।
3. वागारम्भकाऽनुभावा यथा आलापविलापसंलापादयः।
4. बुद्ध्यारम्भकाऽनुभावा यथा रीतिवृत्त्यादयः।

इत्थं स्थायिभावजन्यत्वमनुभावत्वमिति लक्षणं फलितम्।

सात्त्विका भावाः– सत्त्वोद्रेकादुत्पन्ना मनोविकाराः सात्त्विकभावाः। सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः। तत्रोच्यते साहित्यदर्पणे–

विकाराः सत्त्वसम्भूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः।[51]

आचार्यो भरतः सात्त्विकभावा मनः प्रभवाः इति कथयामास। तदुक्तम् इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च - समाहितमनस्त वादुत्पद्यते।

व्यभिचारिभावाः– यानि हर्षादीनि स्थायिभावेन सहचरन्ति फेनबुदबुदन्यायेन सम्मिलन्ति तानि व्यभिचारिशब्देन व्यपदिश्यन्त इति।

प्रतिपाद्यते स्वरूपमेतेषां साहित्यदर्पणे

विशेषादाभिमुख्येन चरणाव्यभिचारिणः।

स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदा।।[52]

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते।

वि अभि इत्येतदुपसर्गाभ्यां चर गतौ कर्तरि णिनिः प्रत्यनेनानेन व्यभिचारीति पदं निष्पन्नतां याति। विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीतिव्यभिचारिणः। वागङ्गसत्त्वोपेतान् प्रयोगे रसं नयन्तीति व्यभिचारिण इति। विशेषात् विभावानुभावापेक्षया अतिरेकात् इदं वेरुपसर्गार्थनिरूपणम्। आभिमुख्येन आस्वादव्यञ्जने सहायत्वेन इदञ्चाभेरर्थप्रदर्शनम्। चरन्तो रत्यादौ रसरूपतया नयन्तः प्रवर्तमाना इति यावत्। अत्र कथं नयन्त इति जिज्ञासायां

यथा सूर्य इदं नक्षत्रममुं वासरं नयति न च तेन बाहुभ्यां स्कन्धेन वा नीयते किन्तु लोकप्रसिद्धमेतत् एवमेते व्यभिचारिणः इत्यवधेयम्। तथा स्थायिनि भावे कदाचिदुन्मग्नाः जलबुद्बुदवत् झटिति , यथाऽयं सूर्यो नक्षत्रमिदं वा नयति - प्रतीयमानत्वेन प्रादुर्भूताः निर्मग्ना जलबुद्बुदवच्च विलम्बप्रतीतिकरत्वेन पुनस्तिरोभूता भावा व्यभिचारिणः कथ्यन्त इति। इत्थं , विभावानुभावापेक्षया विशेषेण रसपुष्टिजनकभावत्वं व्यभिचारित्वमिति लक्षणं फलितम्।

पाश्चात्त्यनये रसस्वरूपविचारः– वस्तुतो रसशब्दस्यांग्लानुवादः Passion, Emotion, Taste, Sentiment इत्यादिभिः विविधैः शब्दैः क्रियते। रसशब्दस्य Passion इति अनुवादः Sidney महोदयेन विहितः। तद्यथा– Sidney makes passion on ally of virtue, a necessary element in all forms of poetry.[53]

प्लेटोमहोदयानां रसस्वरूपम् सत्यं शिवं सुन्दरमिति विभावनादिसाधारणीकरणेन यथा अमरत्वमवगम्यानन्दस्वरूपं प्राप्यते तद्वदेव वर्तते। अमीषां शुद्धीकरणरूपविरेचनसिद्धान्तः (Katharsis) करुणरसेन सामीप्यं भजते नितान्तम्। तद्यथा–

"The Separation" of the some from the body is what Plato calls Katharsis or Purification. The philosophical interpraise is devoted to solving the problem of death, to knowing the self, and to freeing the immortal some from involvement in the body. The ritualistic death that we experience at a tragedy is a mimetic rehearsal of our death which the facts have already determined[54].

इत्थं लोकोत्तरचमत्कारप्राणो ब्रह्मानन्दसहोदरो वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो रसः। रसे च सारः चमत्कारः। चमत्कारोऽयं चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्याय इति कविराजो विश्वनाथो लक्षयामास। सकलविघ्नविनिर्मुक्त संवेदनो हि चमत्कारः। अद्भुतभोगात्मस्पन्दावेशरूपो ह्यं चमत्कारो भवति। स च साक्षात्कारस्वभावो मानसाध्यवसायो वा सङ्कल्पो वा स्मृतिर्वा तथात्वेनास्फुररन्त्यस्तु इति काव्यानुशासनव्याख्यासम्मतार्थः अतो ''रसे सारश्चमत्कारः'' इति धर्मदत्ताचार्यकथितवचनं नितरां श्रद्धास्पदं विशिष्टञ्च वर्तत इति।

सर्वान्ते–**रसं विना न संसारो रसं विना न धातवः।**

रसं विना न नाट्याङ्गं नैव किञ्चिद् रसं विना।।[55]

सन्दर्भाः

1. नाट्यशास्त्रम्, षष्ठोऽध्यायः, रसप्रसङ्गे पङ्क्तिरियम्।
2. शब्दकल्पद्रुमः, रसनिर्वचनसन्दर्भे।
3. ऋग्वेदः 9/63/13
4. कठोपनिषद् - 3/5
5. तैत्तिरीयोपनिषद् - 2.1
6. तत्रैव - 2.7
7. तत्रैव - 3.6
8. विश्वकोशः रसार्थप्रसङ्गे।
9. अनेकार्थकनाममाला - श्लोकसंख्या - 29

10. शब्दकल्पद्रुमः - चतुर्थकाण्डम्, पृष्ठसंख्या - 101
11. रामायणम्, बालकाण्डम, 4/8-9
12. कामसूत्रम् - 2/1/65
13. डॉ.नगेन्द्र के रस सिद्धान्त से साभार।
14. नाट्यशास्त्रम्, षष्ठोऽध्यायः।
15. तत्रैव - षष्ठोऽध्यायः।
16. तत्रैव - षष्ठोऽध्यायः।
17. दशरूपकम्, तृतीयोऽध्यायः।
18. ध्वन्यालोकः - 4/108
19. तत्रैव - 4/109
20. श्रीकण्ठचरितम्, प्रस्तावनाभागः।
21. व्यक्तिविवेकः, प्रथमो विमर्शः।
22. तत्रैव, प्रथमो विमर्शः।
23. काव्यानुशासनम् - श्लोकसंख्या - 13
24. तत्रैव - भूमिकाभागः।
25. रसगङ्गाधरः - प्रथमाननम्।
26. काव्यालङ्कारः, 15/21
27. तत्रैव - 12/3
28. अग्निपुराणम, 337/33
29. तत्रैव - 339/9
30. तत्रैव - 343/3
31. काव्यमीमांसा, हिन्दी, पृष्ठ - 14
32. तत्रैव, पृष्ठ - 111
33. गुरुमुखाद् श्रुतम्।
34. Western Aesthetics, page 177
35. नाट्यशास्त्रम्, षष्ठोऽध्यायः, श्लोकसंख्या - 32-33
36. अभिनवभारती, पृष्ठसंख्या - 128-130
37. काव्यप्रकाशः, चतुर्थोल्लासः, कारिका - 27-28
38. साहित्यदर्पणः - षष्ठोऽध्यायः।
39. ना8/7.शा.
40. साहित्यदर्पणः स्थायिभावनिरूपणप्रसङ्गे।
41. नाट्यशास्त्रम्, सप्तमोऽध्यायः - श्लोकसंख्या 1-3
42. साहित्यदर्पणः - षष्ठोऽध्यायः।
43. नाट्यशास्त्रम्, 4/7
44. नाट्यदर्पणम् तृतीयो विवेकः।
45. साहित्यदर्पणः29-कारिका/तृतीय
46. तत्रैव (उत्तरार्द्ध) 29-कारिका/.तृ

47. तत्रैव 131/3
48. नाट्यशास्त्रम् 5/7
49. साहित्यदर्पणः 132/3
50. नाट्यदर्पणम् तृतीयो विवेकः। -
51. साहित्यदर्पणः 134/13
52. तत्रैव 140/3
53. The History of Literary criticism.
54. Ibid., Page.140

आचार्यरामकुमारशर्मविरचितं पद्यमिदम्।

सन्दर्भग्रन्थसूचिः

1. नाट्यशास्त्रम् 1983, दिल्ली, भारतीयविद्याप्रकाशन-।
2. अभिनवकाव्यशास्त्रम् 2000, दिल्ली, साहित्य सहकार, शङ्करदेव अवतरे. डॉ -।
3. The History of Literary Criticism (H.L.C.) P.S. Shastry, Laxmi Narayan -grawal, Educational Publishers, -gra, First Edition, 1969.
4. Kavyaprakash, Translated by Dr. Ganganath Jha, Bhartiya Vidya Prakashan, Delhi, 1985.
5. रसगङ्गाधरः 2008, पुनर्मुद्रितसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवन, मदनमोहनझा (प्रथमाननम्)
6. साहित्यदर्पणः 1997, दशमसंस्करणम्, वाराणसी, चौखम्बा विद्याभवनम् सत्यव्रतसिंहः.डॉ (शशिकला हिन्दीव्याख्योपेतः)।
7. साहित्यदर्पणः 2041.सं.वि, वाराणसी, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, आचार्यः कृष्णमोहनशास्त्री (लक्ष्मीव्याख्याविभूषितः)।
8. श्रीमम्मटपण्डितराजसिद्धान्तमीमांसा 2008, सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः, वायुनन्दनपाण्डेयः।।
9. साहित्यवल्लरी 2011, कर्नाटकम्, उडुपी लक्ष्मीनारायणभट्टः एन् ।
10. Natyasastra in the Modern World, Radhavallabh Tripathi, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2014.
11. काव्यप्रकाशः बालब) बोधिनीटीकया समन्वितः 1917 प्रथमसंस्करणम्, दिल्ली परिमल पब्लिकेशन्स, झलकीकरो नारायणः।।
12. आधुनिक संस्कृत काव्यशास्त्र 1990, दिल्ली ईस्टर्न बुक लिंकर्स, आनन्द कुमार श्रीवास्तव.डॉ.।

सहायकाचार्यः, साहित्यविभागे,
हरियाणासंस्कृतविद्यापीठम्, बधौला, पलवलम्, (हरियाणा)

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकवर्णितद्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपं तस्य च समीक्षा

डॉ. राकेशकुमारजैनः

आचार्य-उमास्वामिविरचितं तत्त्वार्थसूत्रमपरनाम मोक्षशास्त्रं जैनागमेषु प्रतिष्ठितं प्रामाणिकं जैनदर्शनस्य च प्रथितसिद्धान्तानवगन्तुं श्रेष्ठतमं शास्त्रं वर्तते। प्रथमसूत्रग्रन्थरूपेण प्रसिद्धेऽस्मिन् शास्त्रे आहत्य दश अध्यायाः सप्तपञ्चाशदोत्तरत्रिशतं (357) सूत्राणि वर्तन्ते। द्वितीयशताब्द्यां प्रणीतस्यास्य वैशिष्ट्यमनेनापि संलक्ष्यते यत् सर्वाधिकटीकाः प्रस्तुतग्रन्थाधिकृत्य लिखिताः सन्ति येषु प्रमुखा आचार्यपूज्यपादस्वामिविरचिता सर्वार्थसिद्धिटीका भट्टाकलंकदेवविरचिता तत्त्वार्थराजवार्तिकटीका, महर्षि विद्यानन्दस्वामिविरचिता तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकटीका। शोधपत्रमेतत् महर्षिविद्यानन्दस्वामिविरचिततत्त्वार्थश्लोकवार्तिकटीकां विषयीकृत्य तत्त्वार्थसूत्रस्य सूत्राणां विशदविवेचनार्थं वर्तते। मदीयः शोधलेखस्यास्य विषयोऽयं यत् ''तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकवर्णितद्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपं तस्य च समीक्षा''।

तत्त्वार्थसूत्रस्य प्रथमाध्याये सम्यग्दर्शनादीन् जीवादिपदार्थान् च विज्ञातुमेषाञ्च लोकव्यवहारं विधातुमाचार्यैः क्रमशो ''नाम-स्थापना ..... इत्यादीनि चत्वारि सूत्राणि प्रणीतानि। सूत्राणामेषामुत्थानिकायामाचार्यपूज्यपादस्वामिना प्रोक्तं यत् एवं प्रोक्तानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवानाञ्च शब्दप्रयोगसमये विवक्षाभेदात् ये व्यभिचारा भवन्ति तेषां निवृत्यर्थं चत्वारि सूत्राणि कथ्यन्ते, तद्यथा- ''एवमेषामुद्दिष्टानां सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनाञ्च संव्यवहारविशेषव्यभिचारनिवृत्त्यर्थम् आह[1]-

''नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः''[2]

''प्रमाणनयैरधिगमः''[3]

''निर्देशस्वामित्वसाधनाधिकरणस्थितिविधानतः''[4]

''सत्सङ्ख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तरभावाल्पबहुत्वैश्च''[5]

प्रसङ्गानुसारं चतुर्षु सूत्रेष्वादिमसूत्रमत्र विचार्यते। सूत्रस्योत्थानिकायामाचार्य विद्यानन्दस्वामी निगदति - नन्वेते जीवादयः शब्दब्रह्मणो विवर्ताः शब्दब्रह्मैव नाम तत्त्वं नान्यदिति केचित्। तेषां कल्पनारोपमात्रत्वात्। तस्य च स्थापनामात्रमेवेत्यन्ये, तेषां द्रव्यान्तःप्रविष्टत्वात्। तद्व्ययतिरेकेणासंभवात् द्रव्यमेवेत्येके। पर्यायमात्रव्यतिरेकेण सर्वस्याघटनाद्भाव एवेत्यपरे। तन्निराकरणाय लोकसमयव्यवहारेष्वप्रकृतापाकरणाय प्रकृतव्याकरणाय च संक्षेपतो निक्षेपप्रसिद्ध्यर्थमिदमाह इति।

किं नाम निक्षेपः

'नि' उपसर्गपूर्वकात् क्षेपणार्थकात् क्षिप्धातोः घञ्प्रत्ययेन 'निक्षेप' इति शब्दो निष्पद्यते यस्यार्थो विद्यते 'स्थापनम्'।

❊ 'नि' उपसर्गपूर्वकात् क्षेपणार्थकात् अस्धातोर्यणि 'न्यास' इति शब्दो निष्पद्यते यश्च निक्षेपस्यैवार्थान्तरम्।

* नाम स्थापनादिभिर्वस्तुषु भेदकरणस्योपायो 'निक्षेप' इत्युच्यते।[6]

* प्रमाण-नयानुसारं प्रचाल्यमानो लोकव्यवहारो 'निक्षेप' इत्यभिधीयते।

* अनिर्णीतवस्तुनो निर्णयो यत्र भवति असौ 'निक्षेप' इत्युच्यते।[7]

* अव्यवस्थायां निराकरणं यत्र भवति तन्निक्षेप इति ज्ञातव्यः।

निक्षेपविधेः प्रयोजनम्

प्रत्येकं शब्दानां लोके शास्त्रेषु वा नैकार्थेषु प्रयोगो भवति, प्रयोगोऽयं कुत्र कस्मिन्नर्थेऽभवत् इत्यस्य स्पष्टीकरणं निक्षेपविधिना विस्तारपूर्वकं भवति।

* अप्रकृतार्थस्य निराकरणार्थं प्रकृतार्थस्य निरूपणार्थं लोकव्यवहारे च समुपस्थिताव्यवस्थां निराकर्तुं विधिरयं प्रयुज्यते।

* कस्य शब्दस्य कोऽर्थ? इति निक्षेपविधिना विस्तारपूर्वकं ज्ञायते।

* विधिनानेन वक्ता श्रोता च उभावपि परस्परं कथनस्याभिप्रायमवगन्तुमर्हतः।

* ग्रन्थस्य हार्दं विज्ञातुं विधिरयमपेक्षितो वर्तते।

निक्षेपस्य भेदाः

निक्षेपस्य चत्वारो भेदा विद्यन्ते इति प्रतिपादयता आचार्य-उमास्वामिना तत्त्वार्थसूत्रे पञ्चमसूत्रं निगदितम्-

नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः[8]

सूत्रेऽस्मिन् पदद्वयं वर्तते नाम-स्थापना-द्रव्य-भावतः इत्येकम् 'तन्न्यासः' इत्यपरम् नाम च स्थापना च द्रव्यञ्च भावश्च इत्येते नाम-स्थापना-द्रव्य-भावाः पञ्चम्यर्थे तसिल्' इत्यनेन तसिल् प्रत्ययस्य योगात् नामस्थापनाद्रव्यभावतः। तसिल् प्रत्ययोऽयमन्तदीपकवत् तस्मात् नामादिसर्वशब्दैः सह तसिल् प्रत्ययस्य प्रयोगो भवति तेन नामतः स्थापनातः द्रव्यतः भावत इति। तेषां न्यास इति तन्न्यासः षष्ठीतत्पुरुषसमासोऽत्र। तेषाम् अत्र पूर्वसूत्रेभ्योऽनुवर्तन्ते सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां न्यास; निक्षेपः प्रतिपादनं लोकव्यवहारो वा।

सूत्रस्यास्य तात्पर्यमस्ति यत् नामतः स्थापनातो द्रव्यतो भावतः सम्यग्दर्शनादीनां जीवादीनां न्यासो निक्षेपः प्रतिपादनं लोकव्यवहारो वा भवति। अत्र आचार्यविद्यानन्दस्वामिभिर्विशेषाभिव्यक्तं यत् नाममात्रत्वेन स्थापनामात्रत्वेन द्रव्यमात्रत्वेन भावमात्रत्वेन वा जीवादीनां निक्षेपो न, न च संकरव्यतिरेकाभ्यां वा निक्षेपो भवति अपितु चतुर्भिरेव भिन्न-भिन्नपदार्थानां स्व-स्व स्वरूपे लोकव्यवहारो जायते। विषयानुसारमत्र द्रव्यनिक्षेपस्य विचारः क्रियते।

द्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपम् –

सामान्यरूपेण तत्त्वार्थसूत्रस्य पुस्तकेषु द्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपं लभते यत् ''भूतकालीनभविष्यत्कालीनपर्याययोः प्रामुख्येन वर्तमानपर्याये कथनं 'द्रव्यनिक्षेप' इत्युच्यते। यथा - कश्चिज्जनः पूर्वकाले पूजनं करोति स्म परमिदानीं न करोति तथापि तस्मै 'पूजकः' इति संज्ञा भवति। अथवा शास्त्रिप्रथमवर्षे एवाध्ययनं कुर्वन् कश्चिच्छात्रः शास्त्रिपरीक्षामुत्तीर्य प्रमाणपत्रं न लब्धवान् तथामि तस्मै 'शास्त्री' इति शब्दस्य

प्रयोग: प्रायो भवति, सर्वमेतत् द्रव्यनिक्षेपेण सत्यमस्ति, यथार्थमस्ति। आचार्यपूज्यपादस्वामिना सर्वार्थसिद्धौ द्रव्यस्य लक्षणं कुर्वता प्रोक्तम् - 'गुणैर्गुणान्वा द्रुतं गतं गुणैर्दोष्यतेगुणान्द्रोष्यतीति वा द्रव्यम्'[10] तात्पर्यमस्ति गुणैः गुणान् वा द्रुतं गतं प्राप्तं लब्धं वा इति कथनं भूतकालीनपर्यायापेक्षया वर्तते। गुणैः द्रोष्यते प्राप्स्यते लप्स्यते गुणान् द्रोष्यति प्राप्स्यति, गमिष्यति लप्स्यते वेति कथनं भविष्यकालीनपर्यायापेक्षया वर्तते। एवमत्रार्थः प्राप्यते यत् भूतकालीनपर्यायस्य भविष्यकालीनपर्यायस्य वा प्रामुख्येन कथनं यत्र विधीयते स द्रव्यनिक्षेप इत्युच्यते।

महर्षिविद्यानन्दस्वामिविरचिते तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके द्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपं श्लोकद्वारा भणितमस्ति तद्यथा-

यत्स्वतोभिमुखं वस्तु भविष्यतत्पर्ययं प्रति।
तद्द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः।।[11]

अर्थात् यद्वस्तु स्वतो भविष्यत्पर्यायं प्रति अभिमुखं वर्तते तद् द्रव्यनिक्षेप ज्ञातव्यः। अथवा अनागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखीकरणं द्रव्यनिक्षेप अथवा भाविपर्यायग्रहीतुं सम्मुखीकरणं द्रव्यनिक्षेप इत्युच्यते। यथा कस्यचित् राज्यस्य युवराजपदे आसीनं जनं 'महाराज' इति संज्ञाप्रदानम्। अथवा क्षुल्लकावस्थायाम् ऐलकावस्थायां वा प्रवर्तमानानामुत्कृष्टश्रावकानां कृते 'महाराज' इति शब्दस्य प्रयोगः। लक्षणेऽस्मिन् भविष्यत्कालीनपर्यायं प्रत्यभिमुखीकरणस्य कथनन्तु वर्तते परं भूतकालीनपर्यायं विषये न किमपि लिखितं यथा पूर्वाचार्यैः प्रोक्तम्। कस्मान्न इति विमर्शयितव्यम्। लक्षणस्यास्योदाहरणरूपेण जीवपदार्थस्य विवेचनं प्रतिपादनं लोकव्यवहारश्च क्रियते। आचार्यपूज्यपादस्वामिनापि दृष्टान्तरूपेण जीवपदार्थस्य विवेचनं कृतमस्ति तद्यथा - नामजीवः स्थापनाजीवो द्रव्यजीवो भावजीव इति चतुर्धा जीवशब्दार्थो न्यस्यते।''[12]

द्रव्यनिक्षेपस्य द्रव्यजीवस्य वा भेदाः

'तद् द्रव्यं द्विविधं ज्ञेयमागमेतरभेदतः' अर्थात् असौ द्रव्यनिक्षेपो द्विविधः - आगमद्रव्यजीवो नोआगमद्रव्यजीवश्च। आगमद्रव्यजीवस्य लक्षणं कुर्वता आचार्येण श्लोकः प्रणीतः-

(1) आगमद्रव्यजीवः -

आत्मा तत्प्राभृतज्ञायी यो नामानुपयुक्तधीः।
सोत्रागमः समाम्नातः स्याद्द्रव्यं लक्षणान्वयात्।।[13]

अनुपयुक्तधीरर्थात् शास्त्रेषु यस्य उपयोगो न तादृशः तत्प्राभृतज्ञायी अर्थात् सम्यग्दर्शनादिप्रतिपादकशास्त्राणां ज्ञाता यः स आत्मा जीवो वा आगमद्रव्यजीव' इति कथ्यते।

जिज्ञासा- सम्यग्दर्शनादिप्रतिपादकशास्त्राणां ज्ञाता परन्तु वर्तमाने तदुपयोगरहित आत्मा 'द्रव्यम्' इति कथमुच्यते?

समाधानम्- 'द्रव्यनिक्षेपलक्षणान्वयात्' अर्थात् द्रव्यनिक्षेपस्य लक्षणमत्रान्वयरूपेण प्रवर्तते' तात्पर्यमस्ति यत् यद्यपि सामान्यद्रव्यापेक्षया 'द्रव्यम्' अनादिकालतः प्रवर्तते परन्तु पर्यायविशेषापेक्षया भविष्यकालीनपर्यायं प्रति सम्मुखं पर्यायं वर्तमाने तेन पर्यायेण युक्तं भवति। यो जीवः शास्त्राणां ज्ञाता तु अस्ति परन्तु वर्तमाने

उपयोगरहितो वर्तते तथापि स वर्तमाने तच्छास्त्राणां 'ज्ञाता' इत्यभिधीयते यतो हि तज्ज्ञानं भविष्ये उपयोगयुक्तमस्ति।

(2) नोआगमद्रव्यजीवः –

आगमद्रव्यजीवस्य सहायको नोआगमद्रव्यजीवो भवति। जीवोऽयं त्रिधा – (1) ज्ञायकशरीरम्, (2) भाविनोआगमद्रव्यजीवः, (3) तद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीवः।

(i) ज्ञायकशरीरम् –

जीवशास्त्रं मोक्षशास्त्रं वा यो जानाति तस्य ज्ञातुश्शरीरं ज्ञायकशरीरं भवति। शरीरमेतत्त्रिविधम् – भूतशरीरम् भविष्यतशरीरम् वर्तमानशरीरम् च अत्र वर्तमानशरीरमित्युक्ते यच्छरीरं वर्तमानसमये धृतमस्ति अथवा वर्तमाने जीवादिशास्त्राणां ज्ञाता यः तस्य शरीरं वर्तमानशरीरम्।

* भविष्यशरीराच्छरीरं नाम आगामिभवे भविष्यकाले वा ज्ञातुर्यच्छरीरं भविष्यति
* भूतशरीरस्याभिप्रायो वर्तते शास्त्राणां ज्ञात्रा पूर्वभवे यच्छरीरं धृतमासीत्। यथोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकग्रन्थे–

नो आगमः पुनस्त्रेधा ज्ञशरीरादिभेदतः।
त्रिकालगोचरं ज्ञातुः शरीरं तत्र च त्रिधा।।[14]

भूतशरीरस्य पुनः त्रिभेदाः सन्ति – च्युतशरीरम्, च्यावितशरीरम्, त्यक्तशरीरश्च। च्युतशरीरं नाम पूर्वभवे स्वकीयं आयुः पूर्णं कृत्वा शरीरत्यागः। यथा देवनारकपर्यायं त्यक्त्वा आगतानि ज्ञातुश्शरीराणि। अकालमरणं कृत्वा यच्छरीरं प्राप्यते तच्च्यावितशरीरम्। सन्यासमरणं कृत्वा यच्छरीरं प्राप्यते तत्त्यक्तशरीरमित्युच्यते।

(ii) भाविनोआगमद्रव्यजीवः

भविष्ये समागतपर्यायान् प्रति अभिमुखी जीवो भाविनोआगमद्रव्यजीव इत्युक्तः यथोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके–

भाविनोआगमद्रव्यमेष्यत् पर्यायमेव तत्।[15]

(iii) तद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीवः

कर्म–नोकर्मभेदभृज्जीवः तद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीवो भवति। यथोक्तं तत्त्वार्थश्लोकवार्तिके –

तथातद्व्यतिरिक्तं च कर्मनोकर्मभेदभृत्''[16]

भेदद्वयमस्य कर्मतद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीवः नोकर्मतव्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीवश्च। तत्रादौ ज्ञानावरणादिभेदेन कर्मतद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीवो नैकविधः। यथोक्तम्–

'ज्ञानावृत्त्यादिभेदेन कर्मानेकविधं मतम्।'[17]

शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम् आहार–भाषा–मनस्तेजो वर्गणारूपेण एकत्रितं पुद्गलद्रव्यं नोकर्मतद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यजीव इत्युच्यते। यथोक्तम्–

नोकर्म च शरीरत्वपरिणामनिरुत्सुकम्'[18]

पुद्गलद्रव्यमाहारप्रभृत्युपचयात्मकम्।
विज्ञातव्यं प्रपञ्चेन यथागममबाधितम्[19]
द्रव्यजीवस्य सर्वभेदान् स्पष्टीकर्तुमत्र रेखाचित्रं प्रस्तूयते –

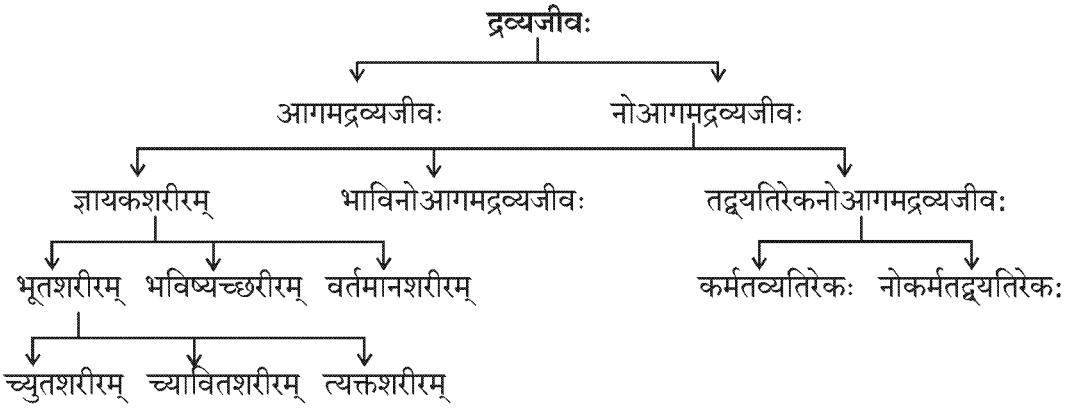

द्रव्यनिक्षेपस्वरूपस्य समीक्षा–

आचार्यविद्यानन्दस्वामिना विरचितेऽस्मिन् तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकग्रन्थे द्रव्यनिक्षेपस्य स्वरूपं भणितं यत् यद्वस्तु स्वतोभाविपर्यायं प्रति अभिमुखं' वर्तते तद्द्रव्यनिक्षेपः। अथवा अनागतपरिणामविशेषं प्रति अभिमुखीकरणं द्रव्यनिक्षेप इति। स्वरूपस्यास्य समीक्षा विविधजिज्ञासासमाधानद्वारा विधीयते तद्यथा–

(1) जिज्ञासा- ननु अनागतपरिणामविशेषं प्रति ग्रहीताभिमुख्यं द्रव्यमिति द्रव्यलक्षणमयुक्तम्, गुणपर्ययवद्द्रव्यमिति तस्य सूत्रित्वात्, तदागमविरोधात् इति कश्चित्।

समाधानम्– असौ विद्वान् सूत्रार्थानभिज्ञः इति मन्ये। पर्ययवद्द्रव्यमिति हि सूत्रकारेण वदता त्रिकालगोचर-अनन्तक्रमभाविपरिणामाश्रयं द्रव्यम् उक्तम्। तच्च यदानागतपरिणामविशेषं प्रत्यभिमुखं तदा वर्तमानपर्यायाक्रान्तं परित्यक्तपूर्वपर्यायं च निश्चीयते अर्थात् त्रिकालगोचरपर्यायानां गुणानाञ्च समूहं द्रव्यम्' इत्युच्यते; अन्यथा अनागतपरिणामाभिमुख्यानुपपत्तेः खरविषाणादिवत्। केवलं द्रव्यार्थप्रधानत्वेन कथने अनागतपरिणामाभिमुखम् अतीतपरिणामं वा अनपायि द्रव्यमिति। एवं निक्षेपप्रकरणे तथा द्रव्यलक्षणमुक्तम्।

(2) जिज्ञासा- द्रव्यनिक्षेपेणानेन त्रिकालानुयायिद्रव्यं कथं सिद्धयते?

समाधानम् - समाधानेऽस्या जिज्ञासाया आचार्यविद्यानन्दस्वामिना प्रोक्तम्–

अन्वयप्रत्ययात्सिद्धं सर्वथा बाधवर्जितात्।
तदद्रव्यं बहिरन्तश्च मुख्यं गौणं ततोऽपरम्।।[20]

सर्वथाबाधकप्रमाणरहितात् अन्यज्ञानात् शरीरादिबहिरंगद्रव्यं तथा ज्ञानस्वरूप आत्मा अन्तरंग द्रव्यमुख्यमिति सिद्धम्। तद्भिन्नमारोपितं द्रव्यं गौणद्रव्यम् इति। तात्पर्यमस्ति यत् 'तदेव इदम्' इति एकत्वप्रत्यभिज्ञानमेव 'अन्वयज्ञानम्' इति तत् प्रत्यभिज्ञानम् अन्वयज्ञानं वा यदा जीवादिशास्त्रज्ञायिनि आत्मनि अनुपयुक्ते जीवादिआगमद्रव्येऽस्ति। यतो हि यदाहं जीवादिशास्त्रज्ञाने स्वयमुपयुक्तः प्रागासम् स एवाहमिदानीं तत्रानुपयुक्तो वर्ते पुनरुपयुक्तो भविष्यामीति सम्प्रत्ययात्।

न चायं भ्रान्तः प्रत्यक्षानुमानप्रमाणादिबाधवर्जितत्वात्।

(3) जिज्ञासा- जीवादिषड्द्रव्येषु नोआगमद्रव्यमसम्भाव्यं यतो हि जीवादिषड्द्रव्याणामस्तित्वं सर्वकालीनत्वात् अनागतत्वस्यासिद्धिर्वर्तते। सामान्यजीवादिषड्द्रव्याणां भविष्ये प्राप्तिरसिद्धा, तत् तदभिमुख्यस्य कस्यचिदपि पदार्थस्याभावो वर्तते। अर्थात् पूर्वस्मिन् जीवादिद्रव्याणि नासन् इति न भवितुमर्हति-

समाधानम्- सत्यमेतत् सामान्यरूपेण जीवादिषड्द्रव्येषु नोआगमद्रव्यनिक्षेप न घटते परं जीवादि-विशेषापेक्षयोदाहृतो जीवादिद्रव्यनिक्षेपः।

(4) जिज्ञासा- बाधारहितान्वयज्ञानात् मुख्यागमद्रव्यन्तु सिद्ध्यतु परन्तु त्रिकालगोचरं ज्ञायकशरीरं कर्मनोकर्मविकल्पश्चानेकविधं तद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यं कथं सिद्ध्येत्? यतो हि अनयोः बाधारहितप्रतीत्यभावो वर्तते।

समाधानम्- न तथा वक्तव्यम्, तत्रापि तथाविधान्वयज्ञानस्य सद्भावात्, यतोहि तत्त्वं ज्ञातुमारभमाणस्य मम यदेव शरीरमासीत् तदेवेदानीं परिसमाप्तितत्त्वज्ञानस्य मे वर्तत इति वर्तमानज्ञायकशरीरे तावदन्वयज्ञानं भवति यच्च दिनद्वयात् पूर्वं शरीरमासीत् तदेव अद्यापि इति प्रतीतिर्भवति। यदेवोपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य मे शरीरमासीत् तदेवाधुना अनुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य मे वर्तते एवमतीतज्ञायकशरीरे प्रत्यभिज्ञानं भवत्येव। यदेवाधुना अनुपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य शरीरं वर्तते तदेव उपयुक्ततत्त्वज्ञानस्य मे भविष्यतीति अनागतज्ञायकशरीरे प्रत्यभिज्ञानं घटते।

(5) जिज्ञासा- एवं तर्हि ज्ञायकशरीरं भाविनोआगमद्रव्यात् अभिन्नमेव सिद्ध्यते?

समाधानम्- न तथा वक्तव्यम् यतो हि तस्मात् ज्ञायकशरीरात् ज्ञायक आत्मनः विशिष्टभाविनोआगमद्रव्यं भिन्नमेव अनात्मत्वात् अर्थात् ज्ञायकशरीरं चेतनारहितं वर्तते भाविनोआगमद्रव्यं चेतनासहितं वर्तते।

(6) जिज्ञासा- तद्व्यतिरेकस्य भेदौ कर्मनोकर्मणी अन्यवज्ञानात् ज्ञायन्ते ज्ञायकशरीरमपि अन्वयज्ञानेन ज्ञायन्ते तर्हि अत्राभिन्नत्वम् इति चेत्?

समाधानम्- न तथा वक्तव्यम्, यतो हि कार्मणशरीरस्य तैजसशरीरस्य च ज्ञायकशरीरत्वस्यासिद्धिर्वर्तते; औदारिक-वैक्रयिक-आहारकशरीरत्रयस्यैव ज्ञायकशरीरत्वोपपत्तिः, अन्यथा विग्रहगतावपि जीवस्य उपयोगात्मक ज्ञानस्य प्रसङ्गो भविष्यति यतो हि विग्रहगतौ तैजसकार्मणशरीरयोः सद्भावो वर्तते। एवमत्र ज्ञायकशरीरतद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्ययोः भेदः प्रदर्शितः।

(7) जिज्ञासा- कर्मनोकर्मरूपतद्व्यतिरेकनोआगमद्रव्यात् भाविनोआगमद्रव्यं अभिन्नमस्ति इति चेत्?

समाधानम्- जीवादिप्राभृतज्ञायिपुरुषकर्मनोकर्मभावमापन्नस्यैव तथाभिधान ततोऽन्यस्य भाविनोआगमद्रव्यत्वोपगमात्।

एवमवसाने द्रव्यनिक्षेपस्य भेदद्वय सिद्ध्यते - (i) मुख्यद्रव्यनिक्षेपः, (ii) गौणद्रव्यनिक्षेपश्च। यस्य स्वरूपमुपरि प्रोक्तमस्ति असौ मुख्यद्रव्यनिक्षेपः कस्मिंश्चित् कल्पनया आरोपणं क्रियते स गौणद्रव्यनिक्षेपः, यथा- 'कुन्दकुन्दाचार्य विद्वान्' इति कथनं मुख्यं कुन्दकुन्दाचार्यस्य च छायाचित्रं 'विद्वान्' इति कथनं गौणः।

द्रव्यनिक्षेपस्य कार्यम् –

(i) आधार-आधेयसम्बन्धेन प्रतिपादितलोकव्यवहारस्य सत्यताज्ञापनम्।

(ii) निमित्तस्योपयोगितां ज्ञापनम्। यथोदाहरणानि–

– जिनवाणी आदिशति यत् 'सत्यं ब्रूहि' इति

– अहं भोजनं करोमि

– अद्य भवत आदिनाथस्य गर्भकल्याणको वर्तते।

– भगवतो महावीरस्य माता त्रिशला वर्तते।

– महात्मागाँधी भारतदेशस्य राष्ट्रपिता वर्तते।

उपसंहारः–

एवमत्र द्रव्यनिक्षेपविषये विस्तारपूर्वकं पठित्वा श्रुत्वा विचारश्च कृत्वा सम्यग्दर्शनादीनां जीवादिपदार्थानां वा लोकव्यवहारः कथं भवतीति अस्माभिर्ज्ञातम्। कस्यापि कथनस्याभिप्रायो यदि वयं जानीमस्तर्हि न कुत्रापि जगति कलहो वैमनस्यं वा भवति। भूतभविष्यत्पर्यायान् लक्ष्यीकृत्य बहुवारं जना व्यवहारं कुर्वन्ति किन्तु निक्षेपस्यास्य ज्ञानं विना यथार्थज्ञानं न भवति। इहलोकस्य परलोकस्य वा ज्ञानं प्राप्तुं सर्वविधनिक्षेपाणां ज्ञानं कृत्वा लोके सम्यग्व्यवहरन्तु परमलक्ष्यं मोक्षश्च प्राप्नुयुरिति भावनया।

सन्दर्भसूची:

1. सर्वार्थसिद्धिः, पृ. 12.
2. तत्त्वार्थसूत्रम्, सूत्रसंख्या-5.
3. तत्त्वार्थसूत्रम्, सूत्रसंख्या-6.
4. तत्त्वार्थसूत्रम्, सूत्रसंख्या-7.
5. तत्त्वार्थसूत्रम्, सूत्रसंख्या-8.
6. ध.पु., 1/18.
7. तत्त्वार्थसूत्रस्य विमलप्रश्नोत्तरी टीका, पृ. 12.
8. तत्त्वार्थसूत्रम्, सूत्रसंख्या 5.
9. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, पृ. 71, 1/5/60.
10. सर्वार्थसिद्धिः, पृ. 13.
11. त.श्लो.वा., 1/5/60.
12. स.सि., पृ. 13.
13. त.श्लो.वा., 1/5/61.
14. त.श्लो.वा., 1/5/62.
15. त.श्लो.वा., 1/5/63.
16. त.श्लो.वा., 1/5/63.
17. त.श्लो.वा., 1/5/64.
18. त.श्लो.वा., 1/5/64.
19. त.श्लो.वा., 1/5/65.
20. त.श्लो.वा., 1/5/66.

सहायकाचार्यः,

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः

जयपुरपरिसरः, जयपुरम् (राज.)

वैश्विकपरिप्रेक्ष्ये अध्यापकशिक्षा नैतिकविकासश्च

डॉ. दिवाकरमिश्रः

'अध्यापकः जन्मना जायते, तस्य सर्जनं कर्तुं न शक्यते' इमां पारम्परिकीं धारणां परिहृत्य एकोनविंशतिशताब्द्याः आरम्भ एव भारते औपचारिकी शिक्षक-प्रशिक्षण-प्रक्रिया प्रारब्द्धा सञ्जाता। स्वस्योत्पत्तिकालादेव विकासस्य विविधसरणीमङ्गीकृत्यैतत् शिक्षक-प्रशिक्षणं स्वातंत्र्योत्तरकाले स्वकीये व्यापके स्वरूपेऽध्यापकशिक्षा नाम्ना प्रतिष्ठितमभवदिति।

अध्यापकशिक्षाया विकासक्रममवलोक्य तथ्यमिदं प्रकाशमागच्छति यत्, स्वीयै विविधैः स्वरूपैः विविधसंरचनाभिः इयमध्यापकशिक्षा तादृशीमुपलब्धिं नाधिगतवती, यादृश्यपेक्षा शिक्षाविद्भिः कृतासीत्। वस्तुतः, मूल्यविकास नैतिकविकासादयः कतिपयपक्षास्सन्ति येषां बहुमान्यं स्वरूपनिर्धारणं अद्यत्वेऽपि अध्यापकशिक्षाक्षेत्रेऽवशिष्टं वर्तते। एतेषां तत्त्वानां विकासाभावे न तु शैक्षिकौद्देश्यानां प्राप्तिः सम्भवास्ति, नहि व्यक्तेः मानवत्वेन प्रतिष्ठापनमेव। अतोऽध्यापकशिक्षायाः इमां न्यूनतां मनसि निधाय अस्मिन् शोधालेखे लेखकेन ज्ञान-भाव-क्रियादिभिः नैतिकविकासे अध्यापकशिक्षाया का भूमिकेति? द्रष्टुं प्रयासो विहितः। येन शिक्षासिद्धान्तनिर्धारकाः शिक्षाशास्त्रिणः, शिक्षाप्रशासकाः, अध्यापकाश्च नैतिकतासम्बद्धानां तत्त्वानां मीमासां कुर्वन्तिः तथाविधस्य मार्गस्यान्वेषणं कुर्युः, यस्याश्रयणे अध्यापकशिक्षया नैतिकविकासो भवेत् सहैव अयं हि नैतिकविकासः वर्तमानवैश्विकपरिप्रेक्ष्ये राष्ट्रविकासे सहायकः स्यादिति।

अस्तु, अध्यापकशिक्षायाध्ययेन नैतिकविकासः कथं कर्तु शक्यते? प्रश्नस्यास्य उत्तरान्वेषणात् प्राक् नैतिकशिक्षायाः किं स्वरूपमिति? इति प्रश्नं प्रसङ्गोचितं मत्वा नैतिकशिक्षायाः स्वरूपावबोधाय प्रयतते। नीति-शिक्षेत्यनयोः शब्दयोः समुच्चयः नैतिकशिक्षेति। अत्र विशेषणत्वेन प्रयुक्तः नैतिकशब्दः स्वस्य विशेष्यस्य शिक्षायाः दिशां सूचयति। एतद्धि नैतिकविशेषणं शिक्षाव्यवस्थायाः नैतिकस्वरूपं प्रति अस्माकं ध्यानाकर्षणं करोति। वर्तमानसमये चिन्तकैः शिक्षाविद्भिश्च शिक्षापदे एव नैतिकतायाः समावेशो मन्यते समाजेऽपि निखिला शिक्षाव्यवस्था सद्व्यवहारैरन्विता दृश्यते। अतः शिक्षायाः विविधकार्येषु प्रमुखतमं कार्यं व्यवहारपरिवर्तनं निर्धारितं शिक्षाविद्भिः। व्यवहारपरिवर्तनं नाम– ''प्राकृतिककारणेः पुनर्वलितोभूय व्यवहाराणां व्यवस्थापनं, विद्यालयीयजीवने सामाजिकजीवने चोपस्थितानां व्यवहारोपमानानामनुकरणम्वा।''

अत्रेदं ध्यातव्यमस्ति यत् व्यवहारसम्पादने कस्यापि विनिश्चितायाः व्यवस्थायाः नीतेर्वा महती आवश्यकता भवति। यतः सर्वेषां प्राकृतिक-पुनर्वलनानां सामाजिक-व्यवहाराणाम्वा अनुकरणं सर्वासु परिस्थितिषु सर्वेभ्यः सुखकरं स्यादेव एतदावश्यकं नास्ति। एतदर्थमुपलब्धव्यवहारप्रतिमानेषु उपयुक्तव्यवहारावबोधाय अनुपयुक्त व्यवहारशोधनाय च नीतेरावश्यकता भवति। 'नयनात् नीतिरुच्यते' अनया व्युत्पत्या तथ्यमिदं प्रकाशे आगच्छति यत् नीतिः, व्यवहारकर्तृभ्यः दृष्टिवद् मार्गप्रदर्शिका, कर्मणः सञ्चालिका व्यवस्थापिका च भवति। व्यक्तिषु कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः विवेकं जनयति। येन विवेकवन्तः जनाः वैयक्तिकजीवने सामाजिक जीवने च श्रेष्ठतां प्राप्नुवन्ति।

अतोऽध्यापकशिक्षया वैश्विकपरिप्रेक्ष्ये यदि चेत् श्रेष्ठव्यक्तित्वविकासकर्तृणामध्यापकानां नीतिसम्पन्नानां नेतृत्वकुशलानाञ्च नागरिकाणां सर्जनं कर्त्तव्यमस्ति तु, नूनमध्यापकशिक्षायाः पाठ्यक्रमे पाठ्यक्रमे नैतिकसन्दर्भसमन्वितानां पाठ्यांशानां छायात्मकरूपेण नहि, व्यवहारपरिवर्तनसाधनत्वेन स्थानप्रदानमावश्यकमस्ति। एतदर्थं नैतिकतायाः सर्वानपि विषयान् मनसि विधाय नैतिकविकासदृष्ट्या अध्यापकशिक्षापाठ्यक्रमस्य पुनः संरचना आवश्यकी वर्तते। यतः, चाणक्य-विदुर-शुक्रनीत्यादीनि भारतीयनीतिशास्त्राणि प्लेटोकाण्टादयः पश्चात्यनीतिचिन्तकाश्च दृढ़तया तथ्यमिदं निरूपयन्ति यत्, नीतिज्ञैः जनैरेव समाजस्य नेतृत्वं कर्त्तव्यम्। अस्यां परिस्थितौ औपचारिकशिक्षया विशिष्य अध्यापकशिक्षया यदि नीतिसम्पन्नानां नागरिकाणां सर्जनमेव नहि भविष्यति तु, समाजस्य नेतृत्वं नीतिज्ञज्ञनां हस्तौ कथं गमिष्यति? कथञ्चेयमौपचारिकीशिक्षा राष्ट्रविकासे स्वीयं योगदानं दास्यति?

'एवं कर्त्तव्यम् एवं न कर्त्तव्यम् इत्यात्मको यो धर्मः सा नीतिः' इति वचनमनुसृत्य भारतीयचिन्तनपरम्परायां कर्त्तव्यं नीतेः प्रमुखतत्त्वं स्वीक्रियते। सहैव तथ्यमिदं पाश्चात्यैरपि अङ्गीकृतम्। वस्तुतः कर्त्तव्यपालनेन जनकल्याणं भवति जनसामान्ये च सुखस्य शान्तेर्वा सञ्चारो भवति। कर्तव्यपालने शुभस्य कर्त्तव्यराहित्ये चाशुभस्योत्पत्तिर्भवतीति धिया नीतेराश्रयं नीत्वा कर्त्तव्यानुष्ठानस्याभ्यास अध्यापकशिक्षया अपरिहार्योस्ति।

एवमेव यान्यपि व्यवहारप्रतिमानानि समाजे प्राप्यन्ते, तेषां सर्वेषामनुष्ठानाम एकः विशिष्टः नियमः एका विशिष्टा नीतिर्वा भवति। एते नियमाः नीतिनिर्धारकैः, सामाजिकैः पूर्वजैः एतदर्थमस्माभिः प्राप्ताः यतः, अस्माकं व्यवहारा अनुशासिताः सदाचारपूर्णाश्च तिष्ठेयुः। अतः सामाजिकदृष्ट्या नीतिरपि सदाचाररूपेणैव गृह्यते सामाजिकाश्च वाञ्छन्ति यदस्माकं सदस्याः सदाचारयुतानां व्यवहाराणाम् अनुगमनं कुर्युः। अत्रापि व्यवहारानुष्ठाने श्रेयसः शुभस्य प्राधान्यमवलोक्यते। यतः, कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः विचारयुतः व्यवहारः नैतिकव्यवहारः विवेकपूर्णव्यवहृती च नैतिकविकाससम्पन्न इत्युच्यते। परञ्च सामान्यजनाः पूर्वस्थापितानां व्यवहाराणां पुनरावृत्या एव स्वस्य नैतिकदायित्वस्य निर्वहणमामनन्ति।

वस्तुतः शिक्षायाः, शिक्षणस्य, प्रशिक्षणस्य वा कार्यं इत एव प्रारभ्यते। अपरेषु शब्देषु सदसदव्यवहारेषु सद्व्यवहाराणां चयने शिक्षक-प्रशिक्षणस्य अध्यापक-शिक्षाया वा भूमिका अत्रैव रेखाङ्किता भवति। अस्याः भूमिकायाः निर्वहणं कुर्वतीयमध्यापकशिक्षा श्रेष्ठनागरिकाणां सर्जनं कर्तुं शक्नोति श्रेष्ठाश्च जनाः स्वनैतिकव्यक्तित्वबलात् राष्ट्रविकासे योगदानं दास्यन्ति, नहि अन्धानुगामिनः सामाजिकाः।

वर्तमानवैश्विकपरिप्रेक्ष्ये कर्त्तव्याकर्त्तव्ययोः विवेकजागरणे अध्यापकशिक्षा तावत् पर्यन्तं साफल्यं न प्राप्स्यति यावदस्याः सैद्धान्तिके प्रायोगिके च पाठ्यक्रमे वर्तमानवैश्विकव्यवहारप्रतिमानानाम् आदर्शस्वरूपाणां निष्ठ्या समावेशं विधाय छात्राध्यापकेभ्यः एतेषां प्रयोगस्य पर्याप्तावसरो न दीयते सततं मूल्याङ्कनञ्च न क्रियते एतदर्थं नैतिकतायाः प्रमुखपक्षाणां ज्ञानभावक्रियाणामभ्यासः छात्राध्यापकेभ्य आवश्यकः भवति। येन छात्राध्यापकाः तथ्यमिदं ज्ञास्यन्ति यत् सदसत्विवेकः बाह्यशक्तेः परिणामः नहि, आन्तरिकावबोधस्य प्रतिफलमस्ति।

अत्रेदं ध्यातव्यमस्ति यत् विवेकपूर्णव्यवहारे सदाचरणे वा ज्ञानभावक्रियाणाञ्च सामञ्जस्यमावश्यकं

भवति। या कापि क्रिया कोऽपि व्यापारः वा प्रथमतः भावे आगच्छति, ततः तस्य व्यापारविशेषस्य ज्ञाने सति सः बोधस्तरे आगच्छति ततश्च स व्यापारः सम्पन्नः भवति। एतादृशः व्यवहारः विवेकपूर्णव्यवहार इत्युच्यते सहैव एतादृशाः विवेकपूर्णव्यवहारसम्पन्नाः जनाः नैतिकरूपेण विकसिता इति।

एवं नैतिकतायाः मीमांसानन्तरं तासां वैश्विकपरिस्थितीनां समासेनोपस्थापनं क्रियते याभिः सह सामञ्जस्य-संस्थापनाय राष्ट्रोन्नतये च अध्यापशिक्षया नैतिकविकासस्यानिवार्यता वयमनुभवामः। परिवर्तनं प्रकृतेर्नियमो वर्तते। सामाजिकव्यवस्थायामपि देशानुगुणं, कालानुगुणं परिस्थित्यानुगुणश्च परिवर्तनं भवति। एतद्धि परिवर्तनं यदा स्वकीयं नकारात्मके स्वरूपे प्रकटीभवति, तदा सामाजिकमनुकूलनं नश्यति सामाजिकविघटनस्य च स्थिति उत्पन्ना भवति, येन राष्ट्रियविकासः प्रभावितो भवति। समाजशास्त्रिणः आमनन्ति यज्जाते च सामाजिकपरिवर्तने व्यक्तेः व्यवहारः अवाञ्छितो न स्यात्, सामाजिक संसक्तिः समाजे तिष्ठेत् सामाजिकविकासश्च सुचारूरीत्या भवेत्, एतदर्थमेव सामाजिकनियंत्रणस्य सम्प्रत्ययः प्रकाशे आगतः। वस्तुतः एतन्नियन्त्रणमेव वयं सामाजिकव्यवस्था-परम्परा-रीति-नीति-सदाचार-व्यवहारपद्धत्यादिभिः नामभिः सम्बोधनं कुर्मः। एतेषां सामाजिकनियन्त्रणानां सञ्चालनस्योपयुक्ततमं साधनं शिक्षास्ति। अत्रेदं ध्यातव्यमस्ति कस्यापि कार्यसम्पादने साधनस्योपयुक्तता तस्य च युक्तियुक्तः प्रयोगः महत्वपूर्णो भवति। अतोऽद्यत्वे अध्यापकशिक्षायां प्रौद्योगिक्या सह नैतिकतायाश्च समावेशं विधाय अस्याः स्वरूपं समसामाजिकं कर्तुं याः वैश्विकपरिस्थितयः अस्मान् प्रेरयन्ति तासामुल्लेखः अत्राधः समासेन क्रियते। तद्यथा–

1. उपभोक्तावादः लोभश्च।
2. व्यक्तिवादः स्वार्थश्च।
3. मूल्यानां ह्रासः।
4. समुदायस्यापक्षयः।
5. परिवारस्य विघटनम्।
6. उत्पीडितोभूयं यूनां दुराचरणम्।

उपर्युक्तां वैश्विपरिस्थितीं मनसि निधाय '**यूनेस्को**' इत्याख्यया संस्थता 1999 तमे वर्षे **जापानदेशे** समायोजिते स्वकीये '**अध्यापकशिक्षासम्मेलने**' अध्यापकशिक्षया निम्नलिखितानां सहक्रियात्मकमूल्यानां प्रशिक्षणं पोषणश्च कर्तव्यमिति निर्णितम्। तद्यथा–

1. पारस्परिकावबोधस्य विकासकरणम्।
2. लोकतान्त्रिकप्रक्रियायाः ज्ञानप्रदानम्।
3. अन्ताराष्ट्रियसहयोगस्य सुरक्षाभावनायाश्च विकासकरणम्।
4. धैर्यसम्बद्धानां गुणानां विकासकरणम्।
5. विविधतायाः सम्मानकरणम्।
6. आन्तरिकशान्तये सामञ्जस्याय च प्रशिक्षणम्।
7. जीवनस्य विविधपक्षान् प्रति न्यायः।
8. मानवधिकाराणां कर्तव्याणाश्च ज्ञानप्रदानम्।
9. मानवसम्मान-योग्यतोत्पादनश्च।

वस्तुतः '**यूनेस्को**' इत्याख्यया वैश्विकसंस्थया निर्धारितसहक्रियात्मकमूल्यानां संवर्धनाय छात्रेषु नैतिकताया विकासः परमावश्यको वर्तते।

नैतिकविकासश्च सदाचारयुतानां नैतिकविकासकुशलानामध्यापकानां सहजमपरिहार्यमस्ति। अयं हि नैतिकविकासः अध्यापकशिक्षया तावत् पर्यन्तन्न सम्भविष्यति यावदस्याः सैद्धान्तिके प्रायोगिके च पाठ्यक्रमे ज्ञान-भाव-क्रियादिषु विविधावबोधसोपानेषु नैतिकतासम्बद्धानां तत्वानां समावेशो न क्रियते।

वस्तुतः अस्माकीना औपचारिकी शिक्षाव्यवस्था विकासपथि विशिष्य नैतिकविकासपथि एतदर्थं पूर्णसफला न सञ्जाता यतः, नैतिकतासमस्य व्यक्तित्वस्य प्रमुखतत्त्वस्य विकासः वयं तत्त्वज्ञानमाश्रित्य न कुर्मः। वास्तविकता इयमस्ति यदस्याः नैतिकतायाः विकासः व्यक्तेरन्तः मनसि भावात्मकस्तरे भवति ततश्च ज्ञानक्रिययोः योगेन व्यवहारे प्रकटिता भवति। यदि वयम् अस्माकं छात्रेषु स्वविकासस्य राष्ट्रविकासस्य च योग्यतां सर्जयितुं वाञ्छामः, तर्हि अध्यापकशिक्षामाध्यमेन तेषु नैतिकविकासं कर्तुं शक्नुमः। अतः अध्यापक शिक्षापाठ्यक्रमस्य ज्ञानात्मक-भावात्मक-क्रियात्मकपक्षेषु वैश्विकपरिप्रेक्ष्यानुगुणं नैतिकसम्प्रत्ययान् समाहृत्य सहक्रियात्मकमूल्यानां संवर्धनमावश्यकमस्ति। विशिष्य अस्याः पाठ्यक्रमे सैद्धान्तिके व्यावहारिके च पक्षे वैश्विकव्यवहारप्रतिमानानि विनियोज्य, सहक्रियात्मकविधिना अभ्यासेन मूल्याङ्कनेन च छात्राध्यापकानां व्यक्तित्वविकासः नैतिकदृष्ट्या कर्तुं शक्नुमः। येन गच्छता कालेन भाविनागरिका अपि नैतिकरूपेण विकसिताः भविष्यन्ति इति।

सन्दर्भाः–

1. डॉ. भट्टाचार्य जी.सी., अध्यापक शिक्षा, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
2. डॉ. माथुर वृजेन्द्र एम. भारत में प्रगतिशील अध्यापक शिक्षा, आगरा
3. सक्सैना एन.आर, मिश्रा बी.के., मोहन्ती आर.के. अध्यापक शिक्षा, मेरठ
4. सिंह अमरेन्द्र, शिक्षण कला, विश्वभारती पब्लिकेशन,नई दिल्ली
5. पाठक पी.डी., त्यागी जी.एस.डी., सफल शिक्षक कला, वि.पु.म., आगरा
6. आहूजा राम, सामाजिक समस्याएँ, रावत पब्लिकेशन, जयपुर
7. सिंह अरुण कुमार, व्यक्तित्व का मनोविज्ञान, मोतीलाल बनारसीदास, पटना
8. एन.सी.ई.आर.टी., अध्यापक शिक्षा में नीतिगत परिदृश्य विवेचन, नई दिल्ली
9. डॉ. नेगी सुरेन्द्र सिंह, नैतिक मूल्यों की प्रासंगिकता, आरि.प्र. सागर, म.प्र.
10. पाण्डेय रामशकल, संस्कार शिल्पी, अध्ययन पब्लिशर्स, दिल्ली
11. भर्तृहरि, नीतिशतकम्
12. कौण्डिन्नयायन शिवराम आचार्य, नारदीयशिक्षा, चौखम्बा विद्या भवन।
13. डॉ. माथुर एस.एस., समाज मनोविज्ञान, वि.पु.म., आगरा।
14. डॉ. माथुर एस.एस., अध्यापक शिक्षा, वि.पु.म., आगरा
15. डॉ. ओड एल.के. शिक्षा की दार्शनिक पृष्ठभूमी, वि.पु.म., आगरा
16. एन.सी.ई.आर.टी., गुणात्मक अध्यापक शिक्षा की पाठ्यचर्याप्रारूप, नई दिल्ली

सहायकाचार्यः, शिक्षाविभागः,

जगद्गुरुरामानन्दाचार्यराजस्थानसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरम् (राजस्थान)

Cultural and Literary study of Amra as Depicted in Sanskrit Literature

Dr. Dhananjay Vasudeo Dwivedi

ABSTRACT

Āmra is one of the most admired trees of India. Known as evergreen tree it has divine origin according to Sanskrit Literature. Hence, it is extremely venerated in Indian tradition. Though *Ṛgveda* has no reference of this tree, later Vedic Literature and Classical Sanskrit Literature find mention of this tree. Though this tree is well known for its cultural and medicinal importance, prime focus here shall be on its cultural significance. The article comes forth with mention of *Āmra* in various Sanskrit texts, its origin, religious and ritualistic importance. How this tree and its various parts has enriched Sanskrit Literature has also been described in this article.

KEY WORDS: *Āmra*, Origin, Religious, Poetry, Sacred, Rituals, *Tirtha*

INTRODUCTION

Plants have played a pivotal role in developing human civilization. Among many such trees, *Āmra* is very popular tree in India. Native to India it is huge deciduous tree with spreading branches. It is the tree of prosperity and auspiciousness. The fruits of this tree are considered to be best among all the fruits. Flowers of this tree, which are better known as *Mañjarī* are used for religious purposes. Poets have also focused on poetic description of *Mañjarī*. The leaves of this tree are known for their anti microbial properties and are used for decorating dwellings. They are used for religious and ritualistic purposes round the year.

MENTION OF *ĀMRA* IN VARIOUS TEXTS

Āmra is a popular fruit since early days. It is mentioned in *Jaiminīya Brāhmaṇa*, *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*[1] and other *Upaniṣads*. The commentator on *Śāṅkhāyana Gṛhyasūtra* calls is at phalottama i.e. best among fruits. *Pāṇini* has mentioned *Āmra*[2] and also *Patañjali*[3]. In classical literature *Āmra* has been is mentioned frequently. *Rāmāyaṇa*[4] and *Mahābharata*[5] have also found mention of this plant. Later *Sanskrit* Literature including that of *Kālidāsa*[6] also finds mentions of this tree. *Harṣacarita* of *Bāṇabhaṭṭa* has also mentioned this tree wherein it has been said that this was regarded as one of the fragrant substances.[7]

ORIGIN OF *ĀMRA*

In Indian tradition, it is believed that when Lord *Śiva* and *Pārvatī* came from Himalayas, they missed this heavenly fruit. *Pārvatī* who was very fond of *Āmra* requested her husband to create *Āmra*

---

[1] *Bṛhadāraṇyaka Upaniṣad*-4.3.36
[2] *Aṣṭādhyāyī*-8.4.5
[3] *Mahābhāṣya*-1.1.1
[4] *Vālmīki Rāmyaṇa*-3.73.3
[5] *Mahābhāratsya Āyurvedadṛṣṭyā Adhyayanam*, p 176
[6] *Kālidāsa-Kośa*, p 3
[7] *Harṣcarita*, p 112

tree with divine power. Lord *Śiva* fulfilled her desire and *Āmra* appeared in India.[8] The book "*Sacred Plants of India*" has also narrated an interesting story regarding origin of *Āmra*. According to it the origin of the *Āmra* tree is steeped in mythology. The daughter of Surya, the Sun God, was pursued by an enchantress. To escape her, the girl threw herself in pond and turned into lotus. A king saw the flower and wished to posses it. But before he could take possession, the enchantress burnt it, and from the ashes of the flower arose the *Āmra* tree.[9] *Skanda Purāṇa* mentions a churning of Milk Ocean by *Suras* and *Asuras*. Various plants rose up from the churning including *Āmra, Kalpavṛkṣa, Paṛijāta* and *Santānaka*.[10]

RELIGIOUS SIGNIFICANCE OF *ĀMRA*

The *Āmra* is held sacred by the Hindus. This tree is said to be a transformation of Lord *Prajāpati*. It provides one of the *pañcapallavas*. The flowers are used in worship of *Śiva* on the *Śivarātri*. The flower of the *Āmra* is considered to be one of the five arrows of *Kāmadeva*. The flowers of *Āmra* are dedicated to the Moon. There is a belief that *Śiva* married *Pāravatī* under this tree. So marriage *paṇḍāls* are festooned with strings of *Āmra*. In some other legend it is said that the tree was brought by *Hanumān* from Lanka to India.[11] The priests chant mantras and sprinkle little water on people present at the function with a small shoot of *Āmra*. The leaves are tied on a string and hung in front of houses and temples for social and religious ceremonies.[12] *Harṣacarita* also expresses similar view. According to it in ceremonies house and gates were decorated with the leaves of *Āmra*-"चूताशोकपल्लवलांछितशिखरानुद्वाहवितर्दिकास्तम्भान्"[13]

Varāha Purāṇa discusses the *vrata* named *'Śubhavrata'*. This *vrata* has to be started on the first day in the bright fortnight of the month of *Mārgaśīrṣa*.[14] One who performs this *vrata* gets great prosperity, and, in the end, merges with *Bhagvān Viṣṇu*.[15] Performing this *vrata* on the advice of *Maharṣi Agastya*, the king offered prayers to *Bhagvān Viṣṇu* beneath the *Āmra* tree. He said-"Bless me with a son, O Lord, who will be long-lived, very famous, highly virtuous, proficient in *Vedas* and inclined to perform *Yajñas*-

पुत्रं मे देहि देवेश वेदमन्त्रविशारदम्। याजकं यजनासक्तं कीर्त्या युक्तं चिरायुषम्।।[16]

After praised by the king standing under a big *Āmra* tree, the *Bhagavān* became very much pleased-

एवं स्तुतास्तदा देवस्तेन राज्ञा महात्मना। विशालाम्रतलस्थेन तुतोष परमेश्वरः।।[17]

The *Bhagavān* came there in form of a dwarfish *Brāhmin*. As soon as he came, the big *Āmra* tree also became small one. Seeing that great wonder, the saintly king began to think about how the big tree became small. Then he was able to understand that arrival of the Brahmin was the cause and this very fact showed, that the visitor was the *Bhagavān* himself. Thereafter, the *Bhagavān* said the

---

[8] Food that heal, p 63
[9] *Sacred Plants of India*, p 195
[10] *Skanda Purāṇa*-1/1/11/49-50
[11] *Venerated Plants*, p 129
[12] *Ibid*, p 131
[13] *Harṣcacarita*-p 243
[14] *Varāhpurāṇa*-55/2
[15] *Ibid*,55/59
[16] *Ibid*,55/25
[17] *Ibid*,55/44

king to ask boon. The king asked for *Mokṣa*.[18] After giving the boon, the *Bhagavān* said-"Since at my arrival this expansive *Āmra* tree became small, this *tirtha* will hereafter be known *Kubjakāmra*"-

मय्यागते विशालोऽयमाम्रः कुब्जत्वमागतः। यस्मात्तस्मात्तीर्थमिदं कुब्माम्रं भविष्यति।।[19]

This *tirtha* related to *Āmra* is of great religious importance. Those give up body in this *tirtha* are bound to attain salvation.[20]

When asked about the sacredness and *Kubjāmraka* by Earth, *Bhagavān Varāha* said- I shall tell you all this which is conducive to the welfare of the world at large, the glory of *Kubjāmra*ka and holy spots there-

सर्वं तत्कथिष्यामि सर्वलोकसुखावहम्। यत्तत्कुब्जाम्रके व्युष्टिर्यच्च तीर्थमनिन्दितम्।।[21]

Talking about the history of *Kubjāmraka*, *Bhagavān* said-Once a sage named was performing rigorous *tapasyā*. I was very much pleased by the supreme devotion of *Raibhya* and I was well worshiped by him. Then I saw that great sage performing penance at the foot of a *Āmra* tree on the bank of Ganges. This was pointed out to me by someone, but when I came near that *Āmra* tree, he became dwarf.[22] This place thus came to be called '*Kubjāmra*ka' (The place of the *Āmra* with dwarf). *Bhagavān* added-People who die there go to my world-

एवं कुब्जाम्रकं ख्यातं स्थानमेकं यशस्विनि। मृतापि तत्र गच्छन्ति मम लोकाय केवलम्।।[23]

Describing about the *Kubjāmra*ka *tirtha*, *Bhagavān Varāha* said- In this holy and pleasant *Kubjakāmra*k there is a *tirtha* with the shape of lily, by the mere bath in which people attain heaven-

तीर्थं तु कुमुदाकारं तस्मिन् कुब्जाम्रके स्थितम्। स्नानमात्रेण सुश्रोणि स्वर्गं प्राप्नोति मानवः।।[24]

In the month of *Kārtika, Margaśīṣa* and *Vaiśākha*, after austerities, one who ends one's life here attains heaven, be a person a man, woman or eunuch-

कौमुदस्य तु मासस्य तथा मार्गशिरस्य च। वैशाखस्यैव मासस्य कृत्वा वै कर्म दुष्करम्।।

यो वै परित्यजेत् प्राणान् स्त्रियः पुंसनपुंसकौ। निष्फलां लभते सिद्धिं मम लोकं स गच्छति।।[25]

There is yet another *tirtha* called *Mānasa tirtha* there. By bathing in this, one goes to divine garden *Nandana* and enjoys there with *Apsarās* for a thousand of years. At the end of this period of thousand years, he is born in a big family with abundant wealth and virtues.[26] There is a *Puṇḍarika tirtha* in *Kubjakāmra* area. Bathing here confers here the same merit as performing *Puṇḍarika* sacrifice. There need be no doubt in this. If one happens to die there, he regains consciousness, becomes famous. And after enjoying the merit of performing ten *Puṇḍarika* sacrifices, one becomes highly purified and ascetic. He gains great attainments and gets permanent place in *Bhagavān's*

---

[18] *Ibid,* 55/45-52
[19] *Ibid,* 55/54
[20] *Ibid,* 55/55
[21] *Ibid,* 125/4
[22] *Ibid,* 125/7-12
[23] *Ibid,* 125/13
[24] *Ibid,* 125/28
[25] *Ibid,* 125/29-30
[26] *Ibid,* 125/132-33

abode.[27] The man who baths in *Agnitirtha* in *Kubjakāmra* attains the merit equivalent to that of seven *Agnimedha* sacrifices.[28] One who bathes in *Vāyavyatīrtha* in *Kubkakāmra* performing daily ablutions attains the merit of *Vājapeya Yajña*.[29] One who dies in this *tīrtha* after performing worship for fifteen days, he will not have birth or death again in this world.[30]

During initiation (*dikṣā*) several process are to be followed. Apart from many other things, four pots filled with water and decorated with *Āmra* twigs should be placed one on each side-

चतुरः कलशान् दद्याच्चतुःपार्श्वेषु सुन्दरि। वारिपूर्णान् द्विजाञ्छुद्धान् सहकारविभूषितान्।।[31]

One who plants five or six *Āmra* trees attains the abode of *Garuḍa* and lives happily for ever-

पञ्चाम्रशाखिणां षण्णां कुर्यात्प्रतिरोपणम्। गारुडं लोकमासाद्य मोदते देववत्सदा।।[32]

Āmra trees indicate happiness-"**आम्रैः क्षेमम्।**"[33]

There is an interesting story narrated in *Skanda Mahāpurāṇa* wherein he has been described taking resort to the root of *Āmra* tree.[34] Describing the greatness of *Rāmeśvara Kṣetra*, the *Skanda Mahāpurāṇa* says that there were many trees all round laden with gem like fruits and glittering with flowers. *Āmra* was one among them.[35]

By propitiation of *Āmra* tree, one would attain heaven.[36] *Āmra* can be used in worship of all deities.[37] *Āmra* is considered to *Buddhists* because *Buddha* was born in *Lumbini* garden surrounded by *Āmra* trees. Lord Buddha was presented with a grove of *Āmra* tree in which he used to rest. The *Buddhists* therefore consider it as a holy tree.[38] *Neminatha*, a *Jain Tirthankara*, attained enlightenment under this tree and thus it became sacred to *Jaina* religion. A *Jain yakshi* called *Tara, Amra*, or *Kusumandini* is also associated with this tree. *Ambika*, a *Jain yakshi*, sits and stands beneath a *Āmra* tree accompanied by a small child, for the *Āmra* tree is symbol of fertility.[39]

RITUALISTIC SIGNIFICANCE OF *ĀMRA*

While performing rituals of *Kumbhādhivāsa*, young shoots of various trees are needed to put them in pitchers. *Āmra* is among one of them. Other trees are- *Vaṭa, Udumbara, Aśvattha, Campaka, Aśoka, Bilva, Palāśa, Arjuna, Plakṣa, Kadamba* and Bakul. The pitcher in which shoots of these are to be kept should be placed in east direction.[40] *Agnipurāṇa* has discussed the process of installation of phallic emblem in temple. The installation of such an emblem grants enjoyment in this life and salvation hereafter.[41] There is need of sheds in this process. The *Purāṇa* says that sheds should

---

[27] *Ibid*, 125/62-65
[28] *Ibid*, 125/172-73
[29] *Ibid*, 125/79
[30] *Ibid*, 125/80
[31] *Ibid*, 127/25
[32] *Vṛkṣāyurveda*-16
[33] *Ibid*, 323
[34] *Skanda Mahāpurāṇa*-5/2/13/30-40
[35] *Ibid*, 7/1/202/15-21
[36] *Ibid*, 5/3/26/128-30
[37] *Nārada Mahāpuraṇa*-67/65
[38] *Sacred plant of India*, p 194
[39] *Ibid*, p 195
[40] *Agnipurāṇa*-57/9-10
[41] *Ibid*, 95/1

measure eighteen cubits in length, half as much in breadth, and the elevation would measure a cubit in height, and should be hung round with festoons of *Āmra* leaves-

पञ्चषड्सप्तहस्तानि हस्तखातस्थितानि च। तदर्द्धविस्ताराणि स्युर्युतान्याम्रदलादिभिः।।[42]

This apart, barks of five bitter trees such as *Vaṭa, Udumbara, Aśvattha, Āmra* and *Jambū* should be collected with fruits of the seasons in order to install phallic emblem-

न्यग्रोधोदुम्बराश्वत्थचूतजम्बूत्वगुद्भवम्। कषायापञ्चकं ग्राह्यमार्त्तवं फलाष्टकम्।।[43]

Significance of *Āmra* has been described in *Śrādha* ceremony in *Agni Purāṇa*. There is a very interesting story in this regard in this Purāṇa. According to it-Once upon a time a holy sage holding a pitcher in his one hand, and stem of the *kuśa* grass in the other used to sprinkle water over the roots of *Āmra* tree which grew on the bank of sacred pool (*Brahma-tīrtha*). Thereby the propitiated the spirits of his deceased and watered the roots of *Āmra* tree. Thus a singly act proved efficacious in a twofold way-

एको मुनिः कुम्भकुशाग्रहस्त आम्रस्य मूले सलिलं ददाति।

आम्रश्च सिक्ताः पितरश्च तृप्ता एका क्रिया द्वयर्थकरी प्रसिद्धा।।[44]

The *Vāyupurāṇa* expresses the similar view. According to it, there is a *Āmra* tree in *Brahmasaras* in the shape of *Brahmā*. He who waters the tree will lead the *Pitṛs* to salvation.[45] Importance of *Āmra* in *Śrāddha* ceremony has also being discussed in *Nārada Mahāpurāṇa*. It is said that by performing *Śrāddha* at the *Brahmasaras*, the devotee shall take the *pitṛs* to the world of *Brahmā*. The *Āmra* trees near *Gopracakra* were planted by *Brahmā*. Merely by sprinkling them with water with *Brahmasaras*, the *pitṛs* will attain salvation. *Vasu* says- I water the *Āmra* tree that has grown out of *Brahmasaras*, that is lordly and containing all the *Devas* and that is the embodiment of *Viṣṇu*, for the sake of *pitṛs*. A man who performs the *Ācamana* rite and pours water at the root is not negligible even to Gods.[46] During the process of consecrating a divine edifice, the preceptor should decorate the temple with festoons of *Āmra* leaves-

चूतादिपल्लवानाञ्च कृति कृत्यं च विनस्येत्।[47]

In case of *Koṭi Homa*, in which a million of libation are offered *Brāhmins* should be invited as priests. One who performs the ceremony of *koṭihoma* becomes the possessor of all wished for objects in this world and translated to heaven in his mortal frame.[48] The *Koṭi Homa* should be performed with the object subduing all diseases and the libations offered in the course thereof leaves of *Paṅkaja, Bilva, Uśīra* and *Āmra* dipped in clarified butter.[49] While performing rites and rituals by the king, water should be purified by *Āmra, Kapittha, Bilva* and *Karavīra*.[50] The tree is considered to be abode of prosperity and auspiciousness. Hence, the leaves of *Āmra* are used frequently as a

---

[42] *Ibid,* 95/29
[43] *Ibid,* 95/34
[44] *Ibid,* 115/40
[45] *Vāyupurāṇa*-111/35-36
[46] *Nārada Mahāpurāṇa-Uttarabhāga*/46/4-7
[47] *Agnipurāṇa*-101/4
[48] *Ibid,* 149/9-10
[49] *Ibid,* 149/13-14
[50] *Ibid,* 224/21-22

decorative item at the door of the house on almost all religious and sacred ceremonies. Five *Āmra* leaves flank the coconut that is placed on *Kalaśaor* sacred pot, a *Āmra* leaf is used as spoon for pouring ghee into the sacred fire. Hindus consider the plant to be *Prajāpati* himself, lord of creation. There is no religious occasion or festivity when *Āmra* leaf is not used.[51] Describing *Jyeṣṭhapañcaka Vrata, Skanda Purāṇa* says that there are twelve *mūrtis* (forms) of *Hari*, the Primordial Lord. These forms should be worshiped on full moon day in turn every month starting from *Phālguna*. Certain fruits are to be offered to this form in due order. *Āmra* is third in number and hence should be offered in third month i.e. *Vaiśākha*.[52] In order to get full benefit he should perform the right of installation. The devotee should make gold images of twelve *mūrtis* of *Viṣṇu* in accordance with his capacity. These *mūrtis* should be placed in twelve pots. Those pots should be covered with *Āmra* leaves separately and draped with white cloths. They must contain perfumed water with tender leaves of *Āmra* put in them.[53] During *Matsya* festival, after worshipping Lord *Nārāyaṇa*, the Lord of *Devas*, thus the wise devotee should place four pots in front of the Lord. They should be filled with water and smeared with white unguents and sandal paste. Flower garlands should be put upon them. The tender leaves of a *Āmra* tree must be kept upon them. They should be wrapped in white cloth.[54]

Āmra is part and parcel of *Sarvaphalatyāga vrata*.[55] Oblations of *Āmra* fruits increase the duration of one's life-**"आम्रैरायुः"**[56]

During *Vaiśākha* month, flowers of *Āmra* should be offered to *Bhagvān Śiva*.[57]

Nanditha Krishna and *M. Amirthalingam* in their book entitled *"Sacred Plants of India"* has described this aspect of *Āmra* which is worthy to be quoted in toto-"The *Āmra* is given as Prasad to devotees, to bring them prosperity and wealth. Small branches and pieces of *Āmra* tree are used in sacrificial rites. The oblation may be offered only that fire which is made out of this wood. Some people use its small twigs as toothbrush. But it is strictly prohibited to use it for this purpose on Sundays and Tuesdays. In the sacred thread ceremony, the *Āmra* is used in various capacities as a wooden seat to sit on and as a slate on *Brahmacārī* writes down the alphabet. While performing the marriage rites, the bridegroom sits on a seat of *Āmra* wood. The funeral pyre of person is made of *Āmra* wood, which is regarded as holy and sacred. *Āmra* is a suitable substitute for *chinchindi* (a plant used as a toothbrush, especially on *Rishi Panchami Vrat*) on the fifth day of waxing moon in the month of *Bhadrapada*. It is sinful to remove the leaves from this tree at night. A green *Āmra* tree is never cut down for it may bring disaster to the person who does so. Its fruit is symbolic of male progeny. If a Hindu has planted a grove of *Āmra*, neither he nor his wife may taste the fruits until he has formally married one of the trees, as a bridegroom, to a tree of a different sort, generally a tamarind, which grows nearby. According to *Sthala Purāṇa* of *Kayaroganeshwara* temple at *Nagappattinam*, the sacred tree is *Āmra*, which has two branches of two different species. Each branch bears a fruit with different taste. The *Babar nama* says that the *Āmra* is one of the fruits peculiar to Hindustan:'*Āmra* when ripe are good, but, though many are eaten, few are first rate. They are usually plucked unripe and ripened in house. Unripe they make excellent condiments, good also preserved in syrup. Taking it altogether, the *Āmra* is the best fruit of Hindustan. Some so praise it as to give it preference over all fruits except musk-melon, but such praises outmatches it. It resembles

[51] *Sacred Plants of India*, p 194
[52] *Skanda Mahāpurāṇa*-2/2/44/7
[53] *Ibid*, 2/2/44/22-26
[54] *Ibid*, 2/5/14/20-22
[55] *Matsya Mahāpurāṇa*-96/11
[56] *Agnipurāṇa*-309/15
[57] *Vāmana Mahāpurāṇa*-17/52

the *kardi* peach. It ripens in the rains. It is eaten in two ways: one is to squeeze it to a pulp, make a hole in it, and such out the juice, the other, to peel and eat it like the *kardi* peach. Akbar, the Mughal emperor, planted a garden of 1,00,000 *Āmra* trees near *Darbhanga*. According to Goan folklore, the *Āmra* tree was brought by *Hanumān* to India. The *Āmra* tree appears in the rituals of several Hindu festivities. Hindu brides, dressed in yellow, worship *Pārvatī* and *Śaṅkara* so they will keep her *soubhagya* (happy married) before a *Āmra* tree painted on a wall, between the Sun and the crescent Moon. *Āmra* leaves are used to make garlands to decorate the *mandap* and home on special occasions, symbolizing joy and prosperity. The first rice shoot is wrapped in a *Āmra* leaf to be hung from the doors of temples and houses. Twigs are used as toothbrushes and leaves as plates at several ceremonies, such as *pañcapallava*. Twigs are also used to light the sacred fire (*homa*) at the ceremonies to appease the stars. *Āmra* leaves are included in the mixture of five cow elements used to purify pregnant Hindu women. The child's cradle is surrounded by *Āmra* leaves a good omen. According to tribal tale, it is not women who embrace the tree but men also walk around and embrace the *Āmra* tree a day before their marriage. In tribal India, the bride and bridegroom walk several times around the *Āmra* tree before the actual marriage ceremony takes place. The groom smears the *Āmra* bark with vermilion and embraces it. The bride does the same thing to *mahua* tree. Tribal songs and riddles usually centre on flora and fauna and the *Āmra* tree has its share.[58]

ĀMRA DEPICTED IN SCULPTURES

Āmra is depicted in various *Buddhist* and *Jain* sculptures, such as the woman-and-tree motif or the couple standing under the *Āmra* tree. Several *vrikshakas* and *shalabhanjikas* of *Bharhut, Sanchi*, and later *Kushan* sculptures are depicted holding *Āmra* branch, accentuating the sensuousness of the fruit and the woman. The *Āmra* tree frequently in the reliefs of *Sanchi stupa*. Various patterns utilizing the *Āmra* tree and its fruits are carved on the *stupas* at *Bharhut* and *Sanchi*. The *Sanchi* gateways are flanked by beautiful, bejewelled and naked *vrikshakas* holding a branch of *Āmra* tree with one hand, bringing them to fruit.[59]

ĀMRA AND *VĀSTU*

According to Agni Purāṇa, *Āmra* tree should be planted on the south direction of the dwelling of man.[60] Valued Sanskrit dictionary *Śabdakalpadruma* mentions that king of all trees *Āmra* is considered to be highly pious for all purposes. *Āmra* tree on the east side of the house is considered to give wealth-

सर्वत्र मङ्गलार्हश्च तरुराजो मनोहरः। रसालवृक्षः पूर्वस्मिन् नृणां सम्पत्प्रदस्तथा।।

Vāstusāraṇī is of the view that the plant of *Āmra* planted in any direction is considered to be fruitful. However, it is not recommended for household purposes.[61]

Āmra plant was planted in the premises of house.[62]

ĀMRA AND ASTROLOGY & TANTRA

The person who takes bath daily by putting a leaf of *Āmra*, a leaf of *Aśvattha*, eleven *Dūrvā* grass, a leaf of *Tulasī* and a leaf of *Bilva* in his bath water remains free from trouble due to different planets. The person who has taken bath in *Śatabhiṣā* or *Pūrvā Bhādrapada* constellation should plant and protect a *Āmra* tree for his health, wealth, peace and prosperity. If a person rubs the inflorescence

---

[58] *Sacred Plants of India*, 196-202
[59] *Ibid*, pp 194-95
[60] *Agnipurāṇa*-282/1
[61] *Matsya Purāṇa*-257/8
[62] *Harṣcarita*-p284

of *Āmra* at the time of sunrise for an hour, between his palms, he gets a miraculous power. If he keeps his palm on any painful part of his own or others body, the pain gets relieves soon. This experiment should only be performed on *Vasanta Pañcamī*. The person who keeps a '*Banda*' of *Āmra* taken out in *Uttarā Phālgunī* constellation with him or his house, he gets a very favourable cooperation of his life partner. The same Banda when taken in *Ravi-puṣya yoga* when kept by person, enemies get defeated by him. When a person plants five *Āmra* trees by sides of a road his fourteen generations receive invisible blessings of Almighty. His all sins abolish.[63] Astrological science has discussed significance of various plants with reference to various planets and other heavenly bodies. According to astrologers the plant is associated with *Pūrvā Bhādrapada* constellation.[64]

If anyone sees the tree of *Āmra* which is loaded with either fruits or flowers on it,it is bound to give wealth.[65] Wandering over *Āmra* tree in autumn season is foreboding of great danger to the inhabitants of the city.[66]

ĀMRA IN SANSKRIT *KĀVYAS*

VĀLMĪKI RĀMĀYAṆA

The *Vālmīki Rāmayaṇa* is read all over India with great reverence and love as it contains the most authentic story of Lord *Śri Rāma*, one of the two popular *Avatāras* who lived amongst us thousand years ago but have left an indelible impression on our life, which is as fresh today as it was during the time of *Vālmīki*, a contemporary of *Śrī Rāma*. It is one the world's most remarkable classics and excels all in its moral appeal. *Āmra* finds mention in *Rāmāyaṇa*.

After *Śrī Rāma* along with his consort (*Sītā*) and with his brother (*Lakṣmaṇa*) asked the celebrated Sage *Bharadvāja* where to go when he was in the first phase of exile, the Sage *Bhardavāja* suggested to proceed towards *Citrakūṭa* forest, which was rich in honey, roots and fruits.[67] The beautiful *Citrakūṭa* Mountain was enriched with numbers of plants and *Āmra* was one among them.[68]

Pañcavaṭī is yet another place which finds description in *Rāmāyaṇa*. When *Rāma* along with *Sītā* and *Lakṣmaṇa* reached here, he asked his brother to look for a site which was enriched with beauty of forests, water, flowers etc.[69] The site, which was selected by them were full of numerous trees. Among those trees one was *Āmra*.[70]

Showing the way to *Ṛṣyamūka*, *Kabandha* has described the path which was enriched with number of trees. The tree of *Āmra* was one those trees- **'चूताश्चान्ये च पादपाः'**।[71]

When *Śrī Rāma* approached the *Pampā* Lake the sight of the lovely surrounding intensified his pangs of separation from *Sītā*. Put in mind of *Sītā*, he laments for her. The flowers of mangoes were very attractive during Spring season.[72] While searching *Sītā* who was abducted by *Rāvaṇa*, *Hanumān* reached *Aśoka* Grove, which was adorned with trees. The tree of *Āmra* was also there in

---

[63] *Miraculous plants*, 33-34
[64] *Venerated Plants*, p 131
[65] *Brahmavaivartamahāpurāṇaviṣayānukramakośaḥ*-p 20
[66] *Skanda Mahāpurāṇa*-4/2/56/29
[67] *Vālmīki Rāmāyaṇa*-2/54/33, 38
[68] *Ibid*, 2/94/8
[69] *Ibid*, 3/15/4-5
[70] *Ibid*, 3/15/17
[71] *Ibid*, 3/73/3
[72] *Ibid*, 4/1/80

the grove.[73] The *Āmra*'s fragrant flowers were added to food to make delicacies.[74] The *Āmra* wood was used to make weapons of war. When battle with *Rāvaṇa* was round the corner and preparations were on for it, *Nīla* began to fling *Aśvakarṇa* and *Śāla* as well as *Āmra* trees fully in blossom as also other trees of various species in the course of combat-

सोऽश्वकर्णद्रुमाञ्शालांश्चूतांश्चापि सुपुष्पितान्। अन्यांश्च विविधान् वृक्षान् नीलश्चिक्षेप संयुगे।।[75]

Though the *Āmra* tree blossoms in spring season, in *Aśoka* Grove it blossomed round the year.[76] The *Āmra* tree adornes in the garden of *Rāma's* palace.[77]

MEGHADŪTA

Meghadūta has been composed by *Mahākavi Kālidasa*. There is mention of *Āmra* tree in *Meghadūta*. *Āmra* tree is growing on *Āmra*kūṭa Mountain. Addressing the *Megha*, the *Yakṣa* says- When thou, resembling an oiled plait of hair, hast mounted on its top, the mountain, with its sides covered with forest *Āmra* trees glittering with ripe fruit, wilt like the earth's breast dark in the middle and white on the rest of its surface, surely attain to a condition worthy of being gazed at by the pairs of celestial beings-

छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रैस्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे।

नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीययामवस्थां मध्ये श्यामः स्तन इव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः।।[78]

ṚTUSAṂHĀRA

Ṛtusaṃhāra in six cantos is a short poem of more than 150 verses of various metres ascribed to *Kālidāsa*, descriptive of the six seasons of the year. *Āmra* has been found descriptions in *Ṛtusaṃhāra* specially were the beauty and effect of spring season has been depicted. The descriptions are quite enthralling. Here are some stanzas, wherein *Āmra* has been mentioned-

With the young *Āmra*-shoots for his sharp arrows and with row of bees forming his bow string, the spring season arrives like a mighty warrior, O darling, in order to pierce the hearts of lusty men-

प्रफुल्लचूताङ्कुरतीक्ष्णसायको द्विरेफमालाविलसद्धनुर्गुणः। मनांसि वेद्धुं सुरतप्रसङ्गिनां वसन्तयोद्धा समुपागतः प्रिये।।[79]

This spring season lends beauty to the waters of ponds, to the jewelled waist girdle, to the moonlight, to women and to *Āmra* trees abounding in flowers-

वापीजलानां मणिमेखलानां शशाङ्कभासां प्रमदाजनानाम्। चूतद्रुमाणां कुसुमान्वितानां ददाति सौभाग्यमयं वसन्तः।।[80]

The male cuckoo intoxicated with *Āmra* juice kisses his mate with passionate glee while the humming bee on the lotus seat flatters his mate-

---

[73] *Ibid*, 5/15
[74] *Ibid*, 5.10.25
[75] *Ibid*, 6.59.77
[76] *Ibid*, 5/14/3
[77] *Ibid*, 7/42/2
[78] *Meghadūta (Pūrva)*-18
[79] *Ṛtusaṃhāra*-6/1
[80] *Ibid*, 6/3

पुंस्कोकिलश्चूतरसासवेन मत्तः प्रियां चुम्बति रागहृष्टः। कूजद्विरेफोऽप्ययमम्बुजस्थः प्रियं प्रियायाः प्रकरोति चाटु।।[81]

The *Āmra* trees bent with the branches of reddish leaves and looking beautiful with their branches of reddish leaves and looking beautiful with their branches full of flowers and being gently swayed by the breeze produce intense desire in the hearts of women-

ताम्रप्रवालस्तबकावनम्राश्चूतद्रुमाः पुष्पितचारुशाखाः। कुर्वन्ति कामं पवनावधूताः पर्युत्सुकं मानससमङ्गनानाम्।।[82]

The pretty buds of the *Āmra* trees whose lovely blossoms are sucked by the intoxicated bees, whose tender sprouts are swayed by the gentle breeze, produce when observed, sudden excitement in the minds of young lovers-

मत्तद्विरेफपरिचुम्बितचारुपुष्पा मन्दानिलाकुलितनम्रमृदुप्रवालाः।

कुर्वन्ति कामिमनसां सहसोत्सुकत्वं चूताभिरामकलिकाः समवेक्ष्यमाणाः।।[83]

Shaking the blossomed branches of the *Āmra* tree, carrying in all directions the notes of the cuckoo-bird, the Spring breeze, charming by the cessation of dewdrops blows distracting the minds of youthful persons-

आकम्पयन् कुसुमिताः सहकारशाखा विस्तारयन् परभृतस्य वचांसि दिक्षु।

वायुर्विवाति हृदयानि हरन्नराणां नीहारपानविगमात्सुभगो वसन्ते।।[84]

The traveller whose mental condition is distressed in separation from his wife, on beholding the blossom-laden *Āmra* trees shuts his eyes, weeps bitterly and cries loudly closing his nose by his hand-

नेत्रे निमीलयति रोदति याति शोकं घ्राणं करेण विरुणद्धि विरौति चोच्चैः।

कान्तावियोगपरिखेदितचित्तवृत्तिर्दृष्ट्वाऽध्वगः कुसमितान् सहकारवृक्षान्।।[85]

The charming Spring season, assails as it were with sharp arrows in minds of proud women, in order to enkindle love by means of the cries of cuckoo birds and humming intoxicated bees, the blossomed *Āmra* trees as well as *Karṇikāra* flowers-

समदमधुकराणां कोकिलनां च नादैः कुसुमितसहक◌ारैः कर्पणिकारैश्च रम्यः।

इषुभिरिव सुतीक्ष्णैर्मानसं मानिनीनां नुदति कुसुममासो मन्मथोद्वेजनाय।।[86]

May that bodiless one, the conqueror of the world, accompanied by the Spring season ever grant you happiness, he whose sharp shafts are the beautiful *Āmra* blossoms, whose mighty bow is the lovely *Kiṃśuka* leaf of which the string is formed by the row of bees, whose spotless white umbrella is the Moon, whose lordly elephant is the breeze from the *Malaya* mountain and whose birds are the cuckoo birds-

---

[81] *Ibid,* 6/14
[82] *Ibid,* 6/15
[83] *Ibid,* 6/17
[84] *Ibid,* 6/22
[85] *Ibid,* 6/26
[86] *Ibid,* 6/27

आम्रीमञ्जुलमञ्जरीवरशरः सत्किंशुकं यद्धनु र्ज्या यस्यालिकुलं कलङ्करहितं छत्रं सितांशु सितम्।

मत्तेभो मलयानिलः परभृतो यद्वन्दिनो लोकजि त्सोऽयं वो विपरीतरीतु वितनुर्भद्रं वसन्तान्वितः।।[87]

The traveller beholds in front on his way blossomed *Āmra* trees which when shaken by the gentle breeze drop heaps of blossoms as bright as resplendent gold. At their very sight he is struck by the arrows of the cupid. Being already thin in body he faints-

रुचिरकनककान्तीन्मुञ्चतः पुष्पराशीन् मृदुपवनविधूतान्पुष्पितांश्चूतवृक्षान्।

अभिमुखमभिवीक्ष्य क्षामदेहोऽपि मार्गे मदनशरनिपातैर्मोहमेति प्रवासी।।[88]

The hearts of even proud ladies are made to quake by breezes perfumed by blossomed *Āmra* trees, by the cooing of intoxicated male cuckoos and bees' noisy pleasant to the ear-

आकम्पितानि हृदयानि मनस्विनीनां वातैः प्रफुल्लसहकारकृताधिवासैः।

उत्कुजितैः परभृतस्य मदाकुलस्य श्रोत्रप्रियैर्मधुकरस्य च गीतनादैः।।[89]

RAGHUVAṂŚA

Raghuvaṃśa in 19 cantos narrates the history of the race of *Raghu* and in five cantos, 10 to 15, the story of *Rāma's* life is recounted. Then it follows an account of the successors of *Rāma* until *Agnivarṇa*. The last canto presents to us the coronation of his posthumous prince then in embryo and the verse is enchanting.

During the *svayaṃvara*, coming to *Aja*, whom *Indimatī* found flawless in all his limbs, the maiden stopped from going to any other prince; a swarm of bees would not pass on to another tree, when it has once found the *Āmra* in full flower-

तं प्राप्य सर्वावयवानवद्यं व्यावर्ततान्योपगमात्कुमारी। न हि प्रफुल्लं सहकारमेत्य वृक्षान्तरं काङ्क्षति षट्पदाली।।[90]

It is an amazing poetic expression. As Aja was most handsome and worth looking, hence, the Princess *Indumatī* dropped the idea of finding any other prince. *Āmra* is considered to be king of all fruits. This is why the row of bees don't want to shift to any other tree after reaching to fragrant *Āmra* tree.

Clasping the bride's (*Īndumatī's*) hand in his, the prince *Aja* gained greater lustre, as when *Āmra* clasps, with its sprout the tendril of the Aśoka plant hard by-

हस्तेन हस्तं परिगृह्य वध्वाः स राजसुनूः सुतरां चकासे। अनन्तराशोकलताप्रवालं प्राप्येव चूतः प्रतिपल्लवेन।।[91]

Here *Aja* is compared to a *Āmra* tree and *Indumatī* to *Aśokalatā*, hence it is an example of simile, for which *Kālidāsa* is well known.

When suddenly *Īndumatī* breathed her last, *Aja* wept for her. He says-Were not this *Āmra* and this jasmine betrothed by thee? It is improper that thou shouldst depart without celebrating their wedding-

---

[87] *Ibid,* 6/28
[88] *Ibid,* 6/Interpolated stanza after 27; 7
[89] *Ibid,* 6/Interpolated stanza after 27; 11
[90] *Raghuvaṃśa*-6/69
[91] *Ibid,* 7/21

मिथुनं परिकल्पितं त्वया सहकारः फलिनी च नन्विमौ। अविधाय विवाहसत्क्रिया मनयोर्गम्यत इत्यसाम्प्रतम्।।[92]

The *Āmra* tree, full of blossoms, whose leaves were shaken by the *Malaya* breeze, seemed to be preparing to learn acting, and stirred love in the hearts of even those who had conquered passion and hatred-

अभिनयान्परिचेतुमिवोद्यता मलयमारुतकम्पितपल्लवा। अमदयत्सहकारलता मनः सकलिका कलिकामजितामपि।।[93]

While returning from Lanka after conquering *Rāvaṇa* from air route, *Rāma* went over *Pañcavaṭī*, wherein they had lived during exile period. Seeing the natural beauty of *Pañcavaṭī*, *Śrī Rāma* says- This *Pañcavaṭī*, where thou, though slenderwaisted, didst rear the young *Āmra* with water poured from a jar, and where the black-antelopes have raised their heads, gives delight to my mind as I see it after long time-

एषा त्वया पेशलमध्ययापि घटाम्बुसंवर्धितबालचूता। आह्लादयत्युन्मुखकृष्णसारा दृष्टा चिरात्पञ्चवटी मनो मे।[94]

The time of the summer that brought together the odoriferous piece of *Āmra*-blossom, the odoriferous old wine, and the odoriferous fresh *Pāṭala* flowers, caused blemishes in lovers' distempers-

मनोज्ञगन्धं सहकारभङ्गं पुराणशीधुं नवपाटलञ्च। संबभ्रता कामजनेषु दोषाः सर्वे निदाघवधिना प्रमृष्टाः।।[95]

Damsels, seeing *Āmra* blossoms together with leaves brought to bloom by the southern breeze, forgot strife and not suffering severance, themselves, conciliated him (*Agnivarṇa*)-

दक्षिणेन पवनेन समभृतं प्रेक्ष्य चूतकुसुमं सपल्लवम्। अन्वनैषुरवधूतविग्रहा स्तं दुरुत्सहवियोगमङ्गनाः।।[96]

The Spring season which witnesses the blossom of fresh *Āmra* flowers, arouse intense love in loving couples. Therefore, at the glance of the *Āmra* sprouts, the damsels of *Agnivarṇa* gave up their love-quarrels. *Āmra* blossom is well known for its immense power of attraction and influence.

When he (King *Agnivarṇa*) drank wine which was stewed with *Āmra* blossoms and red *Pāṭala* flowers; through it his passion, which was enfeebled by the passing away of spring, was revived afresh-

यत्स लग्नसहकारमासवं रक्तपाटलसमागमं पपौ। तेन तस्य मधुर्निगमात्मकृश श्चित्तयोनिरभवत्पुनः पुनः।।[97]

KUMĀRASAMBHAVA

Kumārasambhava, a poem in 17 cantos, describes the birth of *Kumāra*, the War God. As antecedent history, the poem narrates the supplication of Gods to Lord *Śiva* for the creation of a general for the forces of the Gods, capable of destroying their enemy Tārakā, whose depredations they were then unable to bear. Then follow the birth of *Pārvatī* as daughter of *Himācala* and his marriage with *Pārvatī*. With the union of *Śiva* and *Parvatī*, the eighth cantos closes and the remaining cantos describe the story of birth of *Kumāra* and destruction of *Tārakā*.

---

[92] *Ibid*, -8/61
[93] *Ibid*, 9/33
[94] *Ibid*, 13/34
[95] *Ibid*, 16/52
[96] *Ibid*, 19/43
[97] *Ibid*, 19/46

The eyes of mountain lord, though having a son, were never satiated with resting on this his child; the row of bees, indeed, is more fondly attached to the *Āmra* tree blossoms, though the vernal season blooms and countless flowers-

महीभृतः पुत्रवतोऽपि दृष्टि स्तस्मिन्नपत्ये ज जगाम तृप्तिम्। अनन्तपुष्पस्य मधोर्हि चूते द्विरेफमाला सविशेषसङ्गा।।[98]

Then that flower-bowed God, having his bow, ends of which were as beautiful as the arching brows of graceful women, slung over his neck bearing the marks of the bracelets of *Rati*, and having his missile (the young sprouts of *Āmra* trees) deposited in the hands of his friend *Madhu* (vernal season), approached with folded hands the performance of hundred sacrifices (*Indra*)-

अथ स ललितयोषिद्भ्रूलताचारुशृङ्गं रतिवलयपदाङ्के चापमासज्य कण्ठे।

सहचरमधुहस्तन्यस्तचूताङ्कुरास्त्रः शतमुखमुपतस्थे प्राञ्जलिः पुष्पधन्वा।।[99]

Here the imprint of *Rati's* bracelets over the neck of *Kāma* indicates their ardent hold.

Madhu, (the vernal season), having fitted up the arrow (of *Kāma*) in the shape of young *Āmra* blossom, with new leaves as its beautiful feathers, immediately inscribed on it the letters, as it were, of the name of the Mind-born (Cupid), in the shape of bees-

सद्यः प्रवालोद्गमचारुपत्रे नीते समाप्तिं नवचूतबाणे। निवेशयामास मधुर्द्विरेफान्नामाक्षराणीव मनोभवस्य।।[100]

The Vernal Beauty, having displayed on her forehead a *Tilaka* (the *Tilaka* flower) artistically painted with black pigment in the shape of the bees that swarmed over it, ornamented her lip in the form of the young *Āmra*-leaf with red tint (lac) mellow like the light of morning Sun-

लग्नद्विरेफाञ्जनभक्तिचित्रं मुखे मधुश्रीस्तिलकं प्रकाश्य। रागेण बालारुणकोमलेन चूतप्रवालोष्ठमलञ्चकार।।[101]

The strain of sweet music was warbled out by the male Cuckoo whose voice had become impassioned by his feasting on the *Āmra* sprouts, (that strain) became the mandate of Cupid component to break down the pride of high-minded dames-

हिमव्यपायाद्विशदाधराणामापाण्डरीभूतमुखस्त्रवीनाम्। स्वेदोद्गमः किंपुरुषाङ्गनानां चक्रे पदं पत्रविशेषकेषु।।[102]

It is a general belief that the voice of cuckoo becomes melodious after its tastes sprouts of *Āmra* tree. Tuneful intoning of the cuckoo is a clear indication that *Āmra* has got blossomed. Hence, when a blazing fire with rising flames sprang from third eye of *Śiva* and left *Kāmadeva* to ashes, *Rati* says- Say by whom will the fresh blossom of the *Āmra* tree, the beautiful stem of which is reddish-green and the sprouting of which is proclaimed by the notes of the male cuckoo, be now used as his arrow?-

हरितारुणचारुबन्धनः कलपुंस्कोकिलशब्दसूचितः। वद सम्प्रति कस्य बाणतां नवचूतप्रसवो गमिष्यति।।[103]

O *Vasanta*, in the after-death ceremony of *Kāma* offer the spray of *Āmra* blossom, the leaves of which are tremulous, for the *Āmra* blossom was dear to my friend-

---

[98] *Kumārasambhava*-1/27
[99] *Ibid*, 2/64
[100] *Ibid*, 3/27
[101] *Ibid*, 3/30
[102] *Ibid*, 3/32
[103] *Ibid*, 4/14

परलोकविधौ च माधवः स्मरमुद्दिश्य विलोलपल्लवाः। निवपेः सहकारमञ्जरीः प्रियचूतप्रसवो हि ते सखा।।[104]

VIKRAMORVAŚĪYA

Vikramorvaśīya represents events partly terrestrial and partly celestial. This play has been composed by *Mahākavi Kālidāsa*. Poetic description of *Āmra* can also been found in this creation of *Kālidāsa*.

King *Purūvarā* says to *Vidūṣaka*-Already the five arrowed God has pierced my heart which is difficult to be withdrawn from its desire for the unattainable: what then when the *Āmra* trees of the garden, whose pallid leaves have been blown away by the *Malaya* breeze, are showing fresh sprouts-

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं प्रथममपि मनो मे पञ्चवाणः क्षिणोति।

किमुत मलयवातोन्मूलितापाण्डुपत्रै रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु।।[105]

King *Purūvarā* further adds- Here is the *Kurabaka* flower red at the tip like a women's nails, and black at the sides, the young *Aśoka* bud charming owing to increased redness, is ready to burst into flower, the new blossom of the *Āmra* is yellow at the ends as the pollen is yet imperfectly formed; (thus) the Beauty of Spring stands, my friend between childhood and youth-

अग्रे श्लीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयो र्बालाशोकमुपोढरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।

ईषद्धूरजःकणाग्रकपिशा चूते नवा मञ्जरी मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्री स्थिता।।[106]

MĀLAVIKĀGNIMITRA

Malavikāgnimitra is a conventional dramatisation of harem intrigue in the court of King *Agnimitra* of *Vidisa*, probably of the *Sunga* dynasty.

Dictating the beauty of Spring season, the King *Agnimitra* says-How noble is spring: See friend, by the sweet notes of the slightly intoxicated cuckoo, he seems to be compassionately inquiring whether I can bear the torture of love; while the south breeze with its soft touch and its incense of *Āmra* blossoms is like the palm of spring's hand stroking my limbs-

अभिजातः खलु वसन्तः। सखे पश्य-

आमत्तानां श्रवणसुभगैः कूजितैः कोकिलानां सानुक्रोशं मनसिजरुजः सह्यतां पृच्छतेव।

अङ्गं चूतप्रसवसुरभिर्दक्षिणो मारुतो मे सान्द्रस्पर्शः करतल इव व्यापृतो माधवेन।।[107]

King says to *Vidūṣaka*- The sweet voiced cuckoo and the bee clinging to the opened *Āmra* blossom have been driven to seek a hollow by an unseasonable shower preceded by a strong gale-

मधुररवा परभृतिका भ्रमरी च विबुद्धचूतसङ्गिन्यौ। कोटरमकालवृष्ट्या प्रबलपुरोवातया गमिते।।[108]

---

[104] *Ibid,* 4/38
[105] *Vikramorvaśiya*-2/6
[106] *Ibid,* 2/7
[107] *Mālavikāgnimitra*-3/4
[108] *Ibid,* 4/2

When *Mālavikā* overcomes fear, King *Agnimitra* addressing her says, give up, Oh sweet one, this fear of union, and now that I, whom have for long been devoted to you, have become like the *Āmra* tree, do you assume the part of *Atimuktaka* towards me-

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं तव चिरात्प्रभृति प्रणयोम्मुखे। परिगृह्याण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितमं मयि।।[109]

Addressing *Vidūṣaka*, the King *Agnimitra* says-Here before us the youth of Spring now attaining its ripeness, with the *Kurabaka* flowers scattered, and the *Āmra* trees bursting with fruit, fills the mind with longing-

अग्रे विकीर्णकुरबकफलजालविभिद्यमानसहकारम्। परिणामाभिमुखमृतोरुतसुकयति यौवनं चेतः।।[110]

ABHIJÑĀNAŚĀKUNTALA

It is one of the most popular plays in Sanskrit. It has attracted attentions of scholars across the world. The play of world fame is divided in seven acts. It is considered to be quintessence of *Kālidāsa's* poetry. *Kālidāsa* is the great, the supreme poet of the senses, of aesthetic beauty, of sensuous emotion. His main achievement is to have taken every poetic element, all great poetical forms, and subdued them to a harmony of artistic perfection set in the key of sensuous beauty. The appreciation of beauty in nature, of the grandeur of mountain and forest, the loveliness of lakes and rivers, the charm of bird and beast, life had become a part of contemporary culture.

Before journey of *Śakuntalā* was to start for her husband's house, she herself approached to the creeper and said- O *Vanyajyotsanā*! (Sister of *Śakuntalā* among creepers) although wedded to the *Āmra* tree, yet embrace me, too, with your arms, these branches, which are turned in this direction. I shall be far away from you after this day-

वनज्योत्स्न, चूतसङ्गातापि मां प्रत्यालिङ्गेतोगताभिः शाखावाहिभिः। अद्यप्रभृति दूरपरिवर्तिनी ते खलु भविष्यामि।[111]

Listening *Maharṣi Kāśyapa* says- Thy merits have gained thee husband equal to thyself, who had already been originally determined upon by me for the thee; this *Navamālikā* has resorted to the *Āmra* tree, so that now my solicitude for thee and for her is at an end-

सङ्कल्पितं प्रथममेव मया तवार्थे भर्तारमात्मसदृशं सुकृतैर्गता त्वम्।

चूतेन संश्रितवती नवमालिकेयमस्यामहं त्वयि च सम्प्रति वीतचिन्तः।।[112]

Addressing to *Vidūṣaka*, the King *Duṣyanta* says- Be quiet, that I may listen. O bee, how comes it that you eagerly long for fresh honey, after having kissed the *Āmra*-blossom in that way, should have forgotten it, being now satisfied with mere dwelling in the lotus!-

अभिनवमधुलोलुपस्त्वं तथा परिचुम्ब्य चूतमञ्जरीम्। कमलवसतिमात्रनिर्वृतो मधुकर विस्मृतोऽस्येनां कथम्।।[113]

In Act VI, enters a *Ceṭī* gazing at the *Āmra*-blossom, and another behind her-

ततः प्रविशति चूताङ्कुरमवलोकयन्ती चेटी। अपरा च पृष्ठतस्याः।[114]

---

[109] *Ibid,* 4/13
[110] *Ibid,* 5/4
[111] *Abhijñānaśākuntala-* p 114
[112] *Ibid,* 4/12
[113] *Ibid,* -5/1

Then first one says, O *Āmra* blossom, a little pink and green and pale, the very essence of the life of spring, thou art seen by me, and I beg thee to favour (me), thou blessing of the season-

आताम्रहरितपाण्डुर वसन्तमासस्य जीवनसर्वस्व। दृष्टोऽसि चूतकोरक ऋतुमङ्गल त्वां प्रसादयामि।।[115]

The first one (*Parabhṛtikā*) continues saying, *Madhukarikā*, when a female cuckoo sees *Āmra* blossom, she grows crazy with delight-

मधुरिके, चूतकलिकां दृष्ट्वोन्मत्ता परभृतिका भवति।[116]

Then the second one (*Madhukarikā*) says to the first one (*Parabhṛtikā*)- Hold me dear, while I stand tip-toe and take *Āmra* blossom to worship God *Kāma*-

सखी, अवलम्बस्व मां यावदग्रपादस्थिता भूत्वा चूतकलिकां गृहीत्वा कामदेवार्चनं करोमि।[117]

Now the second one says, That goes without saying, dear; for our life is but one, though our bodies stand apart. (Stands leaning on her friend and takes the *Āmra* blossom). Ah, the *Āmra* blossom though not opened, is yet fragrant as its stalk is cut-

अकथितेऽप्येतत्संपद्यते यत एकमेव नौ जीवितं द्विधा स्थितं शरीरम्। (सखीमवलम्ब्य स्थिता चूताङ्कुरं गृह्णाति) अये, अप्रतिबुद्धोऽपि चूतप्रसवोऽत्र बन्धनभङ्गसुरभिर्भवति।[118]

Now her hands together the second one says- O *Āmra* sprout, thou art offered by me to God Kāma, who has taken up this bow. Be an arrow more splendid than this five, having for thy marks the girls whose lovers are journeying-

त्वमसि मया चूताङ्कुर दत्तः कामाय गृहीतधनुषे।

पथिकजनयुवतिलक्ष्यः पञ्चाभ्यधिकः शरो भव।।[119]

Talking about the *Śakuntalā Viduṣaka* says- I think that she who is represented as if a little fatigued by the side of the *Āmra* tree whose young leaves are glistening after her watering, with arms drooping in a peculiar manner; with a face on which drops the perspiration have broken out; with locks of her hair the flowers of which have dropped from the loosened braid; that is *Śakuntalā*-

तर्कयामि यैषा शिथिलकेशबन्धनोद्वान्तकुसुमेन केशान्तेनोद्भिन्नस्वेदबिन्दुना वदनेन विशेषतोऽपसृताभ्यां बाहुभ्यामवसेकस्निग्धतरुणपल्लवस्य चूतपादपस्य पार्श्व ईषत्परिश्रान्तेवालिखिता सा शकुन्तला।

Abhujñānaśākuntala- p 189

ĀMRA IN *PURĀṆIC* LITERATURE

Skanda Mahāpurāṇa also mentions this tree while describing *Śveta Dvipa*. According to the *Mahāpurāṇa*, this *Dvīpa* was surrounded and covered with innumerable *Āmra* trees.[120] Describing

---

[114] *Ibid*, -p 169
[115] *Ibid*, 6/2
[116] *Ibid*, p 169
[117] *Ibid*, p169
[118] *Ibid*, p 171
[119] *Ibid*, 6/3
[120] *Skanda Mahāpurāṇa*-2/9/4/10

Goloka this Purāṇa says that it was beautified with *Āmra* trees. These trees were bending down with the weight of fruits and flowers.[121] This very Purāṇa while describing the beauty of nature of forest of *Kuśasthalī* says-With the bunches of flowers offered by the wind, *Āmra*es and Tilakas make presents to one another like good men with their hands.[122] *Brahmāṇḍa Mahāpurāṇa* has described the creation and manifestation of *Āmra*- **आम्रादीनां तरूणां च सर्जनं व्यंजनं तथा।**[123]

When the king *Sagar* entered penance grove of *Aurav's* hermitage, all around it consisted of many trees where blossoms had not faded, the fruits of which were tasty, that had a grassy grounds all round and which had plenty of tender sprouts and cool shades. All round in every quarter, the cuckoos cooed loudly and sweetly, as their throats became clear due to their having tasted the tender sprouts at the tips of the *Āmra* trees-

चूताग्रपल्लवास्वादस्निग्धकण्ठपिकारवैः। श्रोताभिरामजनकैस्सं घुष्टं सर्वतो दिशम्।।[124]

While describing the *Rāsalīlā* in *Brahmavaivarta Mahāpurāṇa*, the beauty of *Vṛndāvana* and *Rāsamaṇḍala* has been described. Apart from many other things, it was beautified by the sprouts of *Āmra*- **आम्रपल्लवयुक्तेन सूत्रबन्धेन चारुणा।**[125]

King *Purūravā* once reached area very near to Himalaya. It was surrounded by number of trees. *Āmra* was one of them, which was quite attractive and alluring.[126] Donation of *Āmra* was considered to be pious act. *Matsya Purāṇa* says that if women after observing fast donate this tree, they become beautiful.[127]

Vāyupurāṇa has a description of a *Āmravana*. According to it midway between the great mountains Viśākha and Pataṅga, there is a huge *Āmra* grove called *Tāmra*vana on the eastern shore of the lake. It is pierced by the shafts of the five-arrowed one, i.e. Cupid. The trees have splendid boughs. They shine in various colours, bearing fruits in all seasons. The grove is flourishing and prosperous. The fruits hold the resemblance of gold, highly delicious, scentful, having sizes of the big pitchers and thin-branched ones spreading all round. *Gandharvas, Kinnaras, Yakṣas, Nāgas* and *Vindhādharas* drink the highly sweet ambrosial juice of the *Āmra* fruits. Therein that great grove of great souled ones, jubilant ones having the drinkfuls of *Āmra* juice, are heard the recitations satisfied and exhilarant-

विशाखस्याचलेन्द्रस्य पतङ्गस्यान्तरेण च। सरसस्ताम्रवर्णस्य पूर्वे तीरे परिश्रुतम्।।
पञ्चेषुक्षेपणैर्विद्धं सुशाखं वर्णशोभितम्। सर्वकालफलं तत्र स्फीतम चाम्रवनं महत्।।
फलैः कनकसंकाशैर्महास्वादैः सुगन्धिभिः। महाकुम्भप्रमाणैश्च तनुशाखैः समन्ततः।।
गन्धर्वकिंनरा यक्षा नागा विद्याधरास्तथा। पिबन्त्याम्ररसं तत्र सुस्वादु ह्यमृतोपमम्।।
तत्राऽऽम्ररसपीतानां मुदितानां महात्मनाम्। श्रूयन्ते हृष्टतुष्टानां नादास्तस्मिन्महावने।।[128]

CONCLUSION

Going by the above findings it is loud and clear that *Āmra* is well known for its cultural and poetic importance. Poets have used *Āmra* as a tool for enriching their poetic skills. This apart, various parts of this tree are used for various religious purposes and rituals. From astrological point of view, this tree is considered to be of great importance.

[121] *Ibid,* 2/9/16/33, 37
[122] *Ibid,* 5/1/5/22
[123] *Brāhmāṇḍa Mahāpurāṇa*-1/1/52
[124] *Ibid,* 2/50/37
[125] *Brahmavaivarta Mahāpurāṇa*-4/28/16
[126] *Matsya Mahāpurāṇa*-118/13
[127] *Ibid,* 187/29
[128] *Vāyupurāṇa*-38/18-22

BIBLIOGRAPHY

Aṣṭādhyāyī-Bhāṣya (Comm.), Jijnasu Pt. Brahmadatta, Ramlal Kapoor Trust, Soneepat, 2010

Bakhru H.K., Foods That Heal, Orient Paperbacks, New Delhi, 2010

Banerji Suresh Chandra, ***Kālidāsa-Kośa***, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 1968

Bennet SSR, Gupta PC and Rao R Vijendra, ***Venerated Plants***, Indian Council of Forestry Research and Education, Dehradun, 1992

Brahmāṇḍa-Mahāpurāṇa (ed.), KV Sharma, Krishnadas Academy, Varanasi,1983

Brahmavaivartapurāṇam (Tr.), Jha Taranisha, Hindi Sahitya Sammelana Prayaga, Allahabad, 2001

Chatterji Suniti Kumar (Ed.), ***The Cultural Heritage of India***, The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta, 2006

Ṛtusaṃhāra of Kālidāsa (Ed.),Devadhar CR, Motilal Banarasidas Publishers Private Limited, Delhi

Devdhar CR, ***Works of Kalidasa***, Motilal Banarasidas Publishers Private Limited, Delhi, 1977

Dwivedi, Dhananjay Vasudeo, ***Importance of Plants as Depicted in Purāṇās***, IJHS, 52.3 (2017): 251-274

Dwivedi, Dhananjay Vasudeo, ***Sanskrit Sāhitya meṃ Paryāvaraṇa Cetanā***, Shri Krishna Sahitya Sadan, 2013

Gupta Shakti M., ***Plant Myths and Tradition***, Munshiram Manoharlal Publishers Pvt. Ltd., New Delhi, 2001

Harshananda Swami, ***A concise Encyclopaedia of Hinduism***, Ramakrishna Math, Bangalore, 2008

Harṣcarita (Comm.), Pathaka Jagannatha, Chowkhamba Vidya Bhawan, Varanasi, 1962

Krishnamurthy K.H., ***Fruits***, Books for All, Delhi, 2000

Krishnamachariar M, ***History of Classical Sanskrit Literature***, Motilal Banarasidass Publishers Private Limited, Delhi, 2018

Krishna Nanditha & Amrithalingam M, ***Sacred Plants of India***, Penguin Books, Gurgaon, 2014

Kulkarni Dr. Chandrakant Bajirao, ***Mahābhāratsya Āyurvedadṛṣṭyā Adhyayanam***, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2007

Kulshrestha Sushma, ***Flora & Plant Kingdom in Sanskrit Literature***, Eastern Book Linkers, Delhi, 2003

Kumārasaṃbhavam of Kālidāsa (Ed.),Kale MR, Motilal Banarasidas Publishers Private Limited, Delhi, 1999

The Meghadūta of Kālidāsa (Ed.), Nandargikar Gopal Raghunath, Bharatiya Book Corporation, Delhi, 1979

Nārada-Purāṇa (Tr.), Tagare Dr. GV (Tr.), Motilal Banarasidass Publishers, Delhi, 1995

Pande Umesh, ***Miraculous Plants***, Bhagvat Pocket Books, Agra, 2004

Raghuvaṃsa of Kālidāsa (Ed.), Devadhar C R, Motilal Banarasidass Publishers, Delhi, 2005

Rāmāyaṇa of Vālmīki (Ed.), Arya Dr. Ravi Prakash, Parimal Publications, Delhi, 2004

Skanda Mahāpurāṇa (Ed.), Krishnadas Khemraj, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2006

Skanda-Purāṇa (Tr.), Tagare Dr. GV, Motilal Banarasidass Publishers, Delhi, 1993

Swami Harshananda, *A Concise Encyclopaedia of Hinduism (Three volumes)*, Ramakrishna Math, Bangalore, 2008

The Agni Mahāpurāṇam *(Ed.)*, Kumar Dr. Pushpendra Kumar, Eastern Book Linkers, Delhi, 2006

The Brihadāraṇyakopniṣad, Sri Ramakrihsna Math, Chennai, 1951

The Matsyamahāpurāṇa *(Ed.)*, Kumar Prof. Pushpendra Kumar, Eastern Book Linkers, Delhi, 2009

Vāmana Purāṇa *(Ed.)*, Joshi KL and Bimali ON, Parimal Publications, Delhi, 2005

Varāhpurāṇa *(Ed.)*, Gupta Shree Anandswaroop, Sarvabharatiya Kashirajnyas, Varanasi, 1983

Vāyu Purāṇa (Tr.), Sharma Sudarshan Kumar, Parimal Publications, Delhi, 2008

Vrikshayurveda (The Science of Plant Life) by Surapala, Sadhale Nalini (Tr.), Asian Agri-History Foundation, Secunderabad, 2004

Vṛkṣāyurveda *(Ed.)*, Jugnu Shrikrishna, Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi, 2004

Vyākaraṇa-Mahābhāṣya (Ed.), Tripathi Prof Jayashankar Lal, Krishnadas Academy, Varanasi, 2002

Constructive Paradigm of Teaching and Learning Process

Dr. Vijay Kumar Dadhich

I. Introduction

An important restriction of education is that teachers cannot simply transmit knowledge to students, but students need to actively construct knowledge in their own minds. That is, they discover and transform information, check new information against old, and revise rules when they do not apply. This constructivist view of learning considers the learner as an active agent in the process of knowledge acquisition. Constructivist conceptions of learning have their historical roots in the work of Dewey (1929), Bruner (1961), Vygotsky (1962), and Piaget (1980) have proposed several implications of constructivist theory for instructional developers stressing that learning outcomes should focus on the knowledge construction process and that learning goals should be determined from authentic tasks with specific objectives. Similarly, Von Glasersfeld (1995) states that learning is not a stimulus-response phenomenon, but a process that requires self-regulation and the development of conceptual structures through reflection and abstraction. It is important to note, in this respect, that constructivism is embodied in numerous ways and that these different views share important overlaps, but also contain major differences. Constructivism is an approach to teaching and learning based on the premise that cognition (learning) is the result of "mental construction." In other words, students learn by fitting new information together with what they already know. Piaget's theory of Constructivist learning has had wide ranging impact on learning theories and teaching methods in education and is an underlying theme of many education reform movements. Research support for constructivist teaching techniques has been mixed. Some research supporting these techniques and other research contradicting those results.

Constructivism Theory of Learning Explained Constructivism is basically a theory which is based on observation and scientific study about how people learn. It says that people construct their own understanding and knowledge of the world, through experiencing things and reflecting on those experiences (Bereiter, 1994). When we encounter something new, we have to reconcile it with our previous ideas and experience, maybe changing what we believe, or maybe discarding the new information as irrelevant. In any case, we are active creators of our own knowledge.

To do this, we must ask questions, explore, and assess what we know. In the classroom, the constructivist view of learning can point towards a few different teaching practices. In the most general sense, it usually means encouraging students to use active techniques (experiments, real-world problem solving) to create more knowledge and then to reflect on and talk about what they are doing and how their understanding is changing. The teacher makes sure he/she understands the students' preexisting conceptions, and guides the activity to address them and then build on them (Oliver, 2000). Constructivism has roots in philosophy, psychology, sociology, and education. But while it is important for educators to understand constructivism, it is equally important to understand the implications this view of learning has for teaching and teacher professional development (Tam, 2000).Constructivism's central idea is that human learning is *constructed*, that learners build new knowledge upon the foundation of previous learning. Objectivists believe that information itself is knowable outside the bounds of any human mind, and that any individual interpretation of knowledge can be said to be either correct or incorrect. Objectivists view individual pieces of information as symbols or currency that can be acquired by humans and can be transferred from human to human should the correct learning conditions exist. (Jonassen, 1991) While much of the early work in formal instructional design derived from objectivist theory, modern academic minds have come to accept that learning environments which more closely match the needs of constructivist learning may be more effective.

Principles of Constructivism: -

Constructivist teaching is based on recent research about the human brain and what is known about how learning occurs. **Caine and Caine** (1991) suggest that brain-compatible teaching is based on 12 principles:

1. The brain is a parallel processor. It simultaneously processes many different types of information, including thoughts, emotions, and cultural knowledge. Effective teaching employs a variety of learning strategies.
2. Learning engages the entire physiology. Teachers can't address just the intellect.
3. The search for meaning is innate. Effective teaching recognizes that meaning is personal and unique, and that students' understandings are based on their own unique experiences.
4. The search for meaning occurs through 'patterning'. Effective teaching connects isolated ideas and information with global concepts and themes.
5. Emotions are critical to patterning. Learning is influenced by emotions, feelings, and attitudes.

6. The brain processes parts and wholes simultaneously. People have difficulty learning when either parts or wholes are overlooked.
7. Learning involves both focused attention and peripheral perception. Learning is influenced by the environment, culture, and climate.
8. Learning always involves conscious and unconscious processes. Students need time to process 'how' as well as 'what' they've learned.
9. We have at least two different types of memory: a spatial memory system, and a set of systems for rote learning. Teaching that heavily emphasizes rote learning does not promote spatial, experienced learning and can inhibit understanding.
10. We understand and remember best when facts and skills are embedded in natural, spatial memory. Experiential learning is most effective.
11. Learning is enhanced by challenge and inhibited by threat. The classroom climate should be challenging but not threatening to students.
12. Each brain is unique. Teaching must be multifaceted to allow students to express preferences.

Basic characteristics of Constructivist Learning Environments Tam (2000) lists the following four basic characteristics of constructivist learning environments, which must be considered when implementing constructivist instructional strategies:

1) Knowledge will be shared between teachers and students.
2) Teachers and students will share authority.
3) The teachers role is one of a facilitator or guide.
4) Learning groups will consist of small numbers of heterogeneous students.

Pedagogical Goals of Constructivist Learning Environments

There are seven pedagogical goals of constructivist learning environments as:

1) To provide experience with the knowledge construction process (students determine how they will learn).
2) To provide experience in and appreciation for multiple perspectives (evaluation of alternative solutions).
3) To embed learning in realistic contexts (authentic tasks).
4) To encourage ownership and a voice in the learning process (student centered learning).
5) To embed learning in social experience (collaboration).
6) To encourage the use of multiple modes of representation, (video, audio text, etc.)
7) To encourage awareness of the knowledge construction process (reflection, metacognition).

Benefits of Constructivism: -

1. Children learn more, and enjoy learning more when they are actively involved, rather than passive listeners.
2. Education works best when it concentrates on thinking and understanding, rather than on rote memorization. Constructivism concentrates on learning how to think and understand.
3. Constructivist learning is transferable. In constructivist classrooms, students create organizing principles that they can take with them to other learning settings.
4. Constructivism gives students ownership of what they learn, since learning is based on students' questions and explorations, and often the students have a hand in designing the assessments as well. The students are also more likely to retain and transfer the new knowledge to real life.
5. By grounding learning activities in an authentic, real-world context, constructivism stimulates and engages students. Students in constructivist classrooms learn to question things and to apply their natural curiosity to the world.
6. Constructivism promotes social and communication skills by creating a classroom environment that emphasizes collaboration and exchange of ideas.

Difference between Traditional Classroom and Constructivist Classroom

Traditional Classroom	**Constructivist Classroom**
Curriculum begins with the parts of the whole. Emphasizes basic skills.	Curriculum emphasizes big concepts, beginning with the whole and expanding to include the parts.
Strict adherence to fixed curriculum is highly valued.	Pursuit of student quest ions and interests is valued.
Materials are primarily textbooks and workbooks.	Materials include primary sources of material and manipulative materials.
Learning is based on repetition.	Learning is interactive, building on what the student already knows.
Teachers disseminate information to students; students are recipients of knowledge.	Teachers have a dialogue with students, helping students construct their own knowledge.

Teacher's role is directive, rooted in authority.	Teacher's role is interactive, rooted in negotiation.
Assessment is through testing, correct answers.	Assessment includes student works, observations, and points of view, as tests. Process is as important as well as product.
Knowledge is seen as inert.	Knowledge is seen as dynamic, ever changing with our experiences.
Students work primarily alone.	Students work primarily in groups.

Implications of constructivism for teaching and learning

Constructivism requires a teacher to act as a facilitator whose main function is to help students become active participants in their learning and make meaningful connections between prior knowledge, new knowledge, and the processes involved in learning. **Brooks and Brooks** (1993) summarize a large segment of the literature on descriptions of constructivist teachers. They conceive of a constructivist teacher as someone who will:

1. Encourage and accept student autonomy and initiative.
2. Use a wide variety of materials, including raw data, primary sources, and interactive materials and encourage students to use them.
3. Inquire about students understandings of concepts before sharing his/her own understanding of those concepts.
4. Encourage students to engage in dialogue with the teacher and with one another.
5. Encourage student inquiry by asking thoughtful, open-ended questions and encourage students to ask questions to each other and seek elaboration of students initial responses.
6. Engage students in experiences that show contradictions to initial understandings and then encourage discussion.
7. Provide time for students to construct relationships and create metaphors.
8. Assess students understanding through application and performance of open -structured tasks.

Hence, from a constructivist perspective, the primary responsibility of the teacher is to create and maintain a collaborative problem-solving environment, where students are allowed to construct their own knowledge, and the teacher acts as a facilitator and guide.

Conclusion

Constructivism is a theory that asserts that learning is an activity that is individual to the learner. This theory hypothesizes that individuals will try to make sense of all information that they perceive, and that everyone will, therefore "construct" their own meaning from that information. Constructivism represents one of the big ideas in education. Its implications for how teachers teach and learn to teach are enormous. If our efforts in reforming education for all students are to succeed, then we must focus on students. To date, a focus on student-centered learning may well be the most important contribution of constructivism. Constructivist teachers encourage students to constantly assess how the activity is helping them gain understanding. By questioning themselves and their strategies, students in the constructivist classroom ideally become "expert learners." This gives them ever-broadening tools to keep learning. With a well-planned classroom environment, the students learn HOW TO LEARN.

References

[1]. Bednar, A. K., Cunningham, D. J., Duffy, T. M., & Perry, J. D. (1992).*Theory into practice*: How do we link? In T. M. Duffy & D. H. Jonassen (Eds.), *Constructivism and the technology of instruction* (pp. 17-34). Hillsdale, NJ: Lawrence Erlbaum Associates.

[2]. Bereiter, C. (1994). Constructivism, sociocultural, and Popper's World 3. *Educational Researcher,* 23 (7), 21-23.

[3]. Bruner, J. S. (1961). The act of discovery. *Harvard Educational Review*, *31*(1), 21-32.

[4]. Brooks. J.G. and Brooks, M.G. (1993) *In Search of Understanding: The Case for Constructivist Classrooms.* Alexandria, VA: American Society for Curriculum Development.

[5]. Caine, R.N., & Caine, G. (1991).*Making connections: Teaching and the human brain.* Alexandria, VA: Association for Supervision and Curriculum Development.

[6]. Driscoll, Marcy. (2000). *Psychology of Learning for Instruction.* Boston: Allyn& Bacon.

[7]. Duffy, T.M. &. Jonassen, D.H. (Eds.), *Constructivism and the technology of instruction* (pp. 17- 34). Hillsdale, NJ: Lawrence Erlbaum Associates.

Assistant Professor (Cont.)
Dept. of Education
Central Sanskrit University, Jaipur

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्

डॉ. संजीतकुमारझाः

'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' इत्यादिना यस्य वेदाङ्गस्य मुख्यत्वेन प्रतिपादनं विहितम्, तद्व्याकरणन्नाम किम्? इति जिज्ञासायामुच्यते-'व्याक्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते, अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधुशब्दाः अनेनेति व्याकरणम्।'' बहुषु ग्रन्थेषु व्याकरणस्य शब्दानुशासनस्य वा बहव्यः परिभाषाः दरीदृश्यन्ते। भर्तृहरिणा तु-

''आसन्नं ब्रह्मणस्तस्य तपसामुत्तमं तपः।
प्रथमं छन्दसामङ्गं प्राहुर्व्याकरणं बुधाः।।''[1]

इत्यादिदशाधिककारिकाभिः व्याकरणस्य माहात्म्यं प्रत्यपादि। तच्सर्वमाहत्य आचार्यविश्वनाथमिश्रेणोच्यते-

व्याकरणं नाम व्युत्पादकं शब्छानाम्, आञ्जसो मार्गः शब्देन व्यवहर्तृणाम्, उपकारकं सर्वशास्त्राणाम्, अजिह्मो राजमार्गः मोक्षमाणानाम्, दर्शकं परावाचः, विवेचकं वैश्वर्याः, आकरो धातुप्रकृतिप्रत्ययानाम्, किं बहुना इदमेवाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणामिति।[2]

अनेन सिद्धयति यत् व्याकरणं नाम अर्थविशेषमाश्रित्य स्वरप्रकृतिप्रत्ययादीन् विशेषेण-संस्कारविशेषेण आ समन्तात् वैदिकान् लौकिकांश्च शब्दान् व्याकरोतीति तथाभूतः पाणिन्यादिमहर्षिप्रणीतो ग्रन्थसमूहः।[3]

एतावतापि शब्दशास्त्रस्य परमाचार्येण भगवता पतञ्जलिना 'व्याकरणमित्यस्य कः पदार्थः? इत्याक्षेपभाष्येण पस्पशाह्निके व्याकरणपदार्थनिरूपणात्मकं किमपि विशिष्टमेव विवेचनं प्रस्तुतम्। महाभाष्यकारस्य यादृशी संवादात्मिका सारगर्भिता शैली व्युत्पादनस्य वर्तते तत्र दुष्करोऽपि विषयः सुलभ इव प्रतिभाति। स्वयमेव प्रश्नं समुद्भाव्य समाधानभाष्येणोत्तरमपि ददाति। तत्रोच्यते-

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः?[4] यदि 'सूत्रम्' इत्युच्यते चेत् सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते। अर्थात् यदि 'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति वदामश्चेत् सूत्रादन्यत् किमेताहक् स्याद्यद्व्याकरणपदभाक्भवेत्। यस्य चादः सूत्रमिति कथयितं पारयामः। अतएव भाष्यकारेण प्रथमाक्षेपवार्तिकमुक्तम् सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः''[5] इति।

अथ च सूत्रे व्याकरणे शब्दानामप्रतिपत्तिरपि भवति। कथमिति चेत् वयं कथयामो यत् 'व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे' इति। परन्तु तत्र केवलं सूत्रादेव शब्दाः न प्रतिपद्यन्ते। व्याख्यानस्यापि आवश्यकता भवत्येव। यद्युच्यते तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति। यथा-'वृद्धिरादैच'[6] इत्यस्य 'वृद्धिः आत् ऐज्' इति, तन्न, यतोहि नहि केवलानि चर्चापदानि एव व्याख्यानं भवति अपितु 'उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार' इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति। अतः द्वितीयमाक्षेपवार्तिकमुच्यते-

'शब्दाऽप्रतिपत्तिः'[7] इति।

अत्र प्रथमाक्षेप वार्तिकस्थायमाशयः यत्-

षष्ठीविभक्तिप्रयोगः तत्रैवोपपद्यते यत्र द्वे पृथग्-पृथग् वस्तुनी निर्दिश्यमाने भवेताम्। यतः विभक्तिरियं द्वयोः पदार्थयोः सम्बन्धज्ञापनार्थं प्रयुक्ता भवति। व्यवहारे तु सूत्रेण व्याकरणेन च अष्टाध्याया एव प्रतिपादनं भवति। अतः सूत्रव्याकरणयोरभिन्नत्वेन भेदसम्बन्धबोधिकाषष्ठी-विभक्तेः प्रयोगः नोपयुज्यते। यद्यपि अत्र सूत्रशब्देन यदि सूत्रसामान्यस्य अथ च व्याकरणपदेनाष्यध्याय्याः ग्रहणं स्याच्चेत् तादृशप्रयोगे विरोधप्रतीतिर्नैव भवति। अथापि यदाऽष्टाध्याय्याः कश्चिदंशः सूत्रपदेनाभिहितो भवेत्तर्हि 'राहोः शिरः' इत्यादिप्रयोगवत् 'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति प्रयोगस्यापि सङ्गतिः स्यात्। अतएव भाष्यकारणापि पक्षोऽयमाक्षेपरुपेंणैव समुद्भावितः।

पुनरुच्यते यदि सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः स्यात्तर्हि 'शब्द' एव व्याकरणं भवतु। तत्र कथयति- 'शब्दे ल्युडर्थः' अर्थात् 'शब्दस्य व्याकरणत्वस्वीकरणे 'व्याकरण' पदे यत् 'ल्युड्' प्रत्ययो वर्तते तदर्थः नोपपद्येत। कथमिति चेत्-'वि+आङ्+कृ+ल्युट्' इत्यत्र आगतः 'ल्युट्' प्रत्ययः 'करणाधिकरणयोश्च'[9] इति सूत्रेण करणे अधिकरणे च प्रयुक्तः भवति। व्याकरणे शब्दस्य प्रकृतिप्रत्ययविवेचनं विधीयते, न तु शब्दमात्रेण। अपितु तत्र सूत्रस्य साहाय्यमपेक्षितं भवति।

अथ च शब्दस्य व्याकरणत्वस्वीकरणे 'तत्र भवः।'[10] 'तेन प्रोक्तम्'[11] इत्याभ्यां सूत्राभ्यां विधीयमानानां तद्धितप्रत्ययानामर्था अपि नोपपद्यन्ते। यतोहि 'व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण' इत्युच्यते। परन्त्वयं योगः शब्दे न भवति अपितु सूत्रे भवति। एवमेव 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्' इत्यत्र 'पाणिनि' शब्दात् 'तेन प्रोक्तम्' इति सूत्रेण 'अण्' प्रत्ययो जायते। अत्रापि पाणिनिना शब्दानामन्वाख्यानं न विहितम्, अपितूत्सर्गापवादरीत्या सूत्राणामेवान्वाख्यानं विहितम्। अतः 'शब्दो' व्याकरणवाचको नैव भवितुमर्हति।

एवम्प्रकारेण बहुधा विचारपल्लवनप्रक्रिययाऽनेकान् पूर्वपक्षानुद्भाष्य परमकारुणिकेनाचार्येण सिद्धान्तिसमाधानवार्तिकद्वाराऽभिधीयते-

''सलक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्''[12] इति। अर्थात् लक्ष्यं च लक्षणञ्चोभयं सम्मिलितमेव व्याकरणं भवति। अत्र शब्दो लक्ष्यः वर्तते सूत्रं लक्षणम्। समुदाये प्रयुक्तः शब्दः अवयंवेष्वपि वर्तते। तद्यथा वनस्येकांशे पुष्पितेऽपि 'पुष्पितं वनम्' अथवा एकांशे शुक्लेऽपि पदे 'शुक्लः परः' इत्यादिप्रयोगाः भवन्ति। एवमेव लक्ष्ये लक्षणे शब्दे सूत्रे वा व्याकरणस्यावयवेऽप्यधीयान 'वैयाकरणपदप्रयोगार्हो भवति। अतः 'समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽयववेनोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते-वैयाकरण' इति दोषप्रदर्शकभाष्यस्य निराकरणमपि भवति। एवञ्च 'एकः शब्दः सम्यग् गतः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके च कामधुग् भवति' इत्यादिमाहात्म्यपरकस्वकीयवचनेन यस्य व्याकरणस्य 'रक्षोहागमलध्वसन्देशाः प्रयोजनम्' इति प्रयोजनान्युपि भगवता भाष्यकारेणोक्तम्, तद्व्याकरणन्नाम ''लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्'' इति तेनैव सिद्धान्तितम्।

संदर्भग्रन्थे-

1. वाक्यपदीयम्, ब्रह्मकाण्डम्, कारिका-11
2. प्रौढ़निबन्धसौरभम्, आचार्य विश्वनाथमिश्रः, पृष्ठ-96
3. व्याकरणतत्त्वादर्शः, डॉ. शिवकान्त झा, भूमिका - पृ. X

4. महाभाष्यपस्पशाह्निकम्, सम्पादकः गुरुप्रसादशास्त्री, पृष्ठ-68
5. तत्रैव
6. अष्टाध्यायी-1/1/1
7. महाभाष्यपस्पशाह्निकम्, गुरुप्रसादशास्त्री,पृष्ठ-69
8. तत्रैव
9. अष्टाध्यायी - 3/3/117
10. तत्रैव - 4/3/53
11. तत्रैव - 4/3/101
12. महाभाष्यपस्पशाह्निकम्, सम्पादकः गुरुप्रसादशास्त्री, पृष्ठ-71

सहायकप्राध्यापकः
संस्कृतविभागः, सी.एम.कॉलेज,
दरभंगा

पद्मश्रीरघुनाथशर्मकृतस्य शनिस्तवस्य समालोचनम्

डॉ. अंजु शर्मा

शनिस्तवः

रघुनाथशर्ममहाभागः शनिस्तवः इत्याख्यं स्तोत्रकाव्यं विरचितवान्। पञ्चाधिकशतमितैः पद्यैः परिकल्पितः शनिस्तवः अनुष्टुप्छन्दसा आच्छादितः कश्चिदपूर्व एव स्तुत्युपक्रमः। ज्योतिषशास्त्रे शनिग्रहः न्यायाधीशो मन्यते। सूर्यपुत्रशनिः लोकानुगतोचितानुचितव्यवहारणां नियामको वर्तते। भगवद्दृशनेः कोपः अतीव कष्टकारको भयानकश्च भवति इति लोकप्रथितः। शनैश्चरस्य वक्रदृष्टेः रक्षणं तथा च तेषां प्रसादप्राप्तिश्च स्तोत्रस्यास्य प्रतिपाद्यं वर्तते।

स्तोत्रेऽस्मिन् प्रारम्भिकपद्येषु भगवतः शनेः पौराणिक-स्वरूपस्य रम्यं चित्रं प्रस्तुतं वर्तते। कवि श्रीरघुनाथमहाभागः भगवन्तं अभिवादयन् स्तोत्रारम्भं करोति। कविः वर्णयति यत् शनिदेवस्य कृष्णवर्णः यामिनीरूपिकामिन्याः कान्तिमपि तिरस्करोति। यथा–

वैश्वकर्मणि काक्रोडक्रीडमानाय शैशवे।
नमस्तेऽसितवर्णाय स्मितशुभ्रमुखाय ते।।[1]

सूर्यपुत्रशनिः शत्रुदलनदक्षो वर्तते। निम्नपद्ये कवि श्रीरघुनाथमहाभागः भगवतः शुभ्रवर्णस्यापि विवेचनं कृतवान्। स्वपितुः भगवत्सूर्यस्य प्रभया ते शुक्लवर्णीयोऽपि वर्तते, इति दृष्ट्व्या कविरुक्तिरेषा। तद्यथा–

अरिदारणदक्षाय हरिसंश्रयसूनवे।
भानुभानुप्रभाभारसितवर्णाय ते नमः।।[2]

कविश्रीरघुनाथशर्मणा स्तोत्रेऽस्मिन् भगवतः शनैश्चरस्य परिजनानामुल्लेखोऽपि कृतो वर्तते। शनेर्पितुः सूर्यदेवस्य संज्ञा एवं छाया इति द्वे पत्न्यौ आस्ताम्। संज्ञायाः अनुः यमः यमी, अपि च अश्विनीकुमारद्वयश्च पुत्राः सन्ति। छायायाः द्वितीयमनुः तपती तथा च शनैश्चरः सन्ततयः सन्ति। इति पुराणोपलब्धज्ञानं कविना शनिस्तवेऽस्मिन् संकलितं कृतम्। कविः शरणागतवत्सलशनिदेवस्य शरणं याति, लिखति च–

तमहं करुणाकांक्षी शरणागतवत्सलम्।
शनिं शरणमायामि प्राश्निनेयद्वयाग्रजम्।।[3]

अपि च

तं सर्वपापशमनं शमनस्याग्रमं प्रभुम्।
शनिं शरणमायामि कान्दिशीकोऽहमाकुलः।।[4]

पुरोतिहासग्रन्थेषु शनिवर्णनं प्राप्यते। अर्कजपितृभक्तोऽस्ति। स्वपितृप्रसादेन शनिः शारीरिकं बलं प्राप्तवान्। शिवोपासनारतस्य शनेः पराक्रमः महादेवेन सम्यक्तया परीक्षितः। एवमेव पुराणमनुसृत्य शनिवन्दनां करोति कविः श्रीरघुनाथमहाभागः तद्धि–

सम्प्रहृष्ट महादेव परीक्षितपराक्रम।
करूणाकणपातेन मम दुःखं विदूरय।।[5]

अपि च

पितृप्रसादसम्प्राप्तवरजडूघालजानवे।
महादेवपदासक्तमानसे करुणाकृते।।[6]

वस्तुतः सर्वेदेवाः स्वलोकस्थाः सन्ति, तथापि लौकिकसंसारेऽस्मिन्नपि तेषाम् अंशत्वेन वासो विधीयते। एवमेव शनिदेवस्य निवासो अश्वत्थवृक्षे तन्यते लोकसमाजे। भगवतः शनेः वासरे तेल-तिल-माष-गन्ध-पुष्पैः शनिर्वन्दनं पूजनञ्च क्रियते। कवि श्रीरघुनाथमहाभागः वासुदेवद्रुमाराध्यं मार्तण्डसुतम् आराधति प्रस्तुतपद्ये, तद्यथा–

तं मार्तण्डसुतं देवं संज्ञासंहर्षकारकम्।
वसुदेवद्रुमाराध्यं शरणं यामि सत्वरम्।।[7]

अस्मिन् शनिस्तवे भगवतः दैविकशक्तीनां वर्णनं आचार्यशर्ममहाभागेन शनिदेवसम्बन्धिज्योतिषविषयक विचाराणां विमर्शः कृतः। प्रायशः सम्पूर्णस्तवे आचार्यरघुनाथशर्मणा कुण्डलीविज्ञानमाधारितं शनिसम्बन्धी शुभाशुभफलनिर्णयः कृतो वर्तते।

कुण्डल्यां चन्द्रमसः शनिस्थितिः क्रमशः प्रथमभावतः द्वादशभावपर्यन्तं यत्किमपि भवेत् तस्य फलश्रुतिः कविः श्रीशर्ममहाभागः स्तवेऽस्मिन् वर्णितवान्। कविः कथयति यत् यदा चन्द्रात् तृतीयभावगते शनिः अपत्यप्राण हर्ता भवति। जातकस्य बहुकन्याजन्मयोगो भवति। एवमेव यदि चन्द्राच्चतुर्थभावगः शनि महापौरुषकृद् शत्रुमर्दनक्षमः भवति, इत्यनुसृत्य उद्धृतं पद्यद्वयं कविना दृष्टव्यम्।

तद्यथा

चन्द्रात् सहजगो यश्च बहुकन्याजनुष्करः।
अपत्यप्राणहरणः तस्मै देवाय ते नमः।।[8]

एवञ्च–

चन्द्राच्चतुर्थगो यश्च महापौरुषकृद् भवेत्।
शत्रुमर्दनदक्षश्च तस्मै देवाय ते नमः।।[9]

एवमेव शनिस्तवस्य अग्रिमपद्यानामनुकरेण ज्ञायते यत् चन्द्रात् शनेः भावगतफलं कथं भवति इति। कविमहोदयः वर्णयति यत् चन्द्रात् क्रमशः प्रथमद्वितीयतृतीयषट्अष्टौनव एकादशद्वादशभावेषु यदि शनिः स्थितो भवेत् तर्हि जातकविशेषस्य बन्धु-अर्थ सन्ततिहानिः च भवति। जातकोऽयं पितरोः कृते कष्टप्रदः तथा भिक्षुकः निर्धनो धर्मशून्यश्च भवति। एतदतिरिच्य शनेर्भावस्थ दृष्टिफलं शुभं भवति। जातकः अरिमर्दनदक्षः महाधर्मी, धनपूरितः, प्रियवादिनीभार्या संयुतः अपि च नृपतुल्यो भवति। कविना लिखितपद्येषु पद्यमिदं प्रस्तूयते यस्मिन् कथयति कविर्यत् चन्द्राद् दशमगे शनिः जातकं नृपतुल्यं कारयति। सः धनपूरितो भवति, इत्येतद् पद्यं दृष्ट्व्यम्–

चन्द्राद् दशमगे यस्मिन् प्रसन्ने सूरसम्भवे।
नृपतुल्यो भवेद् देही कृपणो धनपूरितः।।[10]
तस्मै द्वादशदेहस्य परमोदप्रदायिने।
शनैश्चराय देवाय नमस्कुर्मे निरन्तरम्।।[11]

उपर्युक्तपद्येन कविरघुनाथशर्ममहाभागः द्वादशभावेषु संचरितं शनिदेवं नमस्करोति निरन्तरम्। कुण्डल्यां द्वादश भावाः सन्ति। भावस्थगृहाणां निजगृहे मित्रगृहे च स्थितिवशाद् तथा च स्वोच्चनीचराशिगतत्वाच्च शुभाशुभफलं कथ्यते। स्तोत्रेऽस्मिन् फलितज्योतिषमनुसृत्य कवि श्रीरघुनाथमहाभागेन तन्वादिद्वादशभावेषु भानुजस्य प्रभावो विस्तृतरूपेण उल्लिखोवर्तते। कविर्लिखति यत् यदि पञ्चमभावे शत्रुगेहस्थः भानुनन्दनः पुत्रार्थहानि एवञ्च दुःखकारको भवति, सोऽपि शनिः यदि पञ्चमभावे भावेश उत् उच्चराशिस्थः उत् मित्रगृहैः सह युक्तो भवेत् तदा उतमसन्ततिसुखकारको भवति। उपर्युक्तशनिप्रभावः कविना निम्नलिखितश्लोकद्वये प्रस्तुतः, तद्यथा–

'भावे पञ्चमे भानुनन्दनः शत्रुगेहमः।
पुत्रार्थहानिं दुःखञ्च यो विद्यते शनैश्चरः।।'
निजे तुंगे मित्रेगृहे तोकं स्तोकं ददाति यः।
तस्मै देवाय शनये नमोऽस्त्वदभूतकर्मणे।।[12]

अग्रे भानुनन्दनशने सूर्यादिग्रहैः सह युतिफलं वदति कविः यत् यदि लग्नकुण्डल्यां शनैः रविचन्द्रभ्यां सह युतिर्भवेत् तर्हि जातकः धार्मिकः सुकर्मरतः धनहीन भवति इति पद्येऽस्मिन् द्रष्टव्यम्–

यस्मिन् रविशशांकभ्यामेकस्थाभ्यां समन्विते।
धार्मिको धनहीनश्च राजाश्वपरिपालकः।।[13]

अपि च

यस्मिन् शुक्रेन्दुसंयुक्ते लिपिकर्ता च वेदवित्।
पुरोहितकुलोत्पन्नो भवेत् पुस्तकवाचकः।।[14]

उपर्युक्ते पद्येऽस्मिन् आचार्यरघुनाथमहाभागः कथयति यत् मार्तण्डसुतः शुक्रन्दुसंयुक्तो भवेत् तर्हि जातकः वेदवित्, लिपिकर्ता (लेखकः) पुरोहित कुलोत्पन्नो च भवति अर्थात् स कर्मकाण्डरतो उत् लेखको भवितुं शक्नोति इति।।

ज्योतिषशास्त्रे शनिः क्रूरसंज्ञकग्रहो मन्यते। तथापि सर्वदेव अनिष्टकारको भवति शनि एवं नास्ति। शुभसंयोगेन शनिर्दशा शुभफला भवति। शनेः सार्धद्विवर्षीयादशा भवेत् उत् सार्धसप्तवर्षीया दशा भवेत्, यदि शनिः गोचरे उच्चस्थः स्वग्रही-मित्रगृहस्थो वा भवति तदा आनन्ददायको सर्वसिद्धिकारकश्च भवति इत्यत्र न संशयः। उदाहरणस्वरूपेण कविनोक्तं पद्यमिदं द्रष्टव्यं यस्मिन् कविः कथयति यत् कुण्डल्यां शुक्रगुरुभ्यां सह शनियुतिः भवेत् तर्हि जातकः नीचकुलोत्पन्नो भूत्वाऽपि कीर्तिमान् शीलवान् च राजा भवति,–

शुक्रेज्यसंगमे यस्य राजा भवति कीर्तिमान्।
नीचवंशेऽपि सम्भूतः शीलयुक्तो नृपो भवेत्।।[15]

शनिदेवस्य अर्कजः, भानुजः, शनैश्चरः, मार्तण्डजः, अहस्करवंशास्य वर्धकः भास्करात्मजः, रविनन्दनः, पद्मिनीपतिपुत्रः, हरिसंश्रयसूनुश्च इति विविधनामानि कविश्रीरघुनाथमहाभागेन सादरेण गृहीतानि सन्ति। आचार्य-रघुनाथशर्ममहोदयेन रचितशनिस्तवस्य अधीयाने सन्ति भवितव्यफलश्रुतिरुक्ता यत् यः कोऽपि स्तवस्यास्य पूर्णभक्तियोगेन पारायणं करिष्यति तर्हि शनिकृपादृष्टिपातेन तस्य कल्याणेन सह अभीष्टसिद्धिरपि अवश्यं भवतीति निश्चितमस्ति, पद्यमिदं द्रष्टव्यम्–

एतं स्तवमधीयाने शन्नो देवीरभीष्टये।
लोतु सततं देवः प्रवर्तयतु चार्कजः।।[16]

कविःकथयति यत् शनिदेवस्य आराधनया भगवतः शुभदृष्टिर्पतति जीवने। शनिदेवस्य प्रसादत्वेन पातुं जलप्राप्तिः सूर्येण सह मैत्री, अपि च कल्याणकारिणी सुधावृष्टिर्भवति। शनेरनुकूलत्वेन सम्पूर्णप्रकृतिरियम् अनुकूला जायते। न केवलं जगत्सर्वमपितु ब्रह्माण्डे संचरिताः ग्रहाः अपि शुभवहाः भवन्ति। जनाः धनधान्य समेधिता सन्ततिसुखेनावृन्ता च भवेयुः लोकेऽस्मिन् इति कामयते आचार्यः कवि श्रीमद्रघुनाथमहाभागः। स्तोत्रस्यास्य अन्तिमपद्यद्वये कवेः मंगलकामना द्रष्टव्या, तद्यथा–

शनि प्रसादात् सततमापो नस्सन्तु पीतये।
शयोमित्रादभिगता नः स्रवन्तु सदा सुधाः।।[17]

तथा च

शनि प्रसादान्नस्सर्वे ग्रहास्सन्तु शुभावहाः।
गृहाश्च प्रजयाऽऽकीर्णा धनधान्यसमेहिताः।।[18]

सन्दर्भाः–

1. सूर्यस्तवः, श्लोक सं. 105
2. शनिस्तवः, श्लोक सं. 1
3. शनिस्तवः, श्लोक सं. 2
4. शनिस्तवः, श्लोक सं. 94
5. शनिस्तवः, श्लोक सं. 98
6. शनिस्तकः, श्लोक सं. 5
7. शनिस्तवः, श्लोक सं. 7
8. शनिस्तवः, श्लोक सं. 74
9. शनिस्तवः, श्लोक सं. 13
10. शनिस्तवः, श्लोक सं. 14
11. शनिस्तवः, श्लोक सं. 23
12. शनिस्तवः, श्लोक सं. 27
13. शनिस्तवः, श्लोक सं. 37-38
14. शनिस्तवः, श्लोक सं. 55
15. शनिस्तवः, श्लोक सं. 69
16. शनिस्तवः, श्लोक सं. 81
17. शनिस्तवः, श्लोक सं. 104
18. शनिस्तवः, श्लोक सं. 105
19. शनिस्तवः, श्लोक सं. 106

वैदिकवाङ्मये काव्यत्वम्

प्रकाशरंजनमिश्रः

वैदिकवाङ्मयस्य पद्येषु गद्येष्वपि सौष्ठवं वैलक्षण्यञ्च प्राप्यते।

वैदिकाः ऋषयः मनोभिलषितभावाभिव्यक्तीकरणे पटव आसन्। यत्र तत्र अन्तर्भावानाम् अभिव्यक्तिहेतवे अलङ्कारविधाने अपि ते पराङ्मुखा नाऽऽसन्। उपमायाः काव्यसंसारे पूर्वावतारस्तावदेव प्राचीनोऽस्ति यावत्कवितायाराविर्भावः। आनन्देन सिक्तहृदयकवेर्वाणी उपमाऽलङ्कारेण स्वात्मानं विभूषयितुं कोमलोल्लासस्य तथा मधुमयानन्दस्य च बोधं करोति। प्रसङ्गानुकूलालङ्काराणां प्रयोगे ऋषिः स्वीयां सूक्ष्ममर्मज्ञतां प्रकाशयति। स तानुपयुज्य प्रचुरतरपदविभाव्यं वक्तव्यं परिमिततरपदेष्वेव प्रकटीकर्तुं सदवसरं सरलतयैव हस्तगतं करोति। वैदिकवाङ्मये व्यर्थमेवालङ्काराणामुपयोगो न दृश्यते। अतः सा स्फुटचन्द्रतारका विभावरीव विभाति। तत्रानुप्रासच्छटा, उपमावैभवता च अनायासेनैव च समागतास्ति। उत्प्रेक्षा दृष्टान्तार्थान्तरन्यासादिका अलङ्काराः वैदिकऋषेः बहुश्रुतत्वं व्यापकदृष्टित्वञ्च प्रकटयन्ति।

वैदिकवाङ्मयस्य उपमानां रसात्मकत्वात् रसरमणीयत्वम् अतितरामेव च मर्मस्पर्शित्वमवलोक्यते। औचित्ये सन्दर्भे च शोभायाः समुत्पादनस्य कला तासु नितान्तम् अभिनन्दनीयास्ति। स्वानुभूतिषु तीव्रता आनयनाय तथा तां सरलतया सहृदयहृदयपर्यन्तं सम्प्रेषणाय कवेर्वाणी येषाम् अन्तरङ्गमधुमयकोमलसाधनानाम् उपयोगं करोति, अलङ्कारस्तु तेषामेवान्यतमरूपमस्ति। एवंविधस्य काव्ययुगस्य कल्पनाऽपि अशक्या, यासु भावभङ्गीषु कोमलविलाससञ्चारहेतवे कस्यापि प्रकारकस्य साम्यविधानस्य आश्रयो न भवति। अत एव वैदिकमन्त्रेषु अलङ्काराणां, विशेषतः औपम्यगर्भालङ्काराणां विधानोपरि आलोचकाः विस्मयान्तःकरणाः भवन्ति।

वैदिकसूक्तेषु नानादेवताभिः यज्ञे समागमनाय, भौतिकसौख्यसम्पादनाय, आध्यात्मिकान्तदृष्ट्युन्मेषणाय च बहुविधेषु छन्दःसु प्रार्थना कृताऽस्ति। तासां रूपाणां भव्यवर्णनं कवेः कलायाः विलासमेवास्ति। प्रार्थनावसरे तेषां पवित्रभावानां कान्तभावनानाञ्च रुचिराभिव्यञ्जना अपि अस्ति। व्यङ्ग्यार्थविलसितानि व्यञ्जकपदावलि-पेशलानि च वाक्यानि विद्यन्ते। परमोच्चविचारबन्धुरोऽस्ति वैदिकऋषिः। न तस्मै जीवनस्य कलारहितत्वं रोचते। स जीवनं कलासु कुशलं द्रष्टुमनाः। तद्विचारेण जीवनं तदेव यत्र कलाः विलसन्ति। वेदेषु विराजमानाः कलाः स्फुटतयैव बोधयन्तीदं यत्, स कलाकलितमेव जीवनं सम्भावयति। वेदवेदाङ्गेषु क्वचिद् उषाविषयकमन्त्रेषु सौन्दर्यभावनायाः आधिक्यं परिस्फुरति तदा क्वचिद् इन्द्रविषयकमन्त्रेषु तेजस्वितायाः प्राचुर्यं परिलक्ष्यते। यद्यग्नेः रूपवर्णनप्रसङ्गे स्वभावोक्त्याः आश्रयो वर्तते, तर्हि वरुणस्तुतौ हृद्गतकोमलभावनायाः माधुर्यस्य अभिव्यक्तिरस्ति। 'उत त्वः पश्यन् न ददर्श वाचं, जायेव पत्ये उषती सुवासा'। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादिकानि सन्त्यनेकानि वाक्यानि, येषां भावान् न साहित्यशास्त्रान् अभिज्ञो ज्ञातुं प्रभवति, अथ च यो जनः साहित्यशास्त्रे निष्णातो नाऽस्ति स व्यञ्जनाप्रतिपाद्यमानान् वैदिकार्थानपि नावबोधुं शक्नोति। अनेन प्रकारेण वैदिकमन्त्रेषु काव्यगतगुणानां पर्याप्तदर्शनं काव्यजगतः न काऽपि आकस्मिकी घटना वरीवर्ति। तन्मयतायाः अनन्यतायाश्चेदं

विशदपरिचायकं चिह्नमस्ति, भावानां सहजा सरला चाभिव्यक्तिरस्ति। वेदेषु एतेषां विशालं साम्राज्यमस्ति।

रसविधानम्–

ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु अनेकरसानां मनोमुग्धकरं संविधानकमस्माकं मनसः प्रधानाकर्षणमस्ति। वैदिकऋषेः मनोगतभावानां सरलनिदर्शनमेतेषु मन्त्रेषु समुपलब्धं भवति। फलतोऽत्र रसानां सङ्केतः स्वाभाविकोऽस्ति। इन्द्रस्तुतौ वीररसस्य अभिव्यञ्जना स्वकीयभव्यरूपेण उपस्थिता भवति। दाशरात्रसूक्ते वसिष्ठेन राज्ञः दिवोदासस्य तथा तेषां प्रतिपक्षिणां सङ्घर्षस्य वर्णनं कृतम्।

गृत्समदऋषिः इन्द्रस्यानेकासु स्तुतिषु इन्द्रस्य वीरतायाः विशदं सङ्केतं करोति –

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासोऽयं युष्यमाना अवसे हवन्ते!
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत स जनास इन्द्रः।।[1]

इन्द्रं विना न कोऽपि मानवो विजेतुं शक्नोति। योद्धारो जनाः आत्मरक्षार्थं तमेवाह्वयन्ति। विश्वस्मिन्नसौ श्रेष्ठतमोऽस्ति। अच्युतान् च्यावयत्यसौ। यतो ह्यसौ शौर्यस्य वीर्यस्य च प्रतीकोऽस्ति।

कवेर्लेखन्याः प्रभूतबलशालिनीत्वात् तस्या एकैकं पदं बहुकार्यसम्पादनकारी सिद्ध्यति। अत एव एतस्मान्मन्त्रान्न केवलम् अप्रस्तुतविधानसौन्दर्यं दृक्पथे अवतरति, अपि तु ओजसश्छटारीतेः प्रकर्षः पूर्णोपमाप्रस्तुतप्रशंसा तदुणाख्यानाम् अलङ्काराणां कान्तिश्च सम्यक् पाठकानां चेतांसि आकर्षयन्ति युगपदेव। अहो! ऋषेरत्र सर्वे प्रयासाः वीररसमेव परिपोषयन्तो दृष्टाः भवन्ति।

शृङ्गारस्य उपयोगः–

सर्वेषामपि सुधियामिदं तथ्यं सुविदितमेव यत् सौन्दर्यमेव काव्येषु 'रस' इत्येतेन नामधेयेन विश्रुतम्। कविस्तमेव साधयितुं काव्यं कवयति। मङ्गलानां विधानं स रसः शृङ्गारकरुणादिभेदेन नवविधतां भजते। नवस्वपि रसेषु शृङ्गारो नाम रसो रसराज इति प्रायः सर्वेऽपि साहित्यशास्त्रिणः स्वीकुर्वन्ति। यथा त्वरया स मानसं मथ्नाति, मदयति, चपलयति च, तत्तथा नान्यस्तस्मात् स रसेषु श्रेष्ठो रसो मतः। संयोग–विप्रलम्भभेदेन सो द्विविधः।

उभयोरपि भेदयोः विप्रलम्भः शृङ्गारो मधुरतरः। तत्र चेतसो द्रुतीकरणक्षमता अतितरां तरस्विनी भूत्वा विभाति, तस्मात्ततः परं मधुरिमाणं न कोऽप्यन्यो रसो विन्दति।

ऋग्वेदस्य अनेकेषु सूक्तेषु शृङ्गाररसस्य अपि भावनायाः रोचक उल्लेखो लभते। एकस्मिन् सूक्ते पुरूरवा–उर्वश्योः प्रणयप्रसङ्गे विरहखिन्नस्य नायकस्य कथने विप्रलम्भशृङ्गारस्य सङ्केतो लभते –

'इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे ऋतौ विदविधुवन्नोरा न मायुं चितयन्त धुनयः।।'[2]

शृङ्गाराभासस्य अपि सङ्केतो यम–यमीसूक्ते[3] उपलब्धो भवति। यत्र यमी निजभ्रात्रा यमेन प्रणय–याच्ञां करोति। यमस्तु तस्याः प्रलोभनेन आत्मानं संरक्षति।

अलङ्कार–विधानम्

ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु अलङ्काराणां छटा स्वीयां सूक्ष्ममर्मज्ञतां प्रकटयति। एते अलङ्काराः स्वतः आविर्भूता

अलङ्काराः सन्ति। वैदिकाऽलङ्कारेषु यत्सौष्ठवं यत्पाटवं, यदार्जवं शोभते न तदन्यत्र प्राप्यते ! वैदिकऋषिः कविष्वस्ति कविः। वैदिकमन्त्रेषु प्रयुक्ताऽलङ्काराः सौन्दर्यस्य कोमलां भावनां सम्यग् अभिजानात्येव न, तत्प्रकटीकरणेऽपि ते परमप्रवीणाः सौन्दर्याभिव्यक्तीकरणे तेषां सरलभावना दृश्यते। एते अलङ्काराः कविकथनं प्रभावशालीकरणे, प्रतिपाद्यविषयाणां रोचकचित्रार्पणे, हृदयगतभावम् आवर्जयितुश्च सर्वथा समर्थाः सन्ति। रूपकन्तु वेदस्य कश्चन प्रशंसनीयो बहुलप्रयुक्तालङ्कारोऽस्ति। वेदानां शैली एव रूपकमयी वर्तते। सुष्ठूपमानाम् एका सन्ततिः ऋग्वेदीयमन्त्रेषु उल्लसिता भवति।

अन्यालङ्कारेषु अतिशयोक्ति-व्यतिरेक-समासोक्त्यादीनाम् अनेकेषाम् अपि अलङ्काराणाम् अत्र दर्शनं भवति। ऋग्वेदीय-कवेः उपमा अतिप्रियोऽलङ्कारः इति प्रतीयते, यस्य शृङ्खलाऽतीव चारुतया विन्यस्ता कृताऽस्ति-

'अधातेद पुंस एति प्रतीची गर्ता रुगिव सनये धनानाम्।
जायेव पत्य उशती सुवासा उषा होतः निरिणीते अप्सा।।'

उषा कदाचिद् भ्रातृहीना भगिनीव स्वदायभागम् अवाप्तुं पितृस्थानीयसूर्यस्य पार्श्वे समायाति, कदाचित्सुवस्त्रं धारणं कृत्वा पतिं स्वानुरागरज्जौ संयमनाय कमनीया कामिनीव स्वपत्युः सम्मुखे निजसौन्दर्यं प्रकटीकरोति।

वैदिककविः स्वोपमानं सञ्चयितुं पार्श्ववर्तिनः पशुजीवनस्य अपि अवलम्बनं करोति। सायंकाले गोचरभूम्यां प्रत्यागतानां गवां दृश्यस्तमतीव प्रियोऽस्ति। इन्द्रस्तुतौ[4] आङ्गिरसहिरण्यस्तूपऋषेरुक्तिरियमस्ति यत्, त्वष्ट्रानिर्मितेन स्वरयुक्तवज्रेण यदेन्द्रः पर्वताश्रितं वृत्रं जघान तदा रम्भणं कुर्वन्ती समागतानां गवाम् इव जलानि समुद्रम् अनुजग्मुः-

'अहन्नहिपवते शिश्रियाणां त्वष्टास्मै वज्रं स्वयं ततक्ष।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अजः समुद्रमवजग्मुरापः।।[5]

अत्रत्या उपमा तत्सर्वमपि अतितरामेव समीचीनतया प्रकाशयन्ती लक्ष्यते, यन्निखिलं विशालैका पदपतरपि नैतावत्या ललिततयाऽऽविर्भावयितुं सक्षमा अस्ति। 'वाश्रा धेनवः' इत्यनेन पदेन वत्सदर्शनाऽऽकुलिताभिः नदन्तीभिः धेनुभिः सह वृष्ट्याः साम्यं कृत्वा वैदिकऋषिः वेदपाठकानामग्रे वृष्ट्या आक्ष्यर्थवत्वं झञ्झावातेन सह वर्षणत्वं समुद्रं प्रति वेगेन प्रवहणशीलत्वं त्वरित्वञ्च अनेकविधस्थितेः अलङ्घ्यत्वञ्च इत्यादि बहून् भावान् समुपस्थापयति। हृदयवृत्तीनां मार्मिकाभिव्यक्तये वरुणसूक्तानाम् अनुशीलनं विशेषेण सहायको भवति। महर्षिणा वसिष्ठेन एकस्मिन्नितान्त-भावप्रवणसूक्ते स्वकीयाराध्यदेवं वरुणं प्रति स्वकीयं कोमलोद्गारं प्रकटितम्। ऋषिः असौ आत्मानं पृच्छति - कदाऽहं वरुणेन सह मैत्रीमाप्स्यम् ? क्रोधरहितो भूत्वा प्रसन्नचित्तेन वरुणः कदा मद्दतं हविष्यं ग्रहीष्यति? कदाऽहं प्रसन्नमनसा तस्य प्रसादं प्राप्स्यामि ? इति।

उतस्वया तन्वा संवदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि।
किं मे हव्यमहणानो जुषेत कदा मृडीकं सुमना अभिख्यम्।।[6]

विदुषां मीमांसया वरुण-कोपेन यदा सः अवगतो अभवत्, तदा सः कथयति- हे देव ! पितृभिः कृतद्रोहान् अपेहि, तान् द्रोहान् विरोधान् च अपह्नियताम्, ये मया स्वशरीरेण कृताः। यथा पशून् अपहर्तारं चौरम् तथा रज्वा बद्धं वत्सं जनाः मुक्तं कुर्वन्ति, तथैव मम अपराधरज्वा बद्धं वसिष्ठम् अपि त्वं मोचय इति।

'अव दुग्धानि पित्र्या सृज्या नोऽव या वयं चकमा तनूभिः।
अव राजन् पशुतृपं न वायुं सृजा वत्सं न दाम्नो वसिष्ठम्।।[7]

आत्मसमर्पण-नम्रता-दीनता-अपराधस्वीकृत्यादिभिः भव्यभावनाभिः मण्डितं सूक्तमिदं वैष्णव-भक्तानां वाणीं सङ्केतयन्ति, यस्यां ते सहस्रापराधं कृत्वाऽपि भगवता सहात्मसात्कर्तुं याचन्ते।

सूर्योदयस्य दृश्यमपि तं प्रियमस्ति। अस्यापि वर्णनं बहुविधाऽलङ्कारमाश्रित्य कृतं तेन।। प्रभातवर्णनप्रसङ्गे सः कथयति यथा कोऽपि जनः कमपि चर्म नीत्वा जलाभ्यन्तरे स्थापयन्ति, तथैवोदिते सूर्ये तस्य किरणानि अन्धकारं नाशयन्ति-

दविध्यतो रश्मयः सूर्यस्य चर्मेवावाधुस्तमो अप्स्वन्तः।।[8]

रूपकाणामपि बाहुल्यम् ऋग्वेदस्य मन्त्रेषु उपलब्धमस्ति। सूर्य आकाशस्य स्वर्णिमो मणिरस्ति **(दिवो रुक्म उरुचक्षा उदेति)**[9]। सूर्यस्तु तद्रञ्जितप्रस्तरखण्डमस्ति यदाकाशे स्थापितमस्ति **(मध्ये दिवो निहितः पृश्निरश्मा)**[10]। अग्निः स्वप्रभया आकाशं स्पृशति। स्पष्ट एवास्ति यदेते मन्त्रा अतिशयोक्तिमूलकाः सन्ति। **(धृतप्रतीको बृहता दिवि स्पृशा)**[11] ऋग्वेदे अतिशयोक्त्या उदाहरणस्य प्रख्यातोऽयं मन्त्रोऽस्ति, सायणानुसारेण यस्मिन् यज्ञस्य अथवा पतञ्जल्यानुसारेण शब्दस्य अथवा राजशेखरानुसारेण काव्यस्य स्तुतिः कृता अस्ति-

चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासौ अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मृत्या आविवेश।।[12]

अपरमप्युदाहरणमस्ति -

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।।

सुष्ठुपक्षधरौ, सहवासिनौ, समानख्यातौ, द्वौ पक्षिणौ एकस्यैव वृक्षस्योपरि स्थितौ, तयोरेकः सुस्वादुफलं भक्षयति, अपरस्तु अभुक्त्वैव विराजमानोऽस्ति। अत्र पक्षीद्वयस्य उपमानेन जीवात्मपरमात्मरूपम् उपमेयस्य सर्वथा निगरणत्वेन अतिशयोक्तिरस्ति। उत्तरार्धे पक्षीद्वयस्य स्वभावे वैभिन्येन व्यतिरेकाऽलङ्कारस्यापि गूढः सङ्केतो दृश्यते। व्यतिरेकस्य अपरमपि उदाहरणमृतचक्रस्य वर्णनमस्ति- **'द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्तिं चक्रं परिधामृतस्य**[13]**।**

उपनिषत्सु अपि अनेकेषाम् अलङ्काराणां दृष्टान्ताः प्राप्यन्ते। कठोपनिषदि रथस्य रूपकं शरीरमस्ति।[14] ऋग्वेदे ऋतुवर्णनस्य अप्यनेके मन्त्राः सन्ति। पर्जन्यसूक्ते[15] वर्षायाः नैसर्गिकं वर्णनमस्ति। मण्डूकसूक्तेऽपि[16] वर्षाकालस्य एको रमणीयः दृश्योऽस्ति। अत्रैकस्य दर्दुरस्य शब्दं श्रुत्वा अपरोऽपि टरट्टरायते। ध्वनिरयं गुरुवचनं श्रुत्वा वेदध्वनिकतॄणां शिष्याणां पाठध्वनिरिव प्रतीतो भवति -

'यदेषामन्यो अन्यस्य वाचं शात्तस्येव वदति शिक्षमाणः।

सर्वं तदेषां समृधेव पर्व यत् सुवाचो वदतनाध्यपप्सु।।5।।'

अनेन प्रकारेण वेदेषु अलङ्काराणां प्रभाऽऽलोचकानां दृष्टिं बलादाकर्षति।

सौन्दर्यपरिकल्पना उषादेव्याः समुपलब्धानि सूक्तानि काव्यदृष्ट्याऽपि नितान्तानि सरसानि सहजानि भव्यभावमण्डितानि च सन्ति। प्रभाते अरुणिमामण्डितं, सुवर्णच्छटाविच्छुरितं प्राचीनभोमण्डलं सर्वेषां ध्यानाकर्षणं करोति। वैदिकऋषिः तत्सौन्दर्यप्रेमपूरितदृष्ट्या एव पश्यति।

'कस्यचन पदार्थस्य सम्यग्विलोकनं कृत्वा तस्य स्वाभाविकतया यद् यथायथवर्णनं, तदेव कलायाः उत्कृष्टत्वं स्मृतम्'। यद् रस्किन आह, तद् वैदिकऋषेः प्रकृतिवर्णने कृत्स्नतया अन्वर्थी भवति। तदीये प्रकृतिवर्णने, उषादेव्याः सौन्दर्यकथने च तस्य निरीक्षणनूतनता सहृदयताया उदात्तता, कल्पनाया अभिनवोन्मेषो च विद्योतते। तत्प्रकृतिश्रियस्तस्य प्रकृतिजनन्युत्सङ्गे शैशवादेव क्रीडनं बद्धनश्च वेदयन्ति। अतः उषावर्णने प्रकृतिलक्ष्मी तथा विराजते यथा मणिमालायां स्वर्णसूत्रम्। उषा केवलं बाह्यसौन्दर्यस्यैव प्रतिमा नास्ति, प्रत्युत् सा कवये आन्तरिकसुषमाया अपि प्रतिमूर्तिरूपेण अवस्थिताऽस्ति। पद्मिन्युपमितत्वात्तस्याः सुकोमलत्वं कृशाङ्गत्वं सितत्वस्पर्शसुखत्वादिकश्च कियन्मनोज्ञभावेन पाठकस्य पुरतः समुपस्थितं भूत्वा तन्मनो नन्दयन्तीहेत्यपि ध्यानं कर्षयति।

वैदिकऋषेः प्रतिभाचातुरी उषादेव्याः चरित्रचित्रणे अपि सर्वथैव कुशला। अतः कविः अत्र उषादेव्याः यच्चरित्रं चित्रयति, तत्सजीवतां प्राप्य हृदयावर्जकं च जायते। अत एव कविः कथयति- 'हे प्रकाशवति उषे! त्वं कमनीया कन्या इव अत्यन्ताकर्षणमयी भूत्वा। अभिमतफलदातुः सूर्यस्य पार्श्वे गच्छति तथा तत्र तत्सम्मुखे स्मिताननां तरुणीव स्ववक्षम् अनावृत्तं करोति।' उक्तश्च -

'कन्येव तन्वा शाशदानां एषिदेवि देवमियक्षमाणम्।

संस्मयमाना युवतिः पुरस्तादाविर्वक्षांसि कृणुसे विभाती।।[17]

अत्र कवेर्मानवीकरणस्य भावना अतिप्रबलाऽस्ति। अत्र उषादेव्याः कुमारीरूपस्य कल्पना वर्त्तते। स्मितवदनायाः तस्याः सुन्दरस्वरूपं प्रकटयति। युवतिकन्यायाः कल्पना, सूर्यस्य समीपगमनस्य भावना कवेः व्यापकदृष्टित्वं ज्ञापयति। उषादेव्याः उपरि कृतान्या कल्पनाऽपि तथैव दृग्गोचरी भवति, उषा स्वप्रकाशेन संसारं तथैव संस्कृतं करोति, यथा कोऽपि योद्धा स्वं शस्त्रं घर्षयित्वैव तं संस्करोति। यथा–

'अपेजते शुरो अस्तेव शत्रून् बाधते तमो अजिरा न बोलहा।'[18]

उषा स्वप्रकाशं तथैव प्रसारयति, यथा गोपाः गोप्रचारभूमौ स्वकीयाः गाः प्रसारयन्ति अथवा काऽपि नदी स्वजलानि प्रसारयति–

'पशून्न चित्रा सुभगा प्रथाना सिन्धुर्नक्षोद उर्विया व्यश्वैत।'[19]

उषा प्रतिदिनमुदेति इति तस्याः अमरत्वस्य उद्घोषणाऽस्ति -

'उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्य मृतस्य केतुः।।'[20]

नित्यं प्रति उषादेव्याः आगमनं चक्रावर्तनमिवास्ति, येन प्रकारेण चक्रं सदैव आवर्तितं भवति, तथैव उषाऽपि स्वावर्त्तनं करोति।

'सामानामर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्यावृत्स्व।।[21]

एतेषु उदाहरणेषु उपमायाः विधानम् उषादेव्याः रूपभावना तीव्रयितुं प्रयुक्तमस्ति।

उषाविषयकमन्त्राणाम् अनुशीलनेन वैदिकऋषीणां प्रकृतिं प्रति उदात्तभावना ज्ञातुं शक्यते। प्रकृतिचित्रणं प्रकारद्वयेन भवितुमर्हति। (1) अनावृतं वर्णनम् (2) अलङ्कृतवर्णनम्।

प्रकृतिवर्णनम्–

(1) अनावृतं वर्णनम् – अर्थात् प्रकृत्याः स्वतः आलम्बनत्वेन वर्णनम्, यत्र प्रकृत्या नैसर्गिकमाधुर्यं कविहृदयमाकृष्टं करोति तथा स्वकीयेन आनन्देन कविमानसञ्च तोषयति।

(2) अलङ्कृतवर्णनम् – अलङ्कृतवर्णने प्रकृत्यास्तथा तासां व्यापाराणां मानवीकरणं भवति।प्रकृतिः सचेष्टं भूत्वा चैतन्यप्राणिनामिव नानाविधानां व्यापाराणां सम्पादनं करोति। सा कदाचित् स्मितवदना कुमारी इव दर्शकानां हृदयमाकृष्टं करोति, कदाचित् उग्ररूपेण भीषणजन्तुवत् जनानां हृदये भयं, क्षोभं च समुत्पादयति।

वैदिककवेः अस्याः द्विविधायाः भावनायाः स्फुटनिदर्शनम् उषया सह सम्बद्धभावनायां प्राप्यते। प्राच्यां प्रभाते कोमलारुणाभम् उषायाः स्वरूपं दृष्ट्वा वैदिककवेः हृदयम् आनन्देन पूरितं भूत्वा कथयति –

'उषो देव्यमा विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती।
आत्था वहन्तु सुयमासो अश्वाः हिरण्यवर्णा पृथुवाजसो ये'।।[22]

हे प्रकाशमयि उषे ! त्वं सुवर्णरथे आरूढा भूत्वा अमरणशीलत्वेन दिव्या तवोदयकाले खगाः श्रुतिमधुरं कलरवं कुर्वन्ति। हिरण्यवर्णाः, सुशिक्षिताः, सुदर्शनाश्वाः पृथुबलेन त्वां वहन्तु।

अलङ्कृतवर्णनावसरे उषायाः मनोमुग्धकररूपस्य, व्यापारस्य च हृदयरञ्जकं वर्णनमस्ति–

'जायेव पत्या उशती सुवासा उषा हसेव निरिणीते अप्सः।।[23]

अत्र कविः नार्यः कोमलहृदयस्य स्पर्शं करोति। नारीजीवनं प्रेम्णि स्थितम्। प्रेम प्रकृत्यामपि प्राणप्रदां शक्तिं सञ्चारयति। तेन तज्जीवति, श्वसिति, वर्धते च। जीवनस्य मूलभूतं लक्ष्यम् एव वर्तते नारीप्रेम। न केवला नारी प्रत्युत् नारीनरावुभावपि तदपेक्षिणौ स्तः। वैदिककविः उषाचरित्रेण तस्या रूपवर्णनेन च मानवजीवनस्येदं प्रधानं तत्त्वं सर्वेष्वपि मानवेषु उच्चैः संवृद्धिमासादयद् विलोकयितुमाकाङ्क्षति। स इच्छति यज्जीवनं प्रेम्णा पावनं भवेत्, तत्तदनुग्रहेण अनुगृहीतं स्यात्। न स तत् प्रेम प्रेम इति पुनीतेनाभिधानेन व्याहर्तुमीष्टे यद् अनाचारदोषेण दूषितं स्वार्थविशेषसम्पृक्तं वा विद्यते। तस्मात् सपूतप्रेमपेशले जीवने महतीमेव श्रद्धां निदधाति। कविः प्रेमव्रतरक्षके जीवने इत्थमुक्तैः सन्दर्भैः निश्चप्रचयिदं वक्तुं शक्यते यद् वैदिकवाङमयं यथा अनेकसंशयोच्छेदिपरार्थगमकत्वात् शास्त्रमित्यन्वर्थामभिख्या बिभर्ति तथैव काव्यत्वनिकषेऽपि वाङ्मययिदममृतमयं किमपि दिव्यं सौन्दर्यं विदधाति।

संदर्भः–

1. (ऋग्वेद 2।।12।।9)
2. (10।।15)
3. (10।।10)
4. (1।।32)
5. (ऋग्वेद 1।।32।।2)
6. (ऋ. 786)
7. (ऋग्वेद 7।।86।।।2)
8. (ऋग्वेद 7।।86।।5)
9. (ऋग्. 4/13/4)
10. 7।।63।।4
11. 5।।47।।3
12. 5।।1।।।1
13. (ऋग. 4/58/3)
14. (ऋग्वेद 1/164/11)
15. (1।।3।।3)
16. (5।।83)
17. (7।।10 3)
18. (ऋग्वेद 1।।123।।10)
19. (ऋग्वेद 6।।64।।3)
20. (ऋग्वेद 1।।92।।12)
21. (ऋग्वेद 3।।6।।3)
22. (ऋग्वेदः. 3/6/3)
23. (ऋ. 3।।61।।2)
24. (ऋग्वेदः .. 1/92/)

सहायकाचार्यः (वेद-विभाग)
केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुर-परिसरः, जयपुरम्

How Far the campaign of women empowerment has really empowered women?

Dr. Laxmi sharma

The World in recent times has seen a rapid growth in all the spheres, be it social, economical or Political. Countries have tried and been continuously trying to pull themselves up from the various stigmas, the society has suffered for years. In such a quest to aim perfection 'empowerment' has come up as the buzz word. "Women Empowerment; Reminder of the Day".

Empowerment is the process of providing equal opportunities and choices to the weaker sections of the society. It deals with the weaker social sections who were neglected in the past and did not get ample and equal opportunities to grow themselves at par with the stronger sections. 'Weaker sections' may include poor women, Dalits etc. The life of these people has always remained void of not only the basic facilities but also the meaningful choices. Empowerment hence also concerns with the measures which are taken by the various agents like government, civil societies and even the individuals to provide these sections with equal opportunities. The empowerment efforts deal with equity rather than equality. To make for the atrocities these sections have faced as it is said "Abla Nari theri yehi kahani, Aanchal mai hai doodh aur Aankho mai pani".

In the ancient part, women had been treated at per with men in Indian society. The early vedic period is a witness to the reputation head by the women in the society. The women were allowed to exercise a great freedom in the society. They were given the opportunities to study vedas and also to profess the same. They were allowed to do this without any restrictions. Women in the early vedic period were also treated equal by the parents. They were given legal rights over the property. The daughter could only loose the right over the parental property if she got married.

History has also seen eminent women personalities like Lopamudra, Maitri and Gargi. These women are still seen with great respect on the account of work they have done in the past.

The conditions of women started decreasing from the 500 BC with the arrival of Varna based system. All the equal rights given to women were ceased and heavy restrictions were imposed on them. They were not allowed to study and also lost all the legal rights on the Parental properties. Women were also forced in immoral

professions like prostitution. Afterwards, this shattered self esteem of the women and their journey of exploitation started.

With the breakdown of French Revolution, the dawn of their rise again began. Indeed, the rise of women started in the 18th century when a group of people revealed the need for a change.

In the beginning of 18th century, malpractices towards women like the Sati, dowry system were at its peak. Raja Rammohan Roy, Savitribai Phule, Jyotirao Phule etc. are the people known for their contribution in the field of women empowerment. People started realizing the importance of women in the society. After the First War of Independence, 1857 the society took inspiration from Rani Lakshmibai who single-handedly dare to fight against the Britishers. The society then started to realize the need to get rid of shacklement of the prevailing malpractices against women widow. Remarriage was made legal and purdha system also got banned. Mahatma Gandhi was always reluctant towards the participation of women in the movements and active politics. But the large participation of women in the Non-cooperation movement, Dandi March and Civil disobedience movement changed his perception as well. After that, Gandhiji also advocated for women empowerment. After Independence, women were given some active participation in the actions politics.

In 1960s and 1970s, the Indian visionaries realised the importance of women participation in the human resource development of the country. But a need was also there to get rid of the prevailing practices in the society. The patriarchal society in India did not allow a brisk rise of women. In 1961, the Dowry Prohibition Act was passed to abolish the practice of dowry.

The excellent participation of women in Chipko Movement realised then need for their political representation as well.

In the LPG (Liberalization, Privatization and Globalization) reforms of 1991, a large number of opportunities came up for the women. The LPG reforms facilitated the establishment of Multi National companies in India. This led to the flow of western world ideas to India where women enjoyed rights way better than India. The MNCs had almost equal rights for both men and women. This changed the perception towards women from a liability to an asset.

Urbanisation is seen to bring more opportunities for the women. Urbanisation is the function of Industrial development. Urbanisation has widened the opportunities for women : from MNCs (Multinational corporations) to teaching, barking etc. The work-population ratio of women in India has been on a constant rise of past LPG.

In Rural areas, women have formed various SHGs (Self help groups) for

faster development. 'Kadamba Shree', TANWA (Tamil Nadu women in Agriculture), etc. are in the progress which got worldwide acclamation for the efforts they made.

Women, though only govern four of India's political practices, have come a long way when it comes to political representation. From 1980-1985, 4.3% of candidates and 70% of the electoral races had no women at all. As of 2013, it has been reported of the member of parliament 11% were women in Lok Sabha and 10.6% in Rajya Sabha. In 2019, Lok Sabha's women representation increased to a highest of all time to 14%.

Despite of a great leap, women had taken to ensure their right, still a lot of challenges persist.

Even after so many amendments to the 1961 Dowry Act, there has been many cases of dowry like rape, sexual harassment, women trafficking etc. are always on the rise. Women with a good education and a financial base, are the only segment which bore the fruits of women empowerment. In rural areas the condition of the women is still a cause of major concern. The literacy levels in the rural areas are very low. Malpractices like the abortion of girl-child is also affecting the overall sex ratio of the country.

Government has come up with various policies and schemes like Beti Bachchao, Beti Padhao Yojna, Janani Suraksha Yojna etc. for the nurturing of women from the basics. The implementation of such schemes could not be ensured in the villages. The incidents of rape, domestic violence, etc. are prevalent and rising mostly in villages.

The political representation of women has increased but the increment is very low as compared to the women population. The women Representation Bill 2008, which demanded 33% representation of women in the LS and Legislative Assemblies is still in a dead lock. There has been only one women Prime Minister and only one President of India since Independence.

There is a need to take initiatives to catalyse the process of women empowerment. Firstly, The govt. should consider root-lines based schemes which should equally address the plight of rural women as it does to Urban women. Secondly, the male population should also be made aware of the contribution which can be made by women if empowered. Thirdly, the political representation of women should be at least 33% demanded by the women representation Bill, 2008. More initiatives like the Delhi Commission for women (DCW) should come up. Crimes against women must be dealt by the Fast-track courts and an effective and unbiased

decision should be given. Fake feminism which is prevalent now-a-days should also be encountered.

Hence, It can be said that women might have suffered from centuries but their conditions have definitely improved in the recent past, women who contributes to almost 50% of the total population should contribute equally in all social economic and political spheres. Government has continuously addressed the issues of concern and should also keep a close eye on the future as well. The contributions made by women in shaping the history are unmatchable. More and more awareness of women empowerment in the society will address this problem.

Asst. Professor
Modern Dept., CSU, Jaipur

Toy as a Myth in Roland Barthes' Toys

Dr. Kanta Galani

Abstract

"Toys" is one of the essays comprising Mythologies, regarding which Barthes explained: 'the starting point of these reflection was usually a feeling of impatience at the sight of the "naturalness" with which newspaper, art and common sense constantly dress up a reality, which even though it is the one we live in, is undoubtedly determined by history.' He uses the term 'myth' for the way cultural phenomena work to persuade people how social forces shaping them are in fact 'natural'.

In this sense, any aspect of modern culture functions as a myth—soap advertisement, wrestling matches, toys, women's magazines, and striptease shows. All these can be analysed as 'Texts' and all have an underlying ideology which Barthes brings out into the open. In 'Toys,' Barthes analyses the cultural significance of children's plaything.

KEYWORDS : Children, Toys, Future roles, Gender, playthings, Myths.

Myth means a belief or explanation that many people believe but it is actually untrue. Every society has its own system of beliefs, practices and traditions that contribute to regions that have stood the test of time highlighting their persistent hold on human imagination.

I have chosen the essay "Toys" from Barthes Book Mythologies, this essay analyses the denotation & connotation of children' playthings and what underlying message the playthings convey. He was the one of the first theorists to understand and assert these toys. Toys are pre-conditioning children to the specific gender roles that they will be expected to assume in later stages of their life.

He says that "All the toys one commonly sees are essentially a microcosm of the adult world" (Barthes1972,P.53), and that for instance a girl doll "means to Condition her to her future role as mother" (Barthes1972,P53).

This article proceeds to point out the unfairness of limiting the imagination of the children to the gender roles that they have to play in later stages of their lives. French toys are usually based on imitation; they are meant to produce children who are users not creators," (P-54) where toys are "microcosm" of life. Acc. to

Barthes, French toys are an illustration of the belief that children are a miniature reflection of adults. Barthes argues that toys offer too much direction to children in their play; they don't allow children to indulge in their own imagination.

Here I have analysed the element of language. Barthes uses the concept of language as a semiotic.The same approach was first used by Varda Leymore(1975). As indicated by Ferdinand Saussure (1949, P-100), signifiers (basic objects) are connected to signified (concept) by signification process—

Barthes's explanation of semiotics in a language goes beyond this. Acc. to him sign can take part in a new level of significance when sign becomes a signifier for a new signified at another level.

The basic level of signification or denotation as Barthes calls it can become the basic for another signification or connotation. To Bathes, this second level of meaning at the level of denotation is the mythological meaning or cultural association that underlies the primary linguistic meaning.

He names the language system that myth appropriates the "language-object", while myth itself is termed "meta language" i.e. that language which is used to structure and manipulate everyday language.

On the level of everyday land the signifier is the "meaning" but on the level of myth becomes the "form". The signified remains the "concept" in both cases that which is the "sign" on the first level, however, is equated to "significant" at the level of myth.

Barthes uses his linguistic analogy to provide insight to the inborn character of society & culture. It shows that Barthes has the view that language has dual functions-- one being the public view which is available for all to see in a social context and second is the psychological view that underlies within the public view and communicates the society's real message behind a public view.

The same system of denotations (sense) and connotation (implication) in the language analysis of the essay toys, where the everyday toys used for play by children is a denotation that is employed by the French society, acc. to Barthes to define gender roles for children.

As Barthes says in his essay "French toys: one couldn't find a better illustration of the fact that the adult French Man sees the child as another self. All the toys one commonly sees are essentially a microcosm of the adult world; they are all reduced copies of human objects, as if in the eyes of public the child was, all told, nothing but a smaller man, a homunculus to whom must be supplied objects of him own side".

So acc. to Barthes and what I think toys are objects that condition the uses for future roles and that predetermined our roles in the society in indirect way. So here it is a toy which is a myth. Because toys have certain associations with certain categories and people which are already fixed by the society and that is myth.

This theory acts as the connotation of the French society, that is the society, is sending an underlying message to the children in terms of their preparation for future roles in the society.

Barthes writes on how doll conditions little girls for example; "There exist, for instance, dolls which urinate, they have an esophagus (gut/food pipe) one gives them a bottle, they need their nappies soon, no doubt, milk will turn to water in their stomachs. This is meant to prepare little girls for the causality of house-keeping, to condition her to her future role as mother.

We apply this to games played in our modern society; we can immediately see that semiotics, as applied to ideology, might shed more light on the role that games play in our globalized society. We have assigned different roles to our children since their childhood though different child play different toys.

So in "Toys" Barthes portrays the effects and messages conveyed by the society to children by categorizing their play things, preparing them to follow their gender roles at a later stage in life. Hence Barthes uses semiotics for uncovering the underlying message of the society through innocent children's toys.

Myth here is categorized with the toys that certain toys for boys and another certain for girls so this is an old system or belief which we follow in any form may be.

Bibliography

* Sood, Vinay., et al. "The Individual Society." Pearson, 2011. PP 209.
* Barthes, Roland. "Toys and Gender." UMF English Dept., feb 17, 2017.
* Barthes Toys & gender, wordpress.com

Asst Professor
Dept of English, CSU, Jaipur

INFORMATION RESOURCES IN RAJASTHANI ARTS AND CULTURE FROM THE USERS PERCPECTIVE

** Sunita Pandey ** Dr. Shailendra Kumar

*Research Scholar, Department of Library and Information Science, University of Delhi. Email: sunita.pandey10@bhu.ac.in

**Associate Professor, Department of Library and Information science, University of Delhi. Email: shail3@yahoo.com

Abstract

Preservation and conservation of art and cultural heritage create awareness in people's mind for their heritage. This paper gives a brief introduction about the users of selected universities, Institutes and Museum Libraries, their area of specialization in Rajasthani art and culture, it also aims to add to understanding the information behavior of the faculty members and scholars of the selected institute's libraries and about the benefits and purpose of searching information. Various type of information resources, reference sources as well as problems and hindrance they face while searching them. The study also introduce the heritage collection in Rajasthan, the literature about the arts and culture of Rajasthan is available in different forms, different types of information resources used by users who come to library to search information on arts and culture of Rajasthan. The main purpose of this study is to examine the role of libraries to promote art and culture of Rajasthan as per the opinion of the users of the selected nine museum universities and institutions of Rajasthan.

Keywords: Information Seeking Behavior, Rajasthani Art and Culture, Cultural Library, User Satisfaction.

1. Introduction

'Art' is the medium to express the aesthetic ideas or purposes by the use of skills by the imagination to create an object, and experience that can share with others, a kind of narration of experiences with the help of different media whether it's a painting from the Renaissance or a modern sculpture item.

Culture represents a set of shared attitudes, values, goals, and practices. Culture and creativity manifest themselves in almost all economic, social and other activities. When people come together as learners under the aegis of a library or a museum, they get an opportunity to understand that cultural institutions (Departments and Centre of Universities, libraries, museums, centre of art and culture, archives) are grounded on the idea that a culture requires places, forums, workshops (where artists work) for cognitive change where ideas and imaginations get shapes.

2. Information Needs of Artists, Art Scholars and Art Historian

The literature describes the information needs of users searching information in Art and Culture as well as differentiate the information seeking behaviour of art faculty, art historians, art students and practicing visual artists. The literature noted how they are accessing information resources, especially in academic libraries. The role of information in the creative process as well as different artistic communities and varying information resources availability in the libraries is also evaluated.

Information behavior is an embedded assumption of the user oriented paradigm which focuses upon what people think, do and feel when they seek and use information. (Wilson 1981) In the recent article, Lo and Chu (2015) discussed the information seeking behavior and library usage of students at the Hong Kong Design Institute. The results revealed that the popularity of traditional printed materials is still high. The users found the library more suitable as not only the sources of accessing inspirational materials but also a useful place for social networking.

Budd (1989) have noted that researcher in humanities take more time in information seeking endeavour and prefer to make their own efforts to find their information themselves without taking help from library professionals. Visual artist's priorities are print media and most preferred format in the humanities is monographs as easy in retrospective conversion. In fine arts reference sources like encyclopedia, Janson's History of Art, Arnason's History of Modern Art find to be useful.

Research scholars initiate their research with standard books and handbooks, periodical, and articles are very valuable although indexing and abstracting sources are not widely used in visual arts. However, bibliographies, indexes, abstracts and other bibliographic tools are used by art researchers to look for relevant articles (Lonnqvist, 1990).

Art historians, ceramicists, members of digital arts and design programs, painters, photographers, printmakers, art therapists, art educator and sculptor use print media and internet as traditional print media is regarded a highly preferred source of inspiration with art journals, periodicals and auction catalogues (Larkin, 2010). Art

historians are dependent on their personal libraries, occasionally they use computerized databases and their bibliographies, general reference materials, indexes, image slides, digital images, photographs and photographic reproductions (Stam, 1984). Online sources are only preferred to reach on original print sources (Beaudoin, 2005). Younger artists may widely use the different information resources in comparison to their senior peers as well as electronic resources are more popular among the younger artists (Hemmig 2009) whereas emerging artists generally use same type of information sources as more established artists. Along with social networks they use traditional information sources and libraries (Mason and Lyn, 2010). Two basic reasons of the artists behind using books are, to obtaining technical information and to find inspiration, while artists are not bounded themselves only to the arts for searching information (Downey, 1993).

Hemmig (2008) found slight difference in artist, those who are associated with academic institutions and those who are not. Although the affiliated artists use the information sources more frequently adding social networks. Frank (1999) examined that student artists need materials to increase their subject knowledge, information resources to resolve their problems and finally most importantly, resources to 'inspire' the users Cown (2004) found that natural environment and artist's own work of art is the main source of inspiration for them. Although Walter (1991) found that very few bibliographic databases are related to visual arts like Wilson line, Art abstracts, Art index, RILA, Avery index to Architecture periodicals and some more specific for visual arts. Hence these online arts related databases have some difficulties as; limited subject coverage, poor retrospective indexing of documents, lack of regular updating and of coordination between services.

Mason and Robinson (2011) found that illustrators and fashion/textile designers were most likely to cite current trends and practitioners in their field as source of inspiration, and were also influenced by other periods in fashion and older styles of illustration. Painters, sculptors and other artists, those working in mixed media get inspiration from Nature, Anatomy and Natural H. Performance and installation artists appeared to be more engaged in current art writing and research as source of inspiration. At the end result shows that internet and the invisible community of practice are the most important resources for emerging artists.

3. Role of University, Museum and Cultural Centre Libraries

Museums are heart of culture and civilization. The primary function of museums, cultural centres comprises of collection, documentation, preservation, display and interpretation of material evidence and related information for the benefit of coming

generations. In a very precise way, university, museum and culture centre libraries acquire, books, journals and periodicals related to the field of history, art and culture of the world for specialized research and reference. It covers many disciplines like; Anthropology, Archeology, Conservation, Decorative Arts, History, Literature, Museum studied, Painting, Philosophy and Religion. University libraries serve academician, research scholars and students who are registered in different course works offered by the university.

4. Need of the Study

It is observed that the information behavior and practices in art scholars have been studied less in comparison to other academic disciplines. So that in the vast spectrum of Rajasthani art and culture, the need of evaluating and nurturing art and artists was prominently felt. This phenomenon find out the information seeking behavior of users of select institution libraries, which have apparently become the popular cultural destination and is giving a point of reference to the users of emerging art and cultural centers.

5. Objectives

The purpose of the study is to find the answers to the following questions:

- To know about the purpose of seeking information in Rajasthani arts and culture by the users of select libraries.
- To know about the sources to seek information resources in Rajasthani arts and culture.
- To highlight the problems and difficulties users faced while searching information resources in Rajasthani arts and culture.

6. Research Methodology, Scope and Limitations

The study used survey method with the help of questionnaire followed by interview of the library users to bring out the clarity to the study. Services offered by the select libraries have been analyzed by tabulated method on the basis of the data collected from the users during the survey.

In this study the term "Sources of information" is used for contents of the collections of a library which includes books, reference books, tourism related sources, photos books, journals, pamphlets, atlas and maps. Art and culture create the cultural heritage of the nation. The users of Nine major Universities, Institutes and Museum libraries of Rajasthan are selected for the study as these libraries are actively working and dealing with information resources in Arts and culture of Rajasthan which are as follows:

1. Albert Hall Museum, Jaipur (AHM established in 1957)

2. Banasthali Vidhyapeeth, Niwai Tonk (BV established in 1935)
3. Indian Institute of Craft and Design, Jaipur (IICD established in 1995)
4. Jawahar Kala Kendra, Jaipur (JKK established in 1993)
5. Maharaja Sawai Mansingh Museum II[nd], Jaipur (MSMSM established in 1952)
6. Mohal Lal Sukhadia University, Udaipur (MLSU established in 1962)
7. Rajasthan School of Art, Jaipur (RSA established in 1957)
8. Rajasthan Sangeet Sansthan, Jaipur (RSS established in 1850)
9. University Of Rajasthan, Jaipur, (UR established in 1947)

In social sciences research personnel characteristics of respondents have very significant role to play in expressing and giving the responses about the problem, keeping this in mind, in this study a set of personal characteristics namely, age, sex, education, work specialization, etc. of the 146 out of 274 respondents have been examined and presented in this study. The select users are from different groups, categories and specialization, even then they have one similarity to search information on any form of Arts and Culture of Rajasthan. Out of these above selected users, some of them are faculty members of universities, institutions, etc. whereas some of them are research scholars, staff of museums are also respondents as users, postgraduates and undergraduate students. Members of institution are also incorporated as the users of select museums library of Rajasthan.

In this study the researcher have taken 9 institutes i.e Albert Hall Museum Jaipur, Banasthali Vidyapeeth Niwai Tonk, Indian Institute of Craft and Design Jaipur, Jawahar Kala Kendra Jaipur, Maharaja Sawai Man Singh Museum Jaipur, Mohan Lal Sukhadia University Udaipur, Rajasthan School of Arts Jaipur, Rajasthan Sangeet Sansthan Jaipur and University of Rajasthan Jaipur. All above 9 institutes are from Rajasthan.

Table 5.3.1.3 Qualification- Wise Distribution of Institutions Library Users

Education is one of the most important characteristics that might affect the person's attitudes and the way of looking and understanding any particular social phenomena. In a way, the response of an individual is likely to be determined by his educational status and therefore it becomes imperative to know the educational background of the respondents. Hence the variable 'Educational level' was investigated by the researcher and the data pertaining to education is presented in

Table: 5.3.1.3.

S.No.	Institutions	Bachelor	Master	NET	Ph.D.
1	AHM	00	12	00	04
2	BV	00	16	03	05
3	IICD	03	09	00	00
4	JKK	06	07	00	03
5	MSMSM	00	02	00	01
6	MLSU	00	17	5	05
7	RSA	04	00	00	02
8	RSS	06	00	00	03
9	UR	04	21	00	08
Total	23 (15.75%)	84 (57.53%)	08 (05.47%)		31 (21.23%)

Note: figures in parentheses give percentage

Table 5.3.1.3 shows that about 57.53% of the respondents are educated up to post graduate level they are maximum number, 05.47% are NET qualified lesser number of them. The numbers of respondents attaining higher education (Ph.D.) 21.23% are average in number. Only 15.75% of the respondents are educated up to bachelor level.

Table 5.3.3.2 Sources Used by the Respondents for Seeking Information

Except books, reference books, photo books, pamphlets, atlas, maps there are many other sources and methods from them scholars collect information on Rajasthani arts and culture. These sources are attending conference/ seminars/ workshops, Book reviews, Consultation with experts in the field, Conversation with colleagues, Internet discussion forums or newsgroups, etc. therefore, in this regard the following table 5.55 lists many of the sources which can be used to collect information on different aspects of Rajasthani Arts and Culture and asked to the users to mention their preference of sources they adopt to get required information.

S.N.	Sources	AHM	BV	IICD	JKK	MSMSM	MLSU	RSA	RSS	UR	Total
1	Abstracting journals	9	24	0	10	0	10	3	6	27	89
2	Attending conference/ seminar/workshops	9	31	9	16	0	11	5	8	27	116
3	Book reviews	12	23	3	10	0	14	6	7	27	102
4	CAS of libraries	0	23	6	13	0	11	5	6	22	86

5	Citations (references used)	12	22	6	9	0	7	5	6	17	84
6	Consultation with experts in the field	8	23	3	13	3	27	6	6	23	112
7	Conversation with colleagues	16	23	6	15	0	8	6	6	15	95
8	Conversations with library staff	12	17	0	6	0	8	3	6	29	81
9	Electronic databases	0	21	3	9	0	11	4	6	24	78
10	Indexing journals	0	33	3	11	0	7	3	4	14	75
11	Internet discussion forums or newsgroups	12	21	6	11	0	11	4	6	25	96
12	Internet search engines	10	21	3	13	3	16	3	6	23	98
13	Library catalogues	12	27	3	16	0	6	5	6	24	99
14	Media: TV, Radio and newspapers	12	30	6	10	0	11	5	1	25	99
15	Publisher catalogues	14	24	6	16	3	11	6	6	21	86
16	Review articles	14	23	6	10	3	7	3	4	23	96
17	Visiting bookstores	14	12	3	12	3	7	3	3	24	81

(Respondents are allowed for giving multiple responses)

The *table 5.3.3.2* reveals that out of 17 above mentioned information sources the majority of respondents i.e. 116 users fulfilled their information need through Attending conference/seminar/ workshops and least number of users i.e. 75 users search information on Indexing journals in order to fulfill their requirement. The average number of users used Consultation with experts in the field, Book reviews, Media: TV, Radio and newspapers, Library catalogues, Internet search engines, Internet discussion forums or newsgroups, Review articles and Conversation with colleagues as a source adopted to get required information.

Table 5.3.3.8 Purpose of Seeking Information by Respondents

The following *table 5.3.3.8* determines the purpose of seeking information of respondents.

S.N.	Purpose	AHM	BV	IICD	JK	MSM SM	ML SU	RSA	RSS	UR	Total
1	For research and reference	08	24	9	12	00	18	00	00	24	95
2	For teaching and enrichment	00	21	3	08	00	15	06	09	06	68

3	Getting information for creative works	04	18	6	03	00	15	00	00	03	49
4	To know the latest arrivals in the library	02	21	3	03	03	09	06	09	03	59
5	To read journal articles pertaining to their subject	02	18	6	10	00	09	00	09	09	63
6	To read newspapers/ magazines	00	18	06	10	03	12	03	00	09	61
7	Workshop and seminar presentations	00	18	00	08	00	09	00	00	06	41
8	Writing a book or article	00	18	00	08	03	12	06	09	09	65
9	To collect materials in their subject	08	15	09	06	00	09	00	00	18	65
10	Guiding Research Scholar	04	06	03	00	00	09	00	00	00	22
	Total	28	177	45	68	09	117	21	36	87	588

(Respondents are allowed for giving multiple responses)

It is apparent from the above table that out of 146 respondents the maximum number of users i.e. 95 visited library in order to fulfill their research and reference queries/needs apart from that the minimum number of users 22 use library to fulfill their requirements against guiding their Research scholars. That is very obvious because all the users are students, research scholars or academicians so that research and study is their major work, for that they consult the library. Some other purposes are also similar to that as 'for teaching and enrichment', for writing a book or article, and 'to collect materials in their subjects'.

Table 5.3.2.2 Availability of Reference Sources on Rajasthani Arts and Culture

Reference sources are the research tools that help the scholars with their paper or project. Reference sources provide answers to specific questions, such as brief, facts, statistics and technical instructions. Such as dictionaries, encyclopedias, almanac, atlases etc. generally in libraries reference sources do not circulate and are related in a separate reference collection.

S.N.	Option	AHM	BV	IICD	JKK	MSMSM	MLSU	RSA	RSS	UR	Total
1	Yes	16	24	06	10	03	15	00	00	30	104 (71.23%)
2	No	00	00	06	06	00	12	06	09	03	42 (28.77%)

Note: figures in parentheses give percentage

Table 5.3.2.2 represents the data about availability of Reference Sources in Rajasthani Arts and Culture. As according to the responses received from the user of the library we came to know that out of 09 Institute libraries 104 (71.23%) of users responds that the libraries has the availability of reference sources on Rajasthani arts and culture along with this 42 (28.77%) users responds the library has not the availability of reference sources on Rajasthani arts and culture. As there are various aspects in Arts like Performing arts, visual arts, sculpture, painting, pottery, photography, is the reason that some users are satisfied with reference sources available in some aspects of Rajasthani arts and culture whereas others are not satisfied with that.

Table 5.3.2.3 Commonly Used Reference Sources on Arts and Culture

As far as reference sources concern, reference sources are the research tools that help the scholars with their paper or project. Reference sources provide answers to specific questions, such as brief facts, statistics with technical instructions, such as dictionaries, encyclopedias, directories, almanacs, atlases, etc. generally in libraries, reference sources do not circulate and are located in a separate reference collection. List of reference sources in arts and culture is provided in *table 5.3.2.3* and respondents were asked to reply the name of reference sources which are commonly used while getting information in Rajasthani arts and culture.

S.N.	Reference Sources	AHM	BV	IICD	JK	MSMSM	MLSU	RSA	RSS	UR	Total
1	Bibliography of modern India Art	00	23	3	0	0	17	0	0	6	49
2	Dhundhani Lok Bhasha Kosh	5	21	3	6	0	19	6	0	6	66
3	Dictionary of Indian art & artists including technical art term	12	19	0	10	0	18	0	0	12	71
4	Dingal Kosh	16	24	0	14	3	25	6	9	21	118

5	Encyclopedia of the arts	00	15	11	8	3	15	6	0	6	64
6	Encyclopedia of Indian culture	12	13	0	8	3	11	4	8	17	75
7	Gazetteer of India, Indian Union: history and Culture	16	18	3	8	2	13	6	0	9	75
8	Kala Kosh	12	21	3	14	3	21	6	0	3	83
9	Maru Sanskriti Kosh	00	22	0	13	3	26	6	0	15	85
10	Rajasthan state gazetteer: history and culture	9	15	0	8	3	23	4	8	3	73
11	Rajasthani Hindi Shabd Kosh	12	24	7	15	0	27	4	0	3	92
12	Rajasthani Kahawat Kosh	13	21	3	16	3	26	4	0	3	89
13	Rajasthani Sabd Kosh	16	24	0	16	0	27	4	0	24	111
14	Rajastshan Itihas Sanskriti Encyclopedia	16	21	3	16	3	27	4	0	3	93
15	The art of India	3	16	7	8	0	19	0	0	15	68
16	Bibliography of modern India Art	12	21	0	6	0	9	0	0	9	57

(Respondents are allowed for giving multiple responses)

Table 5.3.2.3 discussed the commonly used reference sources on Arts and Culture. As per users responds *Dingal kosh* is commonly used by the users and the total number of users who used this reference source are 118 that is the largest number on the other side *Bibliography of modern India Art* is less used by the users and their response is 49. Followed by this 111 users prefer *Rajasthani Sabd Kosh*, 93 and 92 responds for *Rajasthan Itihas Sanskriti Encyclopedia* and *Rajasthani Hindi Shabd Kosh*, 89, 85, and 83 users says the most commonly user reference source are *Rajasthani Kahawat Kosh*, *Maru Sanskriti Kosh* and *Kala kosh*. To one side according to 75, 73, and 71 users *Gazetteer of India, Indian Union: history and Culture*, *Encyclopedia of Indian culture, Rajasthan state gazetteer: history and culture and Dictionary of Indian art & artists* including technical art term responds that these are commonly used reference sources in the libraries. Lastly 68, 66, and 64 responds for the art of India, *Dhundhani Lok Bhasha Kosh* and *Encyclopedia of the arts* are commonly used by the library users correspondingly.

As we know from the above table that the institute libraries has 16 types of

reference sources that is mentioned in above table along with that some other reference sources are used by the users of the library and they are:

Dictionary of Music, Dance and Drama Encyclopedia of Indian Theatre: The reference source trying to bring out a performing arts lexicography dealing with ancient Indian Music, Dance and Drama from the huge corpus of traditional Sanskrit treatises from *Sangitashastras, Natyashastra, Rasshastra* to *Abhinayadrapanam* a manual on Indian dance.

Cambridge guide to theatre: It contains a wealth of information on all aspects of theater past and present: Major playwrights, works, important traditions, theories, companies, practitioners, venues and events, including folk drama, street theater and mummers plays; the work of actors, directors, and designers.

Art & Architecture thesaurus: Art & Architecture thesaurus is a controlled vocabulary used for describing items of art, architectural and material culture. The AAT is used by museums, art libraries, archives, cataloguers, and researchers in art and art history, fine art, architecture, decorative arts, archival materials and materials culture.

Encyclopedia Britannica: Encyclopedia Britannica is a general knowledge English language encyclopedia. Only 4% of knowledge is devolved to art in encyclopedia Britannica, rest is based on other knowledge.

Phaidon Dictionary of twentieth century art: This dictionary is some 1600 centuries cover artists, art groups and movements of the 20th century, painting, sculpture and graphics.

The Oxford Dictionary of Art and Artists: The Oxford Dictionary of Art and Artists covering western Art from the ancient Greeks to the present day, it is a wide range authoritative dictionary, contains over 2500 clear and concise entries on styles and movements, materials and techniques and museums and galleries, it also includes biographical entries for artists, critics, collectors, dealers and patrons with other general information.

Kalatatwakosh: A lexicon of fundamental concepts of the Indian Arts

Encyclopedia of the World Art: Subject matter consists of representational arts in the broadest sense, architecture, sculpture, painting and other man-made objects with no limits as to time, place or cultural environment.

Hall's dictionary of subjects and symbols in art: This dictionary relates in a concise, intelligible manner the topics, holy and common, on which the collection of European workmanship is based. Cross-references empower the per user to recognize the subject of an image just from some trademark article

or figure in it. Here in a solitary volume art consolidated religious and authentic subjects. The "Lexicon" likewise investigates the "lost language" of image and trait, in this way opening up the entire field of purposeful anecdote.

Who's who in graphic Art: An world illustrated view of the heading contemporary graphic and typographic designers, illustrators, and cartoonists; with a short illustrated history of the graphic arts.

The Oxford Encyclopedia of the music of India: Comprehensive, authoritative and up-to-date, the Oxford Encyclopedia of the music of India depicts the story of Indian music through 2000 years of history. Entries cover forms of music from classical to film, originated, as well as dance styles, technical terms, instruments and biographic of vocalists, musicologists, saints, poets, gurus, composers and instrumentalist. The work spans not only all regions of India, but also covers the music of the subcontinent, including Nepal, Bangladesh, Pakistan and Sri Lanka.

*The Darkroom Handbook:*A complete book to guide and reference manual for all photographers, from beginners to professionals, to all aspects of darkroom work-processing, printing and special manipulative technique for modifying and creating new image.

Sangita Ratnkara: is the "Ocean of music and Dance" and one of the most important Sanskrit musicological texts from India. Composed by "Sarangdeva" in the 13th century, both Hindustani music and carnatic music traditions of Indian classical music regard it as a definitive text. The text is divided into seven chapters which deal various aspects of music and musical instruments and the last chapter deals with dance.

Roget's International Treasures 7th Edition: The most comprehensive, user friendly thesaurus available, Roget's features more than 325000 words and phrases, including more than 2000 all new entries that reflect the very latest in culture and technology.

The photographer's Handbook: A classic, bestselling photographer's manual is issued for the first time in paperback, revised and updated/ illustrated photographs, diagrams and charts cover the entire range of subject matter, from choosing a camera to storing finished prints.

Table 5.3.2.5 Reason behind Not Using Library Frequently

The above table reveals the data regarding why users are not using the library on regular basis.

S.N.	Reason	AHM	BV	IICD	JK	MSM SM	ML SU	RSA	RSS	UR	Total
1	Class lectures and notes are sufficient	00	00	03	08	00	03	0	00	06	20
2	Inconvenient library	00	00	00	00	00	00	0	00	09	9
3	Less support from library staff	00	00	00	00	00	00	6	00	03	9
4	Library environment is not congenial	07	00	00	00	00	00	0	04	00	11
5	Required books are not available	08	09	03	09	00	03	5	08	21	66
6	Shortage of time	15	15	06	15	03	21	6	09	27	117

(Respondents are allowed for giving multiple responses)

The above data regarding the reason behind not using library frequently, the opinion of the select library users in this context are collected and tabulated. It is evident from *table 5.3.2.5* the reasons responsible for users not using library frequently. The maximum number of users (117) not visiting library frequently because they have shortage of time, the number of users (09) do not visit library on regular basis due to inconvenient library hours and less support from library staff. Apart from that in average the responses regarding not using library frequently due to 66 user's responds that required books are not available that's why they are not using library on regular basis, on the other side 20 user respond that class lectures and notes are sufficient, so they do not feel the requirement to go to the library, lastly 11 users respond that library environment is not congenial due to that they do not visit the library on regular basis.

Table 5.3.4.2 Problem Faced While Seeking Information

The value of information resources in libraries and safeguarding its usage seems not encouraging. Library user's quest to use e-resources for their academic as well as research work encounters some difficulties in terms of access and usage. Therefore, in order to improve the services of Institute libraries and information centres, it is imperative to better understand the impediments users encounter in accessing these resources. *Table 5.3.4.1* explores the data regarding problem faced by the users while seeking information.

S.N.	Problem	AHM	BV	IICD	JK	MSM SM	ML SU	RSA	RSS	UR	Total
1	Information is scattered in too many sources	00	24	12	12	00	09	06	09	30	102
2	Information sources are very expensive	16	06	00	12	00	12	06	09	30	91
3	Lack of information sources	16	03	00	12	03	09	06	09	30	88
4	Lack of knowledge in using the library	00	00	03	10	00	08	06	09	28	64
5	Lack of support from library staff	00	00	00	08	03	03	06	09	24	53
6	Lack of training in electronic resources/ products	12	06	00	12	03	09	06	04	27	79
7	Language barrier (most of the material is in E/H. language)	00	00	06	06	00	09	06	04	27	58
8	Non availability of electronic resources (e-journals and databases)	00	06	06	10	03	10	06	09	30	80
9	Latest information (sources are not available)	00	09	00	10	03	10	06	09	09	56

(Respondents are allowed for giving multiple responses)

According to the data 102 of users faced information is scattered in too many sources that is highest in response, 91 and 88 faced the problem that information sources are very expensive and lack of information sources. 80 and 79 of users faced Non availability of electronic resources (e-journals and databases) and Lack of training in electronic resources/products. 64, 58, 56 and 53 of users faced Lack of knowledge in using the library, Language barrier (e.g., most of the material is in E/H language), Latest information sources are not available and Lack of support from library staff while seeking information. The highest number of user's i.e. 102 responds that they faced problem due to scattered of information in too many sources apart from that lowest problem is lack of support from library staff while seeking information.

7. Conclusion

Libraries and museums provide a plethora of resources and services for their users and communities. They preserve rich and diverse culture and history and transmit it from one generation to the next. 'Music' is the most preferred area of art and 'fair' in culture. They seek information for research reference, for teaching, and enrichment.

The users are found to be enthusiastic users of text books, reference books, websites and photobooks, except these information resources users are found to be satisfied with magazines and journals, reference sources available in Rajasthani arts and culture. Not only using information resources available in the libraries, users are interested to seek different type of sources to search information except traditional print information resources, as attending conference/seminar/workshops. They consult with the experts related to their fields. Majority of the users search their required information with the help of internet, it shows that internet is integral to their source of information access but majority go with consultation and discussion on subject. Libraries provide different information finding aids to search information. Although the users face some problems also still they are satisfied with the library collection. Generally the users are satisfied with books and reference books in Rajasthani arts and culture available in select libraries.

An overall result shows that the users of Rajasthan are quite similar to artists as a whole; they are also seen to be proactive users of traditional books, magazines and journals, reference sources. As well as also prefer socialization among their colleagues as many of the information needs are better satisfied with the help of this

References :

1. Beaudoin, Joan E. (2005). Image and text: a review of the literature concerning the information needs and research behavior of art historians. *Art Documentation, 24* (2), 34-36.
2. Budd, J. M. (1989). Research in the two culture: the nature of scholarship in science and humanities. *Collection management, 1* (3/4), 1-21.
3. Cown, Sandra (2004). Informing visual poetry: information needs and sources of artists. *Art Documentation, 23* (2), 14-20.
4. Downey, M. C. (1993). A survey of the information-seeking practices of artists in the academic community (Master's Thesis). Ken State University.
5. Frnak, P. (1999). Student artists in the library: an investigation of how they use

general academic libraries for their creative needs. *Journal of Academic Librarianship, 25* (6), 445-455.
6. Gaur, Ramesh C. (2011). Development of the digital repository of Indian cultural heritage initiatives at the Indira Gandhi National Centre for the Arts. *Art Documentation: Journal of the Art Libraries Societies of North America, 30* (2), 56-62.
7. Goodrum, Abbay A. & Spink, A. (2011). Image searching on the World Wide Web: analysis of visual information retrieval queries. *Information proceeding and management, 37* (2), 295-311.
8. Goodrum, Abby A. (2003). Visual resource reference: collaboration between digital museums and digital libraries. *D-Lib Magazine, 9* (2).
9. Greffe, X. (2004). Artistic jobs in the digital age. *Journal of art Management, Law and Society, 34* (1) 79-96.
10. Hemmig, W. S. (2008). The information seeking behavior of visual artists: a literature review. *Journal of Documentation, 64* (3), 343-362.
11. Hemmig, W. S. (2009). An empirical study of the information seeking behavior of practicing visual artists. *Journal of Documentation, 65* (4), 682-703.
12. Larkin, Catherine. (2010). Looking to the future while learning from the past: information seeking in the visual arts. *Art Documentation: journal of the Art Libraries Society of North America. 29* (1), 49-60.
13. Lo, Patrick & Chu, Wilson (2015). Information for inspiration: understanding information seeking behaviour and library usage of students at the Hong Kong Design Institute. *Australian Academic & Research Librarian, 46* (2), 101-120.
14. Lonnqvist, H. (1990). Scholar seek information: information seeking behavior and information needs of humanities scholars. *International journal of information and library research, 2* (3), 195-230.
15. Mason, Helen & Robinson, Lyn (2011). The information-related behaviour of emerging artists and designers, *Journal of Documentation, 67* (1) 159-180.
16. Singh, Anil (2012). Digital preservation of cultural heritage resources and manuscripts: An Indian government initiative. *IFLA Journal. 38* (4), 289-296.
17. Stam, Dierdre (1984). The information seeking practices of art historians in museums and colleges in the United States. *DLS. Diss.,* Columbia University.
18. Walter, Nadine (1991). Computerization in research in the visual arts. *Art Documentation, 10* (1), 3-12.
19. Wilson, T.D. (1981). On user studies and information needs. *Journal of Documentation,* 37(1), 3-15.

Concept of Women Empowerment in Ancient Indian Tradition

Kapil Gautam

Abstract:

The paper presents the perspectives of women empowerment in Indian culture on the basis of philosophical analysis of Indian feminine words. Women Empowerment refers to increasing the spiritual, political, social or economic strength of Women. It often involves the empowered developing confidence in their own capacities. To resolve the women problems effects of movement for women rights started. In ancient India women never struggled for her place in society. Woman recognized her role in society and performs accordingly her ability. Modern women demand for her right. Although changes occurred in our thought and conduct and our needs. But a change in life's original theories is not respectful. Both women and men have equal importance in this world. They are helpmate each other. And in this way their life is meaningful. Women were the symbol of sacrifice. In modern India women have lack of spiritual power. They are missing their *mātṛtva, Patnitva* role due to lose of culture. Here is an effort to explore the empowerment of women in Indian culture.

Key Words: empowerment, culture, *Śakti*, fundamental, organizations, constitution, rights, duties and directive principles.

Introduction:

The word women empowerment essentially means that the women have the power or capacity to regulate their day-to-day lives in the social, political and economic terms- a power which enables them to move from the periphery to the centre stage. In Indian culture, all power, *Śakti*, is female. *Śakti* is the fundamental strength of the feminine that means "power" and "strength" which infuses all life and is viewed as a Goddess. It is a culture whose only words for strength and power are feminine. All male power comes from the feminine. In Vedic times women and men were equal as far as education and religion was concerned. Women participated in the public sacrifices alongside men. Among the many societies that can be found in the world, we have seen that some of the most venerating regard for women has been found in Indian society. Throughout the many years of Indian culture, women have always been given the highest level of respect and freedom, but also protection and safety. There is a saying, *Yatra nāryastu pūjyante ramante tatra devatāḥ.* (*manusmṛti* 3.56)

The status of women in India has been subject to many great changes over the past few millennia. From equal status with men in ancient times through the low points of the

medieval period. In this way, the change in the attitude toward women in India was due to a loss of culture and of the true Vedic standards. Thus, it should be easy to see the need for organizations that will keep and teach the proper views, which were once a basic part of the genuine Vedic traditions were made to the promotion of equal rights by many reformers in modern time. The principle of gender equality is enshrined in the Indian constitution in the preamble, fundamental rights, fundamental duties and directive principles. The constitutions not only grants equality to women but also empowers the state to adopt measures, a position ; indiscrimination in favour of women. Within the framework of democratic polity, our laws, development policies, plans and programs are aimed at women's advancement in different spheres. Women of India are now uplifted and emancipated and granted equal status with men in all walks of life-political, social, domestic and educational.

1. Philosophical base of the Unity of Man and Woman:

The unity of men and women is explained in Vedic and classical literature. The idea of equality was most forcibly expressed in the Rig Veda (5.61.8). The wife and husband, being the equal halves of one substance, are equal in every respect; therefore both should join and take equal parts in all work, religious and secular. According to Subālopaniṣada, in the starting of cosmas *Prajāpati* create man from his half part of *Ātmrūpa* and women from rest half part.[i] Devībhāgavat explained that *Prajāpati* converted into two part from one. Women from left part and men from right part- *Svecchāmayaḥ svecchayā ca dvidhārūpo babhūva saḥ.Strīrūpo vāmabhāgāṃśo dakṣiṇāśaḥ pumān smṛtaḥ..*[ii]

It is also explained in Manusmṛti like –

Dvidhā kṛtvā'tmano dehamardhena puruṣo'bhavat.

Ardhena nārī tasyaṃ sa virājamasṛjatprabhuḥ..(manusmṛti 1.32)

The seed of these thought is found in Bṛhadāraṇkopniṣad - *Sa vai naiva reme tasmādekākī na ramate sa dvitīyamaicchat sa haitāvānāsa yathā strīpumāṃsau saṃpariṣvaktau sa imamevātmānaṃ dvedhā pātayatataḥ patiśca patnī cābhavatām tasmādidamardhabṛgalamiva sva iti h smāha yājñāvalkyastmādayamākāshaḥ striyā pūryata eva tā' samabhavattato manuṣyā ajāyanta.*[iii]

Here clearly explained that the '*Prajāpai*' himself converted into '*Pati*' and '*Patni.*' In his fmous commentary on Bṛhadāraṇkopniṣad, Āchārya Śaṅkara explained the etymology of the words '*Pati*' and '*Patni'* as *tatastasmātpātanātpatiśca patnī cābhavatāmiti dampatyornirvacanam laukikayoḥ.*[iv]

This concept of the spiritual equality of souls naturally influenced the status of women on an individual and social level. On this basis the terms for women '*Vāmāṅgnā*' and '*Ardhāngini*' is used in Dharmsāstras. All rituals are completed jointly by wife-husband. She sit left side of her husband. In Rāmāyaṇa Vālmiki considered the unity of men and women.[v] The equal status of women with men is described in classical literature. According to Kālidāsa women and men are created from the Ātmaswarūpa of Brahma.

Strīpumāsāvātmabhāgau te bhinnamūrteḥ sisṛkṣayā.

Prasūtibhājaḥ sargasya tāveva pitarau smṛtau..[vi]

Thus we came to know that in Indian culture- Vedic and classical literature everywhere origin of women and men is from one Ātmatatva. By this we can conclude that naturally both women and men are equal and have same importance in society.

2.The Feminine Divinities:

In the Vedic tradition it is common to see the pairing of the Vedic male Gods with a female counterpart, thus combining both sets of powers and qualities that each would have. We can easily see this in *Rādhā-Kṛṣṇa, Sītā-Rāma, Lakṣmī-Viṣṇu, Durgā-Śiva, Sarasvatī-Brahmā, Indrāṇī-Indra*, etc. Thus, we have the combination of male and female Divinities that make the complete balance in the divine spiritual powers. Through the medium of pure affection, the feminine Divinities have been able to break down the most powerful citadels known to creation, especially those of evil. The divine mystery of life is that the most powerful forces of the universe are subjugated by love, and that love is most completely channeled through the feminine energy and personality. For example, "*Durga*" means the one who is difficult to know. Yet, being considered the mother of the universe, or the personification of the material energy (*ādiśakti* or *māyā*), we as her children can approach her through love. And she will respond with love. Also, out of love the Goddess took the form of *Mahiṣāsuramardini*, or the one who destroyed the dark demon known as *Mahiṣāsura*. She was generated out of the anger and potency of *Brahmā, Viśnu, Śiva,* and others, and was the combination of their powers. They could not defeat the demon, but the Goddess could. Symbolically, *Durgā* can destroy the demonic darkness of the mode of ignorance (*ajñāna / avidyā*) and the quality of laziness within each of us.

3.Socio-economic Empowerment of Women

3.1. Family Status

In Rig Veda women are considered as home '*Jāyedastam*'[vii] On this basis there is a saying in Sanskrit

na gṛhaṃ gṛhamityāhurgṛhiṇī gṛhamucyate.
Gṛhaṃ tu gṛhiṇīhīnaṃ kāntārādatiricyate.[viii]

It means *gṛhiṇī* is called as home. After marriage one side she is guided to serve her husband, father in low, mother in low and other family members another side presenting her as *gṛhasvāminī* she is called as *smrājñī.*[ix] No married man shall perform any religious rite, ceremony, or sacrifice without being joined in by his wife; the wife is considered a partaker and partner in the spiritual life of her husband; she is called, in Sanskrit, *Sahadharmiṇī*, "spiritual helpmate." This idea is very old, as old as the Hindu nation. Motherhood is considered the greatest glory of Hindu women. The Taittiriya Upanishad teaches, "*Mātṛdevo bhava*" - "Let your mother be God to you."

According to K. Guru Dutt, the position of women in ancient India was free and emancipated, and women were well educated and respected members of society. A wife shared all her husband's privileges and was his companion and help-mate in his activities. The position of women was far better than in other countries of ancient times. How else could it be in a culture which placed the Mother before the Father in priority for reverence? *Mātṛdevo bhava* - was the first Upaniṣadic exhortation to the young. So far as we know, Hinduism is the only thought whose symbolism places the Feminine on a par with the Masculine in the profound concept of *Śiva-Śakti* culminating in the image of ***Ardharnārī-Īsvara.*** The Hindu has honored his country as his Motherland - *Bhārat Mātā* and his nationalism has grown up from the seed Mantra - *Vande Mātaram.*[x]

According to Manu and Yāska women have right of inheritance-

Yathaivātmā tathā putraḥ putreṇa duhitāḥ samā.
Tasyāmātmani tiṣṭhantyāṃ kathamanyo dhanaṃ haret..[xi]

In Vedic times women run cottage(small) industry. The evidence of cloth product in Atharvaveda[xii] are mentioned. Home industry and different type of artistry like *Peśaskarī*[xiii], *Kaṇṭkīkārī*[xiv], *Bidalkārī*[xv], *Kośakārī*[xvi], *Aṃjanīkārī*[xvii] etc. particularly run by women. In modern time the important role played by women in electronics, information technology and food processing and agro industry and textiles has been crucial to the development of these sectors. They would be given comprehensive support in terms of labour legislation, social security and other support services to participate in various industrial sectors.

3.2.Women Education

In Vedic times women and men were equal as far as education and religion was concerned. Girls had *Upanayana* performed for them and carried out the *saṃdhyā* rites. A young daughter who has observed *brahmacarya* should be married to a bridegroom who is learned like her.[xviii] According to Kālidāsa there was *Upanayana Saṃskār* for women and they were get higher education.[xix] Apparently in early Vedic times women also received the sacred thread and could study the Vedas. According to the Hārītasmṛti, two classes of women called *brahmavādinī*(who remained unmarried and spent their lives in study and ritual and *Sadyodvāhā*[xx]. Panini's distinction between *ārcārya*[xxi] (a lady teacher) and *ācāryānī* (a teacher's wife), and *upādhyāyā* (a woman preceptor) and *upādhyāyānī* (a preceptor's wife) indicates that women at that time could not only be students but also teachers of sacred lore. He mentions the names of several noteworthy women scholars of the past such as *Kathi, Kalapi*, and *Bahvici*. The Upaniṣads refer to several women philosophers, who disputed with their male colleagues such as *Vācaknavī Gārgī*, who challenged *Yājñavalkya*. Women, who once enjoyed an honored position and are found in the Upanishads conversing freely with men upon the highest philosophical topics. Seventeen of the seers to whom the hymns of the Rig Veda were revealed were women *Ṛiṣikās* and *Brahmavādinis*. There are a number of women who are considered as the seers of mantras, like *Saraswatī, Goṣā, Viśvavārā, Apālā, Urvaśī, Indrāṇī*, and so on. It is said that *Dhrutavatī*, the daughter of Ṛṣi Śāṃdilya, spent her whole life in the study of the Vedas. Likewise, another girl, *Srutavatī*, the daughter of Sage Bhāradvāja, also devoted her life to the study of the Vedas.

The names of *Gārgī* and *Maitreyī* are too well known as great scholars of Vedic. The Rāmāyaṇa describes the performance of *Saṃdhyā* and *Havana* by Kauśalyā and Sītā. The wife was a regular participant in the sacrificial offerings of the husband.. Gobhila Gṛhya Sūtras state that the wife should be educated to be able to take part in sacrifices.[xxii]

3.3.Art

The description of dance, sing, musical instrument and dancing by girls shows their excellence in fine arts.[xxiii] Kauṣītaki Brāhmaṇa explains three types of art- dance, song and musical instrument.[xxiv] According to Etareya and Gopatha Brahmana Ātmā is purified by fine arts.[xxv] So girls were educated with fine arts. In Rig Veda Goddess *Uṣā* is presented as

perfect dancer.[xxvi] In Rig Veda, the family dance is described as all elder and younger brothers and sisters participated in it.[xxvii]

3.4.Military

In Rigveda and Yajurveda women's excellence as soldiers is explained. In Yajurveda she is called as *Aṣāḍhā, Sahamanā* and *Sahasravīryā.*[xxviii] In Rigveda she is address with the names- *asapatnā sapatnaghnī, jayantī-abhibhūvarī*[xxix]. *Indrāṇī* is called leader. She was always winner.

She is considered as military God-*Indrāṇī vai senāyai devatā. Saivāsya senā saṃ śyati*[xxx] Thus Hindu women were allowed to go to the battle fields to fight against enemies. *Saramā*, one of the most powerful women of her day, was sent by her husband in search of robbers. She discovered their hiding place and then destroyed them.[xxxi] There were *śāktikis* or female spear bearers according to Patanjali's *Mahabhāṣya*, and women soldiers armed with bows and arrows in the Mauryan army, according to Kautilya's Arthaśāstra. The Greek Ambassador Megasthenes mentions Chandragupta Maurya's armed female bodyguard. Thus education was not the only vocation for women.

4.Political Empowerment of Women

Although in ancient India male were ruler yet we find some sources about women ruler in Vedas. Purandhriryoṣā[xxxii] Yeṣāṃ te kulapārājan.[xxxiii] Kalhaṇa described queen Sūryamatī as state ruler- *bharturnārīvidheyatvaṃ tasya bhartṛjayastathā.*

Niṣkalaṅkena śīlena nānyonyaṃ garhyatāmagāt..[xxxiv]

Some kingdoms in the ancient India had traditions such as *nagarvadhū* (bride of the city). Women competed to win the coveted title of the *nagarvadhū*. Āmrapalī is the most famous example of a *nagarvadhū*.

The Indian woman's position in the society further deteriorated during the medieval period. In spite of these conditions, some women excelled in the fields of politics, literature, education and religion. Razia Sultana became the only woman monarch to have ever ruled Delhi. The Gond queen Durgavati ruled for fifteen years, before she lost her life in a battle with Mughal emperor Akbar's general Asaf Khan in 1564. Chand Bibi defended Ahmednagar against the mighty Mughal forces of Akbar in 1590s. Jehangir's wife Nur Jehan effectively wielded

imperial power and was recognized as the real force behind the Mughal throne. The Mughal princesses Jahanara and Zebunnissa were well-known poets, and also influenced the ruling administration Shivaji's mother, Jijabai was deputed as queen regent, because of her ability as a warrior and an administrator. In South India, many women administered villages, towns, divisions and heralded social and religious institutions.[xxxv]

In modern time the Constitution of India guarantees to all Indian women equality (Article 14), no discrimination by the State (Article 15(1)), equality of opportunity (Article 16), equal pay for equal work (Article 39(d)). In addition, it allows special provisions to be made by the State in favour of women and children (Article 15(3)), renounces practices derogatory to the dignity of women (Article 51(A) (e)), and also allows for provisions to be made by the State for securing just and humane conditions of work and for maternity relief. (Article 42). The feminist activism in India picked up momentum during later 1970s. One of the first national level issues that brought the women's groups together was the Mathura rape case. The acquittal of policemen accused of raping a young girl Mathura in a police station, led to a wide-scale protests in 1979–1980. The protests were widely covered in the national media, and forced the Government to amend the Evidence Act, the Criminal Procedure Code and the Indian Penal Code and introduce the category of custodial rape. Female activists united over issues such as female infanticide, gender bias, women health, and female literacy. Since alcoholism is often associated with violence against women in India, many women groups launched anti-liquor campaigns in Andhra Pradesh, Himachal Pradesh, Haryana, Orissa, Madhya Pradesh and other states. Many Indian Muslim women have questioned the fundamental leaders' interpretation of women's rights under the Shariat law and have criticized the triple talaq system. In 1990s, grants from foreign donor agencies enabled the formation of newwomen-oriented NGOs. Self-help groups and NGOs such as Self EmployedWomen's Association (SEWA) have played a major role in women's rights in India. Many women have emerged as leaders of local movements. For example, Medha Patkar of the Narmada Bachao Andolan. The Government of India declared 2001 as the **Year of Women's Empowerment**(*Swaśakti*).The National Policy For The Empowerment Of Women came was passed in 2001.

Conclusion:

By above discussion it is clear that in ancient time women had a reputed place in various places like education, spiritual, social and political etc. Women were considered as the base of society. In the medieval time there were some bounds on women for keeping their safety

which became the custom later in society and still remain that should be reform. To give women the reputed place some efforts were made by reformer in modern times. Thus women were empowered in Indian culture and today women have to need for past identification which can be only obtained through education and practicing their cultural values.

References:

[i] Subālopaniṣada, Part ii
[ii] Devībhāgavata 2.27
[iii] (Bṛhadāraṇyaka Up. 1.4.3)
[iv] Śāṅkarabhāṣyārtha Bṛhadāraṇyaka Up. 1.4.3
[v] Śāstraprayogādvividhācca vedādananyarūpāḥ puriṣasya dārāḥ. Rāmāyaṇa Kiṣkindhākāṇḍa 24-38
[vi] Kumārasaṃbhava 5.7
[vii] Rig Veda 3.53.4
[viii] Mahābhārata 12.144.6
[ix] Smrājñī śvaśure bhava, samrājñī śvaśravāṃ bhava.
Nanāndari samrājñī bhava, samrājñī adhi devṛṣu. Rig. 10.84.46
[x] Dutt, K. Guru, Hindu Culture p. 241-242
[xi] Manusmṛti 9.130
[xii] Tantrameke yubatī. Athr. 10.7.42-44
[xiii] Peśaskārīm. Yajurveda 30.9
[xiv] Kaṇṭkīkārīm. Yajurveda 30.8
[xv] Bidalakārīm. Taittirīya Brahma 3.4.5.1
[xvi] Kośakārīm. Yajurveda 30.14
[xvii] Aṃjanīkārī. Yajurveda 30.14
[xviii] Yajur Veda VIII.1
[xix] Purākāle tu nārīṇāṃ mauñjībandhanamiṣyate.
[xx] Dvividhā striyo brahmavādinyaḥ sadyodvāhā. Tatra brahmavādinīnām agnīndhanaṃ vedādhyayanaṃ ca. Hārītasmṛti.
[xxi] Ācāryā svayaṃ vyākhyātrī| indravaruṇa. Aṣṭādhyāyī 4.1.49
[xxii] Gobhila Gr. S. 1-3.
[xxiii] Divedvi, K.D., *Vaidic Sāhitya Evaṃ Saṃskṛti,* p.346.
[xxiv] Trivṛt vai śilpam- nṛtyaṃ gītam vāditam iti. Kauṣītaki Brāhmana 29.4
[xxv] Ātmā-saṃskṛtirvāva śilpāli. Etairyajamāna ātmānaṃ saṃskurute. Et Br. 6.27. G Br 2.6.7
[xxvi] Adhi peśāṃsi vapate nṛtūriva. Rig Veda 1.92.4
[xxvii] Saṃrabhyā dhīrāḥ svasṛbhiranartiṣuḥ. Rig Veda 10.94.4
[xxviii] Aṣāḍhā, Sahamanā Sahasravīryā. Yajurveda 13.26
[xxix] Rigveda 10.159.5
[xxx] Taittirīya Saṃhitā 2.2.8.1
[xxxi] Abhedananda,Swami, India And Her People, p. 255 -267
[xxxii] Yajurveda 22.22
[xxxiii] Atharveda 1.14.3
[xxxiv] (Rājataraṅgiṇī 7.200)
[xxxv] http://en.wikipedia.org/wiki/Women_in_India

Reference Books:

- Chandra, Ishwar, *Ṛgveda,*Parimal Publication, New Delhi, 2011.
- Kashyap, R.L., *Taittirīya Samhitā,* Sri Arbindo Kapali Shshtri Institute of Vedic Culture, Banglore, 2005.
- Swami, Satyaprakash, *Śathapathabrāhmaṇa*, Vijaykumar Govindram Hasanand, Delhi, 2018.
- Dutt, M.N. (Edi), *Mahābharata of Vyāsa*, Parimal Publication, New Delhi, 2008.
- Mishra, Mandan, *Kātyāyan Śrout Sūtra,* Shri Lal Bahadur Shashtri Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth, New Delhi, 2009

- Pandey, Umesh Chandra, *Āpsthambha Dharma Sūtra,* Chaukhambha Sanskrt Pratisthan, Delhi, 2006.
- Pandey, Umesh Chandra, *Viṣṇu Dharma Sūtra,* Chaukhambha Sanskrt Pratisthan, Delhi,2009
- Pathak, Amal Shib, *Kāma Sūtra of Vātsyāyana*, Choukhambha Publication, Delhi, 2014
- Jolly, Julius, *Viṣṇu Smṛiti,* Asiatic Socity, Calcutta, 1881.
- Jolly, Julius., *Bṛhspati Smṛiti*, Oxfort University Press, New York, 1889
- Swain, Braja Kishor, *Nārada Smṛiti,* Choukhambha Publication, Delhi, 2015
- Vidyachandra, Kashiratna, *Manu Smṛiti*, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 2012.
- Bṛhadāraṇyakopaniṣad with Śāṅkarabhāṣya, Geeta Presha, Gorakhpur.
- Tandan, Dr.Kiran, 1994, *Bhāratīya Saṃskṛti*, Eastern Book Linkers, Delhi,2005.
- Bhargava, Rajeev, 2009, *Politics And Ethics Of The Indian Constitution* , Oxford University Press, USA.
- Dutt, Romesh C, *The Civilization of India* p 21-22
- Durant ,Will, *Story of Civilization: Our Oriental Heritage* - MJF Books.1935 p. 401
- Dvivedi, Dr. Kapildev, *Men Samājaśāstra, Arthaśāstra Aur Śikṣāśāstra*, Vishvabharti Anusandhan Parishad, Gyanpur(Bhadohi) U.P., 2002
- Altekar, A.S.,*The Position of Women in Hindu Civilization*, Motilal Banarsidass Publishers, Delhi, 2005
- Mishra, Vidyanivas, *Vedārtha Mñjarī*, Ritvija Prakashan, Delhi, 1995.
- Radhakrishnan, S., Religion and Society, South Asia Books, Delhi,1995.
- *Oxford Advanced Learners Dictionary*, Oxford University Press; 9th Revised edition, 2014.
- *Macmillan Dictionary English Dictionary*, MacMillan/A. & C. Black; 2 Pap/Cdr editions, 2012.

योग दर्शन का विश्वव्यापी स्वरूप

डॉ. नवनीत कुमार

भौतिकता एवं वैज्ञानिकता की दृष्टि से आज मानव अत्यन्त समृद्ध है। किन्तु आध्यात्मिक, नैतिक, धार्मिक आदि दृष्टि से उसका विकास अवरूद्ध हो रहा है। जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में तरह तरह की समस्याएँ निर्मित हो रही है। स्वास्थ्य की दृष्टि से देखें तो आज जीवन में कई प्रकार की भयानक शारीरिक, मानसिक, मनोकायिक आदि व्याधियाँ आक्रमण कर रही हैं। ऐसी परिस्थिति में हर व्यक्ति ऐसा बहुप्रभावित समाधान का उपाय ढूंढ रहा है। ऐसे में योग विद्या निर्विकल्प प्रणाली के रूप में प्रयुक्त हो रही है। सारे योग शास्त्र एक मत से इस वास्तविकता को स्वीकार करते हैं। गरूड़ पुराण में कहा गया है -

भवतापेन तप्तानां योगोहि परमौषधम्।[1]

अर्थात् विभिन्न प्रकार के सांसारिक कष्ट पीड़ा तथा दु:खों से ग्रसित व्यक्तियों के लिए योग ही एक मात्र परम औषधि है।

योगदर्शन की महत्ता एवं योगनिर्दिष्ट विधियों का वर्णन श्रुति, स्मृति, पुराणादि धार्मिक ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। वैदिककाल भारतीय संस्कृति का प्राचीनतम समय माना जाता है। संहिताओं एवं उपनिषदों आदि में योग का विषद वर्णन देखने से उसकी अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्यापकता प्रकट होती है। ऋग्वेदीय संहिताओं में योगाभ्यास-सूचक मन्त्र बहुलता से उपलब्ध होते है[2] और उसी प्रकार अथर्ववेद में भी।[3] ब्राह्मण एवं आरण्यकों में भी योग-सम्बद्ध वर्णनों की कमी नही हैं।[4] 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' प्राचीन योग-विद्या का ग्रन्थ है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में योगमुद्रावस्थित मूर्त्तियों की उपलब्धि से भी उसकी व्यापकता प्रकट होती है।[5] 'महाभारत', 'भागवत', 'विष्णु पुराण', 'याज्ञवल्क्य स्मृति', योगवासिष्ठ' आदि में योग का विस्तृत विवरण मिलता है। शिक्षा ग्रन्थों में भी योगमूलक विषय वर्णित है।[6] समस्त योगसाधना एकमात्र अपौरुषेय वेदों पर ही आधारित है। शैवागम के अन्तर्गत तथा व्याकरण, आगमों में भी वाग्योग अथवा शब्दयोग नामक योग प्रणाली का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि की 'वाक्यपदीय' की व्याख्या के अनुशीलन कर्त्ता वाग्योग से परिचित थे। व्याकृत शब्द की वैखरी दशा से मध्यमा पार कर के पश्यन्ती दशा में आना इस योग का मुख्य उद्देश्य है।[7] निरुक्त में यौगिक विषय स्पष्टत: स्वीकार किये गये हैं।[8] बौद्ध-ग्रन्थों में योग का विशद वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त 'धर्म-चक्र प्रवर्तनसूत्र' में है। जिनमें अष्टांगयोग (आर्य अष्टांगिक मार्ग भी है)[9]। जैन-दर्शन-गत योग के भी पाँच यम ही मुख्य साधन है, जिनको अनुव्रत कहते है। महावीर स्वयं प्रसिद्ध योगी थे और उनके जैन-दर्शन में योग का विशिष्ट वर्णन है। जब वेद-बाह्य बौद्ध, जैन सदृश अनार्ष दर्शनों में ही योग का इतना महत्त्वपूर्ण स्थान है, तब भारतीय आर्ष[10] दर्शनों में योग सर्वत्र व्याप्त है - इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

जन-साधारण के व्यावहारिक क्षेत्र मे भी योगदर्शन की उपादेयता अतुलनीय है। अन्यान्य दर्शन-

सम्मत दुख:त्रय चाहे जन-सामान्य को बोधगम्य भी न हो, किन्तु योगोक्त पंचक्लेशों की व्यापकता सर्वविदित है। अविद्या, अस्मिता, राग-द्वेषादि क्लेष एवं प्रमाण, विपर्य, निद्रा आदि वृत्तियाँ हमारे व्यावहारिक जीवन के अभिन्न अंग है। योग में इन सबका ग्रहण एवं उनकी वृत्तियों की सुदृढ नींव पर ही योग एवं मनोविज्ञान का विशाल दुर्ग प्रतिष्ठित है। किन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से भारतीय मनोविज्ञान का श्रीगणेश होता है।[11]

योग-विद्या के सिद्धान्त चित्त से सम्बद्ध रोगों के अपाकरण में भी अत्यन्त उपयोगी है। अधिकांश रोग मानसिक होते हैं और उनके प्रभाव से शरीर में भी विकार उत्पन्न होते हैं, इस विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विद्वान् एकमत हैं। स्नायविक रोग तो मन से पूर्णत: सम्बद्ध है। अधिकांश रोग चित्त (मन) से सम्बद्ध है; जैसे कि फ्रायड-सम्प्रदायी मनो विश्लेषण वादी भी मानते है, अत: निराकरण बाह्य शारीरिक चिकित्सा से नही अपितु मानसिक चिकित्सा से ही सम्भव है, आधुनिक मनोविज्ञान के चेतन एवं अचेतन मन, अस्वाभाविक मन, दूरदर्शन, स्पर्शन विषयक सिद्धान्त भी योग के क्षेत्र के अन्तर्गत ही हैं। इस विषय में जी कौस्टर का 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलोजी स्प्रिंग एण्ड गोज़'[12] का 'योग फोर टुडे' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

डा. के. टी. वेदानन ने 'योग' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि योग तथा मनोविश्लेषण दोनों ही मानवीय चिकित्सा पद्धतियाँ है किन्तु उन दोनों में योग उच्चतर है - "Yoga and Psycho-analysis are both therapentic systems. Yoga goes much further then that"

योग-दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनों का यत्र-तत्र खंडन मिलता है, किन्तु योग के समक्ष समस्त दर्शन नतमस्तक हो जाते हैं। जीवन के हर क्षेत्र में योग के सिद्धान्तों की महत्ता है। भूमि की माप, संवत्सर के विभाजन, अन्तरिक्ष का मानचित्र, सूर्य, चन्द्र तथा विभिन्न नक्षत्रों के पथ का निर्णय, पदार्थों की रचना का विश्लेषण, पशु-पक्षी आदि की प्रकृति एवं भाषा का विज्ञान, खगोल-शास्त्र इत्यादि अनेक विज्ञानों के बीज योगशास्त्र में विद्यमान हैं। हमारे प्राचीन मनीषियों ने योग द्वारा इन विषयों का साक्षात्कार करके ही तत्-तत् विशिष्ट शास्त्रों का प्रणयन किया था। इसलिए बाह्यविज्ञानों के क्षेत्र में भी भारत की पहुँच अगाध है।

महर्षि पतञ्जलि ने ईसा से 200 वर्ष पूर्व 'योग दर्शन' की रचना की। पतञ्जलि कृत 'योग सूत्र' योग जगत का अद्वितीय ग्रन्थ हैं। जो आज सम्पूर्ण विश्व का मार्गदर्शन कर रहा हैं। योग सूत्र का प्रथम सूत्र है 'अथ योगानुशासनम्'[13] अब योग की शिक्षा देने वाले ग्रन्थ को आरम्भ करते हैं। धरती पर अनेक स्थानों गुरुकुलों में, मठों में, आश्रमों में, विभिन्न योगाचार्यों द्वारा पढाया जा रहा था; भाव यह है माला के मोती बिखरें हुए थे पतञ्जलि ने उसे एक माला में पिरोनें का कार्य किया जो अद्वितीय है। ग्रन्थ चार पादों में विभक्त है और उसमें 195 सूत्रों की यह माला पूर्ण आत्मानुभव से पिरोई हुई है।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां, मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां, पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।[14]

योग से चित्त की शुद्धि, व्याकरण से पद की शुद्धि, वैद्य से रोगी के शरीर की शुद्धि होती है, जो योग के प्रवर्त्तक महर्षि पतञ्जलि को मैं नतमस्तक होता हूँ। यहाँ हमें समझना जरुरी है कि योग मात्र चित्त की शुद्धि करता है न कि शरीर की। चित्त में मन, बुद्धि और अहंकार समाहित है। चित्त मन से भी अत्यन्त सूक्ष्म है।

योग का शरीर पर प्रभाव कैसे पड़ता है ऐसा योग शास्त्रों में कहा गया है कि योगाभ्यास करने वाले का शरीर कभी न तो रोगों से ग्रसित होता है और न ही जल्दी बुढापा आता है इस पक्ष पर प्रकाश डालते हुए श्वेताश्वतर उपनिषद् में लिखा है–

नतस्य रोगो न जरा न मृत्यु। प्राप्तस्य योगाग्निमयं शरीरम्।। [15]

अर्थात् 'योगाभ्यास करने वाले के शरीर में न तो रोग होता है, न बुढापा आता है। वह योग रूपी अग्नि मय शरीर को प्राप्त करता है।' यही कारण था हमारे ऋषि–मुनि विभिन्न औषधि तथा चिकित्सकीय पद्धति के अभाव में भी सम्पूर्ण रूप से यौवन सम्पन्न और दीर्घ जीवी रहते थे। घेरण्ड संहिता में भी कहा गया है – 'न च रोगों न च क्लेश आरोग्यं च दिने दिने'।।16 अर्थात् योग करने वालों को न कभी रोग सताता है, न किसी प्रकार का मानसिक क्लेश। वह प्रतिदिन आरोग्य की प्राप्ति करता जाता है।

यम–नियम का पालन किये बिना ध्यान और समाधि का सिद्ध होना अत्यन्त कठिन है। यम–नियमों में भी जो पुरुष यमों का पालन न करके केवल नियमों का पालन करना चाहता है, उससे नियमों का पालन भी अच्छी प्रकार नही हो सकता।

यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यमान् पतत्यकुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्।।[17]

'बुद्धिमान् पुरुष नित्य निरन्तर यमों का पालन करता हुआ ही नियमों का पालन करें , केवल नियमों का नहीं; जो यमों का पालन न करके, केवल नियमों का करता है वह साधन पथ से गिर जाता है।' 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।'[18] 'यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि– ये योग के आठ अंग हैं।' 'अहिंसास्त्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।'[19] 'अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँचों का नाम यम है।' इन पाँचों यमों का सब जाति, सब देश और सब काल में पालन होने से एवं किसी भी निमित्त इनके विपरीत हिंसादि दोषों के न घटने से इनकी संज्ञा 'महाव्रत' हो जाती है। 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।'[20]

'जाति, देश, काल और निमित्त अनवच्छिन्न यम का सार्वभौम पालन महाव्रत होता है।' सार्वभौम को विस्तृत से समझें – मनुष्य और मनुष्येतर स्थावर–जङ्गम प्राणी, हिन्दू–मुसलमान, सनातनी–असनातनी आदि भेदों से किसी के साथ भी यमों के पालन में भेद न करना 'जातिगत सार्वभौम' महाव्रत है।

भिन्न–भिन्न खण्डों, देशों, प्रान्तों, ग्रामों, स्थलों एवं तीर्थ–अतीर्थ आदि के भेद से यम के पालन में किसी प्रकार भेद न रखने से वह 'देशगत सार्वभौम' महाव्रत होता है।

वर्ष, मास, पक्ष, सप्ताह, दिवस, मुहूर्त्त, नक्षत्र एवं पर्व-अपर्व आदि के भेदों से यम के पालन में किसी प्रकार भी भेद न रखना 'कालगत सार्वभौम' महाव्रत कहलाता है।

यज्ञ, देव-पूजन, श्राद्ध, दान, विवाह, न्यायालय, क्रय-विक्रय, आजीविका आदि के भेदों से यम के पालन में किसी प्रकार का भेद न रखना 'समय गत सार्वभौम' महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि किसी देश अथवा काल में, किसी जीव के साथ, किसी भी निमित्त से, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, आदि का आचरण न करना तथा परिग्रह आदि न रखना 'सार्वभौम महाव्रत' है।

एलोपैथी, आयुर्वेद, होम्योपैथी जैसी अनेक चिकित्सा पद्धतियों में घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, वैमनस्य व क्रोध आदि को कम करने का कोई उपाय नही हैं, परन्तु योग एक मात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा इन सभी को निर्मूल (पूर्ण समाप्त) कर सकता है। योग दर्शन केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी व्याप्त है। इसकी उदारता, व्यावहारिकता एवं वैज्ञानिकता तथा अलौकिक सिद्धियों ने विदेशों को भी आकर्षित किया और वे भी भारत में आकर योगविद्या का अभ्यास करते हैं।

अमेरिका के साधुओं का ऋषीकेष आदि में आकर योगाभ्यास करना और रूस आदि देशों में, भारत में कतिपय योगियों का बुलाया जाना, योगविद्या की महत्ता एवं व्यापकता का ही परिचायक है। लन्दन, अमरीका आदि में लगभग डेढ सौ योगवेदान्त-केन्द्र हैं। रामकृष्ण मिशन आश्रम, हालीउड का शान्ति आश्रम, सेक्रेमेन्टो-आश्रम केलीफोर्नियाँ आदि सुप्रसिद्ध हैं। ये केन्द्र प्रयोगशालाओं के रूप में खुले हैं तथा इनमें भारतीय योगियों व सन्यासियों के शिष्यत्व में, वहाँ के निवासी भारतीय साधना-पद्धति से आसन, प्राणायाम, ध्यानादि का अभ्यास करते है। योग सार्वभौमिक, सार्वकालिक व सार्वजनीन होने के कारण हम योग के सिद्धान्तों और अंगों को स्वीकार करते हैं। योग को समग्र रूपान्तरण का विज्ञान कहा गया हैं।

सारांश– 'योगीश्वरं याज्ञवल्क्यम्' कहकर जिनका अनुस्मरण ब्रह्मयज्ञ के समय हम करते हैं, उन मुनि याज्ञवल्क्य का आदेश है- 'अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्'। मानवमात्र का परम धर्म यही है कि योगसाधना से आत्म दर्शन करे। श्रुति माता भी कहती है- 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः।'

'योग दर्शन ने हमेशा से ही विद्वानों, दार्शनिकों को अपने प्रति आकर्षित किया है। यह इसी बात का द्योतक है कि व्यास से लेकर आधुनिक युग के विद्वानों ने योग दर्शन को समझने व समझाने के लिए टीकायें व भाष्य लिखे हैं। यह क्रम अनवरत रूप से आज भी चल रहा है। योग दर्शन और भगवद्गीता का लगभग विश्व की सम्पूर्ण भाषाओं मे अनुवाद हो चुका है। इस ग्रन्थ पर व्यास, शंकराचार्य वाचस्पति मिश्र, विज्ञान भिक्षु व अलग-अलग सम्प्रदायों के विद्वानों ने अपनी-अपनी पुस्तके लिखी है। आधुनिक युग में स्वामी हरिहरानन्द अरण्य, श्री बी.के.एस. आयगर, आचार्य रजनीश, डा. करमबेलकर, श्री जे. एच. बूडस, डा. राजेन्द्र लाल मिश्र, डा. सम्पूर्णानन्द इत्यादि अनेकों नाम हैं जिन्होंने योग दर्शन एवं योग साधना पर कार्य किये हैं।'[22]

अष्टांग योग से पञ्चकोष, अष्टचक्र और अन्तःकरण पर विशेष प्रभाव पड़ता हैं। योग एक मात्र

ऐसा साधन है जिसके द्वारा मानव घृणा, द्वेष, ईर्ष्या, वैमनस्य व क्रोध आदि को निर्मूल (पूर्ण समाप्त) कर सकता है।

संदर्भ :–

1. गरूढ पुराण
2. ऋग्वेद 10/114/4, 1/50/10, 3/52/10, 10/177/1।
3. अथर्ववेद 10/2/31-32, 10/8/43 इत्यादि।
4. ऐतरेय आरण्यक - 2/17, 3/1, 3/4, 3/6, 3/1, 1/3/2, 2/3/4। तैत्तिरीय आरण्यक - 2/2, 2/7, 2/9। शतपथ ब्राह्मण - 1/4/4/7, 14/3/2/3। तैत्तिरीय ब्राह्मण - 3/10/8/6, 1/2/6। टिप्पणी - संहितादि में योग विषयक वर्णनों का विशेष विवरण श्री राम शंकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित 'पातञ्जल-योग-दर्शन' की भूमिका में है।
5. द्रष्टव्य - भारतीय संस्कृत इतिहास, सत्यकेतु विद्यालंकार - पृष्ट 66।
6. नारदीय शिक्षा - 12।
7. इदमाद्यं पदस्थानं सिद्धिसोपानपर्वणाम्।
   इयं सा मोक्षमाणानामजिह्मा राजपद्धति:।। (वाक्यपदीय 1/17)
8. निरुक्त अध्याय 13-14।
9. द्रष्टव्य - हिन्दू. सं. (पृ. 238) तथा 'पातञ्जल-योग-प्रदीप' (पृ. 353-363)।
10. न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त ये षड्-दर्शन आर्ष कहलाते हैं।
11. द्रष्टव्य - 'योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलाजी' - पृष्ट 88।
12. चैप्टर 1,3,5 तथा लन्दन में स्थित रामकृष्ण वेदान्तकेन्द्र से प्रकाशित Vetant for the East and West के 89 वें सीरीज (मई, जून 1966) के अन्तर्गत डा. एच.एल. शर्मा कृत 'दि सुपर कोन्शेस' लेख द्रष्टव्य हैं।
13. योगदर्शन 1/1
14. विज्ञानभिक्षु, योग वार्तिक
15. श्वेता उ - 2/12
16. घेरण्ड संहिता
17. मनुस्मृति 4/204
18. योगदर्शन 2/29
19. योगदर्शन 2/30
20. योगदर्शन 2/31
21. लन्दन से प्रकाशित Vedanta for the East and West के विभिन्न सीरिज द्रष्टव्य हैं।
22. योगदर्शन, डा. रमाकान्त मिश्र, पृ.6

सहायकाचार्य योग, संविदा

राष्ट्रिय संस्कृत संथान, जयपुर परिसर, जयपुर

गांधीवाद एवं भारत

डॉ. ज्योति गुप्ता

Non-Violence is the greatest force at the disposal of mankind. It is migntier than migntiest weapons of destruction devised by the ingenuity of man.

अहिंसा को सशक्त शस्त्र के रूप में मानने के प्रबल समर्थक महात्मा गांधी के सम्प्रत्ययों एवं प्रयोगों (Concept Practice) का मिश्रण ही गांधीवाद है । दर्शन शास्त्र की दृष्टि से वे कोई शास्त्रीय दार्शनिक नही हैं, तथापि उन्होंने जगत् के महानतम धार्मिक एवं दार्शनिक आचार्यों से सनातन सत्यों को ग्रहण कर, व्यावहारिक जीवन के लिए उपयुक्त एक नवीन दृष्टिकोण प्रस्तुत किया है।

'हिन्द स्वराज्य', 'दक्षिण अफ्रीका में सत्याग्रह,' आत्मकथा-'सत्य के साथ मेरे प्रयोग', 'सर्वोदय', 'सत्याग्रह' तथा 'मेरे समकालीन पुस्तकों के रचनाकार एवं 'यंग इण्डिया' 'नवजीवन', 'इण्डियन ओपिनियन', 'हरिजन सेवक' इत्यादि समाचार पत्रों के सम्पादक रहे। गांधी वस्तुत : जीवन के व्यावहारिक पक्ष के चिन्तक थे। प्रस्तुत लेख में, गांधी के विचारों का भारत के सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं विशेषकर राजनैतिक वातावरण पर पड़े प्रभावों का समासरूप में समीक्षा करने का प्रयास किया गया है।

सत्य, अहिंसा, सत्याग्रह, सर्वोदय, बुनयादी, शिक्षा, स्वदेशी, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह, श्रम, सर्वधर्मसमभाव, आत्मपरिवर्तन, हृदय परिवर्तन जैसी अनेक अवधारणांए है, जिनको गाँधी ने मात्र नैतिकता के आधार पर व्यवस्थित किया। इन सभी अवधारणाओं को गांधी ने आत्मसात् किया एवं व्यावहारिक बनाकर देश में एक नूतन विचारधारा का सूर्योदय किया। गांधी ने मद्यपान का निषेध किया, स्त्री-पुरूष समानता पर बल दिया, अस्पृश्यता, स्वच्छता इत्यादि पर उनके विचारों ने उनको जनमानस में क्रान्तिकारी, परिवर्तनकारी नेता घोषित किया।

उनके अनुसार मद्यपान जैसी मादक वस्तु का सेवन पारिवारिक दृष्टिकोण से अनुचित है। इसे वह न केवल नैतिकता की दृष्टि से दुर्बल बनाने वाली वस्तु मानते थे, प्रत्युत वे शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी इसके विरोधी थे। स्त्री विषयक उनके विचार वैदिक काल से प्रेरित थे। स्त्री को पुरूष के समान अधिकारिणी मानते थे। वे मनु के इस विचार को कि स्त्री को पुरूष के अधीन रहना चाहिए, नहीं स्वीकारते थे।

अस्पृश्यता एवं स्वच्छता पर उनके कार्यों ने भारत की सामाजिक एवं धार्मिक मान्यताओं में परिवर्तन किया। इसके अतिरिक्त वे गीतोल्लेखित वर्णव्यवस्था 'चतुर्वर्ण मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' को ही स्वीकारते थे। उनका भी मानना था कि वर्ण व्यवस्था मूल रूप में समाज के सदस्यों की क्षमताओं

के अनुसार, उनके कर्तव्यों के विभाजन की वैज्ञानिक प्रणाली है, न कि उनके मध्य श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना पैदा करना।

गांधी का त्रावणकोर 'वाइकोम सत्याग्रह' हरिजन उद्धार की दृष्टि से भारत के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना का प्रारम्भ था। अस्पृश्यता के संबंध में उनका कहना था कि आजकल हिन्दू धर्म में अस्पृश्यता देखने मे आती है, वह इसका एक अमिट कलंक है। अस्पृश्यता स्मरणातीत काल से नहीं है, ये हमारे पतन की चरम सीमा का संकेत है। अस्पृश्यता का यह वर्तमान रूप ईश्वर और मनुष्य के खिलाफ किया गया भयंकर अपराध है, एवं विष के समान है, जो हिन्दू धर्म के प्राणों को ही लील लेगा। सभी धर्मो में पायी जाने वाली अस्पृश्यता को उन्होंने स्वच्छता का अंश माना है । वे कहते थे कि अस्पृश्य को अस्पृश्य इसलिए माना जाता है क्योंकि वे जानवरों को मारते हैं, मांस, रक्त, हड़ियाँ और मैला आदि को छूते हैं, इस दृष्टि से हर नर्स, डॉक्टर तथा इन सबको स्पर्श करने वाला प्रत्येक व्यक्ति अस्पृश्य है। जबकि नियम यह है कि चीज गंदी हो गयी या आदमी गंदा हो गया तो उसे छूना नहीं चाहिए, लेकिन ज्यों ही उसका गन्दापन दूर हो जाये त्यों ही उसे छू सकते है। इसलिए सफाई का काम करने वाला या माँ जिसे अपने काम के कोई पैसे नहीं मिलते, तब तक गन्दे और अस्पृश्य माने जायेगें, जब तक वे स्नान कर गन्दगी को दूर नहीं कर देते। इसलिए हरिजनों को हमेशा के लिए अस्पृश्य न माना जाये, बल्कि उसे सबसे बड़ा समाजसेवी मानना चाहिए।[1]

इस प्रकार के उनके समाजसुधारात्मक कार्यों से वास्तविकता में जनता के जीवन जीने के तरीकों में बदलाव आया। गांधी के विचार समाजोत्थान तक ही सीमित नहीं थे, उनकी वृहद् सोच ने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं स्वदेश में वस्तु एवं कपड़ा निर्माण की सीख दी। गांधी की यही सीख लोगो के स्वरोजगार प्रेरणा की स्त्रोत बनी।

आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु चरखे के प्रयोग से उन्होंने जनता को लघु एवं कुटीर उद्योग की ओर प्रोत्साहित किया। 150 के लगभग उद्योग आज इस श्रेणी के है। जिनका देश की ऋछ्ह एवं रोजगार की दृष्टि से महत्वपूर्ण योगदान है। उन्होने चरखे को आध्यात्मिकता से जोड लोगो को स्वावलम्बी बनने की प्रेरणा दी। 'गीता में चरखा'[2] विषय पर उन्होंने विचार व्यक्त किये जो नवजीवन समाचार पत्र में प्रकाशित हुआ कि जो यज्ञ किए बिना भोजन करता है, वह चोरी करता है। इसमें यदि यज्ञ के अर्थ को समझ लें तो गांधी ने जो अर्थ किया है, उसे समझने में कठिनाई नहीं होगी। यज्ञ से वर्षा होती है जिसका सीधा अर्थ है, यदि व्यक्ति श्रम करेगा तो पेड़ लगेगा और पेड़ वर्षा मे सहायक होगा। लोक कल्याण हेतु किया गया शारीरिक श्रम ही सच्चा यज्ञ है। इस नाश की घड़ी में चरखा ही ऐसा है जो स्थिति सुधार सकता है इसलिए चरखा ही सच्चा यज्ञ है। उनके इस प्रकार के दार्शनिक विचार प्रत्येक व्यक्ति में कर्मनिष्ठता हेतु प्राण फूंकते थे।

हृदय परिवर्तनकारी एवं हृदयग्राही उनके विचार शिक्षा व्यवस्था पर भी चरितार्थ हुए है। उनके अनुसार शिक्षा ऐसी होनी चाहिए, जो आत्मनिर्भर बनाए। हृदय, बुद्धि, एवं शरीर का विकास करे।[3]

आज हमारे देश की जो डिग्री प्रदान करने वाली शिक्षा है, वह हृदय परिवर्तनकारी तो है ही नहीं, पूर्णतः आत्मनिर्भर बनाने वाली भी नहीं है। गांधी ने रोजगारोन्मुखी एवं बुनियादी शिक्षा पर बल दिया, जिसे यदि हमारे देश की शिक्षा व्यवस्था पर पूर्णतः लागू किया गया होता तो बेरोजगारी जैसी समस्या कदाचित समाप्त हो गयी होती।

इस प्रकार गांधी के शराबबन्दी, वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता, शिक्षा व्यवस्था सम्बन्धी विचार, स्वयं मैला ढोना, एक धोती पहनना, चरखा चलाना, इस प्रकार के सत्य के प्रयोग बल पर दिये गये संदेशों ने देश को विचारों की अमूल्य निधि प्रदान की तथा सर्वधर्म समभाव जैसे उच्च विचारों से देश को अभिभूत किया। 'सादा जीवन उच्च विचार' जैसे आदर्श को वास्तविकता के धरातल पर प्रतिस्थापित किया।

इन विचारों के अतिरिक्त सत्य एवं अहिंसा गांधी दर्शन के मूल एवं सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती है। गांधी ने दार्शनिक आचार्यों से सनातन संस्कृति एवं सभ्यता के तत्त्व सत्य एवं अहिंसा को ग्रहण किया एवं नूतन दृष्टिकोण से इनकी व्याख्या कर मानव जीवन में इनको व्यावहारिकता प्रदान की । अहिंसा के बल पर ही उन्होनें सर्वोदय, प्रजातन्त्रात्मक भावना, सर्वधर्मसमभाव तथा सत्य के बल सत्याग्रह, ब्रह्मचर्य, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि आत्मपरिवर्तन जैसी अवधारणाओं को नैतिकता के आधार पर व्यवस्थित किया । उनका मानना था कि सत्य एवं अहिंसा आसृष्टि समाप्ति तक प्रासंगिक रहेगें।

वस्तुत : गांधी की अहिंसा एक सामाजिक सम्प्रत्यय (Social Concept) है, जिसे वे मानव अस्तित्व, उसके विकास एवं प्रजातन्त्र के लिए सर्वांगपूर्ण अपरिहार्य मानते थे। अहिंसा मानव अस्तित्व के साथ ही अस्तित्व में आ गयी, यदि ऐसा न हुआ होता तो मनुष्य आपस में संहार करके अपने अस्तित्व को समाप्त कर चुका होता । जब वे सत्य को परिभाषित करते है, तो वास्तविकता में एक दार्शनिक दृष्टिगोचर होते है। उनके अनुसार भईश्वर के असंख्य नामों में से यदि एक का चयन किया जाये तो वह सत्य का ही होगा अतः वस्तुतः सत्य ही ईश्वर है।'[4] सत्य गांधी के लिए अनुसंधान हैं और अहिंसा संधान, शायद इसी कारण उन्होंने अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह एक प्रमुख समाधान के रूप में प्रयोग किया। 'सत्याग्रह' गांधी की राजनैतिक दर्शन को सबसे बड़ी देन है। गांधी ने सत्याग्रह के ही सन्दर्भ में 'सविनय अवज्ञा' तथा 'असहयोग' जैसे शब्दों का प्रयोग किया जो सत्याग्रह की विराट अवधारणा के संगी थे। गांधी का सत्याग्रह एक राजनीतिक रणनीति है जिसके तहत समझौता वार्ता, आत्मपीड़न,उपवास, असहयोग, सविनय अवज्ञा, हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार धरना तथा स्वैच्छिक प्रवजन (Migration) शामिल है।

मेरे मत में सत्याग्रह एवं अहिंसा के अतिरिक्त गांधी के अधिकांश विचारों का भारत की सामाजिक-आर्थिक एवं धार्मिक स्थितियों में सकारात्मक प्रभाव पड़ा, वस्तुतः इन विचारों ने हमें स्वयं की परतन्त्रता से मुक्ति दिलाई। विद्यालयी दिनों से ही हमारे मस्तिष्क में गहराई से इस बात की जड़े जमा दी गई

कि भारत को आजादी अहिंसा के बल पर मिली इसलिए गांधी के लिए कहा भी जाता है कि 'दे दी हमें आजादी बिना खड्ग बिना ढाल, साबरमती के सन्त तूने कर दिया कमाल।' सत्याग्रह, भूखहड़ताल जैसे आन्दोलन ने अग्रेजो को थोड़ा परेशान अवश्य किया, पर यह बात आजादी के इतने वर्षों बाद भी विचारणीय है कि क्या वास्तविकता में आजादी अहिंसा के बल पर ही मिली है। मेरे मत में गांधी के अहिंसावादी, शान्तिवाद के सिद्धान्त ने स्वतन्त्रता संग्राम एवं स्वतन्त्रता प्राप्ति में यद्यपि महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की हैं, परन्तु निर्धारक तत्त्व तो लम्बे समय तक चला द्वितीय विश्वयुद्ध रहा, जिसने यूरोप एवं एशिया के बहुत बडे भूखण्ड को तबाह कर दिया तथा जिसमें पूरी दुनिया के 80 मिलियन अर्थात् 4% लोग मारे जा चुके थे। हताश ब्रिटेन द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद इस स्थिति में नहीं था कि वे भारत सहित अपने अन्य उपनिवेशों को यथावत् रख सके। जिन उपनिवेशों ने अग्रेजी सत्ता का विरोध नही किया था, द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उनको भी स्वतन्त्रता मिल गयी। 'फूट डालो और राज करो' की नीति से ही अंग्रेजो ने भारत पर शासन किया। उनको देश से बाहर निकलना तब ही हुआ जब वे संसार के सबसे समृद्ध राष्ट्र को गरीब बना चुके थे। अर्थशास्त्री उत्स पटनायक के अनुसार 1938 तक अंग्रेज हमारे देश से 44.6 ट्रिलियन डॉलर लूट चुके थे। यही हमारी स्वतन्त्रता का दूसरा बड़ा कारण बना।

भारत को स्वतन्त्रता अहिंसा के दम पर मिली है, यह मिथक जो भारतीयों के द्वारा गाया जाता है वस्तुतः वह शासन के उत्तराधिकारियों द्वारा उत्पन्न किया गया है। 1947 के बाद से अभी तक भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के अन्य बाह्य एवं आन्तरिक कारणों की तरफ देखा ही नहीं गया। भारत की स्वतन्त्रता केवल आन्तरिक क्रान्ति का नहीं, अपितु विश्व पटल पर हो रही विविध घटनाक्रमों का भी परिणाम है। भारत की स्वतन्त्रता की आशा पहली बार उस समय टिमटिमायी जब 1904-05 में रूस के साथ युद्ध में जापान की विजय हुई। पहली बार किसी यूरोपीय देश को एशियाई देश ने हराया। द्वितीय विश्वयुद्ध में जर्मनी, जापान, इटली आदि का ब्रिटेन, फ्रांस एवं यू.एस. की सेना से युद्ध करना तथा पश्चिमी देशों के उपनिवेशों को उनसे मुक्त करवाने के उद्देश्य ने हमारी स्वतन्त्रता में एक उत्प्रेरक का काम किया। गांधी ने इस परिस्थितियों के बल पर 1942 में भारत छोड़ो आन्दोलन प्रारम्भ किया।

इसके अतिरिक्त एक और प्रमुख घटना हुई जिसको इतिहास के पन्नों पर नगण्य सा स्थान मिला। 18 फरवरी 1946 के मुम्बई विद्रोह (Bombey Mutiny) के अन्तर्गत I.N.S. तलवार सिगनल्स प्रशिक्षण पोत में खराब खाने की शिकायत को लेकर हड़ताल हुई। उनकी मांगे थी -अच्छा खाना, भारतीय नौसैनिकों के लिए समान वेतन, आजाद हिन्द फौज सहित अन्य राजनीतिक बन्दियों की रिहाई। एडमिरल गाडफ्रे बमबारी को तैयार थे, नौसेना को नष्ट करने की धमकी दी, उसी समय लोगों की भीड़ गेटवे ऑफ इण्डिया पर नौसेनिकों के लिए खाना एवं मदद के लिए उमड़ी एवं वायु सेना ने

भी अंग्रेजो का साथ नहीं दिया। इस घटना से अंग्रेज भयाक्रान्त हो गये तथा भारत से अंग्रेजी सरकार की जड़ें हिलने लगी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति में गांधी के योगदान को नकारा नहीं जा सकता, किन्तु पूर्णत : अहिंसा के बल पर ही स्वतन्त्रता मिली इस पक्ष को स्वीकारने में मुझे कदाचित संकोच है। वस्तुतः आवश्यकता इस बात है कि उन नगण्य सेनानियों को पहचानकर उनके प्रति जरूरी कदम उठाना तथा इस ऐतिहासिक स्वतन्त्रता के व्याख्यान को पुर्नसन्तुलित करने की।

सत्ता हस्तान्तरण के साथ भारतीयों के मस्तिष्क में गहराई से बैठाये गये तथा स्वतन्त्रता के कारणभूत माने जाने वाले अहिंसा एवं शान्तिवाद को ही भारत की नीति एवं सिद्धांत माना गया। इस विषय में मेरा मानना है कि 1947 **के बाद भारत यदि भविष्य में होने वाली घटनाओं के प्रति सक्रियता दिखाता, न कि प्रतिक्रिया हेतु उनके घटित होने तक प्रतीक्षारत रहता, जैसा वस्तुतः भारत ने किया है। इसके साथ ही निकट भविष्य में होने वाले सीमा विवादो के विषय में पहले से ही सोचता तो शायद कश्मीर एवं हिमालयी सीमा की समस्या हम कब के सुलझा चुके होते ।** चीन अक्टूबर 1949 तक गहरी अनिश्चितता की स्थिति में था, तब तक भारत के पास पर्याप्त अवसर था, कि वह बलपूर्वक हिमालय की सीमा पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर देता। किन्तु भारत ने अपना आधारभूत सिद्धान्त घातक एवं विनाशकारी मिथक शांतिप्रिय देश के रूप में रखा, जो शांति मांग कर शांति प्राप्त करता है बजाय इसके की वह अपनी शांति को बनाये रखने की योग्यता को धारण करे । इसी का परिणाम हमने 1962 के भारत-चीन युद्ध के रूप में भुगता। उस युद्ध के साथ ही पूर्व प्रधानमंत्री नेहरू का 'हिन्दी-चीनी भाई-भाई' का अति आशावाद एवं शांतिप्रियता का मिथक टूट गया नेहरू की चीन के साथ गांधी प्रेरित शांतिवादी सम्बन्धों को बढ़ावा देने की नीति की, सरकारी अधिकारियों द्वारा आलोचना की गयी।

1950 में भारत के पास सुरक्षा परिषद् की स्थायी सदस्यता का प्रस्ताव आया। सुरक्षा परिषद् की स्थायी सीट पर अमेरिका एवं रूस ताइवान के राष्ट्रवादी चीन को हटाकर भारत को बैठाना चाहते थे। इस हेतु श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने अपने भाई नेहरू को पत्र लिखा तो तत्कालीन प्रधानमंत्री का उत्तर था 'संयुक्त राष्ट्र संघ' में हम इस बात का अनुमोदन नही करेंगे। हमारी दृष्टि में ये एक बुरी बात होगी, इससे चीन एवं हमारे बीच एक बिगाड़ भी होगा, हम सुरक्षा परिषद् में चीन की सदस्यता पर ही बल देते रहेंगे। शांतिप्रियता एवं मित्रता की हमारी नीति के बाद भी चीन आज भी हमारा शत्रु है।

एक विरोधाभास की स्थिति और भी है। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान बंगाल से अनाज सेना के लिए निर्यात किया गया, जिससे वहाँ भीषण अकाल पड़ा और ब्रिटिष शासन काल में वहाँ 30 लाख लोग मारे गये। तथा जब भारत का विभाजन हुआ तब भी बहुत से लोग मारे गये । इन सब का जब चिन्तन होता है तो मन में एक ही बात आती है क्या वास्तव में भारत का गणतन्त्र रक्तपात से उत्पन्न हुआ है?

गांधी परिभाषित अहिंसा का अर्थ किसी भी प्राणी को विचार, शब्दों एवं कार्यों से हानि न पहुँचाना है, यह अर्थ तब ही पूर्ण होता है, जबकि इसके मूल में इस नियम की सकारात्मक प्रेरणा हो। प्राणी मात्र के प्रति निरपवाद प्रेम आवश्यक रूप में विद्यमान हो प्रत्येक व्यक्ति के प्रति जाग्रत प्रेम या करूणा अहिंसा का सटीक मापदण्ड है। अहिंसा का अर्थ शाश्वत प्रेम में समाविष्ट है।

यदि अहिंसा ने ही स्वतन्त्रता में सर्वांगपूर्ण भूमिका अदा की है, तो पाकिस्तान विभाजन के साथ असंख्य सिक्खों एवं हिन्दुओं की हत्या, स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार इत्यादि रक्तपात की घटनायें न होती। गांधी ने असहयोग आन्दोलन के समय कहा कि अगर लोगो पर हम अपनी इच्छा जबरदस्ती थोपेगें तो हमारा जुल्म इस नौकरशाही के अंगभूत मुट्ठी भर अंग्रेजो के जुल्म से भी खराब होगा।[6] बिना जनमत सग्रंह के मुट्ठीभर लोगो की इच्छा के आधार पर भारत के टुकड़े एवं रक्तपात, जाडे एवं बारिश की ठिठुरन में पाकिस्तानी हिन्दुओं को मस्जिदें खाली करने के लिए गांधी का अनशन, गांधी के विचारों के विपरीत मालूम पड़ता है। गांधी जी ने दमनकारी शक्ति को झुकाने के लिए सत्याग्रह, भूख हड़ताल का सहारा लिया था। किन्तु रक्तपात जैसी क्रूरता करने वाले राष्ट्र को 55 करोड़ देने के लिए भी इनका प्रयोग करके अपने सिद्वान्तों के विपरित कार्य किया, ऐसा प्रतीत होता है।

जार्ज तन्हम के अनुसार 'भारत ने एक ऐसा दर्शन, जो धरातल पर व्यावहारिक नहीं था उसका बोझ सहा है। भारत ने रणनीति के अभाव में इसकी बहुत बड़ी कीमत चुकायी है।'

जब भारत में पुलवामा जैसे आतंककारी हमले हो रहे हैं और भारत को विश्व की महानतम शक्ति बनने की महत्वाकांक्षा है, तो ऐसे समय में भारत के पास स्पष्ट रणनीति होना अत्यन्त आवश्यक है, तब ही समस्याओं का सटीक समाधान होगा।

यदि किसी एक व्यक्ति के विचार अधिक लोगों को प्रभावित करते हैं तो उसका कसौटी पर सिद्ध होना आवश्यक है । केन्द्रीय विचार को वृहद् रूप तब ही मिल सकता है जब विरोधी विचारों को सुनकर उनको भी समाहित किया जाये। विचारों की वृहद्ता के लिए समालोचना आवश्यक है।

सन्दर्भ–

1. यंग इण्डिया एवं प्रभात मंगल-11 फरवरी 1938 में प्रकाशित।
2. 23 अक्टूबर 1921-नवजीवन समाचार पत्र।
3. हरिजन सेवक 17 अप्रेल 1937
4. 1933 में प्रकाशित- यंग इण्डिया एवं मंगल प्रभात के अनुसार
5. 27.10.1921 यंग इण्डिया में प्रकाशित समाचार के अनुसार

सहायक आचार्या (संस्कृत)
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
देवली (टोंक)

साहित्यकण्ठाभरणे श्लेषालङ्कारविमर्शः

रामजीलाल मीना

डॉ. रामदेवसाहूमहोदयेन विरचिते साहित्यकण्ठाभरणे श्लेषालङ्कारः सामान्यतया उभयालङ्कारश्रेण्यां परिगणितः। तत्र पदश्लेषार्थश्लेषभेदात् श्लेषस्य द्वैविध्यं प्रतिपादितम्। पदश्लेष एव तन्मते शब्दश्लेषः। अपरश्च अर्थश्लेष इति स्पष्टमेव। अनयोः पदश्लेषस्य लक्षणमेवं प्रकारेण प्रतिपादितं वर्तते साहित्यकण्ठाभरणस्य दशमाभरणे–

''पदान्तरप्रतीतौ चेत्पदे ह्यन्यार्थता भवेत्।
पदश्लेषस्तदा भूयादभंगः कीर्तितो बुधैः।।
जायमाने च पदभङ्गात् अपरार्थे द्योतिते त्वयम्।
सभङ्गोऽसौ तदा प्रोक्तः पदश्लेषश्च मन्यते[1]।।''

उक्तलक्षणेन इदं प्रतीयते यत् डॉ. साहूमहोदयः पदस्य अभङ्गावस्थायामर्थान्तरप्रत्ययाकत्वे अभङ्गनामकं प्रथमप्रकारकं पदश्लेषं स्वीकरोति किन्तु यत्र पदस्य द्वयोः भागयोः विभाजनं कृत्वा अर्थान्तरं ज्ञापितं भवेत् तत्र द्वितीयप्रकारकं पदश्लेषं सभङ्गनामकं स्वीकरोति। अनयोः प्रथमम् उदाहरत्येवम् –

''प्राचीमुदेति हरिराक्रमते प्रतीचीं
शुभ्राम्बरे प्लुतिमुपेत्य दिवं प्रयाति।
लोलालकैर्निविदिताननसुन्दरीणां
चेतांसि माद्यति मुहुर्हि दिगङ्गनानाम्[2]।।''

उदाहरणेऽत्र 'हरिः' इति पदं सूर्यस्य वानरस्य च अर्थं प्रतिपादयति। एवमेव 'शुभ्राम्बरे' इति पदं स्वच्छ–आकाशस्य स्वच्छवस्त्रस्य च अर्थं प्रतिपादयति। पदभङ्गं विना पदेऽर्थान्तरस्य प्रतीतिरत्र श्लेषं प्रतिपादयति किन्तु 'आक्रमते' इति पदे यः श्लेषः स पदश्लेषो वर्तते। यतो हि आङ् उपसर्गात् आक्रमणस्यार्थः 'आ' इत्यस्य समन्तात् इत्यर्थे गृह्यमाणे तु पुनः 'क्रमते' इत्यस्य क्रमु पादविक्षेपे धातोर्वाच्यार्थे गृह्यमाणे सर्वत्र स्वरश्मीन् प्रकाशयति शनैः शनैरिति अन्योऽर्थः ज्ञायमानो भवति।

एवमेव द्वितीयमुदाहरति एवम् –

''भानुस्तरङ्गानधिगत्य वातात्
प्रातः प्रसन्नं कमलं करोति।
सायं पुनः सोऽस्तगिरिं प्रयातः
किमन्यथा तन्न पुरस्करोति[3]।।''

उदाहरणेऽस्मिन् 'कमलंकरोति' इत्यस्य 'कम् अलङ्करोति' इति पदभङ्गेन अर्थान्तरं द्योत्यमानं भवति, एवमेव 'पुरस्करोति' इत्यस्य 'अग्रे करोति' 'पुरस्कृतं करोति' चेति अर्थद्वयं 'पुरः करोति' इति पदभङ्गपूर्वकं द्योत्यमानं भवति। अतएव अत्र द्वितीयप्रकारकः सभङ्गः इत्याख्यः पदश्लेषो विद्यते।

अर्थश्लेषनामकस्य द्वितीयभेदस्य लक्षणमेवं प्रकारेण प्रस्तुतं वर्तते तत्रैव साहित्यकण्ठाभरणे –

''पदस्यैकस्य नानार्थाः प्रतीयन्ते प्रसङ्गतः।
ग्राह्यस्तत्रार्थश्लेषः स्यात्पदानामपि वा पुनः।।
धर्ममेकं पुरस्कृत्य नानार्थप्रतिपादने।
भवेदाद्यास्तथैवान्यो नानाधर्मपुरस्कृतः।।
प्रकृतार्थेषु क्वचिद्भूयादर्थेष्वप्रकृतेषु वा।
प्रकृताप्रकृतार्थेषु क्वचिदाभासते स्फुटः[4]**।।''**

उपर्युक्तलक्षणानुसारम् एकस्य पदस्य अनेकेषामर्थानां प्रतीतिः प्रसङ्गभेदात् भवति तत्र अर्थश्लेषो भवति। प्रसङ्गशब्देन अत्र मम विचारेण पक्षान्तरमेव बोध्यम् पूर्वाचार्याणां लक्षणेषु अर्थभेदकतायाः हेतोः उल्लेखो नास्ति। अत्र साहूमहोदयेन अस्य उल्लेखं कृत्वा शब्दार्थश्लेषयोर्मध्ये भेदकता दर्शिता इति प्रतीयते। अनेकेषां पदानाम् अनेकार्थप्रतीतौ अपि प्रसङ्गभेद आवश्यको भवति। तत्र मुख्यतः विषयभेदोऽपि पक्षान्तररूपेण संस्थितो भवेत्।

यत्र एकपदस्य अनेकार्थप्रतीति स्तत्र एकधर्मस्य प्रस्तुतिर्भवति। यत्र च अनेकपदानामनेकार्थप्रतीतिस्तत्र अनेकधर्माणां प्रस्तुतिर्भवति इति विशेषेणात्र स्पष्टीकृतम्। अस्मिन् प्रतिपादने रसगङ्गाधरकर्त्तुः पण्डितराजस्य प्रभावो वर्तते यतो हि एकाधिकधर्माभिसम्बद्धार्थबाहुल्ये सः श्लेषं स्वीकरोति। अयम् अर्थश्लेषः प्रकृतार्थे अप्रकृतार्थे प्रकृताप्रकृतोभयार्थे च तिसृष्वेव अवस्थासु उपलक्ष्यमाणं भवति। इदमपि मतं पण्डितराजस्य मतमनुसृत्यैव प्रतिपादितम्।

अस्य अर्थश्लेषस्य उदाहरणं निम्नानुसारमुल्लिखितम् –

''परीक्षितो भूरि बुधैर्जगत्यां सदानवद्यो विशदः प्रकामम्।
गुणप्रकर्षो ह्यगतप्रभावः अचेतने वाऽथ सचेतनेऽपि।।[5]**''**

अत्र 'अचेतने' इति कथनेन अचेतनेषु गुणप्रकर्षः अगतप्रभावो भवति इत्यत्र गुणशब्दस्य रश्मिरित्यर्थः प्रासङ्गिको वर्तते। एवमेव 'चेतने' इति कथनेन चेतनेषु गुणप्रकर्षः आगतप्रभावो भवति इत्यत्र गुणशब्दस्य सदाचारादिगुणविशेष इत्यर्थः प्रासङ्गिकोऽस्ति। प्रसङ्गभेदादर्थभेदे विद्यमाने अर्थश्लेषोऽत्र मन्तव्यः। अगतप्रभावरूपिणा एकधर्मेणैव उभयोः विद्यमानतया अयं श्लेषालङ्कारपदश्लेषपेक्षया विशिष्टो मन्यते।

सन्दर्भः–

1. साहित्यकण्ठाभरणम् – 10/16, 18
2. कश्मीरगौरवम् – 6/4 (साहिरूकण्ठाभरण 10/16 वृत्तिभागे)
3. कश्मीरगौरवम् – 6/9 (साहिरूकण्ठाभरण 10/17 वृत्तिभागे)
4. साहित्यकण्ठाभरणम् – 10/18-20
5. साहित्यकण्ठाभरणम् – 10/17 वृत्तिभागे

शोधच्छात्रः

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

उपदेशेऽजनुनासिक इत् सूत्रघटकोपदेशपदार्थविमर्शः

अश्वनी ठाकुरः

यथा अस्माभिर्ज्ञायते यत् आचार्यदीक्षितेन सिद्धान्तकौमुद्याः व्याख्यानभूतः अद्यावधि पठनपाठनपरम्परायां प्रसिद्धः प्रौढ़मनोरमानामकः ग्रन्थः विरचितः। भट्टनागेशेनापि सिद्धान्तकौमुद्याः व्याख्यानभूत एव शेखरनामकः ग्रन्थः रचितः। यद्यपि ग्रन्थद्वये सिद्धान्तकौमुद्याः एव बृहद्व्याख्यानं तथापि उभयोः व्याख्याने नानास्थलेषु मतभेदः समागतः। यद्यपि व्याकरणशास्त्रे यावन्तः ग्रन्थाः सन्ति तावतां सर्वेषां ग्रन्थानां व्याख्यानस्य आधारभूतं महाभाष्यमेव। परञ्च आचार्यैः स्व-स्व रीत्या भाष्य-ग्रन्थस्य व्याख्यानं कृतं येन आचार्याणां मध्ये मतभेदः समागतः। अस्मिन्नेव प्रसङ्गे नागेशदीक्षितयोरपि बहुषु स्थलेष्वस्ति व्याख्याने मतभेदः। तेषु मतभेदस्थलेषु ''उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' सूत्रघटकोपदेशशब्दे अस्ति अनयोः वैमत्यं तच्च मया यथाज्ञानं प्रतिपाद्यते।

शब्दशास्त्रे त्रिविधः उपदेशपदार्थः प्रसिद्धः, भावघञन्तोपदेशपदार्थः, कर्मघञन्तोपदेशपदार्थः, करणघाञन्तोपदेशपदार्थश्च। तत्र यदा भावघञन्तोपदेशपदार्थः मन्यते तदा आयत्वमुपपदार्थः आदेच उपदेशेऽशिति इति भाष्यात्।[1] दिशिर् धातोः उच्चारणमर्थः पस्पशाह्निके[2] तथोक्तत्वात्। एवञ्च आद्योच्चारणन्नाम ''अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणम्''[3]। एतदेव परिष्कृत्याह - ''स्ववृत्तिश्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदकधर्मावच्छिन्न-विधेयताकबोधतात्पर्यकोच्चारणमुपदेशः''।

समन्वयश्चेत्थम् - ''अग्रेर्ढक्'' इत्यत्र ''स्व'' सूत्रघटकढक्शब्दः, ''तद्वृत्ति - श्रावणप्रत्यक्षविषयतावच्छेदको धर्मः ढक्शब्दत्वरूपः धर्मः, ''तद्धर्मावच्छिन्नविधेयता ढकशब्दे, ''तादृशबोधतात्पर्यकोच्चारणविषयः'' ढक्शब्दः अतः ढक्शब्द उपदेशः अग्निशब्दस्य नोपदेशत्वं तस्य विधेयत्वाभावात्। एतादृशोपदेशपदार्थे तु ''प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः''[4], ''उद्देशश्च प्रातिपादिकानां नोपदेशः''[5] इत्यादिभाष्यमेव प्रमाणं भविष्यति।

कर्मघञन्तोपदेशे आद्यत्वमुपपदार्थः, ''दिशिर्'' धातोः उच्चारणमर्थः ''घञ्'' प्रत्ययस्य ''विषयः अर्थः'' एवञ्च ''आद्योच्चारणविषयः उपदेशपदार्थः'' फलितः। अयं पक्षः प्रक्रियाकौमुद्याम् इत्थं प्रतिपादितम्-

धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम्।
आगमप्रत्ययादेशाः उपदेशाः प्रकीर्तिताः।।[6]

इति उपदेशपदार्थे ''उत्तरार्धे'' आगमादिषु पक्षोऽयं स्वीकृतः। भाष्येऽपि ''आदेच उपदेशेऽशिति'' इत्यत्र ''एजन्तं यदुपदेशः'' इत्यत्र तत्रैव कैयटेऽपि उपदेशशब्दस्य कर्मघञन्तत्वमुक्तम्।

करणघञन्तोपदेशे ''उप''-पूर्वक-''दिशिर्''-धातोः ''शासनमर्थः'' ''उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' इति सूत्रभाष्यप्रामाण्यात्। तथा च ''शासनकरणमुपदेशः'' तच्च प्रत्यासत्या शब्दसाधुत्वानुशासनकरणत्वेन शास्त्रमेव[7] लभते। पक्षेऽस्मिन् ''उपदेश इति चायं करणसाधनः'' इत्यादि भाष्यं प्रमाणं भवितुमर्हति।

''उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' इति सूत्रघटकोपदेशपदार्थः भट्टनागेशेन करणघञन्तः स्वीकृतः तथा दीक्षितेन

भावघञन्तः। इदं परित्यज्य एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ''आदेच उपदेशेऽशिति'' इत्यादिषु सूत्रेषु द्वाभ्याम् आचार्याभ्यां नागेशदीक्षिताभ्यां भावघञन्तमेवोपदेशपदार्थः अभिमतः।

भावघञन्तोपदेशपदार्थविमर्शः

भावघाञन्तोपदेशपदार्थे स्वीकृते अर्थो भवति –

''अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकोच्चारणमुपदेश'' इति। अमुं पक्षमुपस्थापयन् भगवान् भाष्यकारः आह – ''प्रत्यक्षमाख्यानमुपदेशः गुणैः प्रापणमुद्देशः।'' प्रकृते प्रत्यक्षपदेन श्रावणप्रत्यक्षः बोद्धव्यः। इन्द्रियगोचरार्थस्य यद् आख्यानं कथनं स उपदेशः। यद्यपि अनुनासिकत्वमपीन्द्रियग्राह्यं तथापि अनुनासिकशब्दप्रतिपाद्यतावेलायामिन्द्रियाऽगोचरमिति भावः।

अत्र उपदेशपदार्थस्योदाहरणमाह यथा – ''अगोज्ञाय कश्चिद्गां सक्थनि कर्णे वा गृहित्वोपदिशति''[8] – ''अयं गौरिति। स प्रत्यक्षमाख्यानमाह– ''उपदिष्टो मे गौरिति।''

उद्देशपदार्थमुदाहरति यथा – कश्चित्कंचिदाह– देवदत्तं[9] मे भवानुद्दिशतु इति। स इहस्थः पाटलिपुत्रस्थं देवदत्तमुद्दिशति अङ्गदी कुण्डली किरीटी व्यूढोरस्को वृत्तबाहुलहिताक्षस्तुङ्गनासो विचित्राभरण ईदृशो देवदत्तः इति। स गुणैः प्राप्यमाणमाह – ''उद्दिष्टो मे देवदत्तः'' इति। ईदृश उपदेशपदार्थे स्वीकृते ''अभ्र ऑ अपः'' इत्यत्र ''ऑ'' इत्यस्य न इत्सज्ञायाः प्राप्तिः तस्य ''आडोऽनुनासिकश्छन्दसि'' सूत्रेण अनुनासिकत्वरूपेण धर्मेण विधीयमानत्वात् स उद्देशः न तु उपदेश इति। ततः परं तत्रैव भाष्यकारेण तत्र दोषमाह– ''सङ्कीर्णावुद्देशोपदेशौ''[10] इति।

तद् यथा – कश्चित्कंचिदाह – ''अनुवाकं मे भवानुद्दिशतु'' ''इषेत्वकम्'' अधीष्व। स प्रत्यक्षमाख्यातमाह – ''उद्दिष्टो मेऽनुवाकः तमध्येष्ये'' इति। तथा च – [12]कश्चित् कंचिदाह ग्रामान्तरं गमिष्यामि पन्थानं मे भवानुपदिशतु इति। स तस्मै आचष्टे –

''अमुष्मिन्नवकाशे हस्तदक्षिणो ग्रहीतव्योऽमुष्मिन्हस्तवामः इति'' स गुणैः प्राप्यमाणमाह – ''उपदिष्टो मे पन्थाः'' इति। एवमेतौ सङ्कीर्णावुद्देशोपदेशौ इति। एवमुक्त्वा भगवान् भाष्यकारः अन्यस्मिन् पथि आरूढवान्। तथा चास्मिन् सूत्रे भगवता करणघञन्तोपदेशपदार्थः स्वीकृतः। परं तन्न दीक्षिताय अरोचत। यतोहि भगवद्भिः ''कृत्यल्युटो बहुलम्'' सूत्रस्थबहुलग्रहणेन करणार्थे ''घञ्''–प्रत्ययो विहितः तदेव दीक्षितस्यारुचेः मूलम्। यदि कस्यचिद् लक्षणया(सूत्रेण) सिद्धिः सम्भवश्चेत् तत्र अगतिकगतिकल्पनमन्याय्यमिति दीक्षितस्य भावः।

भावघञन्तोपदेशपक्षे उद्देशोपदेशयोः सङ्कीर्णापत्तिरपि लक्षणया[14] वारयितुं शक्यः। ''उपदिष्टो मे पन्थाः'' इत्यादिषु वाक्येषु पथः उपदेशासम्भवात् तत्र मुख्यार्थबाधः।

तस्मिन् सति उपदेशपदार्थस्य उद्देशपदार्थे लक्षणा। एवमुद्दिष्टो मेऽनुवाकः इत्यत्रापि ज्ञातव्यः।

अनेन प्रकारेण सङ्कीर्णापत्तिर्वारिते ''अभ्र ऑ अपः'' इत्यत्र ''ऑ'' इत्यस्य उद्देशत्वात् न इत्सञ्ज्ञापत्तिः।

अयि! भावघञन्तस्वीकारे ''उपदेशपदेन'' ''आद्योच्चारणक्रियोपस्थापयिष्यते''। तथा च क्रियायाः अमूर्तत्वात् तस्मिन् आद्यन्तयोरभावात् कथं तत्र ''हलन्त्यम्'' इत्यादिसूत्राणां प्रवृत्तिरिति चेदत्र शब्दद्वारा तदपि समाधातुं शक्यते। अथवा आद्योच्चारणमित्या बहुव्रीहिसमासेनाऽपि तद्दूरीकर्तुं शक्यते।

एवं सत्यपि ''मनिन्'' इत्यत्र नकारस्य इत्सज्ञालोपाभ्यामपहारेण पुनः ''मनि'' इत्यस्य उपदेशाभावात्

न इकारस्येत्सज्ञा। यदि ''समुदायोपदेशेनान्तरीयकतया अवयवस्यापि उपदेशः'' इति न्यायद्वारा इत्सज्ञा उच्यते चेत् 'णिनि' प्रत्ययेऽपि णकारोत्तरवर्ति इकारस्येत्सज्ञालोपाभ्यामपहारे पुनः नकारस्य इत्सञ्ज्ञापत्तिः तादवस्थ्यमेव इति चेत् अत्र ''यस्योपदेशे ऋषेस्तात्पर्यन्तस्य तदुपदेशप्रयुक्तेत्सञ्ज्ञा'' इति स्वीकारेण ऋषेः समुदायस्यैवोपदेशे तात्पर्यं न तु प्रत्येकम् अवयवस्योपदेशे। ''मनिन्'' इत्यत्र ''उपदेशेऽजनुनासिक इत्'' ''हलन्त्यम्'' उभयोः अपि सूत्रयोः प्रवृत्तौ मिथः अनपेक्षणात् सहैव प्रवृत्तौ इकारनकारयोः सहैव इत्सञ्ज्ञासत्यां सहैव लोपः भविष्यति न तु प्रत्येकम् । पुनश्च 'णिनि' इत्यत्र 'हलन्त्यम्' सूत्रस्य प्रवर्तने 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्रस्यापेक्षणात् न पूर्वमस्य प्रवृत्तिः तथा च इकारस्य इत्सञ्ज्ञालोपाभ्यामपहारानन्तरं 'णिन्' इत्यस्य अज्ञातस्वस्वरूपज्ञापकाभावात् उपदेशाभावः तस्मात् नेत्सञ्ज्ञापत्तिः।

एवं सति 'लृटः सद्वा' 'निष्ठा' इत्यादिभिः बोधितस्य इत्सञ्ज्ञानापत्तिः इति चेत् तर्हि अत्रापि लोकवत् शास्त्रेऽपि ऋषितात्पर्यानुपपत्तिं मत्वा लक्षणया वारणसम्भवः।

न चैवम् ''अभ्र आँ अपः'' इत्यत्र ''आँ'' इत्यस्यापि लोपापत्तिः। प्रकृते इत्सञ्ज्ञायाः किञ्चित् फलं नास्ति। न हि लोपः फलं तथा सति तद्विधानस्य वैय्यर्थापत्तिः स्यात्। तथा च सिद्धान्तः ''या या सञ्ज्ञा सा सा फलवती भवेत्'' अतः अत्र फलाभावात् नेत्सञ्ज्ञा। न च अनुबन्धानाम् अनेकान्तत्वपक्षे ''आदितश्च'' इति इडभाव फलं स्यात् अनुबन्धविषये एकान्तत्वपक्ष एव सैद्धान्तिकः पक्षः।

चित्रङ् इत्यादिषु प्रातिपदिकेषु अनुबन्धदर्शनेन प्रातिपदिकविषये ऋषितात्पर्यं गृहीत्वा उपदेशपदार्थस्य उद्देशपदार्थे लक्षणया निर्वाहः करणीयः अन्यथा तत्र - तत्र इत्सञ्ज्ञाभावात् प्रातिपदिकेषु अनुबन्धकरणं विफलमेव स्यात्।

करणघञन्तोपदेशपदार्थविमर्शः

'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इति सूत्रे भाष्ये भगवान् भाष्यकारः करणघञन्तपक्षमेवोपस्थापितवान्। तमेव भाष्यम् उररीकृत्य श्रीमान् नागेशः शेखरे अथ च सुधीः दीक्षितोऽपि शब्दकौस्तुभे [16]'बाहुलकात् करणे घञ्। अन्यथा ल्युट् स्यात्' इति वचनम् अमुं पक्षमेव समर्थयामासतुः।

पक्षेऽस्मिन् करणार्थे घविधायकं किमपि सूत्रन्नास्ति। 'पुसिं सज्ञायां घः प्रायेण' इति सूत्रेण तत्र 'घ' प्रत्ययो न भवितुमर्हति। यतोऽहि सूत्रार्थोस्ति 'पुंल्लिङ्गयोः करणाधिकरणयोरभिधेययोः धातोः घः प्रत्ययो भवति समुदायेन चेत् सञ्ज्ञा गम्यते' इति। प्रकृते उपदेश इति काचित् सञ्ज्ञा नास्ति 'न चैषा सञ्ज्ञा' इति भाष्यप्रामाण्यात्। अस्याऽसंज्ञात्वात् एव एतदपवाद 'हलश्च' इति सूत्रेण 'घञ्' प्रत्ययोऽपि न 'उत्सर्गापवादयोः समानविषयकत्वनियमात्'।

न च घप्रत्यये उपाधिभूतस्य 'संज्ञायाम्' पदार्थस्य 'प्रायेण' इति उपाधिम्मत्वा क्वचित् 'असञ्ज्ञायाम्' इत्यर्थलाभः सुलभः। तेन उपदेश इत्यत्र 'हलश्च' इत्यनेन 'घञ्' प्रत्ययोऽपि सुलभः इति वाच्यम्, [17]'नह्युपाधेरुपाधिर्भवति विशेषणस्य वा विशेषणम्' इति भाष्यवचो विरोधात्।

उपाधिविशेषणयोश्च वाच्यत्वावाच्यत्वाभ्यां विशेषः। यथा 'दृतिहरिः' इत्यत्र 'हरतेदृतिनाथयोः पशौ' इति सूत्रेण विधीयमानेन इन्प्रत्ययेन 'पशुःकर्ता' अभिधीयते। अतः 'पशुः' इति उपाधिः। 'गार्गिकया श्लाघत'

इत्यत्र 'गोत्रचरणाद् वुञ्' अनेन सूत्रेण 'विहताण्-प्रत्ययेन' न श्लाघार्थो अभिधीयते इति 'श्लाघा' विशेषणम्। अत एवोक्तम् -

अर्थविशेष उपाधिस्तदन्तवाच्यः समानशब्दो यः।
अनुपाधिरतोऽन्यः स्यात् श्लाघादिविशेषणं यद्वत्।।

एतच्च कैयटोद्योते व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधौ च स्पष्टम्।

''अकर्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्'' इति सूत्रे ''सञ्ज्ञायाम्'' इति प्रायिकमस्ति। सूत्रेऽस्मिन् ''चकारः सञ्ज्ञाव्यभिचारार्थः'' इति न्यासकारेणोक्तम्। स च भिन्नक्रमः सञ्ज्ञायामित्यस्यानन्तरं द्रष्टव्यम्। सञ्ज्ञायाश्च इति चार्थं द्योतयन्नसौ सञ्ज्ञाव्यभिचाराय भवति तेन असञ्ज्ञायामपि च भवति। पुनश्च तत्रैव ''सञ्ज्ञायाम्'' इति ग्रहणं ''बाहुल्येन सज्ञायां भवति, असञ्ज्ञायां तु क्वचिदेवेत्यर्थं सूचयितुम्'' इत्युक्तम्। इत्थं प्रकृते कर्तृभिन्ने करणकारके असञ्ज्ञायामपि अनेन सूत्रेण घञ् प्रत्ययो भविष्यति इति नाशङ्कनीयम्। कुतश्चेत् ''करणाधिकरणयोश्च'' सूत्रेण विहितल्युट्-प्रत्ययस्य परत्वात् अस्य बाधकत्वात्। पूर्वविप्रतिषेधेन ल्युटः बाधो न शङ्क्यः तथा भाष्येऽनुक्तत्वात्, ''परत्वाल्युट् प्राप्नोति'' इति भाष्यवचो विरोधाच्च।

''वासरूपोऽस्त्रियाम्'' इति सूत्रेण विकल्पेन 'घञ्' प्रत्ययो भविष्यति। तथा च सूत्रार्थः - ''अस्मिन्धात्वधिकारेऽसरूपोऽपवादप्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात् स्व्यधिकारोक्तं विना।''

''क्तल्युट्तुमुन्खलर्थेषु वासरूपविधिर्नास्तीति'' परिभाषायां परं तुमुन्साहचर्येण यदि भावार्थक 'ल्युट्' प्रत्ययमात्रं स्वीक्रियते चेत् ''ईषत्पानः सोमो भवता'' इत्यत्र कर्मणि खल् (ईषदुःसुषुकृच्छ्राकृच्छ्रार्थेषु खल्) न इति भाष्यं न सङ्गच्छेत् अन्यथा ''अतो युच्'' इत्यस्य विकल्पेन विधानात् पक्षे सोऽपि सुलभ एव कुतो नेति। अतः भावार्थकस्य ल्युटः परिभाषायां ग्रहणन्नेति शब्दरत्नकारः।

केचित् तु परिभाषायां क्तल्युटौ नपुंसके भावे विहितावेव गृह्येते परस्परसाहचर्यात्। न तु भूतवर्तमानोक्तौ करणाधिकरणल्युटौ च। अन्यथा 'निष्ठा' इत्यस्य भूतक्तविषये अशयिष्ट इत्यादौ लुङसिद्धः। विधिसामर्थ्यात् समाधाने तु गौरवः स्यात्। तथा च ञीतः क्तः, मतिबुद्धिपूजार्थेभ्यश्च इति वर्तमानक्तविषये क्ष्वेदते, क्ष्विद्यति इत्याद्यसिद्धिः। एवं सति धातुमात्रात्करणाधिकरणयोर्घञाजापत्तिस्तु [19]'अभिधानलक्षणाः कृत्तद्धितसमासाः' इति न्यायात् वारणीयम्। अस्मिन् पक्षे शब्दरत्नकारोक्तदोषोऽपि इत्थमेव निष्कण्टकीकरणीयम्। इत्थं पक्षेऽस्मिन् कथञ्चित् घञ्प्रत्ययोऽपि सुलभ एव।

युक्तायुक्तत्वसमीक्षणम्

दीक्षीतोक्त-मनोरमायां भावघञन्तोपदेशपक्षस्वीकारेण 'लृटः सद्वा' 'निष्ठा' इत्यादौ लक्षणाश्रयणं, 'चित्रङ्' इत्यादि प्रातिपदिकविषयेऽपि लक्षणाश्रयणम्, उपदेशोद्देशयोः सङ्कीर्णापत्तिं वारयितुं तत्र लक्षणाश्रयणं कर्तव्यं भवति। तथा च 'भवतष्ठक्छसौ' इत्यत्र 'उपदेशे' ककारस्य अनन्त्यत्वात् इत्सञ्ज्ञानापत्तिः स्पष्टमेव। उपदेशे 'धातुप्रत्ययान्त्यत्वादि' अर्थे स्वीकृते तु करणघञन्तपक्षमेव आयाति इति भक्षितेऽपि लशुने न व्याधिशान्तिः इत्यापत्तिश्च। 'व्यवसितान्तग्रहणं कर्तव्यम्' इत्यादिभाष्यस्य भावघञन्तपक्षेऽपि आश्रयणात् 'भवतष्ठक्छसौ' इत्यत्रागतदोषस्यापि यथाकथञ्चित् वारणसम्भवः।

करणघञन्तस्वीकारे तु 'कृत्यल्युटो बहुलम्' इत्यत्र बहुलग्रहणेन घञ् विधाने अगतिकगत्याश्रयणं

तु महद्गौरवम्। पुनश्च 'आदेच उपदेशेऽशिति' इत्यादि सूत्रभाष्ये भगवद्भिरपि भावघञन्तपक्ष एव सम्मतः। तत्र सङ्कीर्णापत्तिं वारयितुं तत्रापि लक्षणा स्वीकरणीयमेव स्यात्। तेन भक्षितेऽपि लशुने न व्याधिशान्तिः।

इति दोषः अत्रापि सुस्थिरः। किञ्च 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्रे 'उपदेश' इति करणघञन्तम्, आदेच उपदेशेऽशिति इत्यादिषु भावघञन्तम् इति अर्धजरतीयन्न युक्तम्।

निष्कर्षः – यद्यपि 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्रघटकोपदेशस्य करणघञन्तपक्षः भाष्यानुमोदितः, शेखरे नागेशेनाऽपि स्वीकृतः, शब्दकौस्तुभे दीक्षितेनाऽपि तथैव प्रतिपादितः तथाऽपि मनोरमायां दीक्षितस्य प्रतिपादितभावघञन्तपक्षोऽपि प्रशस्य एव। एतत् सर्वं जानन्नेव मन्ये शेखरकारेणऽपि शेखरे अन्त्ये 'सुधियः विभावयन्तु'[20] इत्युक्तम्। इति यथामति अमू पक्षौ उपस्थापितौ।

जयतु संस्कृतम्, जयतु भारतम्

सन्दर्भाः–

1. 'उपदेश' इत्युच्यते, उद्देशश्च प्रतिपादिकानां नोपदेशः। – महाभाष्य (भाग-6), प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-578
2. 'दिशिरुच्चारणक्रियः'– पापशाह्निक, मोतीलाल बनारसीदास, अनुवादक व विवरणकार– चारुदेव शास्त्री, प्रथम संस्करण, पेज-45
3. वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी- तत्वबोधिनी-बालमनोरमा-शेखर व्याख्यात्रयविराजिता (भाग-1), चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला, पृष्ठ-9
4. महाभाष्य-भाग- 1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-177
5. महाभाष्य-भाग- 6, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-572
6. प्रौढ़मनोरमा (शब्दरत्न-भैरवी प्रकाशन,) पृष्ठ-17
7. किं पुनरुपदेशनम् (शास्त्रम्) महाभाष्य-भाग- 1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-179
8. महाकाव्य-1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-177
9. महाकाव्य-1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-177
10. महाकाव्य-1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-178
11. महाकाव्य-1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-172
12. महाकाव्य-1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-172
13. महाकाव्य-1-2, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ-181
14. 'संकीणलोकव्यवहारस्य लक्षणयाऽप्युपपव्या'– प्रौढ़मनोरमा (शब्दरत्न-भैरवी-प्रकाशन-विभाऽलङ्कृता), काशी संस्कृत ग्रन्थमाला, 58, चौखम्भा संस्कृत संस्थान (वाराणसी), पृष्ठ- 16
15. प्रौढ़मनोरमा – पृष्ठ-17
16. शब्दकौस्तुभ (द्वितीय भाग), चौखम्बा संस्कृत सीरीज-2, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस वाराणसी, संपादक- पं. गोपाल शास्त्री नेने, संस्करण तृतीय, पेज-55
17. भाष्य-पेज 180
18. व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधिः, राजस्थान पत्रिका, श्यामगढ़ की हवेली, उदयमन्दिर मार्ग, मानजी का हत्था, पावटा 'बी' रोड, जोधपुर-242011 (राजस्थान-भारत), प्रथम संस्करण, 1995, पृष्ठ-263
19. व्याकरणसिद्धान्तसुधानिधि, पृष्ठ-263
20. वैयाकरणसिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ-11

शोधच्छात्रः, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुरम्

ज्योतिश्शास्त्रस्य परिचयः

अमितकुमारझाः

महर्षिनारदानुसारेण अष्टादश ज्योतिश्शास्त्रप्रवर्त्तकाः सन्ति। यथा–

ब्रह्माचार्यो वशिष्टोऽत्रिमुनिः पौलस्त्यशेमशौ।
मरीचिराङ्गिरा व्यासो नारदः शौनको भृगुः।।
च्यवनो यवनो गर्गः कश्यपश्च पराशरः।
अष्टादशैते गम्भीरा ज्योतिः शास्त्रप्रवर्त्तकाः।।[1]

ब्रह्मा–आचार्य–वशिष्ठ–अत्रि–मनु–पौलस्त्य–रोमश–मरीचि–अङ्गिरा–व्यास–नारद–शौनक–भृगु–च्यवन–यवन–गर्ग–कश्यप–पराशराः।

एवमेव ये ज्योतिश्शास्त्रस्य प्रवर्त्तकान् प्रकटयन्ति तदनुसारेण ज्योतिश्शास्त्रस्य प्राचीनत्वं सर्वत्र सुलभतया ज्ञायते।

अनन्तरं सूक्ष्मातिसूक्ष्मरूपेण गणितगणनया ग्रहाणां यन्त्रादिकवेधादीनां च ग्रहनक्षत्रादीनां ज्ञानं विधाय तं विपुलं ज्ञानराशिं प्राणिमात्रस्य सुखसाधनार्थं ''ज्योतिष–शास्त्रम्'' इति नाम्ना प्रथितम्। ज्योतिश्शास्त्रं त्रिस्कन्धात्मकमस्ति।

आचार्यवराहमिहिरेण सूचितम्–

ज्योतिः शास्त्रमनेकभेदविषयं स्कन्धत्रयाधिष्ठितं तत्कात्स्न्योपनयस्य नाम मुनिभिः सङ्कीर्त्यते संहिता। स्कन्धेऽस्मिन् गणितेन या ग्रहगतिस्तन्त्राभिधानस्त्वसौ होरान्योऽङ्गविनिश्चयश्च कथितः स्कन्धस्तृतीयोऽपरः।।[2]

अर्थात् अस्मिन् शास्त्रे ग्रहाणामादित्यादीनां या गतिर्गमनं प्रतिराशौ सञ्चरणं येन ज्ञायते तद् गणितं तस्य च तन्त्रमिति संज्ञा। असौ गणितस्कन्धस्स्वतन्त्राभिधानः। होराऽन्योङ्गविनिश्चयश्च कथितमिति। प्रतिष्ठायात्राविवाहादीनां लग्नग्रहवशेन च शुभाशुभफलं जगति यथा निश्चीयते स होरा। अन्यो द्वितीयोङ्गविनिश्चयः होराख्यः कथितः। अपरस्तृतीयोऽयं स्कन्धो वक्ष्यमाणः शाखाख्य इति। उक्तं यथा–

सिद्धान्तः संहिता होरारूपं स्कन्धत्रयात्मकम।
वेदस्य निर्मलं चक्षुर्ज्योतिः शास्त्रमनुत्तमम्।।[3]

कुत्रचित् ज्योतिश्शास्त्रस्य पञ्चस्कन्धात्मकत्वं अपि दृश्यते। यथा–

पञ्चस्कन्धमिदं शास्त्रं होरागणितसंहिताः।
केरलिः शकुनश्चेति ज्योतिः शास्त्रमुदीरितम्।।

अर्थात् शकुनकेरलिजातकादयः सर्वे इमे संहितान्तर्गता एव सन्ति। अत एव ज्योतिश्शास्त्रस्य स्कन्ध त्रयात्मकत्त्वमेव युक्तियुक्तमस्ति। पञ्चस्कन्धात्मकमिति कथनमसमीचीनमस्ति।

अत्र स्कन्धत्रयात्मके वर्णनमस्ति। यथा–

1. सिद्धान्तस्कन्धः– त्रुट्यादितः प्रलयान्तो यः कालः तस्य कलना परामर्शः। मानानां सौरचान्द्रादीनां प्रकर्षेण भेदः क्षोदः सम्यक् विचारः, व्यक्ताऽव्यक्तात्मकं गणितं द्विधा, उत्तरेण सह वर्त्तमानाः समाधानयुताः प्रश्नाः भूश्चधिष्ण्यानि च ग्रहाश्च तेषां या संस्थितिस्तस्याः निरूपणं कालज्ञानसाधनाभूतानि यन्त्राणि च यत्रोच्यन्ते स बुधैः सिद्धान्त उदाहृतः। इष्टां यत्र गणितबन्धने खेटगतयो विचार्यन्ते स सिद्धान्तेति पर्यवसितो भवति। सिद्धान्तलक्षणम्।[4] बृहत्संहितायां सिद्धान्तलक्षणस्य वर्णनं वर्तते यत् यस्मिन् स्कन्धे युग-वर्ष-ऋतु-अयन-मास-पक्ष-अहोरात्र-याम मुहूर्त्त-नाड़ी-प्राण-त्रुटि-चतुर्णां च मानानां (सौर-सावन-नाक्षत्र-चान्द्राणामधिमास) षष्ट्यष्द-जलयन्त्र-दृक्-ग्रहगति-भूभ्रमण-भगण छाया-करणप्रभृतिषु ज्ञानं सिद्धान्ते एव सन्ति।

सिद्धान्तपक्षोऽपि समृद्धः अस्ति। फलितेन सह गणितस्य गणितेन सहफलितस्य च सैव सम्बन्धः यो हि शरीरेऽस्मिन् विद्यमानेन जीवने सह प्राणादिवायोः, तस्य चात्र शरीरे वर्त्तमानस्य जीवस्य प्राणवायुना इति।

2. होरास्कन्धः– होरार्थं शास्त्रं होरा तामहोरात्र विकल्पमेके वाञ्छन्ति। अदृश्च रात्रिश्चाहोरात्रो होराशब्देनोच्यते। तस्य विकल्पो विकल्पना एके अन्ये होरां वाञ्छन्तीत्यर्थः।[5] पूर्वापरवर्णलोपात् अहोरात्रशब्दस्य पूर्वो वर्णोऽकारोऽपर वर्णश्च त्रकारस्तयोर्लोपमदर्शनं कृत्वा होराशब्दोऽवशिष्यते। जातकस्कन्धस्यैव होरास्कन्धमिति नामान्तरम्। अहोरात्रशब्दादेव होराशब्दस्य व्युत्पत्तिरिति। विदुषामाश्रयानुसारेण भूत-वर्त्तमान-भविष्यनिर्णायकं हि इदं होराशास्त्रम्।

3. संहितास्कन्धः– संहिताशब्दव्युत्पत्तिर्भवति सम् सम्यक् प्रकारेण, वा दुडाञ् धारणे धातोर्निष्ठायां क्त प्रत्यये 'दधाते हिं' 'हि' आदेशे टापि संहिता इति। संहिताशब्दस्यार्थः बहून् विषयान् सम्यगाहृत्यैकत्र विशदं वर्णनमिति सुभिक्षदुर्भिक्षादिसार्वभौमिकफलं प्रतिपादकं शास्त्रमिदमेव संहिता। संहितास्कन्धः व्यावहारिकविषयेन सम्बन्धितः अतः सर्वेषां स्कन्धानां संहितास्कन्धेः अन्तर्भावः भवति। ज्योतिश्शास्त्रस्य संहितास्कन्धः सर्वाधिकलोकोपकारकः वर्त्तते। संहिताशास्त्रोक्ता प्रक्रिया समस्तभूमण्डलस्योपरि सञ्जातग्रहप्रभावस्य मुल्याङ्कनं करोति। जीवनेन सम्बद्धाः सर्वेऽपि शुभाशुभलौकिकविषयाः अस्मिन्नन्तर्गतास्सन्ति।

सन्दर्भाः–

1. ज्योतिर्निबन्धः पृ.सं. 1-2 श्लो. 4-5
2. बृहत्संहितोपनयनाध्याये-श्लो.9
3. नारदसंहिता अ. 1/4
4. त्रुट्यादिप्रलयान्तकालकलना....विवुधा सिद्धान्तहीननगुः सिद्धान्त शिरोमणि 1/6-8
5. होरेत्यहोरात्र.....समभिव्यनक्ति।। बृहज्जातक 1/3

शोधच्छात्रः, ज्योतिषविभाग,
जयपुरपरिसर, जयपुरम्

ओगेटिपरीक्षितशर्मविरचितस्य श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्यस्य काव्यशास्त्रदृष्ट्यासमीक्षणम्

डॉ. पङ्कजकुमारबालाणः

आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये प्रो. राधावल्लत्रिपाठी, प्रो.अभिराजराजेन्द्रमिश्रः, विदुषी क्षमारावः, आचार्यमेधाव्रतः, ओगेटिपरीक्षितशर्मादयः प्रमुखाः कवयो वर्तन्ते। एतेषु कविषु पं. ओगेटिपरीक्षितशर्मा प्रमुखः कविवर्तते। एष आधुनिकसंस्कृतसाहित्ये सूर्य इव द्योतते। अस्य कवेर्जन्म 1930 तमे वर्ष अगस्तमासस्य 20 तमे दिनाङ्क आन्ध्रप्रदेशेऽभवत् । अस्य पिता साम्बमूर्तिः माता च कौसल्या देवी । कवेरल्पकालेऽस्य माता स्वर्ग गता। ज्येष्ठभ्रातुर्मृत्योरनन्तरमयं ज्येष्ठोऽभवत्। अयं कविः सप्तवर्षपर्यन्तं सत्यनारायणशास्त्रिणः संस्कृताध्ययनमकरोत्। श्रीअप्परायाचार्यात् श्रीराममूर्तिगुरोश्च विद्यार्जनमकरोत्। अस्य कवेः पत्नी शीलगुणसम्पन्ना, शोभायमाना, सेवापरायणा देवी वर्तते। असौ कविः तेलगुसंस्कृताङ्ग्लहिन्दीमराठीभाषासु प्रवीणोऽस्ति। अनेनाऽऽन्ध्रविश्वविद्यालयात् तेलगुसंस्कृतयोर्भाषाप्रवीण इत्युपाधिः प्राप्तः। कवेरस्य ललितगीता-लहरी, यशोधरामहाकाव्यम्, अक्षयगीत-रामायणं, परीक्षिन्नाटकचक्र, जानपद-नृत्य-गीत-मंजरी, सौन्दर्य-मीमांसा श्रीमत्पराणायनं च महाकाव्यमादयो रचना जायन्ते।

श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्यस्य कथावस्तु

श्रीमत्प्रतापराणायनं महाकाव्यमेकमेतिहासिकं जीवनचरित्रं महाकाव्यं जायते। अस्मिन् महाकाव्ये 6 काण्डानि, 80 सर्गाः 4233 पद्यानि सन्ति। षट् काण्डानि वर्तन्ते - 01. मेवाड़काण्डम्, 02. उदयकाण्डम्, 03. अरण्यकाण्डम्, 04. दिल्लीकाण्डम्, 05. हल्दीघाटीकाण्डम्, 06. विजयकाण्डम् च। काव्येऽस्मिन् महाराणाप्रतापस्य मेवाडवंशस्य चान्यपूर्ववर्तिनो भूपतयः चित्रिताः।।

मेवाडकाण्डम्

अस्मिन् काण्डे आरम्भेऽष्टसर्गेषु मङ्गलाचरणं, कवेवंशपरिचयश्चादयो वर्तन्ते। कवेरभिलाषा वर्तते यद् यदि भारतभूमौ मानवरूपेण तस्य जन्म भवेत् तदा तस्य भाषा संस्कृत भाषा भवेदिति -

जन्मजन्मनि गीर्वाणी भारती मेऽस्तु भारती।
यद्याहं मानवो भूतो जीवेयं भारतावनौ।।
संस्कृते कवयः सर्वे मोक्षं प्रापुर्न संशयः।
लिलेखिषामि सर्वं हि संस्कृते मोक्षकांक्षया।।[1]

अथ राजस्थानगरिमा इति नाम्नः प्रथमसर्गात् कथावस्तु प्रारम्भं भवति। राजस्थानभूमौ नैकानां वीराणां जन्माऽभवत्। राजस्थानस्य पुरुषाणां शौर्यस्य स्त्रीणां च सौन्दर्यस्य वर्णनं विद्यते। अथ मेवाड़महिम्नः चित्तौडवैभवस्य च वर्णनं भवति। अथ बप्पारावलः, रानी पामिनी, राणारत्नसिंहः, राणाहिम्मीरः, कुम्भाराणा, देवी मीरा, सङ्ग्रामसिंहः, राणाविक्रमजीत इत्यादीनां राज्ञां राज्ञीनां च वर्णनम्। देवीमीराया भक्तिवर्णनम् -

सा चैकदा दत्तविषयं निपीय सन्तोषभारेण ननर्त चारु।
अनन्त नारायण वासुदेव गोविन्द हे माधव कृष्णदेव।।[2]

उदयकाण्डम्

अस्मिन् काण्डे प्रारम्भ उदयपुरस्य वर्णनं वर्तते। अत्र नैके वृक्षाः, यज्ञं कुर्वन् ब्राह्मणः, क्षत्रिय इत्यादीनां विषयाणां वर्णनं क्रियते। अथ महाराणाप्रतापस्य शौर्यस्य वर्णनं जायते। तस्य श्मश्रुणो ललाटस्य च वर्णनम्-

तस्यानने लसत्येव हिन्दुत्वं तिलकाञ्चितम्।
श्मश्रुणा वक्रिताग्रेण सुतीक्ष्णं दृष्टिपुञ्जकम्।।[3]

राणाप्रतापस्य प्रतिज्ञा वर्तते यावन्मेवाडं पूर्णरूपेण स्वतन्तत्रं न भविष्यति तावन्नहं पर्यङ्के शयनं न करिष्यामि। अस्याः प्रतिज्ञायाः पालनं जीवनपर्यन्तं सोऽकरोत्। अथ महाराणाप्रतापस्य भ्रातुः शक्तिसिंहस्य वर्णनं कविना प्रतिपाद्यते। एष दुरभिमानी, कोध्यासीत्। अस्मिन् शक्तिसिंहे राजलक्षणं नासीत्। अथ महाराणाप्रतापस्याश्वस्य चेतकस्य वर्णनम्। चेतकस्य जन्म कविदृष्टौ क्षीरसागरेऽभवत् -

क्षीरसागरसमुद्भवः प्रियः सैन्धवक्रमिकदीर्घभावनैः।
अश्वलक्षणसमञ्चितो ध्रुवं चाश्वतल्लजः इवात्र भासते।।[4]

राणाप्रतापो वने कष्टमयजीवनं व्यतीतवान्। जगमलः स्वराज्याभिषेकस्य सिद्धतां कुर्वन्नासीत्। प्रतापस्य विवाहस्य वर्णनं वर्तते। आन्ध्रप्रदेशे विजयविडादुर्गेऽनया राजकुमार्या पाटेश्वर्या सह प्रतापस्य विवाहो जातः। राज्याभिषेकानन्तरं प्रतापः पत्न्या सह वनमगच्छत्। वने स पुनर्देशभक्तेर्भावनामज्ज्वालयत्।

अरण्यकाण्डम्

महारणाप्रतापोऽधिककालमरावलीपर्वते व्याप्तवनेषु च व्यतीतवान्। यदाऽकबरो ज्ञातवान् तदा स युद्धायाऽऽसफखानं तत्र प्रेषयति स्म। प्रतापासफयोर्युद्ध उभयपक्षतो नैके सैनिका मृताः। प्रतापो युद्ध जितवान्। तत्रैव लिखितं वर्तते -

काष्ठं यथा भेदयति प्रहारकः तद्वत् तदा भिल्लवरः तमासफम्।
धराविराजत्प्रखरेण भीकरं सद्यः कुठारेण विभेद निर्दयम्।।

अथ फरीदखानः, अब्दुलखानः, कासिमखानश्च मृत्युमप्राप्नुवन्। सर्वे जना आशां कुर्वन्ति यद् भारते शीघ्रं स्वतन्त्रतायाः सूर्य उदिष्यति। किन्तु वृष्टेरभावाद्वने निवासं क्लिष्टमासीत्। अकबरो वनस्यानेकान् वृक्षानकर्तयत्। कृष्णसिंहादिमंत्रिगणस्तस्य प्रतापस्य पार्वे गतवान्। महाराणाप्रतापाय पूर्णाश्वासनं दत्वा पुनरागतवान्।

दिल्लीकाण्डम्

काण्डेऽस्मिन्नकबरस्य चरित्रं सम्पाद्यते। एष त्रयोदशे वर्षे दिल्ल्याः सिंहासन आसीत्। असौ मधुरवाण्या सकलेषु धर्मेषु समानतां कथयित्वा एकीकृत्य प्रयासमकरोत्। धनं दत्त्वा भारतीयराजकुमारराजकुमारों स्वदासतायावक्रीणात्। मानसिंह स्वसेनापतिं निर्माय युद्धमजयत्। यद्यपि स महाराणाप्रतापस्य विरोध्यासीत्, किन्तु स तस्य प्रशंसक आसीत्। कविना पञ्चपञ्चाशच्छलोकेष्वकबरस्थभवने कामपानशाला वर्णिता। एषु श्लोकेषु यवना मदिरायां कामे च मग्ना विद्यन्ते। अस्मिन् काण्डे पञ्चमे सर्गे मानसिंहस्य व्यक्तित्वमासीत्। असौ

भगवद्रामचन्द्रस्य पुत्रकुशस्य वंशेऽभवत्। अयं बाल्यकालादेव वीरः, धनुर्विद्यानिपुणः, राजनीतिनिष्णातः सकलकलानिधिश्चासीत्। महाराणाप्रतापो लववंशीय आसीत्। उभौ भ्रातरावास्ताम्, किन्तु तौ परस्परं विरोधिनावास्ताम्। मानसिंहोऽकबरस्य पक्ष आसीत्। तेनाऽकबरेण मानसिंहायोक्तं यत् सकलभारतं तस्याधीन आसीत्, किन्तु मेवाडराज्यं नासीत्। स कथयति यदहं हिन्दूचिन्तकोऽस्मि, यदि हिन्दूजनानां पादे कण्टकं भवति, पीडमहमनुभवामि –

कण्टकं चरणे विद्धं हैन्दवानां भवेद्यदि।
भेजेऽहं दुःखमत्यन्तं पादो मे कण्टकक्षतः।।
दिवारानं विना निद्रां विनाऽऽहारं च बाधया।
करोमि शतधा श्याल राष्ट्रस्य हितचिन्तनाम्।।[6]

इत्थं मधुरवार्तयाऽकबरो मानसिंहाय प्रतापस्य विरुद्धमकथयत्। मानसिंहः प्रतापविजयेऽकबरस्य सहायताया वचनमकथयत्। अथ स उदयसागरतटे प्रतापेनामिलत्। स प्रतापमकबरस्याऽधीनतास्वीकारायाब्रवीत्। प्रतापः तं देशभक्तेः संदेशमकथयत्। कृष्णसिंहोऽपि मानसिंहस्य कार्याणां निन्दामकरोत्। शोलापुरविजयानन्तरं मानसिंहो महाराणाप्रतापेन मेलितुमिच्छति स्म। प्रतापो नामिलत्। तस्य पुत्रोऽमरसिंहोऽमिलत्। मानसिंहस्तत्र भोजनं नाकरोत्। सोऽवमानमनुभूतवान्। सोऽकबरं सम्पूर्णवृतान्तमकथयत्। अकबरो मानसिंहस्य सेनापतित्वे राणाप्रतापस्य विनाशाय सेना प्रेषितवान्।

हल्दीघाटीकाण्डम्

हल्दीघाटीनामक स्थानं मेवाडस्येतिहासे सुप्रसिद्धम्। एतत्स्थानं पर्वताच्छादादत्यन्तदुर्गमम्। अत्र युवराजसलीमो युद्धायागच्छत्। अनेन सह मानसिंह आसीत्। प्रताप स्वपर्वतैभविंशतिसहस्रराजपूतैः सहासीत्। अनयोर्मध्ये युद्धमभवत्। आरम्भे प्रतापो जितवान्। सलीमे प्रतापस्याक्रमणं दृष्टवा नैके मुगलसैनिकाः प्रतापस्योपरि प्रहारमकुर्वन्। तथापि प्रतापो युद्धमकरोत्। प्रतापस्य स्थितिं दृष्टवा झालासरदारः तस्य प्रतापस्य कृते स्वप्राणान् दत्तवान्। अधुना प्रतापस्याष्ट सहस्रं सैनिका आसन्। मित्राणां निवेदनानन्तरं प्रतापो युद्धभूमेर्दू गतवान्। तस्य भ्राता शक्तिसिंहः सदा विरोधी। सम्प्रति विपत्तौ विरोधी नासीत्। तदा तस्य चेतको मृत्यु प्राप्तवान्। प्रतापोऽरोदीत्। अष्टमे सर्गे रक्तसरोवरस्य वर्णनम्। अथ स प्रतापः काननेऽवसत्। अत्र पुत्र्या व्याकुलदृश्यं दृष्ट्वा प्रतापः 'षन्मासपर्यन्तं युद्धं न भवेदिति सन्धेः पत्रमकबरं प्रेषितवान्। पत्रं दृष्ट्वाऽकबरः प्रसन्नोऽभवत्। स कविपृथ्वीराजमदर्शयत्। सोऽकथयत् यदेतत्प्रतापस्य पत्रं नाभवत्। स प्रतापस्य भक्त आसीत्। स प्रतापं पत्रमलिखद् यत् कि सिसौदियावंशीयपुत्रमकबरोऽक्रीणात्? किं चित्तौडस्य स्वाभिमानमापणे विक्रेष्यते? प्रतापस्य पत्र एक पद्यम्–

भरतमहीतल दास्य यामिनी तु, धुमणिसमानमहाप्रतापवीरः।।
उदयमवाप्य विनाशायिष्यतीति, प्रतिदिनमेव विभो विचिन्तयामः।।[7]

पत्रं पठित्वा प्रतापः पुनः स्वाभिमान्यभवत्। स पृथ्वीराजं पत्रमलिखत् 'राष्ट्रस्य रक्षायै स्वकुटुक्बं स्वसर्वस्वमहं दास्यामि।' पत्रं पठित्वाऽब्दुलरहमानः पृथ्वीराजश्च प्रस्नावास्ताम्।

विजयकाण्डम्

पराजयस्य पीडया प्रतापो दुःखी। तस्य हृदये प्रश्नोऽभवत् यत् कदाऽऽनन्दस्य दिवस आयास्यति, तदा चित्तौडदुर्गे भगवाध्वजो भविष्यति। तस्मिन् काले भामाशाहनामा देशभक्तः स्वसकलसम्पत्तिं प्रतापायाऽददात्। आर्थिकसहयोगानन्तरं प्रतापः पुनः शक्तिशालिनी सेनामकरोत्। अरिपक्ष एनं विषयं न जानाति स्म। प्रतापो युद्धमकरोत्। भयानकयुद्धमभवत्। यवनानां करुणक्रन्दनं मेवाडवीराणां च जयघोष आकाशमस्पृशताम्। विजयश्रीर्महाराणाप्रतापमवृणीत। प्रतापस्य विजयं श्रुत्वाऽकबरो व्यथितः। स मंत्रिमण्डले स्वव्यथामकथयत्। पृथ्वीराजो मानसिंहस्य धिक्कारं कुर्वनकथयत्–

क्वासौ राजा क्व च तव रणे पाटवं पश्य मान
नैके लक्षाः समरचतुराः मानसिंहादिभूपाः।
साम्यं युद्धे स्थिरमतियुताः नैव यास्यन्ति तेन
सत्यं लोके जयति न तु भाषणं स्थायि हीनम्।।[8]

एतैर्वचनैर्मानसिंहः तं प्रति क्रोधी। किन्तु सोऽकबरकथनेन शान्तो भूतवान्।

स्वातन्त्र्योत्सवः

राणाप्रतापो विजयी भूतवान्। किन्तु तस्य प्रतिज्ञा पूर्णा नाभवत्। चित्तौडस्योद्धारं तस्य प्रतिज्ञासीत्। प्रजाः तस्य जयकारमकुर्वन्। सर्वत्र विजयोत्सवोऽभवत्। किन्तु स सुखं नानुभूतवान्। मृत्योरन्तिमकाले स सकलसरदारानकथयत्– 'सुहृतः! मम समक्षे प्रतिज्ञां कुर्वन्तु यत् कोऽपि शत्रुः स्वमातृभूमावधिकारं न करिष्यति'। सरदाराः तमकथयन् – 'वयं बप्पारावलस्य पवित्रसिंहासनस्य शपथं कुर्मः यत् यावन्नस्मास्वेकोऽपि जीवितो भविष्यति तावत् कोऽपि शत्रुर्मेवाडभूमावधिकारं न करिष्यति। यावन्मेवाड़भूमेः स्वाधीनतायाः स्वप्नं पूर्ण न भविष्यति। तावद्वयं पर्णशालाषु निवसिष्यामः।'

आश्वस्तः प्रतापो विधिनाऽमरसिंह राजसिंहासने स्थापितवान्। अन्ते स स्वर्ग यातः। राजस्थानमेव नापितु सकलभारतं शोकसागरे निमज्जितम्।

श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्यस्य काव्यशास्त्रदृष्ट्या समीक्षणम्

काव्यशास्त्रे रसः, गुणः, अलङ्कारः, छन्दः, रीतिः, ध्वनिरनेके विषया भवन्ति। अधुनाऽस्य महाकाव्यस्य रसालङ्कारछन्दोदृष्ट्या समीक्षा क्रियते–

श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्ये रसः

भरतमुनी रसविषय आह –

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः।[9]

विभावानुभावव्यभिचारिभावैर्व्यक्तः स्थायिभावो रसो भवति। मम्मटेन काव्यप्रकाशे कथितम्–

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः।।
विभावा अनुभावास्ततः कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।[10]

महाकाव्येऽस्मिन् प्रारम्भतोऽन्तपर्यन्तं वीररसः प्रधानरसो वर्तते । अन्ये रसाः शृंगारः, रौद्रः, करुणः, वीभत्सः, अद्भुत शान्तः च सन्ति । वीररसविषये साहित्यदर्पणकारेण कविराजविश्वाथेन भणितम् –

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः।।
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः।
अनुभावस्तु तत्र स्युः सहायन्वेषणादयः।।
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात्।।[11]

बालकक्रीडाया वर्णनं यथा –

कन्दुकक्रीडया गाढं शत्रुकण्ठविलुण्ठने।
प्रावीण्यं प्राप्तुमिच्छन्ति बालाः क्षेत्रेषु संततम्।।
तत्र केचन बालास्तु परेषां कण्ठलुण्ठनम्।
यथा च क्रियते तद्वत् यष्टिनां नन्ति कन्दुकम्।।[12]

पन्नाया बलिदानविषये वीररसो यथा –

एवं पन्ना महात्यागी देशभक्तिपरायणा।
राजभक्त्या स्वपुत्रं तं वीरबलस्य ददौ प्रियम्।
आत्मपुत्रपरित्यागं राजपुत्रस्य रक्षणम्।
राणावंशपरित्राणं चक्रे पन्ना सुनिश्चितम्।।
भारते वीरराष्ट्रेऽस्मिन् वीरनारीषु सोज्ज्वलम्।
नामोल्लेखनमेतस्याः कृतं स्वर्णाक्षरैः परम्।।[13]

शृङ्गाररसे पद्मिन्याः सौन्दर्यम्–

सा पद्मिनी पद्मभवने नूनं समस्तसौन्दर्यविलासिनीव।
विनिर्मिता राजकुले महिम्ना सुतप्तकार्तस्वरसुन्दराङ्गी।।
अनन्तभोगैरुपललिताङ्गी समस्तकन्याजनमण्डिता सा।
विलासवल्लीजनितालतान्ता चित्तौड्डुकासारविरूढपद्मिनी।।
अनन्तसौभाग्यविलासलास्यैः विनूलभावैः कविकल्पनाभिः।
विद्युल्लतास्पन्दनरम्यभाभिः सा निर्मिता विश्वसृजा स्वबुद्ध्याम्।[14]

श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्येऽलङ्कारः

काव्यस्य शोभावर्धकधर्मा अलङ्काराः। उक्तं दण्डिना –

काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते।[15]

अस्मिन् महाकाव्ये शब्दालङ्कारा अनुप्रासः, यमकं श्लेषश्च मुख्यरूपेण वर्तन्ते। अर्थालंकारा उपमा, रूपकम्, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेकः, अर्थान्तरन्यासः, अतिशयोक्तिः, दृष्टान्तः, स्वभावोक्तिः, समासोक्तिः, सन्देहः, विरोधाभासः, सहोक्तिः, संकरः सृष्टिरादयोऽर्थालङ्काराः प्रमुखरूपेण सन्ति। काव्यप्रकाशे यमकस्य लक्षणम्–

अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः यमकम्।[16]

यमकालङ्करो महाराणासंग्रामसिंहस्य वीरतावर्णने वर्तते–

प्रसिद्धस्तेषु सर्वेषु धैर्यवान् वीरपुरुषः।
नाम्ना संग्रामसिंहस्तु संग्रामे सिंहविक्रमः।।

उपमायां लक्षणं काव्यप्रकाशे यथा–

साधर्म्यमुपमा भेदे[18]

चेतकस्य वर्णने उपमालङ्कारः–

चेतकः चित्तवेगोऽसौ निर्जरो भुवि राजते।
राणाप्रतापराजस्य चिदात्म इव शाश्वतम्।।[19]

श्रीमत्प्रतापराणायनमहाकाव्ये छन्दः

अस्मिन् महाकाव्येऽनेन परीक्षितशर्मणा निम्नलिखितानि छन्दांसि प्रयुक्तानि – अनुष्टुप्, स्वागतम्, उपजातिः, पुष्पिताग्रा, रथोद्धता, शालिनी, गीतिः, आर्या, वंशस्थं, रुचिरा, इन्द्रवंशम्, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, मालिनी, शिखरिणी, वसंततिलका, द्रुतविलम्बितं, पञ्चचामरं, भूनुतवृत्तं, शार्दूलविक्रीडितं, वियोगिनी, उपगीतिः, वरांगिः, प्रभातवृत्तं, यमुना, भुजङ्गप्रयातं, मन्दाक्रान्ता, चन्द्रगतिः, आर्यागीतिः, प्रहर्षिणी, ओवी (मराठीभाषाच्छन्दः), तेटगीतिः (तेलगुभाषाच्छन्दः), आटवेली (तेलगुभाषाच्छन्दः)।

अनुष्टुप्छन्दसो लक्षणं यथा –

श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघुपञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः।।[20]

विजयकाण्डे शक्तिसिंहस्य कथनेऽस्य छन्दस उदाहरणं यथा –

चित्तौडसिंह राणा त्वं चित्तौडं मोचितुं स्वयम्।
मन्त्रणा कर्तुमिन्द्रेण गतवानसि निश्चितम्।।[21]

वृत्तरत्नाकरे शार्दूलविक्रीडितछन्दसो लक्षणम्–

सूर्याश्वैर्मसजस्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम्।[22]

राणाप्रतापस्य कथनेऽस्य छन्दस उदाहरणम् –

रे रे मानस जर्झरोऽसि समरे सालीम किं कम्पसे,
चाल्लां त्वं समरे जपस्व चपलं नास्त्येव कालः परम।
खड्गं मे तव कण्ठकृन्तनरतं नैवास्ति रोद्धुं भुवि,
चास्त्येवात्र कृतान्तराडिति परं त्वामेव संरक्षितुम्।।[23]

लेखेऽस्मिन् प्रारम्भे ओगेटिपरीक्षितशर्मणः परिचयः वर्तते। अस्य महाकाव्यस्य कथावस्तुनि बप्पारावलः, रानी पद्मिनी, राणारत्नसिंहः, राणाहम्मीरः, कुम्भाराणा, देवी मीरा, सङ्ग्रामसिंहः, राणाविक्रमजीत इत्यादीनां राज्ञां राज्ञीनां च वर्णनमदीयत। महाराणाप्रतापस्य कानने निवासं, तस्य प्रतिज्ञा, अश्वचेतकः, प्रतापस्य विवाहः, युद्धे प्रतापस्य शौर्येणाऽऽसफखानफरीदखानाब्दुलखानकासिमखानवधं, प्रतापमानसिंहमेलनं, हल्दीघाटीयुद्धे प्रतापस्य वीरता, झालासरदारस्य त्यागः, चेतकमरणं, भामाशाहस्य स्वसम्पत्तिसमर्पणं, पुनयुद्धे प्रतापविजयं, सरदाराणां प्रतिज्ञा, अमरसिंहाय सिंहासनं, महाराणाप्रतापमरणमादिविषया उक्ताः। अस्मिन् महाकाव्ये प्रयुक्तः प्रमुखः वीररसो वर्तते। महाकाव्येऽस्मिन् प्रमुखाः शब्दालङ्कारा अनुप्रासः, यमक, श्लेषश्च सन्ति। महाकाव्येऽस्मिन् प्रमुखाः अर्थालङ्कारा उपमा, रूपकम्, उत्प्रेक्षादयो वर्तन्ते। एतस्मिन् महाकाव्येऽनुष्टुप्, मालिनी, शार्दूलविक्रीडितमं, वंशस्थमादीनि प्रमुखानि छन्दांसि वर्तन्ते। इत्थमस्य महाकाव्यस्य काव्यशास्त्रदृष्ट्या समीक्षणं कृतम्।

सन्दर्भाः–

1. श्रीमत्प्रतापराणायनम्, ओगेटिपरीक्षितशर्मा, मेवाड़काण्डम्, सर्गः - 04, श्लोकः- 10, 13 2
2. तत्र, सर्गः - 10, श्लोकः - 25
3. तत्र, उदयकाण्डम्, सर्गः - 02, श्लोकः- 19
4. तत्र, उदयकाण्डम्, सर्गः - 04, श्लोकः- 07
5. तत्र, अरण्यकाण्डम्, सर्गः - 06, श्लोकः- 48
6. तत्र, दिल्लीकाण्डम्, सर्गः - 06, श्लोकः- 24 - 25
7. तत्र , हल्दीघाटीकाण्डम्, सर्गः - 16, श्लोकः- 16
8. तत्र, विजयकाण्डम्, सर्गः - 04, श्लोकः- 37
9. नाट्यशास्त्रम्, भरतमुननिः, अध्यायः - 06
10. काव्यप्रकाशः, मम्मटः, उल्लासः - 04, सूत्रम् - 43
11. साहित्यदर्पणः, विश्वनाथः, परिच्छेदः - 03, कारिका - 232 - 234
12. श्रीमत्प्रतापराणायनम्, ओगेटिपरीक्षितशर्मा, मेवाड़काण्डम्, सर्गः - 01, श्लोकः- 41-42
13. तत्र , सर्गः - 13, श्लोकः - 38- 40
14. तत्र , सर्गः - 06, श्लोकः - 03, 05, 06
15. काव्यादर्शः, दण्डी, अध्यायः - 02, कारिका - 01
16. काव्यप्रकाशः, मम्मटः, उल्लासः - 09 सूत्रम् - 117
17. श्रीमत्प्रतापराणायनम्, ओगेटिपरीक्षितशर्मा, मेवाड़काण्डम्, सर्गः- 11, श्लोकः- 03
18. काव्यप्रकाशः, मम्मटः, उल्लासः - 10, सूत्रम् - 125
19. श्रीमत्प्रतापराणायनम्, ओगेटिपरीक्षितशर्मा, उदयकाण्डम्, सर्गः- 04, श्लोकः- 50
20. छन्दोमञ्जरी, गङ्गादासः, 4/7
21. श्रीमत्प्रतापराणायनम्, ओगेटिपरीक्षितशर्मा, विजयकाण्डम्, सर्गः- 08, श्लोकः- 30
22. वृत्तरत्नाकरम्, केदारभट्टः, अध्यायः - 3, सूत्रम् - 99
23. श्रीमत्प्रतापराणायनम्, ओगेटिपरीक्षितशर्मा, हल्दीघाटीकाण्डम्, सर्गः- 05, श्लोकः- 23

संस्कृत शिक्षक, दिल्ली

आचार्यविद्यासागरकृतसुनीतिशतकस्य काव्यशास्त्रीयमूल्याङ्कनम्

डॉ. ललितकिशोरशर्मा

सुविशालमिदं सुरभारतीवाङ्मयमित्यामनन्ति लोकाः। विलसन्त्यत्र नानाज्ञानसमुच्चया वेदपुराणकाव्यनाट्याचारविचारायुर्वेदयोगधर्मशास्त्रजैनदर्शनन्यायदर्शनप्रभृतयः। अस्त्येतेष्वनति – रसाधारणं वैशिष्ट्यं काव्यसाहित्यस्य। तत्र तावत् काव्यसाहित्यप्रणयने जैनाचार्याणां महती गरीयसी च साधना। प्राकृतमतिरिच्य संस्कृतभाषायामपि कवनं तैः जैनकविभिः विहितमिति प्रथमशताब्याः काव्यानि प्रमाणभूतानीति सार्वजनीनो विषयः। जैनकाव्यशास्त्रिणामियमप्रतिभापरम्परा जटासिंहनन्दी-वर्धमानकवि-वीरनन्दी-असगकवि-वादिराज-माणिक्यचन्द्र-भवदेवसूरिप्रभृति कविपुङ्गवेभ्यः साम्प्रतमपि प्रचलन्ती प्रवहन्ती चाचार्यविद्यासागरपर्यन्तं स्वकीयां कामप्यपूर्वां विच्छित्तिं तनोतीह समाजे। कवीनामयं काव्यरसः सुतरामानन्दयति निमज्जयति च लोकोत्तरचमत्कारानन्दप्रवाहे। साहित्यरसं प्रशंसन् जगाद कविः परिमलः पद्मगुप्तो नवसाहसाङ्कचरिते ग्रन्थे–

नमोऽस्तु साहित्यरसाय तस्मै निषिक्तमन्तः पृषतापि यस्य।
सुवर्णतां वक्त्रमुपैति साधोर्दुर्वर्णतां याति च दुर्जनस्य[1]।।

साहित्यरसममुं सुष्ठुतया प्रकटयन्ति गीतिकाव्यानि। इमानि च गीतिकाव्यानि हृदयस्थभावातिरेकसापेक्षानि भवन्ति। भक्तिनीतिवैराग्यप्रेमशोकपरकाणीमानि गीतिकाव्यानि।

नीतिमभिलक्ष्य रचितेषु गीतिकाव्येषु प्राधान्यं नैतिकशिक्षाया भवति। इह समावेशो जायते वस्तुतो भाषाभावयोः। अस्यामेव गीतिकाव्यपरम्परायां शतककाव्यानां वरीवर्ति विशिष्टं महत्त्वम्। महाकवेः भर्तृहरेः प्रसिद्धानि त्रीणि शतककाव्यानि। मानवजीवनस्य व्यावहारिकपक्षमधिकृत्य सन्तोषशक्तियुतत्वेनोपदेशपरकेन वाक्येन आदर्शवादस्य प्रतिष्ठां सहजेन शतककाव्यानि। वस्तुतः इमानि मुक्तकान्येव सन्तीति मुक्तकलक्षणहेतुत्वात् सम्यक्तया विज्ञातुं शक्याः। अग्निपुराणोक्तं मुक्तकलक्षणं यथा–

मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्।[2]

एक एव श्लोकः चमत्कारक्षमो यत्र भवति तदस्ति मुक्तकमिति तात्पर्यार्थः।

परम्परायामेवास्यां विंशतिशताब्यां रचितानि नैकानि शतककाव्यानि श्रुतिविषयगोचराणि सञ्जायन्ते। शतपत्रम्-सिनेमाशतकम्-राष्ट्रदर्पणम्-भावमाला-भारतगाथा-अभिराजसप्तशती-संस्कृत शतकम्-मूर्खपद्धतिः-भारतभूषणम्-प्रमाणिकाशतकम्-अन्योक्तिशतकप्रभृतयः सन्ति कानिचन ख्यातानि शतककाव्यानि।

शोधपत्रेऽस्मिन् आचार्यश्रीविद्यासागरवर्यप्रणीतसुनीतिशतकस्य काव्यशास्त्रीय पर्यालोचनमिति नो विषयः। आचार्यश्रीविद्यासागरमहाराजः विविधशास्त्राणां गभीराध्येता, अप्रतिमविद्वान, साधु, निर्लिप्तश्चासीदिति विज्ञाय न अन्तःकरणं मोमुदीति। वस्तुतो विद्यासागरस्त्वन्वर्थसंज्ञायुतः, अपरिमाणं गुणगरिमाणं बिभ्राणमसौ महाकविः काव्यपरिशीलनपेशलः विशिष्टां कामप्यपूर्वां विच्छित्तिविशेषं स्वकीयासु रचनासु संधारयतीति मोदावहो विषयो नितराम्। एतादृशा विरला जनाः प्रायो दुर्लभा एव।

सत्यमेवाब्रवीत् कश्चिद् सुधी–

सर्वत्र गुणैः सर्वैदोषैश्च समन्विता विमुक्ताश्च।

पान्ति भुवनं समन्तापे केऽपि नमः सदा तेभ्यः[3]।।

अवादीत् नीतिशतके महाकविभर्तृहरिः–

मनसि वचसि काये पुण्यपीयूषपूर्णा

स्त्रिभुवनमुपकारश्रेणिभिः प्रीणयन्तः।

परगुणपरमाणून् पर्वतीकृत्य नित्यं

निजहृदि विकसन्तः सन्ति सन्तः कियन्तः[4]।

संस्कृतसाहित्यस्य महती सपर्या एभिर्महाभागैः विहितेति ग्रन्थसंग्रहः प्रमाणभूतो वर्तते। अस्यामेव ग्रन्थपरम्परायां विशिष्टं स्थानं धत्तेषगती। अत्र ग्रन्थे सुतरां निबद्धानि षड्शतककाव्यानि तानि च यथा – श्रमणशतक–भावनाशतक–निरञ्जनशतक–परीषजयशतक–सुनीतिशतक चैतन्यचन्द्रोदयशतकप्रभृतयः। सर्वाण्यप्यैतानि शतककाव्यानि विशिष्टोद्देश्यसंयुतानि, समाजे चैतन्यकारकाणि, विविधभावोपदेशविचारनीतिसद्मार्गदर्शकानि, समाकृष्टसहृदयहृदयानि, अखण्डममन्दानन्दरूपाणि चेह प्रसिद्धिं गतानि। तस्मादुच्यते आचार्यप्रवरेण श्रीविद्यासागरेण–

वच आश्रित्य साधुतां, साधुनुतां साधुगुणपयसा धुताम्।

साधुतामर्थसाधुता, साधुरुपोज्य वदे साधुताम्[5]।।

वेदान्तशास्त्रस्य परमं रहस्य प्रकटयता आत्मतत्त्वमेव गरीयान्, अन्तःकरणप्रवृत्तय एव प्रमाणमिति महता शास्त्रकौशलेन यतिनामुना अभाणि श्रमणशतके।

क्षारतः संसारतः पारावारतो दुःखमसारतः।

निजे भवाञ्जसारतः सुखं सत् स्यात् स्वतः सारतः[6]।।

"**ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या**" इति वचनमुररीकृत्य आत्मतत्त्वविचारः साधुतत्र इह प्रकटितो मुनिना। असारोऽयं संसारः सारस्तु आत्मन्येव अन्यद् सर्वं मिथ्या। अतो ऽस्माभिः सर्वैरपि संसारप्रीतिं विहाय आत्मप्रीतिः अङ्गीकर्तव्या आचरणीया च। एतादृशा भावा इह पदे पदे परिलक्ष्यन्ते।

सुनीतिशतकमेकमतिविशिष्टं प्रकरणमनेन कविराजेन श्रीविद्यासागरेण व्यधायि। सुनीतिर्नाम सुष्ठुनीतिरिति। यत्र जीवनदर्शनमभिलक्ष्य नीतिशास्त्रञ्चाधिकृत्य च भृशं तात्त्विकं वर्णनं समुपलभ्यते येन कस्यचिदपि मानवस्य सामाजिकम्, आर्थिकम्, चारित्रिकञ्च वैशिष्ट्यं वर्धेत सैव सुनीतिरिति। शतकेऽस्मिन् लौकिकदृष्टान्ताधारेण सदाचारस्य व्यावहारिकी शिक्षा प्रदातुं नैके रसपेशला हृदयग्राहिणः सुभाषितश्लोकाः प्रणीता वर्तन्ते। सरसया सरलया बोधगम्यया शैल्या सदाचारस्य शिक्षणमेवास्या रचनायाः प्रधानं मौलिभूतञ्चोद्देश्यमिति ग्रन्थाध्ययनेन सुष्ठु प्रमाणीभवतीति।

सुनीतिशतकस्यास्य काव्यशास्त्रीयमूल्याङ्कनप्रसङ्गे विविधाः भावाः साङ्गोपाङ्गतया विवेच्यन्ते तेषु रसालङ्कारध्वन्यौचित्यगुणदोषवक्रोक्तिछन्दः रीतिभाषाभावव्याकरणभावाभिव्यक्तयः प्रधानत्वेन संगण्यन्ते।

औचित्यस्येकमुदाहरणं यथा–

मूल्येन पुष्टं च मलेन जुष्टं, नवीनवस्त्रं न हि नीरपायि।
गुरूपदेशामृतरागहीनः शास्त्रोपजीवी खलु धीधरोऽपि[7]।।

कश्चिद् विद्वान् शास्त्रेभ्यः आजीविकां गृह्णाति तदा सः विद्वत्फलरहित एवेति नास्त्यत्र संशयलेशोऽपि। शास्त्राणां महत्वैशिष्ट्यं जगाद कविरिह। पुष्टं जुष्टमित्यत्र अन्त्यानुप्रासस्य अप्रति मा छटा दरीदृश्यते। 'नीरपायि' इत्यत्र नीरस्य स्पर्शार्थे प्रयोगो न तु पातुमित्यर्थः तस्मादत्र कश्चिद् विशेषः ध्वनिः संलक्ष्यते।

संसारस्य निःसारत्वं प्रकटयता कविना प्रोच्यते – असारोऽयं संसारः, सिद्धाः परमेष्ठिनो ब्रह्मलग्ना जनाः पुनरत्र न समागच्छन्ति। प्रकारान्तरेण मोक्षमेवं ते प्राप्नुवन्ति।
तन्निदर्शनमेकं यथा

भवाभिभुक्ता न भवे विभावे, पुनश्च भीमेऽवतरन्ति दुःखे।
तैलं तिलं तच्च घृतं तु दुग्धं, पूर्वस्वरूपं न पुनः प्रयाति[8]।।

शान्तरसस्योत्कृष्टां चर्वणां प्रस्तुतीकृत्य 'विभावे' इत्यत्र संसारस्य विभावत्वेन दुःखस्य परिगणनम्, विशेषेण भावयन्ति इति विभावा इति व्युत्पत्त्याधारेणात्र 'विभावे भवे' इत्यस्य प्रयोगः अनुप्रासचारुतां नितरां संद्योतयति। 'तैलं तिलं 'इत्ययं प्रयोगः पुष्णात्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिमिह। 'पुनश्च', 'पुनः' इति प्रयोगः पुनरावृत्तिं प्रकटयति। यदि काव्ये पुनरावृत्तिं परित्यज्य सहजेन वर्णनं क्रियते तन्नूनं मोदय क्षेमाय च स्यादिति मदीया काचिद्भावना। बभाषे भट्टमथुरानाथशास्त्री–

शृङ्गारालम्बनोदार नायिकारूपवर्णनम्
वसन्तादि तदङ्ग च सच्छायमुपजातिभिः।
प्रावृप्रवासव्याख्याने मन्दाक्रान्ता विराजते
शौर्यस्तवे नृपादीनां शार्दूलविक्रीडितं मतम्[9]।।

अनेन लक्षणोपन्यासेन उपजातिछन्दसा शान्तरसवर्णनं वरमित्यङ्गीकृत्य आचार्यश्रीविद्यासागरकविना शतकेऽस्मिन् वृत्तममुं प्रायोजि। वस्तुतो निजनिवर्तितेऽक्षरगुम्फे कविः स्वप्रतिभाबलाद् यं भावं रसं वाऽभिव्यनक्ति तं विचारपूर्वकमुपात्तस्य बन्धुरच्छन्दसो लयो भूयस्तरां प्रगुणीकरोतीति कश्चन राद्धान्तः। यतो ह्यर्थविचारः परस्ताद्भवति परं कर्णमुपगतं छन्दोमाधुर्यं पूर्वमेव श्रोतुर्मानसमात्मवशे करोति। वशीभूते सति मनसि सर्वमेव स्वतोऽभिरुचितं भवतीति सहृदयहृदयवाग्विलासः।

गुरोः महत्त्वमुररीकृत्योपदिशति कविरत्र सुनीतिशतके – गुरुः स्वयं प्रज्वलितो भूत्वा अन्यान् शिष्यान् प्रज्वालयति। कस्मिंश्चिद् शिष्ये यत्किमपि भवति तत्सर्वं गुरोरेव। वचसा काठिन्यं खलु स्याद् गुरुवचसि परन्तु मनसि अन्तःकरणं तु दिव्यत्वं सम्प्राप्य मसृणत्वमेव प्राप्नोतीत्यभिप्रायः।

उत्तररामचरिते रूपके महाकविभवभूतिः गुरोः वैशिष्ट्यमित्थं निरूपयाञ्चक्रे –

वितरति गुरुः प्राज्ञे विद्या यथैव तथा जडे
न तु तयोः ज्ञाने वृत्तिं करोत्यपहन्ति वा।

भवति च पुनः भूयान् भेदः फलं प्रति तद्यथा

प्रभवति शुचिः बिम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः[10]।।

An Ideal Teacher would not discriminate in teaching whether the one is dull and other is more intelligent than others and teach all of them equally without any discrimination. What will happen, if one polishes a lump of mud? It will never shine. But at the same time, the gem will be spine more, when polished. This is the handicraft of the teacher.

भण्यते कविना जैनाचार्येण श्रीविद्यासागरेण–

कायेन वाचा तु गुरुः कठोरो, हितैषिणः स प्रति तान् विनेयान्।

तथा न चित्तेन मृदुर्दयैक, धामा लघुः श्रीफलवत् सदास्तु[11]।।

उपमालङ्कारस्य मनोरमं विवेचनं कृत्वा वैदर्भीरीतेरत्र वर्णनं समुपस्थाप्य ज्ञानामृतसिञ्चनेन गुरोः महिमा अत्र वर्णितः। 'श्रीफलवत्' इत्यत्र उपमा। 'श्रीफलवत्' अर्थात् श्रीफलमिव, इव शब्द योगे नित्यसमासो भूत्वा श्रौती वाक्यगा पूर्णोपमा। 'इवेन नित्यसमासो विभक्त्यलोपः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च' अनेन कात्यायनकृतवार्तिकेन इव शब्दयोगे नित्यसमासः। अत्र श्रीफलमुपमानम्, गुरोवर्चनम् उपमेयम्, 'श्रीफलवत्' इत्यत्र वत् शब्दः इवार्थप्रतिपादकः वतिप्रत्ययार्थत्वात् लघु–मृदु–दया–इति गुणसादृश्ये 'तत्र तस्यैव' इत्यनेन सूत्रेण वतिप्रत्ययः पुनश्च कोमलत्वं साधारणधर्मो विद्यते। अत्र शान्तरसवर्णनरीत्या भावस्येदमुदाहरणम् – गुरोः शिष्यान् प्रति प्रीतिरेवात्र भावं जनयतीति तात्पर्यार्थः। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रसङ्गे भावानाममीषां वर्णनं क्रियते बुधैः। शान्तरसस्वरूपमित्थमुवाचालङ्कारमहोदधिग्रन्थे जैनाचार्येण नरेन्द्रप्रभसूरिणा –

वैराग्यादिविभावोत्थो यमप्रभृतिकार्यकृत्।

निर्वेदप्रमुखोर्जस्वी, शमः शान्तत्वमश्नुते[12]।।

इयं वाणी पावित्र्यमातनोति मनसः, दुरितमपाकरोति सततम्, संबोधयत्यात्मतत्त्वम्, प्रकाशयति ज्ञानपुञ्ज निभालयति संस्कारान, दूरीकरोति कल्मषानि, कटयति विद्यावैभवमिति।

नवनवोन्मेषशालिनीप्रज्ञया सम्पूरितेयं वैखरी वाग् नैकैः लौकिकदृष्टान्तैः धीमतां मानसमन्दिरे नीतिमार्गमुपयुज्य द्राक् राराजते। लोकेषणाविरहितभावेदं सुनीतिशतकं सम्पूर्णमपि जीवनमूल्यं समग्रयति आस्वादयति च भक्तिवैराग्यशान्तयमादिभावान् सुष्ठुत्वेन। अभिनवानि वाक्यकौशलानि, नूत्नाश्च शब्दा व्याकरणशास्त्रपाटवमत्र शतककाव्ये परिलक्ष्यते। तद्यथा–

असंयतानां विदुषामपीह, ज्ञाने स्वभावात् गुणता न भातु।

स्पाय न दृश्यं मृदुता न नव्यं केशेषु घृष्टे वि मित्र! दृष्टम्[13]।।

अस्मिनुदाहरणे 'पृष्टेः' इति पदप्रयोगः पदशास्त्रकौशलं प्रकटयति कवेरस्य। घृष्टो नाम शूकरो वराहो वा। 'घृष् सङ्घर्षे ' इत्यस्माद् धातोः ल्युट् प्रत्यये कृते सत्ययं शब्दः सङ्गच्छते। यो घर्षति सः घृष्टः इति। लौलिकदृष्टान्तमाध्यमेन काचिद् नूतना विचारसरणिः उद्भावितेह ग्रन्थकारेण। वस्तुतः सत्यं तथ्यञ्चेदं यद् शूकराणां केशेषु मृदुता नावलोक्यते। सन्ति येऽसंयमिनो विचक्षणाः तेऽपि ज्ञाने स्वभाववशाद् गुणतां नाप्नुवन्ति।

प्रसादगुणोपेतेयं वाणी सन्ततं तमो विनाशयित्वा चित्तं निर्मलीकरोति। स्वभावोक्त्यालङ्कारस्य हृदयग्राहिवर्णनमिह शतकमुखेन अकारि कविना।

धर्मः कः इति जिज्ञासायां 'धारणाद् धर्ममित्याहुः' इति प्रमाणवचनं सम्मुखीकरोत्यस्मान्। कर्तव्यपालनं धर्मः इति उक्ते सति किं करणीयं किं न करणीयमिति प्रश्नः समागच्छति। 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इति धर्मोपदेशं काव्यत एव जायते नितराम्। विषयेऽस्मिन् अवादि काव्यकारेण आचार्यश्रीविद्यासागरमुनिना–

धनी तु मानाय धनं ददाति, धनाय मानाय धियं तु धीमान्।

प्रायः प्रभावोऽस्तु कलेः किलायं, दूरोऽस्तु धर्मो नियमाच्च ताभ्याम्[14]।।

बहुमानाय मानाय च धनवान् ददाति धनमन्येभ्यः, बुद्धिमान् धनाय सम्माननाय च प्रयुज्यते मनीषां, वस्तुतः कलिकालस्यायं प्रभावः। भूतार्थे तत्र कश्चन लवोऽपि नास्ति धर्मस्य। प्रपञ्चस्यास्य वास्तविक स्वरूपं प्रकटीकृत्य धर्मस्याडम्बरं निरदेशि कविनेह। अनुप्रासालङ्कारस्य मनोरमां छटा अत्र विलोकयन्तु सुधियः – धनी–धनम्, मानाय–मानाय, धनाय–धियं–धीमान, प्रायः–प्रभावः, कलेः किलायम्, प्रभृतयः शब्दाः।

लोकप्रसिद्धं भावमत्र चारुतया गदति महाकविः विद्यासगरयति। उत्प्रेक्षालङ्कारस्य भावाभिबोधकं समुपवर्णनं सुष्ठुतया विधाय आत्ममतं संस्थापयतीत्थम् –

प्रायः, किल इत्येताभ्यां द्वाभ्यां शब्दाभ्यां व्यञ्जकत्वादुत्प्रेक्षा अत्र वर्तते–

न्यरूपयद् कुवलयान्दकारः अप्पय्यदीक्षितः–

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः।

उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः[15]।।

'आदिभिः' इत्यत्र किल, जातुचित, कदाचित्, कर्हिचित् इत्यादीनां ग्रहणं भवतीति। कविवरोऽयमनयैव शैल्या निखिलेऽस्मिन् काव्ये विनेयान् विनयं ग्राहयितुं सततं जागरूको सुतरां साभिनिवेशश्च संदृश्यते। सदाचारोपदेशनमेवास्य शतककाव्यस्य प्रधानं प्रयोजनम्। सुधास्यन्दास्कन्दितया समुल्लसत् निरतिशयमधुरिमोद्गारि शतककाव्यमिदं सचेतसां चेतांसि समावर्जयत् तत् प्रयोजनं च साधयदद्यापि जगति जागर्ति पौनःपुन्येन –

गन्तुं लय स्वात्मनि तेऽस्ति वाञ्छा, त्वयार्जवं चेतसि संश्रित स्यात्।

वक्रागतिर्यद्यपि सोरगाणां बिलप्रवेशे सरलैव दृष्टा[16]।।

स्वात्मनि लयमिच्छति चेत् सारल्यमनिवार्य नूनमेव। सर्पोदाहरणमुखेन प्रसादगुणोपेतं वैदर्भीशैलीयुतञ्चेदं वचनं पुष्णाति किमप्यभिनवं नावीन्यम्। सरलता विनम्रता वा चेतसि स्याच्चेत् आत्मानुभवः आत्मप्रवेशश्च स्वयमेव जायते।

इत्थं शतकमिदं सरलया भावाभिव्यक्तिप्रक्रियया, भूयिष्ठयाऽर्थगभीरतया प्रेष्ठया पद्धत्या, श्रेष्ठया विचारसरण्या, साधिष्ठया काव्यतत्त्वदीक्षया, वरिष्ठयाऽऽत्मविशुद्धिशिक्षया सर्वत्रापि विद्वत्कुले शिखरायते। अर्थगौरवमिह पदे पदे संलक्ष्यत्वात् अर्थभारभरिता विविधा विचाराः जनजीवनं सार्थकीकुर्वन्ति। वस्तुतः शतककाव्येऽस्मिन् कल्पनाका म्यत्वम्, भावोत्कर्षः, सूक्ष्मेक्षणदक्षता, व्यवहारपाटवम्, लोकराधनक्षमत्वञ्च संदृश्यते। एवमिदं सर्वान् विषयान् क्रोडीकृत्य संस्कृतवाङ्मयं पुष्णातीति मे विचारपद्धतिः।

सन्दर्भाः

1. नवसाहसाकचरितचम्पूः - 1/14
2. अग्निपुराणम् - 337/36
3. लोकसंव्यवहारप्रवृत्तिः - श्लोकसंख्या -1
4. नीतिशतकम् - श्लोकसंख्या - 79
5. श्रमणशतकम् - श्लोकसंख्या - 6
6. तत्रैव - श्लोकसंख्या - 77
7. सुनीतिशतकम् - श्लोकसंख्या - 2
8. तत्रैव - श्लोकसंख्या - 42
9. साहित्यवैभवम् - प्रस्तावनाभागः
10. उत्तररामचरितम् - 2/4
11. सुनीतिशतकम् - श्लोकसंख्या -28
12. अलङ्कारमहोदधिः - 3/24
13. सुनीतिशतकम् - श्लोकसंख्या - 10
14. तत्रैव - श्लोकसंख्या - 7
15. कुवलयानन्दः।
16. सुनीतिशतकम् - श्लोकसंख्या - 45

सन्दर्भग्रन्थसूचिः

1. षट्नती, आचार्य विद्यासागर महाराज, प्रकाशक - जैन विद्यापीठ, सागर (म.प्र.), 2017
2. संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास, डॉ.कपिलदेवद्विवेदी, रामनारायाणलाल विजयकुमार, इलाहाबाद, 2002
3. अग्निपुराणम्, गीताप्रेसगोरखपुरम्।
4. नीतिशतकम्, गोस्वामीप्रह्लादगिरिः, भारतीयविद्याप्रकाशनम्, वाराणसी, 1993
5. अमरकोशः, म.म.पं.शिवदत्तदाधिमथः, संस्कृतभारती, नईदिल्ली।
6. सिद्धान्तकौमुदी, श्रीबालकृष्णपञ्चोली, चौखम्भासंस्कृतसंस्थानम्, वाराणसी, वि.सं. 2062
7. काव्यादर्शः, डॉ.जमुनापाठकः, चौखम्बाकृष्णदास-अकादमी, वाराणसी, 2005
8. उत्तररामचरितम्, डॉ.शिवबालकद्विवेदी, हंसाप्रकाशन, जयपुरम्, 2008
9. कुवलयानन्दः, प्रो.जयशङ्करलालत्रिपाठी, चौखम्बा से.सीरीजआफिस, वाराणसी, 2006

सह-आचार्यः -साहित्यविभागे,

श्रीदिगम्बरजैन-आचार्यसंस्कृतमहाविद्यालयः,

साङ्गानेरम्, जयपुरम्

अर्थस्य व्यञ्जकत्वम्

डॉ. फिरोजः

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ।।[1]

इत्यनेन ज्ञायते यदस्ति शब्दार्थयोः नित्यसम्बन्धः। स एव सम्बन्धो भामहमम्मटकुन्तकाचार्यैः प्रतिपादितः। यथा-

शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्।[2]
तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापि।[3]
शब्दार्थौ सहितावेव प्रतीतौ स्फुरतः सदा।
सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते।
साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनातिरिक्तत्वंमनोहारिण्यवस्थितिः।[4]

अतः काव्यप्रकाशस्य प्रथमोल्लासे शब्दार्थौ काव्यमिति प्रतिपाद्य मम्मटेन द्वितीयोल्लासे शब्दार्थस्वरूपं निरूपितम्। स शब्दः त्रिविधः -

1. वाचकः 2. लाक्षणिकः 3. व्यञ्जकश्च।

उक्तमपि-

स्याद्वाचको लाक्षणिकः शब्दोऽत्र व्यञ्जकस्त्रिधा।[5]

व्यञ्जकब्दः नैव विश्रुतो व्याकरणादिशास्त्रेषु। अतो निगदितम्- 'अत्र ' अर्थात् काव्ये। अत्रोपजीव्यत्वेन भासते वाचकः लाक्षणिकव्यञ्जकयोः। अथ च वाचकलाक्षणिकावुपजीव्यत्वेन राजेते व्यञ्जकस्य। अतो वाचकादीनां क्रमोऽयं निर्धारितः।

अत्र सारबोधिनीकारो वक्ति- **त्रिधेति। अत्रोपाधीनामेव त्रित्वं न तूपाधेयानाम्। नहि कश्चिद्वाचक एव कश्चिल्लाक्षणिक एव कश्चिद् व्यञ्जक एवेत्यस्ति नियम इति। अत एव 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावेकस्यापि गङ्गादिशब्दस्य वाचकत्वं लाक्षणिकत्वं व्यञ्जकत्वं चोपपद्यते।**[6]

वाच्यादयास्तदर्थाः स्युः[7]

इति वदता मम्मटेन वाचकादीनां वाच्यार्थः, लक्ष्यार्थः व्यङ्ग्यार्थश्च उक्ताः।

वाचकादिभिः त्रिविधशब्दैः वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थानां प्रतीत्यै साहित्यशास्त्रे व्यापारत्रयमुररीकृतम्। व्यापाराः त्रयो वर्तन्ते-

1. अभिधा 2. लक्षणा 3. व्यञ्जना

तत्र वाच्यार्थस्य उत मुख्यार्थस्य बोधनव्यापारोऽभिधा, लक्ष्यार्थस्य लक्षणा तथा च व्यङ्ग्यार्थस्य

व्यञ्जना। अत्र केवलं आर्थीव्यञ्जना एव प्रतिपाद्या वर्तते। अतः व्यञ्जकं शब्दं लक्षयितुं व्यञ्जनायाः स्वरूपमुच्यते–

तत्र व्यापारो व्यञ्जनात्मकः।[8]

स च व्यञ्जनाव्यापारः शब्दनिष्ठार्थनिष्ठौ च वर्तते। शब्दनिष्ठव्यापारः लक्षणामूलाभिधामूले इति द्विधा वर्तते। अत्रार्थनिष्ठव्यापार आर्थीव्यञ्जना वा निरूप्यते। व्यञ्जनाव्यापारेण युतः शब्दो व्यञ्जको भवति इति प्रतिपादयितुमाह–

तद्युक्तो व्यञ्जकः शब्दः यत् सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मतः।[9]
अर्थाः प्रोक्ताः पुरा तेषाम्, अर्थव्यञ्जकतोच्यते।[10]

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यभेदात् ये अर्थाः मम्मटेन निरूपिताः, तेषामेव व्यञ्जत्वं प्रतिपाद्यते। तत्र पूर्वोक्तानां वाच्यादीनां कथं व्यञ्जकत्वमिति जिज्ञासायामुक्तम्–

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्याद्प्रतिभाजुषाम्।
योऽर्थस्यान्यार्थधीर्हेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।
बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः। काकुर्ध्वनेर्विकारः। प्रस्तावः प्रकरणम्। अर्थस्य च वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यात्मनः।[11]

अत्र यदि अर्थो व्यञ्जको निरपेक्षः स्याद् चेद् स सर्वदा तमर्थमवगमयेत्। अथ सापेक्षः भवेद् चेद् किं तस्यापेक्षणीयमित्याह वक्तृबोद्धव्येति। आदिग्रहणस्याभिप्रायोऽत्र चेष्टावैशिष्ट्याद् वर्तते।

अत्र प्रसङ्गानुगुणं सोमेश्वरो वक्ति– **यः प्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता। साकाङ्क्षाणां पदानां समूहो वाक्यं शब्देन द्विविधं मुख्यं लाक्षणिकं वाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद् गोचरीक्रियते तद् वाच्यम्।**[12]

प्रतिभाजुषाम् इत्यनेन नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा प्रतिभा या वासनेत्युच्यते। तस्यां सत्यामेव वक्तृवैशिष्ट्यादिसत्त्वेऽपि व्यङ्ग्यप्रतीतिः।

एषां वक्तृवैशिष्ट्यादीनां क्रमेणोदाहरणानि प्रतिपाद्यन्ते।

1. वक्तृवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्–

अतिपृथुलं जलकुम्भं गृहीत्वा समागताऽस्मि सखि त्वरितम्।
श्रमस्वेदसलिलनिःश्वासनिःसहा विश्राम्यामि क्षणम्।।[13]

इत्यत्र काचिद् अविनीतवधूः परपुरुषेण कृतसम्भोगादयः गात्रविकारविशेषापह्नवे अभिधत्ते। तस्याश्च असाधुत्वे अवगते तृतीयस्य तटस्थस्य प्रतिभाजुषो व्यङ्ग्यप्रतीतिः।

अत्र वक्रीकमनी। तस्याः दुःशीलत्वरूपवैशिष्ट्यं विजानतां चौर्यरतगोपनं व्यक्तीभवति।[14]

2. बोद्धव्यवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्–

औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽलसत्वं सनिःश्वसितम्।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि! त्वामपि अहह परिभवति।।[15]

स्वकामुकसम्भोगां दूतीं प्रत्युपभोगचिह्नैः तं सम्भोगं ज्ञातव्यानायिकायोक्तिरियम्। अत्र दूती बोध्या। तस्या अन्यथापि दृष्टदुष्टचेष्टया वैशिष्ट्यात् वाच्यघटितवाक्यार्थस्य तस्याः स्वकामुकोपभोक्तृत्वमेषा प्रकाशयति इति सामाजिकान् प्रति व्यङ्ग्यः।

3. काकुवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां,
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं,
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु।।[16]

काकुशब्दस्य अनेकार्थाः स्वीकृताः यथा- कायति अर्थान्तरमिति काकुः यद्वा- जिह्वा। तद्व्यापारविशेषसम्पाद्यत्वात् ध्वनिविकारोऽपि काकुः। यद्वा ककि लौल्ये इति धातोः काकुशब्दः। प्रकृतार्थातिरिक्तार्थमपि वाञ्छति इति लौल्यं अस्याभिधीयते। यद्वा इषदर्थे कुशब्दस्य कादेशः। तेन हृदयस्थवस्तुप्रतीतेः ईषद्भ्रूमिः काकुः तद्वैशिष्ट्याद् यथा- कौरवैः युधिष्ठिरं प्रधानाः प्रेषिताः ततः तेन सहदेवे सम्प्रति सन्धिं कर्तुं युक्त इति भीमं प्रति प्रेषिते भीमस्येयं काकूक्तिः।

तथाभूतां केशग्रहणवस्त्रापहरणादिपरिभववतीं, नृपसदसि न तु यत्र कुत्रापि विवक्तस्थले, पाञ्चलतनयां न तु अज्ञातकुलगोत्रां यां कश्चन दृष्टवापीति खेदमकरोत्, व्याधैः किरातैः सुचिरमुषितं न तु किञ्चितकालं, वल्कलधरैः अस्माभिरिति शेषः। अनुचितारम्भनिभृतं पाकाद्यनुचितसेवाकरणेन अज्ञातं यथा भवति तथा।

अत्र काकुस्थानीये द्वे पदे- 1. मयि 2. कुरुषु इति।

तथाभूतां इति वाच्यसिद्धौ काकुः स्वरविशेषोऽङ्गीकरणमिति वाच्यसिद्ध्यङ्गलक्षणो गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदः कथं न स्यात्- इति जिज्ञासायां मम्मटो वक्ति-

न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं शङ्क्यम्। प्रश्नमात्रेण काकोर्विश्रान्तेः।[17]

अर्थात् भीमः ब्रूते- हे सहदेव! कुरुषु किमर्थं न खेदः क्रियते गुरूणा, यन्मयि खेदः क्रियते? इत्येवंरूपप्रश्नमात्रेणापि काकोः विश्रान्तेः। काकोस्तु यद्वैशिष्ट्यं तत्पर्यालोचनया सहृदयस्य व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिः।

काव्य अर्थानुपपत्तिसम्भवे सति व्यङ्ग्यात् यदा काव्यर्थोपपत्तिः तदा वाच्यसिद्ध्यङ्गम् इति नाम्नः गुणीभूतकाव्यस्य भेदः। यदा तु अर्थानुपपत्तिसम्भव एव सति काकोः व्यङ्ग्यविश्रान्तिगतत्वेन काव्यार्थोपपत्तिः तदा काक्वाक्षिप्ततेति। यथा-

मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्,
दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः।
सञ्चूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू,
सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन।।[18]

अत्र भीमेन, न मथ्नामि इत्युक्तिः स्वप्नेऽपि न सम्भाव्यते इति काव्यार्थानुपपत्तौ सत्यां काकुः व्यङ्ग्यार्थविश्रान्त्या काव्यार्थमुपपादयति। यदा पुनः व्यङ्ग्यविश्रान्तिं विनैव प्रश्नमात्रविश्रान्तः काकुः

काव्यार्थमुपपादयति, तदा काक्वाक्षिप्तता न भवति। यथा - तथाभूतामित्यादौ। अतः काक्वा प्रकाश्यत इति पदं काकुविशिष्टेन प्रकाश्यते।

4. वाक्यवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

तदा मम गण्डस्थलनिमग्नां दृष्टिं नानैषीरन्यत्र।
इदानीं सैवाहं तौ च कपोलौ न सा दृष्टिः।।[19]

अत्र काचित् नायिका स्वसख्यामनुरक्तं स्वप्रियम् ईर्ष्यावशात् वक्ति यत् - यदा सा कामिनि मम पार्श्वे स्थिता आसीत् तदा मम कपोले निमग्ना दृष्टिः अन्यत्र न नीता। किन्तु तस्यां गमने मम कपोलयोः तादृशयोः सत्योः अथ च मयि तादृश्यां सत्यामपि तव दृष्टिः पूर्ववत् नास्ति।

अतोऽत्र नायकस्य नायिकायाः सखिं प्रति प्रच्छन्नकामुकत्वं वाक्यवैशिष्ट्यात् द्योतते।

5. वाच्यवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

उद्देश्योऽयं सरसकदली श्रेणीशोभातिशायी,
कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणी विभ्रमो नर्मदायाः।
किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वी ते वान्ति वाताः,
येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः।।[20]

अत्र कश्चित् कामुकः कामिनीं ब्रूते। अयमिति दूरादेव जनैः निर्दिश्य विजने नर्मदायाः उन्नतः प्रदेशः कुञ्जान्तरेषु उद्भुतेन रमणीजनसम्भोगसम्भ्रमेण परिकर्मितः। अथ च तत्र सुरतोत्पन्नश्रमम् अपनयनेन सुहृतकार्यकारिणः चिरकालसम्भोगसौख्यानुकूलाः मन्दवायुना अपि प्रचण्डकामभावप्रेरकाः सुखं वान्तीति भावः।

अत्र नर्मदोद्देश्यरूपस्य तद्विशेषणीभूतवातकुञ्जादिरूपस्य च वाच्यस्य यथोक्तविशेषणस्य वैशिष्ट्यात् सुरतार्थं प्रवेशेति व्यज्यते[21] इति प्रदीपः।

6. अन्यसन्निधिवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

नुदत्यनार्द्रमनाः श्वश्रूर्मा गृहभरे सकले।
क्षणमात्रं यदि सन्ध्यायां भवति न भवति विश्रामो।।[22]

गुरुजनवशात् उपनायकेन सह वार्ताकरणे अक्षमा काचित् नायिका सङ्केतकालं प्रकटयितुं स्वां प्रतिवेशिनीं वदति यत् मम कठोरहृदया श्वश्रूः समस्तगृहकार्येषु मां प्रेरयति। यदि क्षणमात्रं विश्रामो भवति चेत् सन्ध्यायामेव।

अतोऽत्र अन्यसन्निधिवैशिष्ट्यवशात् सहृदयैः व्याङ्यार्थः बोध्यते यत् सायङ्काल एव नायकेन सह संयोगस्य काल।

7. प्रस्ताववैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

श्रूयते समागमिष्यति तव प्रियोऽद्य प्रहरमात्रेण।
एवमेव किमिति तिष्ठसि तत् सखि सज्जय करणीयम्।।[23]

उपपतिं प्रत्यभिसर्तुं प्रस्तुतां नायिकां प्रति तस्याः सखी वदति यत् अद्य प्रहरणमात्रेण तव प्रिय आगमिष्यति इति श्रूयते। अतः प्रत्यभिसर्तुं धारितवेषे किमर्थं स्थिता असि? सज्जय करणीयम्।

अतोऽत्र प्रस्तावविशिष्ट्यात् ज्ञायते यत् काचित् सखी प्रस्तुतां नायिकां उपनायकं प्रत्यभिसर्तुं वारयति। इति व्यङ्ग्यः।

8. देशवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

अन्यत्र यूयं कुसुमावचायं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।
नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोञ्जलिर्वः।।[24]

सखिवेषधारिणा स्वकीयेनोपनायकेन सहागतां सख्यः प्रति काचित् नायिका ब्रूते यत् समानकरौ कृत्वा प्रार्थ्यन्ते, प्रसीदत दूरं भ्रमणायाक्षमाऽस्मि अहम्। अतोयूयं अन्यत्रस्थले पुष्पचयनं कुरुध्वम्, अत्र अहं करोमि।

अतः नायिकया स्वा प्रियसखि उच्यते निर्जने प्रदेशे प्रच्छन्नकामुकं प्रेषयितुमिति व्यङ्ग्यार्थः। व्यङ्ग्यार्थस्तु प्रियसखिविषयो वर्तते।

9. कालवैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

गुरुजनपरवशप्रिय किं भणामि तव मन्दभागिनी अहकम्।
अद्य प्रवासं व्रजसि व्रज स्वयमेव श्रोष्यसि करणीयम्।।[25]

प्रवासं गन्तुमिच्छुकं नायकं प्रति नायिकायारुक्तिरियं वर्तते। सा कथयति यत् वसन्तसमय अद्य त्वं गमिष्यसि चेदहं मृत्युं यास्यामि। यतोहि सर्वेः जना अस्मिन् काले आगच्छन्ति किन्तु भवतः गमनमहं सोढुमक्षमा। वसन्तकाले वैशिष्ट्यात् प्रियं प्रति अनुरक्तता तया बोध्यते इति सहृदयेषु व्यङ्ग्यार्थः ज्ञायते।

10. आदिग्रहणाद् चेष्टादेः। अतः चेष्टावैशिष्ट्यात् वाच्यस्य व्यञ्जकत्वम्-

द्वारोपान्तनिरन्तरे मयि तया सौन्दर्यसाराश्रिया,
प्रोल्लास्योरुयुगं परस्परसमासक्तं समासादितम्।
आनीतं पुरतः शिरोंशुकमधः क्षिप्ते चले लोचने,
वाचस्तत्र निवारितं प्रसरणं सङ्कोचिते दोर्लते।।[26]

अत्र कश्चित् नायकः स्वं सखायं प्रति वदति- हे सखे! मयि द्वारसमीपे सन्निहिते सति सा लावण्ययुता मदीया प्रिया स्वकीयं उरुद्वयं प्रसार्य अनुपदमेव मिथः संश्लेषितवती। शिरः प्रवणेन वाससा मुखं किञ्चिदावृत्य चलाभ्यां नेत्राभ्यां भूमिमवलोकितवती। स्वयं मुखमुद्रणेन सखीषु च वाक्प्रवर्तनं निवारितवती। बाहुलते च मिथः समयोजयदिति भावः। अत्र क्रमात् कदलीनिबिडप्रदेशः सङ्केतस्थानमिति चकोराणां धरायाम् उपवेशनकालः चन्द्रास्तमय एव सङ्केतकाल इति जनानां कलकलोपशमः निरक्षणीय। तत्र भवदालिङ्गनरूपं पारितोषिकं दास्यामीति व्यङ्ग्यः।

इत्थमत्र वक्तृबोद्धव्यादिवैशिष्ट्येन अर्थस्य व्यञ्चकत्वंविवेचितम्।

सन्दर्भाः–

1. रघुवंशम्– 1.1
2. काव्यलङ्कारः– 1.6
3. काव्यप्रकाशः–1, सू.–1
4. वक्रोक्तिकाव्यजीवितम्– 1.16,17
5. काव्यप्रकाशः–2, सू.–5
6. सारबोधनी– पृ.–26
7. काव्यप्रकाशः– 2, सू–7
8. काव्यप्रकाशः–2, सू.22
9. काव्यप्रकाशः–2, का.–20
10. काव्यप्रकाशः–3, का.–21
11. काव्यप्रकाशः– 3, का.21,22
12. काव्यादर्शसङ्केतटीका–, पृ–31
13. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–13
14. प्रदीपटीका– तृतीयोल्लासः
15. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–14
16. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–15
17. काव्यप्रकाशः–3, वृत्तिभागः
18. वेणीसंहारः– 1.15
19. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–16
20. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–17
21. प्रदीपटीका तृतीयोल्लासः
22. काव्यप्रकाशः –3, श्लोकः–18
23. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–19
24. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–20
25. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–21
26. काव्यप्रकाशः–3, श्लोकः–22

सहायकाचार्यः,

संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः

काशीहिन्दुविश्वविद्यालयः,

वाराणसी

महाकवि कालिदास प्रणीत रूपकों में वर्णित लोक-आस्था और लोकमान्यताएँ

मुकेश कुमार पांडेय

प्रत्येक युग का साहित्य तत्कालीन समाज की संस्कृति सभ्यता आस्थाओं और परम्पराओं को प्रतिबिम्बत करता है, इसी कारण साहित्य समाज का दर्पण कहलाता है। कोई भी साहित्य समकालीन सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता है। इसी प्रकार सत्साहित्य भी समाज को यथा सम्भव प्रभावित करता है। कविकुलगुरु महाकवि कालिदास संस्कृत साहित्य के अप्रतिम मूर्धन्य लब्धप्रतिष्ठ कवि हैं। इनके रूपक स्वभाविकरूपेण प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समसामायिक संस्कृति से प्रभावित हुए हैं। इनके रूपक चाहे महाभारत युगीन संस्कृति को प्रतिबिम्बित करते हों, चाहे पुराणकालीन संस्कृति को प्रभावित करते हों या फिर लोकजीवन को अभिव्यक्ति प्रदान करते हों। इनके रूपकों में सर्वत्र लोकमान्यताओं और लोक आस्थाओं के दर्शन उपलब्ध होते हैं।

समाज में प्रचलित लोक आस्थाओं और लोक मान्यताओं को यद्यपि तर्क की कसौटी पर नहीं कसा जा सकता है, वे सामान्य जनजीवन में इतने अनुस्यूत रहते हैं कि साहित्य उन्हें अनदेखा नहीं कर सकता है। महाकवि कालिदास के रूपकों में यत्र-तत्र शकुन, अपशकुन, अभिशाप, व्रत, उपासना तथा लौकिक रीति रिवाजों का वर्णन प्राप्त होता है। रीति-रिवाजों की तरह शकुन- 'अपशकुन भी सम्पूर्ण विश्वसाहित्य में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं यद्यपि वैज्ञानिक दृष्टि से इनका औचित्य प्रतिपादित करना असम्भव है परन्तु मानवीय अन्तर्चेतना से इनका घनिष्ठ सम्बन्ध है। शकुन-अपशकुन अनादि हैं, यह उतने ही प्राचीन हैं जितनी कि मानव सभ्यता।

कविश्रेष्ठ कालिदास के साहित्य में वैज्ञानिक पद्धति से यज्ञ करने का वर्णन उपलब्ध होता है- सायंतने सवन कर्मणि संप्रवृत्ते वेदीं हुताशनवतीं परितः प्रयस्ताः। (अभिज्ञान शाकुन्तलम्-3.25) इस प्रकार के याज्ञिक हवन इत्यादि से वातावरण प्रदूषण रहित तथा शान्त बन जाता है। पति तथा पुत्रादि के लिए मंगल कामना से अनेक प्रकार के व्रतादि करने का विधान था। उस व्रत के सम्पन्न होते समय सम्बद्ध व्यक्ति की उत्सव में उपस्थिति वांछनीय होती थी।

अभिज्ञान शाकुन्तलम् के द्वितीय अंक में राक्षसों से यज्ञ की रक्षा करने हेतु जब राजा दुष्यन्त आश्रम में जाने लगते हैं तो उसी समय द्वारपाल संदेश देता है कि चौथे दिन दुष्यन्त की माता की पारणा है उस अवसर पर राजा की उपस्थित अनिवार्य है। यथा-

करभकः - जयतु जयतु भर्ता। देव्याज्ञापयति आगामिनि चतुर्थदिवसे प्रवृत्तपारणो मे उपवासो भविष्यति। तत्र दीर्घायुषाऽवश्यं संभावनीयेति।

विक्रमोर्वशीयम् में देवी द्वारा अपने रूठे पति को प्रसन्न करने के लिए ''प्रियानुप्रसादन'' नामक

व्रत का उल्लेख आया है। व्रत के समय स्त्रियाँ विशेष प्रकार के आभूषण धारण किया करती हैं। देवी व्रत के समय उजला रेशमी वस्त्र सुहाग का प्रतीक गहने तथा पवित्र दूब के अंकुरों से अलंकृत करती हैं। यथा-

शितांशुका मंगलमात्रभूषणा पवित्रदूर्वाङ्कुर लाञ्छितालका।
व्रतापदेशोज्झितगर्तवृत्तिना मयि प्रसन्ना वपुषैव लक्ष्यते।। (विक्रमोर्वशीयम् 3.12)

यह उपवास तपस्या, और प्रायश्चित आदि आत्मिक शुद्ध के श्रेष्ठ और मुख्य साधन माने जाते थे। किसी देवी या देवता के आवाहन के बिना विधि-विधान अपूर्ण ही माना जाता था। ''प्रियानुप्रसादन'' व्रत में देवी चन्द्रमा और रोहिणी के जोड़े को साक्षी बनाती है- एषाऽहं देवतामिथुनं रोहिणीमृगालाञ्छनं साक्षीकृत्यार्थपुत्रमनुप्रसादयामि। (विक्रमोर्वशीयम्-3.13)

आधुनिक समय की भाँति तत्कालीन समाज में नारी के वामांग तथा पुरुष के दांये अंग का फड़कना शुभ शकुन माना जाता था। अभिज्ञान शाकुन्तलम् के प्रथम अंक में जब राजा मृग का पीछा करते-करते तपोवन तक पहुँच जाते हैं और वहाँ पर ऋषि कण्व के आश्रभ में प्रवेश करने लगते हैं। तभी उनकी दायीं भुजा फड़कने लगती है जो शुभ निमित्त की सूचक है। यथा-

शान्तमिदमाश्रमपदं स्फुरति च बाहुः कुतः फलमिहास्य। (अभिज्ञानशाकुन्तलम्-1.16)

इस निमित्त का शुभ फल राजा को कुछ ही क्षणों बाद प्राप्त हो जाता है। आश्रम में प्रवेश करते ही राजा को प्रेयसी शकुन्तला के दर्शन होते हैं। इसके पश्चात् अभिशप्त राजा जब शकुन्तला को ठुकरा देता और मातलि के साथ दानवों को पराजित करने के लिए युद्ध में भाग लेता है। राजा दुष्यन्त की सहायता से इन्द्र युद्ध में विजयी होते हैं। इसके बाद राजा पुनः इन्द्र से सत्कृत होकर हस्तिनापुर वापस आते समय रास्ते में प्रजापति कश्यप के आश्रम में प्रवेश करते हैं उसी समय उनकी दायीं भुजा पुनः फड़कने लगती है। यथा-

मनोरथाय नाशंसे किं बाहो स्पन्दसे वृथा।
पूर्वावधीरितं श्रेयो दुःखं हि परिवर्धते।। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 7.13)

दायीं भुजा फड़कने के शुभ परिणामस्वरूप राजा का अपनी पत्नी तथा पुत्र भरत से मिलन होता है। इसी प्रकार विक्रमोर्वशीयम् नाटक में भी प्रमद मन में घूमते हुए पुरुरवा को अंग स्फुरण रूप शुभ निमित्त की अनुभूति होती है। यथा-

न सुलभा सकलेन्दुमुखी च सा किमपि चेदमनङ्ग विचेष्टितम्।
अभिमुखीष्विव काङ्क्षित सिद्धिषु व्रजति निर्वृतिमेकपदे मनः।। (विक्रमोर्वशीयम् 2.9)

कुछ क्षण पश्चात् ही राजा पुरुरवा का प्रियतमा उर्वशी से मिलन होता है। जहाँ पुरुष के दांये अंग का फड़कना शुभ माना जाता है वहीं नारी के दांये अंग का फड़कना अशुभ माना जाता है। शार्ङ्गरव, शारद्वत तथा गौतमी के साथ शकुन्तला जब दुष्यन्त के दरबार में प्रवेश करती है तो उसका दांया नेत्र फड़कने लगता है। यथा-

अहो, किं मे वामेतरं नयनं विस्फुरति। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 5.11)

शकुन्तला के दायें अंग फड़कने का अशुभ परिणाम भी कुछ समय के पश्चात् दृष्टिगोचर हो जाता है जब राजा दुष्यन्त ने अपनी परिणीता शकुन्तला को पहचानने से इंकार कर दिया।

कालिदासकालीन समाज में पर्व के दिन पवित्र नदियों में स्नान की पृथा थी। राजा पुरुरवा पर्व के दिन अपनी रानियों सहित गंगा और यमुना के पवित्र संगम में स्नान करते हैं। यथा-

विदूषक..... अद्य तिथि विशेष इति भगवत्योर्गङ्गायमुनयो: सङ्गमे देविभि: सह कृताभिषेक: साम्प्रतमुपकार्यां प्रविष्ट:। (विक्रमोर्वशीयम् पञ्चम अंक प्रवेशक)

तीर्थयात्रा आदि के द्वारा अमंगलकारी ग्रहों के दुष्प्रभाव का प्रतिकार किया जाता था। शकुन्तलम् के प्रथम अंक के प्रारम्भ में ही वैखानस के मुख से यह सूचना प्राप्त होती है कि महर्षि कण्व शकुन्तला के प्रतिकूल ग्रहों की शान्ति के लिए सोमतीर्थ गये हुए हैं। यथा-

वैखनस:-इदानीमेव दुहितरं शकुन्तलामतिथिसत्काराय नियुज्य दैवमस्या: प्रतिकूलं शमयितुं सोमतीर्थं गत:। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् गद्य 1.13)

तीर्थों की मिट्टी और दुर्वाङ्कुरों को मांगलिक माना जाता था। शकुन्तला की विदाई के समय उसकी प्रिय सखी अनसूया गोरोचना, तीर्थ की मिट्टी और कोमल दूब के अंकुरादि मांगलिक सामग्री को जुटाती है। यथा-

अनसूया .....यावदहमपि तस्यै गोरोचनां तीर्थमृत्तिकां दूर्वाकिसलयानीति मङ्गलसमालम्भनानि विरचयामि। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.4)

यात्रा आदि आरम्भ करने से पूर्व शुभ मुहूर्त का भी विचार किया जाता था किसी प्रियजन को विदा करते समय जलाशय तक जाकर लौट आने की परम्पराविद्यमान थी। समाज में आजकल भी यह प्रथा प्रचलित है। शकुन्तला को बिदा करते समय ऋषि कण्व और दोनों सखियां काफी दूर तक सरोवर के पास तक उसके साथ जाते हैं। तब शार्ङ्गरव उन्हें लौटने के लिए कहता है-

भगवन्! उदकान्तं स्निग्धो जनोऽनुगन्तव्य इति श्रूयते। तदिदं सरस्तीरम्, अत्र संदिश्य प्रतिगन्तुमर्हति।

ग्रहों के दुष्प्रभावों से बचने के लिए ताबीज आदि की मान्यता थी। शाकुन्तलम् में दुष्यन्त पुत्र भरत भुजा पर एक विशेष प्रकार का रक्षा ताबीज धारण करता है। इस ताबीज में यह विशेषता है कि माता-पिता के अतिरिक्त अन्य कोई उसे स्पर्श करता है तो यह तुरन्त सर्प बनकर उसको डस लेता है। ग्रहों के दुष्प्रभावों के समान अभिशाप आदि के दुष्परिणाम में भी कालिदास युगीन समाज का विश्वास था। कविवर कालिदास प्रणीत अभिज्ञान शाकुन्तलम् और विक्रमोर्वशीयम् दोनों रूपकों में अभिशाप की घटना का उल्लेख आया है। शाकुन्तल नाटक में तो यह घटना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और नाटक का केन्द्र बिन्दु भी है। प्रियतम के चिन्तन में निमग्न अर्थात् बेसुध बैठी शकुन्तला कुटिया में आये हुए ऋषिवर दुर्वासा का सत्कार नहीं करती है वह कुद्ध होकर के शकुन्तला को अभिशाप देते हैं कि जिसके चिन्तन के कारण शकुन्तला ने द्वार पर आये अतिथि का स्वागत नहीं किया, वह अर्थात तुम्हें ठीक वैसे ही भूल जायेगा जैसे कोई शराबी शराब के नशे में पहले की गयी बातें बाद को भूल जाता है। यथा-

विचिन्तयन्ती यमनन्यमानसा
तपोधनं वेत्सि न मामुपस्थितम्।
स्मरिष्यति त्वां न स बोधितोऽपि सन्
कथां प्रमत्तः प्रथमं कृतामिव।। (अभिज्ञानशाकुन्तलम् 4.1)

अभिशाप के प्रतिकार का भी उपाय होता था। शकुन्तला की सखियों द्वारा अनुनय विनय किये जाने पर अभिशाप के प्रभाव को नष्ट करने का उपाय भी ऋषि द्वारा बता दिया जाता है कि यदि शकुन्तला कोई पहचान का आभूषण अपने प्रिय को दिखा देगी तो शाप निवृत्त हो जायेगा अर्थात् पहचान का आभूषण दिखाये जाने पर शाप का प्रभाव नष्ट हो जायेगा। यथा-

अभिज्ञानभरणदर्शनेन शापो निवर्तिष्यत।

विक्रर्मोवशीयम् नाटक में भी उर्वशी को भरतमुनि के अभिशाप का भाजन बनना पड़ता है। पुरुरवा के प्रेम में डूबी उर्वशी अभिनय करते समय पुरुषोत्तम कहने के स्थान पर पुरुरवा कह बैठती है। इसी पर क्रुद्ध हुए गुरु उसे अभिशाप दे देते हैं कि अब वह स्वर्ग में नहीं रह पायेगी। यथा-

येन ममोपदेशस्त्वया लंघितस्तेन न ते दिव्यं स्थानं
भविष्यति इति उपाध्यायस्य शापः। (विक्रमोर्वशीयम्)

उर्वशी की शाप की अवधि को इन्द्र ने सीमित कर दिया कि जब तक उर्वशी की सन्तान का मुख पुरुरवा नहीं देखेगा तभी तक उसे पृथ्वी पर रहना होगा, तत्पश्चात् वह पुनः स्वर्ग में आ सकेगी। इसके पश्चात् उर्वशी एक बार पुनः शाप का भाजन बनती है। राजा से रूठ कर वह भूल से कार्तिकेय के गन्धमादन पर्वत (वन वाटिका) में प्रवेश कर जाती है। कार्तिकेय ने यह नियम बना दिया था कि यदि कोई स्त्री मेरी वन वाटिका मे प्रवेश करेगी तो वह लता बन जायेगी। कार्तिकेय द्वारा बनाये गये नियमानुसार उर्वशी भी लता बन जाती है। विरह व्याकुल राजा उर्वशी को खोजते हुए उसी वन में प्रवेश करता है जैसे ही राजा उस लता को स्पर्श करता है तो वह लता उर्वशी बन जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास युगीन समाज शकुन-अपशकुन, व्रत-उपासना, ग्रहों का दुष्प्रभाव तथा अभिशाप आदि में आस्था रखता था। इन लोक-आस्थाओं व लोक मान्यताओं का कोई वैज्ञानिक कारण तथा इसके आविर्भाव का कोई काल निर्धारित नहीं किया जा सकता है। यह तो मानव सभ्यता का एक अभिन्न अंग है। भारतीय समाज में यह परम्पराएँ और आस्थाएँ युगों से चली आ रही हैं, इनका कोई आदि तथा अन्त दिखाई नहीं देता है मानव जीवन को यह आस्थाएँ और मान्यताएँ अत्यन्त प्रभावित करती हैं।

विकास सहायक
हरियाणा-संस्कृत-अकादमी,
पंचकूला

दर्शनाचार : जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

डॉ. दर्शना जैन

भारतीय साहित्य में प्रारम्भ में आचार शब्द सदाचार का ही द्योतक है। बाद में आचार के साथ 'सत्' शब्द का प्रयोग इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि जब आचार के नाम पर कुछ गलत प्रवृत्तियाँ पनपने लगी। तब श्रेष्ठ आचार को सदाचार और निकृष्ट आचार को दुराचार कहना प्रारम्भ किया गया। इस प्रकार आचार रूपी स्रोत दो धाराओं में प्रवाहित हो गया। उसकी एक धारा ऊर्ध्वमुखी धारा दुराचार है। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सदाचार शब्द सत् आचार-इन दो शब्दों से मिलकर बना है। जो आचरण या प्रवृत्ति पूर्ण रूप से सत् है, शिष्टजन सम्मत है, उचित है, वह सदाचार है। सत् या उचित को ही अंग्रेजी में 'राइट' कहा है, जिसका अर्थ है-नियमानुसार। जो आचरण नियम के अनुसार है, वह सदाचार है और जो आचरण नियम के विरुद्ध है, असत् है, वह दुराचार है। दुराचार को ही अनाचार या कदाचार भी कहते हैं।

व्यक्ति, समाज और राष्ट्र के अभ्युदय का मूल आधार आचार है। आचार के आधार पर विकसित विचार जीवन का नियामक और आदर्श होता है, अतः विचार की जन्मभूमि आचार ही है।

अतीत काल में आचार शब्द बिना किसी विशेषण के भी श्रेष्ठतम आचरण के लिए व्यवहृत है। शाब्दिक दृष्टि से आचार का अर्थ है– '**आचर्यते इति आचारः**' जो आचरण किया जाए, वह आचार है। यह सदाचार का द्योतक है। भगवान महावीर ने द्वादशांगी में 'आचार' को प्रथम स्थान दिया है। श्रुतकेवली भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है– ''**आचार सभी अंगों का सार है।**''[1]

पं. आशाधर जी ने सागार धर्मामृत में आचार के विषय में कहा है– ''.....**वीर्याच्छुद्रध्येषु तेषु तु**''।[2] अर्थात् अपनी शक्ति के अनुसार निर्मल किये गये सम्यग्दर्शनादि में जो यत्न किया जाता है, उसे आचार कहते हैं।

इसी प्रकार से महाभारत में वेदव्यास ने भी यही कहा है कि सभी आगमों में 'आचार' प्रथम है।[3] ऋषियों ने भी आचार से ही धर्म की उत्पत्ति बताई है– ''आचारप्रभवो धर्मः।''[4] आचार्य पाणिनि[5] ने प्रभव का अर्थ 'प्रथम प्रकाशन' किया है अर्थात् आचार ही धर्म का प्रथम प्रकाशन स्थान है।

विश्व में जितने भी प्राणी हैं, उन सभी प्राणियों में मानव श्रेष्ठ है। सभी मानवों में ज्ञानी श्रेष्ठ है और सभी ज्ञानियों में आचारवान श्रेष्ठ है। आचार मुक्तिमहल में प्रवेश करने का भव्य द्वार है। आचारहीन मानव को वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। कहा है– ''**आचारहीनं न पनन्ति वेदाः।**''[6]

आचारहीन विचार-क्रान्ति से विचारों की विशुद्धि नहीं होती, अपितु विकारों की अभिवृद्धि होती है। दूषित वायु के सेवन से स्वास्थ्य की शुद्धि नहीं होती, रोग की वृद्धि होती है। शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन करके भी वे लोग मूर्ख रहते हैं, जो शास्त्रों के अनुसार आचरण नहीं करते। ज्ञान से तत्त्व

का स्वरूप समझा जा सकता है, पर तत्त्व की उपलब्धि आचरण से ही होती है। आचरण ही ज्ञान को अनुभूति से मंडित करता है।

जैन संस्कृति में रत्नत्रय को अधिक महत्त्व दिया है, रत्नत्रय का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। साधकमार्ग और मुनिमार्ग का वर्णन मूलाचार आदि साधक के आचरण संबंधी ग्रंथों से प्राप्त होता है। इसी परम्परा में आचार्य वट्टकर जी ने साधुओं के आचरण का व्याख्यान करते हुए मूलाचार नामक ग्रंथ में पंचाचार (पाँच आचारों) का वर्णन किया है। '**दसणणाणचरित्ते तवे विरियाचरम्हि पंचविहे।**'[7] सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्ताचार, तपाचार और वीर्याचार– ये पाँच आचार कहे जाते हैं। जैन आचार व्यापक दृष्टिकोण को लिए हुए है। वहाँ केवल पवित्र चरित्र तक ही आचार सीमित नहीं रहा है, उसने केवल कल्पनीय अनन्त गगन में विहरण करने को ज्ञान नहीं माना, अपितु वही ज्ञान श्रेष्ठ है, जिसका सम्बन्ध आचार के साथ है। दर्शन जो तत्त्व श्रद्धा पर अवलम्बित है, वह दर्शन भी यदि आचार के साथ संबंधित नहीं है, तो दर्शन केवल दर्शन तक ही सीमित रहता है, जब दर्शन आचार के साथ सम्पृक्त होता है, तो वह दर्शनाचार के रूप में गौरव को प्राप्त होता है।

सम्यग्दर्शन की प्राथमिकता

चारित्र जीवन का सबसे बड़ा अंग है। आचार को धर्म कहा है। धर्म का क्रियात्मक रूप आचार है। विचार रहित आचार और आचार रहित विचार के कारण ही जैनधर्म में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकरूपता को धर्म कहा है। सम्यग्दर्शन धर्म का मूल स्तम्भ है। सम्यग्दर्शन के अभाव में न तो ज्ञान सम्यक् होता है और न चारित्र ही। इसीलिए सम्यग्दर्शन को मोक्ष की प्रथम सीढ़ी कहा है।

दर्शनादीन् लक्ष्य लक्षणौ सम्यग्दर्शयति–

तत्रादौ सम्यक्त्वं, समुपाश्रयणीयमखिल प्रयत्नेन।
तस्मिन्सत्येव यतो, भवति ज्ञानं चारित्रं च।। 2।।

Again, one must, by all possible means, first attain right belief, because only on the acquisitions there of knowledge and conduct become right.

उस धर्म स्वरूप कथन में सर्वप्रथम समग्रता से अत्यन्त यत्नपूर्वक सम्यग्दर्शन की सेवा करनी चाहिए अर्थात् उसका सेवन करना चाहिए। उस सम्यक्त्व के होते हुए स्वयमेव आत्मा में, जिसके कारण सम्यग्ज्ञान होता है और ज्ञान से चारित्र होता है, जो कि समस्त पापों से रहित होता है।

इसी तरह चारित्र, तप और वीर्य यानी पुरुषार्थ भी आचार से समन्वित होने से वे ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचार के रूप में विश्रुत हैं।

दर्शनाचार

परमार्थ जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना और उन्हीं रूप श्रद्धाविषयक अनुष्ठान करना दर्शनाचार है। यहाँ पर दृश् धातु से दर्शन बना है। सम्यग्दर्शन के दर्शनों में दर्शनाचार दृश धातु से ल्युट प्रत्यय लगाकर दर्शन शब्द बना है, जिसमें आचार शब्द जुड़ने से दर्शनाचार की व्युत्पत्ति होती है, जिसका

अर्थ है-दर्शन का आचार। जैनधर्म में दर्शन शब्द को श्रद्धा के लिए प्रयुक्त करते हैं, जिसे सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत लिया गया है। सम्यग्दृष्टि जिन नियमों का पालन करता है, उसे दर्शनाचार कहा है।

''यच्चिदानन्दैकस्वभावं शुद्धात्मतत्त्वं तदैव...सर्वप्रकारो पादेयभूतं तस्माच्च यदन्यतद् धेयमित्ति। चलमलि नावगाढर हितत्वेन। निश्चयश्रद्धानबुद्धिः सम्यक्त्वं तन्नाचरणं परिणमनं दर्शनाचारः।''[8] अर्थात् जो चिदानन्दरूप शुद्धात्म तत्त्व है, वही सब प्रकार से आराधने योग्य है। उससे भिन्न जो परवस्तु हैं, वे सब त्याज्य हैं। ऐसी दृढ़ प्रतीति चंचलता रहित निर्मल अवगाढ़ परम श्रद्धा है, उसको सम्यक्त्व कहते हैं, उसका जो आचरण अर्थात् उस स्वरूप परिणमन को दर्शनाचार कहा जाता है।

आचार्य नेमिचन्द्र जी ने द्रव्यसंग्रह में कहा है– ''**परम चैतन्य विलासलक्षणः स्वशुद्धात्मैवोपादेय इति रुचिरूपं सम्यग्दर्शनं, तत्राचरणं परिणमनं निश्चय दर्शनाचारः।**''[9] अर्थात् (समस्त पर द्रव्यों से भिन्न) और परम चैतन्य का विलास रूप लक्षणावली, यह निज शुद्धात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचि रूप सम्यग्दर्शन है, उस सम्यग्दर्शन में जो आचरण अर्थात् परिणमन ही निश्चय दर्शनाचार है।

अन्य आचार्यों ने भी अपने ग्रंथों में सम्यक्त्व के आठ अंग गिनाये हैं। आचार्य समंतभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार के प्रथम अधिकार में सम्यग्दर्शन का स्पष्ट वर्णन किया है। वही दर्शन जब आचार रूप में प्रकट होता है तो दर्शनाचार कहलाता है। इसमें प्रसिद्ध होने वाले व्यक्तियों के नाम का व्याख्यान करते हुए कहा है–

तावदञ्जन चौरांगे ततोनन्तमति स्मृता।
उद्दायनस्तृतीयेऽपि तुरीये रेवती मता।।
ततो जिनेन्द्र भक्तोन्यो वारिषेणस्ततः परः।
विष्णुश्च वज्रनामा च शेषयोर्लक्ष्यतां गतौ।।''[10]

अर्थात् प्रथम अंग में अंजन चोर, द्वितीय अंग में अनन्तमती तथा तृतीय अंग में उद्दायन राजा, चतुर्थ अंग में रेवतीसती, पंचम अंग में जिनेन्द्र भक्त सेठ, षष्ट अंग में वरिषेण मुनि, सप्तम अंग में विष्णुकुमार मुनि, अष्टम अंग में वज्रकुमार मुनि प्रसिद्ध हुए।

णिस्संकिद णिक्कंखिद णिव्विदिगिच्छा अमूढदिट्ठीय।
उवगूहण ठिदिकरणं वच्छल्ल पभावणा य ते अट्ठ।।201[11]

अर्थात् निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना-ये आठ प्रकार की दर्शन की शुद्धि बताई है। (ये आठ सम्यक्त्व के गुण बताये हैं।)

इसी बात को आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में दर्शनाचार की शुद्धि के रूप में आठ शुद्धियों के रूप में गिनाया है। दर्शनाचार की निर्मलता जिनेन्द्र भगवान ने अष्ट प्रकार की कही है–

दंसणचरणविसुद्धी अट्ठविहा जिणवरेहिं णिहिट्ठा.....।।200।।

प्रवचनसार में भी आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है– ''**अहो निःशंकितत्वनिःकांक्षितत्व निर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणास्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचारः।।**''[12]

अर्थात् अहो! निःशंकितत्व, निःकांक्षितत्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपबृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना रूप दर्शनाचार है।

दर्शनाचार के भेद व लक्षण

जीवाऽजीवादीनां तत्त्वार्थानां सदैव कर्त्तव्यम्।
श्रद्धानं विपरीताऽभिनिवेश विविक्तमात्मरूपंतत।।22।।

One should always have firm belief in jiva, ajiva and the other principles, as they are, free from perverse notions. It is the nature of the self.

जीव-अजीव तत्त्वों का श्रद्धान सदैव करना चाहिए। पृथ्वीकायिक आदि जीव, धर्मास्तिकाय आदि अजीव हैं। ऐसे जीव-अजीव तथा आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष का श्रद्धान अर्थात् रुचि करने योग्य हैं। वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है, वह आत्मस्वरूप विपरीत अभिनिवेश से रहित है। विपरीत, एकान्त आदि मिथ्यात्व से रहित होने से सम्यक्त्व विपरीत अभिनिवेश से विविक्त कहा गया है।

आचार का द्वितीय भेद दर्शनाचार है, जिसका अर्थ है-सम्यक्त्व-विषयक आचरण। सम्यग्दर्शन का अर्थ है सत्य के प्रति दृढनिष्ठा। दर्शनाचार के आठ अंग हैं, वे इसप्रकार हैं

1. **निःशंकित अंग का स्वरूप–** शंका का अर्थ संदेह और भय दोनों ही हैं। मूलाचार में आचार्य वट्टकेर ने निःशंकित का अर्थ-जिसमें जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये सात तत्त्वों में श्रद्धान करना, शंका से रहित होकर शुद्ध परिणाम पूर्वक सन्मार्ग का आचरण करने का प्रयत्न करना, निःशंकित शुद्धि कहलाती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में शंका का अर्थ भय किया है–

सम्मद्दिट्ठी जीवा, णिस्संका होंति णिब्भया तेण।
सत्तभयविप्पमुक्का, जरा तह्मा दु णिस्संका।।[13]
सकलमनेकांतात्मकमिदमुक्तं वस्तुजातमखिलज्ञैः।
किमु सत्यमसत्यं वा न जातु शंकेति कर्त्तव्या।।23।।

One should never entertain any doubt as to whether all these many sided views of things proceeding from the omniscients, are true or untrue.

इस सम्पूर्ण वस्तु-समूह को सर्वज्ञ देव ने अनेकान्तस्वरूप कहा है, क्या सत्य है अथवा असत्य है, कभी इस प्रकार शंका-संदेह नहीं करना चाहिए।

2. **निःकांक्षित–** कर्म के वश से इहलोक तथा परलोक संबंधी सुखों में तथा तत्त्वों में अनास्था का अभाव होना निःकांक्षित शुद्धि कहलाती है। इसमें तत्त्वों के प्रति रुचि होती है तथा सांसारिक सुखों में रुचि नहीं होती है।

इहजन्मनि विभवादीनमुत्र चक्रित्व-केशवव्वादीन्।
एकान्तवाद-दूषित-परसमयानपि न चाऽऽकांक्षेत।।24।।

The true believer should not desire worldly greatness in this life or for the

position of a chakravarti or narayana in the life hereafter, nor should he cling to other faiths, disfigured by the adoption of one sided theories.

3. **निर्विचिकित्सा–** जिसमें जुगुप्सा (ग्लानी) हो, उसे विचिकित्सा कहते हैं। अस्नानव्रत, मलधारण और नग्नत्व इत्यादि में रुचि नहीं होना, इस विचिकित्सा का न होना और उसका भाव निर्विचिकित्सा है। द्रव्य और भाव के द्वारा विकार रूप ग्लानि व निन्दा परिणाम का नहीं होना भी निर्विचिकित्सा कहलाता है।

क्षुत्तृष्णा–शीतोष्ण–प्रभृतिषु नाना–विधेषु भावेषु।
द्रव्येषु पुरीषादिषु विचिकित्सा नैव करणीया।।25।।

He should not exhibit a feeling of disgust at the various conditions caused by hunger, thirst, cold, heat etc. or at the sight of excrement etc. This is termed nirvichkitsita Ananga.

क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण इत्यादि अनेक प्रकार वाले पदार्थों में मल आदि द्रव्यों में घृणा नहीं करनी चाहिए।

4. **अमूढदृष्टि–** जिसकी दृष्टि स्थिर नहीं, ऐसी अन्यत्र जाने वाली दृष्टि रुचि मूढदृष्टि है और जिसकी मूढदृष्टि नहीं है, उसका भाव अमूढदृष्टिता है। अन्य सम्प्रदाय को समय कहते हैं। उसमें मूढबुद्धि होना तथा वेदों में रुचि, यह सभी मूढदृष्टिता है। इनमें रुचि–श्रद्धा नहीं होना ही अमूढदृष्टिता है।

लोकेशास्त्राऽऽभासे, समयाऽऽभासे च देवताऽऽभासे।
नित्यमपि तत्त्वरुचिना, कर्त्तव्यमूढदृष्टित्वम।।26।।

In this world, he who has faith in the tattvas (the seven principles) should never have a supperstitious belief in a fallacious scripture, an unreal doctrine, or a false deity.

लोक में शास्त्राभ्यास में जो शास्त्र तो न हो परन्तु शास्त्र सरीखे मालूम होते हों, उसमें धर्माभास में और देवताभास में सदा ही सम्यग्दृष्टि को मूढ़तारहित श्रद्धान् करना चाहिए।

5. **उपगृहन–** गृहन का अर्थ गोपन होता है अर्थात् साधर्मी के दोषों को छिपाकर उनके गुणों को प्रकट करना उपगूहन नाम की शुद्धि है।

धर्मोऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनोमार्दवाऽऽपि भावनया।
परदोष–निगृहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थ।।27।।

To evole the virtue of vpavrinhana, one should ever cultivate the true nature of jiva by meditating upon tenderness etc. and should also try to cover the defects of others.

उपवृंहण गुण के लिए अर्थात् उपगूहन अंग की रक्षा के लिए मार्दव, आर्जव, क्षमा, सत्य आदि

भावनाओं के द्वारा निरन्तर आत्मा का धर्म बढ़ाना चाहिए। दूसरे के दोषों का आच्छादन भी करना चाहिए।

6. **स्थितिकरण–** दर्शन से अथवा चारित्र से विचलित साधर्मी को पुनः रत्नत्रय में स्थिर करना स्थितिकरण नाम की शुद्धि कही गई है।

काम–क्रोध–मदादिषु चलयितुमुदितेषु वत्मनोन्यायात्।
श्रुतमात्मनः परस्य च युक्त्या स्थितिकरणमपि कार्यम्।।28।।

In case of deviation from the path of righteousness, under the influence of anger, pride the sexual passion etc. He should strengthen his own knowledge ant that of others by argument.

न्यायमार्ग से चलायमान करने के लिए काम, क्रोध, मद आदि के उदित होने पर शास्त्रानुसार युक्तिपूर्वक अपना और दूसरे का स्थितिकरण भी करना चाहिए।

7. **वात्सल्य–** साधर्मी के समूह में रहने वाले धर्मात्मा के प्रति मायाचारी से रहित तथा यथायोग्य आदर सत्कार करना तथा गोवच्छ के समान प्रीति करना वात्सल्य नाम की शुद्धि है।

अनवरतमहिंसायां शिव–सुख–लक्ष्मी निबंधने धर्मे।
सर्वेष्वपि च सधर्मिषु, परमं वात्सल्यमालम्बव्यम्।।29।।

One should ever cherish feelings of deep affection for religion, which brings about the treasure of spiritual happiness and for the principle of non-injury, and also for co-religionists.

अहिंसा में मोक्ष सुख रूपी लक्ष्मी की प्राप्ति में कारणभूत धर्म में और समस्त समान धर्म वालों में भी उत्कष्ट वात्सल्य भाव पालना चाहिए।

8. **प्रभावना–** संसार के अज्ञान को रोककर मिथ्यादृष्टियों को सच्चे मार्ग में चलने के लिए प्रभावित करना तथा जैनधर्म को दूषण से बचाकर उसकी प्रभावना करना प्रभावना नाम की शुद्धि है।

आत्मा प्रभावनीयो, रत्नत्रय तेजसा सततमेव।
दान–तपो–जिनपूजा–विद्याऽतिशयैश्च जिनधर्मः।।30।।

One should ever make his own self radiant by the light of three jewels, and should add to the glory of Jainism by exceptional charity, custerity, worship of jina, the conqueror and by learning.

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र-ये ही तीन रत्न कहलाते हैं। इनके प्रताप से निरन्तर ही अपनी आत्मा को प्रभावित करना चाहिए और दान, तप, जिनेन्द्र पूजन और विद्या के अतिशय चमत्कारों से जैनधर्म को प्रभावित करना चाहिए।

आचार्य हरिभद्र ने सिद्ध के स्थान पर अतिशय वृद्धि सम्पन्न और कवि के स्थान में राजाओं के द्वारा सम्मत व्यक्ति को प्रभावक माना है।[14]

दर्शनाचरण में आचरणशुद्धि परमावश्यक है, क्योंकि दर्शनाचार की आठ शुद्धियों में से यदि एक शुद्धि का अभाव भी हो जाता है, तो वह दर्शनाचार निर्मल नहीं माना जा सकता।

दर्शनाचार के ये आठों अंग सत्य की आस्था के द्योतक हैं। कोई भी व्यक्ति जब तक शंका आदि दोषों से मुक्त नहीं होता तब तक वह सत्य की आराधना नहीं कर सकता और न उनके प्रति सही रूप में आस्थावान ही रह सकता है। स्वयं ने जिस धर्म को स्वीकार किया है या साधर्मिकों का उपबृहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना बिना किये कोई भी व्यक्ति सत्य की उपासना करने में दूसरों का सहयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से इन अंगों का महत्त्व रहा है।

दर्शनाचार के अतिचार–

पंचाचारों का वर्णन करते हुए उनके निर्दोष पालन करने के लिए कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक अतिचारों का व्याख्यान किया है, इसके माध्यम से साधक अतिचारों का त्याग कर आचारों का पालन सहजता के साथ कर सकें, जैसे-सोने की परख के साथ-साथ पारखी पीतल धातु की भी चमक से प्रभावित होकर पीतल में सोने का आभास न हो जाये, उसी प्रकार आचारों का ज्ञान तो आवश्यक है पर अतिचारों का ज्ञान भी आवश्यक है।

दर्शनाचार की विशुद्धि के लिए तथा साधक की उन्नति के लिए दर्शनाचार के अतिचारों की व्याख्या करते हुए कहते हैं- प्रमाद से किये गये अन्यथा (विपरीत आचरण) को अतिचार कहते हैं। पाँच प्रकार के आचारों में स्वयं करने से, और कराने, और करते हुए को अनुमति देने रूप से जो अतिचार होते हैं, वे शंका आदि के भेद से आठ प्रकार के हैं–

निःशंकित शुद्धि के अतिचार– जिनेन्द्र भगवान के द्वारा कहे गये नव पदार्थ का वर्णन संदिग्ध है, ऐसी मन में आशंका हो जाने से दर्शन का घात होता है। यही निःशंकित शुद्धि का अतिचार कहा गया है।

निःकांक्षित शुद्धि के अतिचार- आकांक्षा तीन प्रकार की होती है-1. इहलोक की आकांक्षा, 2. परलोक की आकांक्षा तथा 3. कुधर्म की आकांक्षा। इसप्रकार की आकांक्षा से सहित होकर जीव, हाथी, घोड़े, धन, पशु, पुत्र आदि की आकांक्षा इहलोक में करता है तथा परलोक में भोगों की प्राप्ति के विषय में अभिलाषा करता है तथा रुद्र, पट, चरक, तापसी और परिव्राजक आदि के धर्म में अभिलाषा करना कुध र्म आकांक्षा कहलाता है। इसप्रकार आकांक्षा से सहित होकर नि:कांक्षित शुद्धि का अतिचार कहलाता है।

निर्विचिकित्सा शुद्धि के अतिचार–

विचिकित्सा द्रव्य और भाव की अपेक्षा दो प्रकार की होती है। विचिकित्सा का अर्थ है-ग्लानि। साधुओं के मलमूत्र, नाक का मल, चर्म, हड्डी, पीव, मांस, खून, वमन, पसीने तथा धूल से युक्त मल को देखकर ग्लानि होना द्रव्य विचिकित्सा है। इस प्रकार द्रव्य और भाव विचिकित्सा से सहित साधुओं के निर्विचिकित्सा शुद्धि में अतिचार होता है।

अमूढदृष्टिता– तीन मूढ़ता से सहित होकर सम्यक्त्व से विपरीत आचरण करने वाले को अमूढदृष्टि शुद्धि में अतिचार लगता है।

उपगृहन– सम्यक् चारित्र में दोषों से सहित जीव में पुनः दोषों को आच्छादन करना तथा गुणों को हटाना, इस प्रकार उसके सम्यक् चारित्र का सम्पूर्ण रूप से नष्ट करने का प्रयास करना उपगूहन शुद्धि के अतिचार है।

स्थितिकरण– धर्म से गिरते हुए जीवों को देखकर द्वेष बुद्धि से उन्हें धर्म से विमुख करने का प्रयास करना स्थितिकरण शुद्धि का अतिचार है।

वात्सल्य– चारों गतियों के जीवों में द्वेष बुद्धि रखना तथा अपने परिवार के प्रति ममत्व पूर्वक प्रेम करना। गाय एवं बछड़े से विपरीत प्रेम करने की वात्सल्य शुद्धि का अतिचार है।

प्रभावना– धर्म कथाओं में दोष उत्पन्न करके महापुरुषों के जीवन चरित्र को विपरीत व्याख्यान करके तथा सिद्धान्त तर्क व्याकरण आदि में दोष उत्पन्न करके उनके स्वरूप को धर्म के विपरीत बताकर सुनने वालों के हृदय में धर्म के प्रति अप्रभावना उत्पन्न करना प्रभावना शुद्धि का अतिचार है।

उपसंहार–

जैन संस्कृति में रत्नत्रय को अधिक महत्त्व दिया है। रत्नत्रय का अर्थ सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र है। साधक मार्ग और मुनि मार्ग का वर्णन मूलाचार आदि साधक के आचरण संबंधी ग्रन्थों से प्राप्त होता है। इसी परम्परा में आचार्य वट्टकेरजी ने साधुओं के आचरण का व्याख्यान करते हुए मूलाचार नामक ग्रन्थ में पंचाचार (पाँच आचार) का वर्णन किया है। '**दसणणाणचरित्ते तव विरियाचरहि पंचविहे।**' अर्थात् सम्यग्दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्रचार, तपाचार और वीर्याचार-ये पाँच आचार कहे जाते हैं। परमार्थभूत जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान् करना और उन्हीं रूप श्रद्धाविषयक अनुष्ठान करना दर्शनाचार है। यहाँ पर दृश् धातु से दर्शन बना है। सम्यग्दर्शन के दर्शनों में दर्शनाचार दृश् धातु से ल्युट् प्रत्यय लगाकर दर्शन शब्द बना है, जिसमें आचार शब्द जुड़ने से दर्शनाचार की व्युत्पत्ति होती है, जिसका अर्थ है– 'दर्शन का आचार'। जैनधर्म में दर्शन शब्द को श्रद्धा के लिए प्रयुक्त करते हैं, जिसे सम्यग्दर्शन के अन्तर्गत लिया गया है। सम्यग्दृष्टि जिन नियमों का पालन करता है, उसे दर्शनाचार कहा है। आचार्य वट्टकर ने मूलाचार में, आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार में, आचार्य नेमिचन्द्रजी ने द्रव्यसंग्रह में, योगेन्द्रदेव ने परमात्म-प्रकाश में, श्रीमदमृतचन्द्र सूरि ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में दर्शनाचार का वर्णन विस्तार से किया है। निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना-ये आठ दर्शनाचार के गुण बताये हैं। दर्शनाचार में आचरण शुद्धि परमावश्यक है क्योंकि दर्शनाचार की आठ शुद्धियों में से यदि एक शुद्धि का अभाव भी हो जाता है, तो वह दर्शनाचार निर्मल नहीं माना जा सकता। दर्शनाचार के ये आठों अंग सत्य की आस्था के द्योतक हैं। कोई भी व्यक्ति जब तक शंका आदि दोषों से मुक्त नहीं होता, तब तक वह सत्य की आराधना नहीं कर सकता और न उनके प्रति सही रूप में आस्थावान ही रह सकता है। स्वयं ने जिस धर्म को स्वीकार किया है या

साधर्मिकों का उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना बिना किये कोई भी व्यक्ति सत्य की उपासना करने में दूसरों का सहयोगी नहीं हो सकता। इस दृष्टि से इन अंगों का महत्त्व रहा है।

सन्दर्भ :

1. अंगाणं किं सारो? आयारो! आचारांगनियुक्ति, गाथा-16
2. सागार धर्मामृत, पं. आशाधारकृत, संपा. सिद्धान्ताचार्य, पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री, अधिकार सं. 7, श्लोक-35, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1977
3. सर्वागमानामाचारः प्रथमं परिकल्प्यते। -महाभारत, वेदव्यास, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र.सं. 1978
4. हरिभक्ति विलास, 3/10
5. प्रभवति प्रथमं प्रकाशते वा आचारात्। -पाणिनि, 313/19, 57
6. महाभारत, अनुशासन पर्व, अध्याय-149, श्लोक-37, देवी भागवत, भाग-2, अध्याय-11, स्कन्ध-21
7. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर स्वामी, संपा. कैलाशचन्द्र, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, बनारस, 1976, गाथा-199
8. परमात्मप्रकाश टीका, संपा., ए. एन. उपाध्ये, अधिकार संख्या-7, गाथा-13, राजेन्द्र ग्रन्थमाला, वि.सं. 2017, पृ. 3
9. बृहद् द्रव्यसंग्रह टीका, श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास, गाथा 52, 1953, पृ. 171
10. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, श्री स्वामी समन्तभद्र आचार्य, हिन्दी अनु. मन्नुलाल जैन, पं.सदासुख ग्रंथमाला, अजमेर, 1996, श्लोक-19-20, पृ. 36
11. मूलाचार, आचार्य वट्टकेर, गाथा सं. 200, 201, पृ. 164, 165.
12. प्रवचनसार, आचार्य कुन्दकुन्द, संपा. ए.एन. उपाध्ये, श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास (गुजरात), गाथा-202, पृ. 250
13. समयसार, आचार्य कुन्दकुन्द, संपा. ए. चक्रवर्ती, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, 1989, पृ. 308, गाथा-228
14. श्रावक धर्मविधि प्रकरण, श्लोक 67

प्राकृत अध्ययन एवं शोधकेन्द्र,
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर,
जयपुर

धर्मशास्त्रीय सिद्धान्त एवं ज्योतिषीय गणनाएँ

शैलेश कुमार जैमन

'धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्'[1]

अर्थात् धर्म में ही सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है। धर्मशास्त्रीय मतानुसार धर्म किसी सम्प्रदाय विशेष का द्योतक नहीं है, प्रत्युत यह मानव जीवन की वह आचार-संहिता है, जो समाज के किसी अंग विशेष के रूप में मानवीय कर्तव्यों को व्यवस्थापित करता है तथा उसमें सतत् विकास करते हुए उसे उस योग्य बनाता है जिससे मानवीय अस्तित्व के चरम लक्ष्य को प्राप्त किया जा सके।

वैशेषिक सूत्र कहता है - **'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः'**

अर्थात् धर्म वही है जिससे आनन्द एवं निःश्रेयस अर्थात् कल्याण की प्राप्ति हो। अपने लिए जो अनुकूल है, वैसा ही व्यवहार दूसरे प्राणियों के प्रति करना धर्म की दिशा प्रशस्त करता है।

उपनिषदों में विशेषतः छात्रों के लिए धर्म' मानव के विशेषाधिकारों, कर्तव्यों तथा एक विशेष आचार विधि का द्योतक माना गया है, जैसे सत्यं वद धर्म चर स्वाध्यायान्माप्रमदः।[2]

धर्म की सहायता से ही मनुष्य अपने दुस्तर अज्ञानरूपी अहंकार को पार कर लेता है। यदि मनुष्य धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझकर अपने आचरण-व्यवहार में उसका समावेश कर लेता है तथा अपने गुणधर्मानुसार यथोचित कर्म को ससम्मान पूर्ण करता है तो उसकी यह धर्मपरायणता उसे समाज में यश प्राप्ति के साथ-साथ जीवन का वास्तविक आनन्द भी दिलवाती है।

सृष्टि निर्माण, प्रकृति-विकृति, वर्णाश्रम, संस्कार, शिक्षा, स्नातक के कर्तव्य, विवाह प्रकार एवं विधि, शौच कर्म, पंच महायज्ञ, दान, शुद्धि, अन्त्येष्टि, श्राद्ध, राजा के कर्तव्य, व्यवहार, प्रायश्चित, कर्मविपाक, आदि विषयों की सम्पूर्ण जानकारी हमें धर्म सूत्रों, स्मृतियों तथा पुराणों में सम्यक् रूप से प्राप्त होती है। अतः स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में धर्म के क्षेत्र में व्यापक रूप से अध्ययन एवं विचार-विमर्श किया गया था एवं इससे उत्पन्न हुई धारणाऐं जो धर्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखती है, उनका स्पर्श वर्तमान में भी मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन को परिष्कृत करता है।

उपर्युक्त विचारधाराओं के आधार पर धर्म विशेष को दो भागों में विभक्त किया गया-

श्रौत धर्म एवं स्मार्त धर्म

एक ओर जहाँ वैदिक संहिताओं एवं ब्राह्मणों से सम्बन्धित सभी कर्तव्यों एवं संस्कारों का समावेशन श्रौत धर्म के अन्तर्गत किया गया, वहीं दूसरी ओर स्मृतियों तथा वर्णाश्रम सम्बन्धी विषयों का समावेशन स्मार्त धर्म के भीतर किया गया। स्पष्टतः वे सभी कृत्य अथवा कर्म जो श्रेष्ठ एवं परिष्कृत मानव जीवन के लिए उत्तरदायी है, उनका पूर्ण मनोयोगेन निर्वहन ही साक्षात् धर्म है।

धर्म की विशद् व्याख्या के अन्तर्गत धर्म-लक्षण, धर्म के उपादानों तथा अङ्गों आदि के विषय में पर्याप्त विमर्श स्मृतियों तथा धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में विशेष रूप से मिलता है। संक्षेपतः महात्मा विदुर

ने धर्म के स्वरूप को यज्ञ-याग, अध्ययन, दान, तप, सत्य,दया, क्षमा और अलोम[3] इन अष्टाङों में प्रतिपादित किया है। अतः स्पष्ट है कि धर्म सूत्रों में कर्म सिद्धान्त पर आधारित धर्म की अवधारणा को विविध परन्तु एकमत रूप से विवेचित किया गया है।

वेदपुरूष का हस्त कल्परूप धर्मशास्त्र तथा नेत्र ज्योतिष सदैव से एक-दूसरे के पूरक रहे हैं। जहां एक ओर हमारे धर्मग्रन्थ धर्मोचित वर्णाश्रम के श्रौत-स्मार्त इन द्विभेदों से वर्णित कृत्यों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं तथा आचार-व्यवहार के सभी कर्मों की नियम-विधि को प्रतिपादित करते है। वहीं दूसरी ओर ज्योतिष ग्रन्थों में काल-गणना द्वारा तिथि-मुहूर्तादि निर्धारित करके यज्ञ-यागादि कार्मिक कार्यों का समय निश्चित किया जाता है। अतः ग्रह-नक्षत्र-राशि इत्यादि इन खगोलीय प्रकाशित पिण्डों के माध्यम से सत्य का अवलोकन कर अज्ञान की निवृत्ति करने का लक्ष्य धारण करने वाले ज्योतिष शास्त्र का सदा ही धर्मशास्त्र से एक विशिष्ट सम्बन्ध रहा है।

'यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्।'[4]

अर्थात् जो मनुष्य ज्योतिष शास्त्र को सम्यक् रूप से जानता है वही यज्ञ का यथार्थ रूप से ज्ञान भी रखता है। याग-यजन के लिए समय-शुद्धि बहुत आवश्यक है। इसके लिए उचित समय, वर्ष, मास, तिथि, नक्षत्र, पक्ष, अहोरात्र आदि का सम्यक् आकलन एवं परिमाण ज्योतिष शास्त्र के ज्ञान के बिना कदापि सम्भव नहीं है। ज्योतिषीय कालगणनाओं के अभाव में श्रौत और स्मार्त कर्म सिद्ध नहीं किये जा सकते है। जगत् के हित साधन के लिये विधाता ब्रह्मा ने इसकी सर्वप्रथम रचना की, यथा-

विनैतदखिलं श्रौतस्मातकर्म न सिद्ध्यति।
तस्माज्जगद्धितायेदं ब्रह्मणा रचितं पुरा।।[5]

प्राचीनकाल में अध्यात्म विज्ञान के रूप में प्रसिद्ध रही ज्योतिष विद्या को एक ऐसी पवित्र विद्या माना गया जो पूर्ण रूप से धर्म विज्ञान पर आधारित थी। दिक-देश-काल का सूचक ज्योतिर्विज्ञान व्रत, यज्ञ, तप, दान आदि का मूल है। सत्य रूप से इस प्रामाणिक शास्त्र का प्रमुख उद्देश्य यथोचित काल-निर्धारण, कर्मों के शुभाशुभ फलों का विवेचन, ग्रहण-ज्ञान, ग्रहों की गति का निर्णय, अध्ययनकाल, संक्रान्ति-निर्णय, व्रत-त्यौहार आदि के निर्णय के साथ-साथ षोडश संस्कारों के लिए उचित काल का निर्धारण करना रहा है।

ज्योतिष शास्त्र के अध्ययन में पिण्ड-ब्रह्माण्ड, व्यष्टि समष्टि, आत्मा-परमात्मा के सम्बन्धों को भी सम्मिलित किया जाता है, जिसके उपयोग से ही भाग्यदृष्टा व्यक्ति को मनुष्य जीवन के व्यक्तिगत, पारिवारिक, आर्थिक, व्यावसायिक, धार्मिक इत्यादि सभी क्षेत्रों के विषय में जानने के लिए एक गम्भीर अन्तर्दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

भारतीय ज्योतिष शास्त्र के आधार स्वरूप खगोलीय ग्रह-नक्षत्र-राशि इत्यादि का स्वयं का अपना स्वभाव अथवा गुण-धर्म होता है। अपने धर्म पर अटल रहते हुए ज्योतिर्मय पिण्ड जातक विशेष के जीवन पर शुभाशुभ प्रभाव डालते रहते है। इन ग्रह-नक्षत्रों की गतियों, उनका शुभाशुभ फल, प्राणी विशेष के जन्म से मरणपर्यन्त होने वाले विविधपक्षीय प्रभावों का विवेचन भी ज्योतिष शास्त्रीय अध्ययन में

सम्मिलित होता है। इसी प्रकार पुरूषार्थ चतुष्ट्य की प्राप्ति का प्रयोजन भी ज्योतिर्विज्ञान के लक्ष्यों में समाविष्ट रहा है। पुरूषार्थों में सर्वप्रथम परिगणित धर्म को ज्योतिर्विद्या का मुख्य उद्देश्य स्वरूप माना गया है। जिसका धर्म श्रेष्ठ नहीं होता, उसका भाग्य भी क्षीण हो जाता है अर्थात् ज्योतिष कर्मसिद्धान्त की अवधारणा पर बल देते हुए भाग्य को धर्म से जोड़ कर जगत् में धर्म स्थापना की सिद्धि को अपना प्रयोजन मानता है। इसी क्रम में यदि हम जन्म कुण्डली के द्वादश भावों पर विचार करें तो पाएगे कि नवम भाव जिसको श्रेष्ठ त्रिकोण की संज्ञा भी दी गई है, से जातक विशेष के दैव (भाग्य) तथा पुरूषार्थ (धर्म) का विचार किया जाता है, यथा –

'धर्मो गुरुः शुभतपो नव भाग्यमानि'[6]

अर्थात् कुण्डली के नवें भाव से धर्म, गुरू, शुभफल, तपस्या और भाग्य का फलादेश किया जाना चाहिए। भाग्य की वृद्धि में धर्म का उत्थान आवश्यक है, इस उत्कृष्ट अवधारणा के साथ विकास क्रम में नवम स्थान धर्म को प्रदान किया गया है क्योंकि नैतिक तथा आध्यात्मिक उन्नति व्यक्ति की दीर्घायु का हेतु है। कुण्डली का यही नवम भाव प्रभुकृपा, जातक की इच्छाशक्ति, उसका पूजन-कर्म, परोपकार सम्बन्धी विचारों को भी प्रदर्शित करता है। आचार्य सामीप्य अथवा आशीर्वाद, पिता की आर्थिक स्थिति, तप-सत्कर्म तथा उत्तम वंश आदि का भी फलकथन नवम भाव से किया जाता है, जैसा कि फल दीपिका' में वचन मिलता है –

'आचार्य दैवतपितन् शुभपूर्वमाग्य – पूजा तपः सुकृतपौत्रजपार्यवंशान्।'[7]

स्पष्ट है कि धर्म का त्याग व्यक्ति को पतन की ओर अग्रसर करता है तथा उसके जीवन की शुभता को नष्ट कर देता है। धर्म दैव को प्रेरित करता है तथा दैव धर्म की प्रगति का हेतु स्वरूप है, इसी आधार पर प्राचीन भारतीय ज्ञानागारों में पुरूषार्थ और दैव की समान महत्ता उद्धृत की गई है।

अतः कहा गया है–

संसार सागरे घोरे दुःसहे विषमे चले।
धर्मनावं समारूह्य गच्छतां परमां गतिम्।[8]

अर्थात् भयंकर, असह्य, कठिन तथा चंचल संसार रूपी सागर में धर्म रूपी नौका पर सवार होकर परम गति अर्थात मोक्ष को प्राप्त करें।

संदर्भ–

1. नारायणोपनिषद
2. तैत्तिरियोपनिषद – शिक्षा वल्ली – 11वाँ अनुवाक – प्रथम मंत्र।
3. विदुर नीति – वेद व्यास
4. वेदाङ्ग ज्योति –3 अध्याय
5. नारदीय संहिता 1/7
6. जातक पारिजात – राशिशीलाध्यायः – 51वां श्लोक
7. फल दीपिका – प्रथम अध्याय – श्लोक 14
8. आचार्य सकलकीर्ति रचित सुभाषित रत्न

शोधच्छात्र

साहित्य-विभाग, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय, जयपुर

वेदानां भारतीयव्याख्यापद्धतिः

राहुलकुमारझाः

वेदानां व्याख्यापद्धतिः त्रिविधा अस्ति। भारतीयापद्धतिः, पाश्चात्यपद्धतिः, आध्यात्मिकपद्धतिश्च। भारतीयपाश्चात्ययोः पद्धत्योः मध्ये महान् भेदः दृश्यते। भाषावैज्ञानिकपण्डितानां मते आर्यभाषा सेमेटिकभाषयोश्चेति द्वयोरेव भाषयोर्व्यवहर्तारः सभ्यतां संस्कृतिञ्च सृष्टवन्तः। आर्यभाषाऽपि पाश्चात्य पौस्त्यभेदेन द्विविधा। अस्मिन्नार्यभाषायाः पाश्चात्यप्रभेदे युरोपीयदेशस्य प्राचीना आधुनिक्यश्च ग्रीक-लैटिन फ्रेञ्च-जर्मन-आङ्ग्लप्रभृतयो भाषाः समायान्ति। आर्यभाषायाः पौरस्त्यप्रभेदे ईरानी-भाषा संस्कृतभाषा च समागच्छतः। ईरानीभाषा जेन्द-अवेस्ता-नाम्ना व्यवह्रियते, यत्र पारसीकानां धर्मग्रन्थाः निबद्धाः सन्ति। संस्कृतभाषायां भारतीयानां धर्मग्रन्थाः निबद्धाः। कालक्रमेणात्यन्तातीतकाले निर्मितस्य कस्याऽपि ग्रन्थस्य आशयस्य अवबोधः तदुत्तरकालिकसन्ततिक्रमेभ्यः अतीवदुरूहो व्यापारो भवति। यदा प्राक्तमत्वेन सह भावानां गाम्भीर्यं भाषायाश्च काठिन्यमपि समायाति तदा तु समस्येयमतीव विषमा भवति। वेदार्थानुशीलनस्य विषये कथनमिदमक्षरशः समुपयुक्तमस्ति। वेदास्तु प्रथमं तावत् स्वयं कस्यापि दूरालोकगतस्याऽतीतकालस्य कृतयस्सन्ति। तदुपरि भाषायाः वैषम्यं विचारधारायाः गाम्भीर्यश्च तेषामुपरि स्वप्रभुत्वं स्थापितम्। फलतः वेदार्थाऽवबोधनं, गवेषणं, मर्मान्वेषणञ्चैका दुबोधप्रहेलिकाऽभवत्। तथाऽप्यस्याः प्रहेलिकायाः अर्थावबोधनस्य उचितोद्योगः प्राचीनकालादेव समायाति। यास्कमहोदयस्य निरुक्ते अस्योद्योगस्य किञ्चिदाभासोऽपि प्राप्यते -

षड्भावविकारा भवन्तीति वार्ष्यायणिः।
जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति।।[1]

यास्कस्य कथनानुसारेण प्राचीनऋषयः स्वकीयेन विशिष्टतपोबलेन धर्मस्य साक्षात्कारं कृतवन्तः। किञ्चार्वाचीनाः ऋषयस्तद्बद्धर्मस्य साक्षाद्दर्शनं कर्तुं नाशक्नुवन्। अपरकालिकानामृषीणामीदृशी शक्तिहीनता दृष्ट्वा दयावशेन तैः मन्त्राणामुपदेशः तेभ्यः ग्रन्थतो वाऽर्थत उभयप्रकारेण दत्तः। प्राचीनऋषयस्तु श्रवणं विनैव धर्माणां साक्षाद्दर्शनं कृतवन्तः। अतः धर्मस्य साक्षाद्दर्शनकर्तृत्वेन तेषाषित्वं स्वतः सिद्धमेव आसीत्। किञ्चार्वाचीनाः ऋषयस्तु ग्रन्थरूपेणार्थरूपेण च श्रवणं कृतवन्तस्तत्पश्चात्ते धर्मदर्शने कृतकार्याः अभवन्। अतः श्रवणान्तरदर्शनयोग्यतासम्पादनेन एतेषामृषीणाम् उपयुक्ताभिधा 'श्रुतर्षि' एवाऽभवत्।

अवरेभ्योऽवरकालिकेभ्यः शक्तिहीनेभ्यः श्रुतर्षिभ्यः।
तेषां हि श्रुत्वा तत्पश्चादृषित्वमुपजायते न यथा पूर्वेषां
साक्षात्कृद्धर्माणां श्रवणमन्तरेणैव।।[2]

एते श्रुतर्षय एव लोकहिताय वेदार्थावबोधनस्योपयोगिनः शिक्षा-निरुक्तादि-वेदाङ्गानां रचनां कृतवन्तः। आधुनिकास्तु दुरूहुतायाः दोषारोपणं कृत्वा वेदार्थानां विस्मरणं न कुर्युः, वेदमूलकाचाराद्धर्माद्वा विमुखाः न भवेयुरिति समुन्नतया भावनया प्रेरिताः भूत्वा प्राचीनाः ऋषिगणाः वेदार्थोपदेशाय सन्ततं जागरूकाः आसन्। यास्कमहोदयस्यैते मानवाः शब्दाः दर्शनीयाः सन्ति-

साक्षात्कृद्धर्माण ऋषयो बभूवुः तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मेभ्य
उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे
बिल्मग्रहणाय इमं ग्रन्थं समाम्नाषिषुः वेदश्च वेदाङ्गानि च।।[3]

वेदानां गम्भीरार्थबोधने प्रथमोद्योगः कः? इति कठिनः विषयः। आधुनोपलब्धाद् यास्कविरचितनिरुक्तादपि प्राचीनतरः निघण्टुग्रन्थोऽस्ति, तत्र वैदिकशब्दानां विस्तृतव्याख्याऽस्ति। निघण्टुशब्दस्याप्यर्थो भवति 'शब्दानां सूची' निघण्टुग्रन्थे संहितायाः कठिनाः सन्दिग्धार्थशब्दाश्चैकत्र समाहरणं कृत्वा तेषामर्थस्य तत्र सूचना उल्लिखिता। प्रातिशाख्यानामपि रचना तत्कालिका किं वा तत्पूर्ववर्तिनी नैवासीत्। ग्रन्थेष्वेतेषु वैदिकभाषायाः विचित्रपदानां, स्वराणां, सन्धिपदानाञ्चैव विवेचनमस्ति। साक्षादूपेण पदार्थपर्यालोचनस्यास्मिन् ग्रन्थे नितान्तः अभावः एवाऽस्ति। पुराऽनेकानां निरुक्तग्रन्थानां सत्ताऽऽसीत्। येषां सूचनाऽवान्तरग्रन्थेषु यत्र तत्रोद्धरणरूपेण समुपलब्धा भवन्ति, तदपि वेदार्थविवेचनस्य विस्तृतयोजनायाः योग्यग्रन्थः यास्कविरचितनिरुक्तम् एवाऽस्ति। ग्रन्थरत्नस्यास्य परीक्षणेनानेकविधानां ज्ञातव्यविषयाणां पर्याप्तबोधो भवत्यनायासेनेति। ग्रन्थेऽस्मिन् यत्र तत्र यास्कमहोदयेन आग्रायण-औपमन्यवकात्थक्य-शाकटायन-शाकपूणि-शाकल्यप्रभृतीनां बहूनां निरुक्ताचार्याणां तथैतिहासिकयाज्ञिक-नैदानप्रभृति-व्याख्याकतृणां क्रमशः व्यक्तिगतानां सामूहिकानाञ्च सम्मत्या उल्लेखः समादरेण सह कृतः। अनेन ज्ञातो भवति यद्वेदार्थानुशीलनस्य परम्पराऽतीविप्राचीनकालादेव समायाति इति। यास्कमहोदयेन स्वनिरुक्ते कस्यचित् कौत्सनामकस्य आचार्यमतस्योल्लेखः कृतः।[4] कौत्सनामकः कोऽप्याचार्य अणसीत् वा इति बोधो भवति। वस्तुतः कौत्सोऽयं कोऽप्यैतिहासिकः पुरुषः अणसीदथवा केवलं पूर्वपक्षनिमित्तेन स्थापितः कोऽपि यास्ककल्पनाप्रसूतो जनः। कौत्समहोदयस्य सम्मतिरियमस्ति यन्मन्त्राः निरर्थकाः भवन्ति -

अनर्थका हि मन्त्राः। तदेतेन उपेक्षितव्यम्।
यदि मन्त्रार्थप्रत्याय अनर्थं भवति कौत्सः।।[5]

कथनस्यास्य सम्पुट्यर्थं तत्रानेकविधाः युक्तयः प्रदर्शितास्तेन। कौत्समतमेव परवर्तिनः चार्वाक्-बौद्ध-जैन प्रभृतिवेदनिन्दकाः स्वीकृतवन्तः।

कौत्सस्य पूर्वपक्षः

(क) मन्त्राणां पदं नियतमस्ति, तथैव शब्दक्रमोऽपि नियतः एवाऽस्ति। सामवेदस्यायं प्रथमो मन्त्रः - 'अग्न आयाहि वीतये'।[6] एतानि पदानि समानार्थकशब्देषु परिवर्तनं कृत्वा– 'वह्नः आगच्छ पानाय' इत्यपि कथितुं न शक्यते। अत्रानुपूर्वीयक्रमोऽपि नियतमेवाऽस्ति। पूर्वोक्तमन्त्रे व्यवस्थापितं– 'अग्न आयाहि' इत्यत्र पदक्रमं परिवर्त्य व्यतिक्रमेण– 'आयाह्यग्ने' इत्यपि कथितुं न शक्यते। एतयोः नियतवाचोयुक्त्याः नियतानुपूर्व्याश्च कोऽर्थः? ननु मन्त्राः यदि सार्थकाः भवेयुस्तर्हि, तेषां पदानां पदक्रमस्याऽपि परिवर्तनं सार्थकवाक्यानां शैली इव सर्वथा न्याय्यं भवेत्। तद्यथा - 'नियतवाचोयुक्तयः, नियतानुपूव्याः भवन्ति।।'[7]

(ख) अथ ब्राह्मणवाक्यैः मन्त्राणां विनियोगः विशिष्टानुष्ठानेषु भवति। यथा– 'उरूप्रथस्व'[8] अस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रथनकर्मणि, विस्तारकार्ये च शतपथब्राह्मणं करोति। यदि मन्त्रेष्वर्थद्योतनस्य क्षमता भवति तर्हि स्वतःसिद्धार्थस्य मन्त्रस्य ब्राह्मणग्रन्थेन विनियोगदर्शनस्यापेक्षा कथं भवति? तद्यथा निरुक्ते - 'अथापि ब्राह्मणेन रूपसम्पन्नाः विधीयन्ते।। 'उरूप्रथस्व' इति प्रथयति।। 'प्रोहाणि' इति प्रोहति।''[9]

(ग) मन्त्राणामर्थोऽनुपपन्नो भवति, अर्थादुपपत्त्या युक्त्या वा सिद्धोऽयं भवितुं न शक्यते। यजमानो वदति - 'औषधे ! त्रायस्व एनम्'[10] अर्थात् हे औषधे! त्वमस्य वृक्षस्य रक्षां कुरु। ओषधिस्तु स्वयमेव निर्जीवा भवति। या स्वात्मानमपि रक्षितुमसमर्थाऽस्ति, सा वृक्षस्य रक्षां कर्तुं कथं शक्नोति? यजमानः स्वयं परशुना वृक्षस्योपरि प्रहारं करोति कथयति च - हे परशु! त्वमेनं वृक्षं मा छिन्धि– 'अथापि अनुपपन्नार्थाः भवन्ति।। 'ओषधे त्रायस्व एनम्। स्वधिते मा एनं हिंसीः, इत्याह हिंसन्'। यजमानः स्वयं यस्योपरि प्रहारं करोति तस्यैव रक्षार्थं प्रार्थनामपि करोति। अतोऽनुपपन्नार्थाः मन्त्राः भवन्ति।

(घ) वैदिकमन्त्रेषु परस्परं विरोधोऽपि दृग्गोचरो भवति। रुद्रविषये द्रष्टव्योऽयं मन्त्रः– 'एक एव रुद्रोऽवतस्थे न द्वितीयः'। रुद्रः एक एवाऽस्ति नापरो वेति। अत्रैव द्वितीयो मन्त्रः तस्याऽनेकतायारुद्धोषं करोति'। यथा– 'असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधि भूम्याम्'। अर्थादस्यां धरायां संख्यातीताः रुद्राः सन्ति। अनेन प्रकारेण एकताऽनेकतयोः आयासे रुद्रस्य विषये कस्याऽपि तथ्यस्य निर्णयो भवितुं शक्यते? (अथापि विप्रतिषिद्धार्थाः मन्त्राः भवन्ति)

(ङ) वैदिकमन्त्रेष्वर्थज्ञपुरुषाणां कार्यविशेषस्य अनुष्ठानाय सम्प्रेषणं भवति। यथाहोतारं कथयति– 'अग्नये समिध्यमानाय अनुब्रूहि'। अर्थात् प्रज्ज्वलिताग्नयेऽनु ब्रूहि। होता स्वकर्त्तव्यक्रियया स्वयं परिचितो भवत्येव एवं सति तदर्थे सम्प्रेषणस्य इयं मुक्तिः निरर्थकेति।

(च) मन्त्रेष्वेक एव पदार्थोऽनेकरूपेण अभिव्यक्तोऽस्ति। यथा– अदितिरेव समस्तजगदस्ति, अदितिरेवाऽकाशोऽस्ति, अदितिरेवान्तरिक्षोऽस्ति। निरुक्ते यथा- अथाऽपि अहुः - अदितिः सर्वमिति - 'अदितिद्यौरदितिरन्तरिक्षम्'[11] इति। शिशवोऽपि जानन्ति यदाकाशेन सह पृथिव्याः सम्मेलनमसम्भवमस्ति, तथापि अदित्या सह एतयोरुभयोः समानताप्रदर्शनं कियतांशेनोपयुक्तं भवति?

(छ) मन्त्राणां पदस्याप्यर्थः स्पष्टरूपेण प्रतीतो न भवति– अविस्पष्टार्थाः मन्त्राः।। यथा– अम्यक्[12], यावृश्मिन्[13], जारयायि[14], काणुका[15], जर्भरी, तुफरी[16] इत्यादिपदानामर्थः स्पष्टरूपेण प्रतीतो न भवति।

यास्काचार्यस्य पूर्वपक्षखण्डनम्

यास्केन स्वतर्कैः पूर्वपक्षस्य खण्डनं कृतम्। अस्मिन्विषये यास्कस्य प्रमुखसिद्धान्तोऽस्ति - सर्वे शब्दाः अर्थवन्तः भवन्ति। लोकभाषायामपि सर्वत्रायं नियमोऽस्ति यद् वैदिकमन्त्राणामपि शब्दाः लोकभाषाशब्दान्न भिन्ना भवन्ति। सुतरां लौकिकशब्दवदेव वैदिकशब्दानामप्यर्थौ भवितव्यम् (अर्थवन्तः शब्दसामान्यात्)। तदनन्तरं कौत्सकृतपूर्वपक्षस्य खण्डनं कृतं यास्कमहोदयेनेति। यास्कस्य सिद्धान्तपक्षः एवम् अस्ति -

(क) लौकिक भाषायामपि पदानां नियतप्रयोगस्तथा पदक्रमस्य नियतरूपः दिग्गोचरो भवत्येव। यथा - 'इन्द्राग्नी' एवं 'पितापुत्रौ'। एतयोः प्रयोगयोरपि न तु क्रमभङ्गं कर्तुं शक्यते न च शब्दपरिवर्त्तनमेव भवितुमर्हति। एवं नियमाभावेऽपि एतेषां शब्दानां सार्थकता स्वतःसिद्धा एवेति।

(ख) ब्राह्मणग्रन्थेषु मन्त्राणां विनियोगविधानमुदितानुवादमात्रमेवाऽस्ति, अर्थात् मन्त्रेषु यस्यार्थस्य प्रतिपादनमभीष्टं भवति, तस्यैवार्थस्यानुवादो ब्राह्मणग्रन्थेषु वर्त्तते।

(ग) वैदिकमन्त्राणाम् अर्थोऽनुपपन्नो नास्ति। पशुप्रहारकाले यस्याः अहिंसायाः चर्चा वर्त्तते, साऽपि

वेदविहिता एवेति। परशुना वृक्षच्छेदनमापाततः हिंसाद्योतकमवश्यमस्ति, किञ्च वेदेनैव ज्ञातो भवति यत्परशुच्छेदनं हिंसाद्योतकन्न भवति। हिंसायाः अहिंसायाश्च सूक्ष्मविवेचनस्यापि ज्ञानं वेदेनैव भवति। यस्मिन् कर्मणि पुरुषः वेदेन नियुक्तो भवति, तत्कर्म अहिंसात्मको भवति तथा यस्मिन् कर्मणि वेदेन पुरुषो निषिद्धो भवति तदेव हिंसात्मको भवति। औषधि-पशु-मृग-वनस्पतिप्रभृतीनां निषिद्धो भवति। तेन ते परमोत्कर्षं प्राप्नवन्ति। अतः यज्ञे एतेषां विधानमाभ्यदयिकं भवति, न त हिंसात्मकमिति। अनेन प्रकारेण कस्यापि वक्षस्य यज्ञार्थं विधिपर्वकं शाखाच्छेदनमनुग्रहमेवाऽस्ति न तु हिंसेति। इयमहिंसा इयं हिंसा इत्यागमादेतत्, प्रतीयते। प्रतिविशिष्टश्चायमेव वैदिक आम्नाय आगमः। एतत्पूर्वकत्वात् अन्येषामागमनाम्। अनुगृह्णाति यज्ञविनियोगार्थविधानतः छिन्दन्।[17]

(घ) मन्त्रेष्वेवं रुद्रस्यकत्वमनेकत्वस्योल्लेखेऽपि पारस्परिकविरोधो नास्ति, यतो हि देवा महिमाशालिनो भवन्ति। एकत्वेऽपि तेऽनेकविभूतिषु वर्तमानाः भवन्ति। इन्द्रमप्यजातशत्रुस्तथा शत्रु-विजेताकथने न कोऽपि दोषो भवति। वर्णनमिदं रूपकाश्रितकल्पनायामपरि अवलम्बितमस्ति। लोकेऽपि शत्रसम्पन्नत्वेऽपि राजा शत्रुहीनः कथ्यते।

(ङ) यज्ञानुष्ठाने परिचितमपि प्रदत्तसम्प्रेषणाव्यर्थं वक्तुं न शक्यते। यतो विशिष्टातिथेः समागमनोपरि मधुपर्कदानं सर्वविदितमस्ति; तथाऽपि लोकव्यवहारेऽपि विधिज्ञपुरुषात् वारत्रयं मधुपर्कस्य याचना भवत्येव। तद्वदेव ब्राह्मणग्रन्थस्याऽपि सम्प्रेषणा नास्ति निरर्थकेति।

(च) अदितेः सर्वात्मकत्वेन कथनमपि तस्य महत्ता प्रदर्शने एव निहिताऽस्ति। भक्तिभावेन प्रेरितो भूत्वा कस्यचित् भक्तस्यैव कथनमिदमस्ति।

(छ) मन्त्राणामर्थः यदि स्पष्टरूपेण ज्ञातो न भवति, तदा तस्य ज्ञानार्थं यत्नः कर्त्तव्यः। निरुक्तग्रन्थेषु शब्दानां धातुभिः सह सम्बन्ध स्थापयित्वाऽर्थविधानस्य समुचिता व्यवस्था कृतेति। स्वदोषं परशिरस्य अक्षेपणं कियतांशेन युक्तितरं भवति। नैष स्थाणोः अपराधः यदेनम् अन्धो न पश्यति। पुरुषापराधः स भवति। यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषविशेषो भवति। पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयो विद्यः प्रशस्यो भवति।[18] अनेन रूपेणार्थविवेचकस्य ग्रन्थस्याभ्यासः कर्त्तव्यः। उपयोगिनां ग्रन्थानामभ्यासं विना मन्त्राणामुपरि अनर्थकस्य दोषारोपणं नोचितमिति। यथा– 'अम्यक'-शब्दस्यार्थो भवति 'प्राप्नोति', 'यादृश्मिन'-शब्दस्यार्थो भवति 'यादृशः', 'जर्भरी' इत्यस्यार्थो भवति 'भक्तारौ'। तदैव 'तुर्फरी'-शब्दस्यार्थो भवति 'हन्तारौ'। एवं प्रकारेण वेदानां भारतीय व्याख्यापद्धतिः श्रेष्ठा अस्ति।

सन्दर्भाः–

1. निरुक्तम् - 1/20/1
2. निरुक्तम् दुर्गबृतिः
3. निरुक्तम्
4. निरुक्तम्- 1/15
5. निरुक्तम् - 1/05
6. सामवेद - 1/1
7. निरुक्तम् - 1/5/2
8. शु.य.वेद - 1/22
9. निरुक्तम् - 1/5/1 10
10. शु.य.- 3/6 11
11. निरुक्तम्-1/5/1
12. ऋ. 1/169/3
13. ऋ. 5/44/8
14. ऋ.6/12/4
15. ऋ. 8/77/4
16. ऋ.10/106/6
17. निरुक्तम् दुर्गाचार्य- 1/16
18. निरुक्तम् - 1/5

शोधच्छात्रः,

श्री सोमनाथ संस्कृत युनिवर्सिटी, वेरावलम्, (गुजरात)

जम्बुचरियं में भारतीय संस्कृति

डॉ. अमित कुमार

संस्कृति

संस्कृति किसी भी समाज में व्याप्त गुणों के समग्र रूप का नाम है। जो उस समाज को सोचने विचारने, कार्य करने, खाने-पिने, बोलने, गाने, नृत्य, साहित्य, कला, वास्तु आदि में परिलक्षित होती है। संस्कृति शब्द सम् उपसर्ग से (डु) कृ में सुट् आगम करके क्तिन् प्रत्यय करने से बनता है। जिसका शाब्दिक अर्थ परिष्कृत करना है। संस्कृति शब्द का प्रयोग कम से कम दो अर्थों में होता है, एक व्यापक और एक संकीर्ण।

सामान्य परिचय

संस्कृति सामाजिक अंतःकियाओं एवं सामाजिक व्यवहारों के उत्प्रेरक प्रतिमानों का समुच्चय है। इसके अन्तर्गत ज्ञान विज्ञान, आस्था, नैतिक मूल्य एवं प्रथाएँ समाविष्ट होती है।

संस्कृति के पक्ष

संस्कृति के दो पक्ष है- आधिभौतिक संस्कृति एवं भौतिक संस्कृति। सामान्य अर्थ में आधि भौतिक संस्कृति एवं भौतिक संस्कृति को सभ्यता के नाम से अभिहित किया जाता है। संस्कृति के ये दोनों पक्ष एक दूसरे से भिन्न होते हैं। संस्कृति अभ्यन्तर है। इसमें परम्परागम चिन्तन, कलात्मक अनुभूति, विस्तृत ज्ञान एवं धार्मिक आस्था का समावेश होता है। सभ्यता बाह्य वस्तु है, जिसमें मनुष्य की भौतिक प्रगति में सहायक सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और वैज्ञानिक उपलब्धियाँ सम्मिलित होती है। संस्कृति हमारे सामाजिक जीवन प्रवाह की उद्गम सील है और सभ्यता इस प्रवाह में सहायक उपकरण सदृश है। संस्कृति साध्य है और सभ्यता साध न है। संस्कृति सभ्यता की उपयोगिता के मुल्यांकन के लिए प्रतिमान उपस्थित करती है।

जम्बुचरियं विक्रम की 11वीं शती में गुणपाल मुनि के द्वारा रचित ग्रन्थ है। इसमें कुल सोलह उद्देश है। अन्तिम उद्देश का ताड़पत्र जैसलमेर से प्राप्त हुआ है जो अधिकांशतः खण्डित है, अतः सोलहवें दद्देश का संकलन सम्यकतया नहीं हो पाया है। इसमें संस्कृति के अन्तर्गत धर्म, व्यवहार, नीति एवं कला का सम्यक् प्रतिपादन किया गया है।

इसके प्रारम्भ में ही नमस्कार के कम में ही मिथ्यात्वरूपी विष के विनाश करने वाले तीर्थकर को नमस्कार किया है', उक्त स्थान पर आत्मशोधन के रूप में मिथ्यात्व का विनाश परिलक्षीत है।

नैतिक मूल्य (व्यवहार)

सम्पूर्ण जम्बुचरियं व्यवहारोपदेश से ओत-प्रोत है। सिद्धों को नमस्कार करते हुए निर्देशित है, जरा, मरण, रोग क्लेशादी रहित सिद्ध को नमस्कार है', अतः स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि इन

दोषों में एक भी दोष रहने पर वह सिद्ध नहीं होगा। सिद्ध बनने के लिए सभी प्रकार के दोषों का अन्त होना आवश्यक है जो उत्तम व्यवहार संस्कृति को इंगित करता है। आगे नमस्कार के क्रम में अज्ञान, मोह, सम्मोह युक्त भव्य जीवों को उत्तम ज्ञान देने वाली श्रुत देवी को नमस्कार करते हैं।

दुग्राह्य

खणरत्त–खणविरत्तं खणेण मम्माणि तह य मग्गंत।
दुट्ठकलत्तं व खलं विवज्जणीयं सयाकालं।।[3]

क्षण में जुड़ना, क्षण में अलग होना, क्षण में दुष्ट वचन बोलना और चल देना ऐसे दुष्ट पत्नी के समान खल हमेशा के लिए त्याग करने योग्य है। अच्छी प्रकार से बन्धे हुए उन्मत्त हाथी, सर्प, सिंह तथा व्याघ्र जिस प्रकार से दुग्राह्य हैं वैसे ही खल दुग्राह्य होते हैं। बुद्धिमानों के द्वारा सागर के जल का माप शायद लगाया जा सकता है, देव पर्वतों की उच्चाई का भी पता लगाया जा सकता है, लेकिल खल के हृदय को नहीं जाना जा सकता है। ऐसे दुष्टट लोग सामने कुछ ओर बोलते हैं, पिछे कुछ और बोलते हैं ओर हृदय में कुछ और रखते हैं। **सुयणा सहावउ च्चिय परदोस परम्मुहा जेण।**[4] सज्जनों का स्वभव परदोष से विमुख होना है। व्यवहार के आधार पर जम्बुचरियं में पुरुषों को पाँच प्रकार का और जिन सहित छह प्रकार का बतलाया गया है।

1. अधमाधम 2. अधम
3. मध्यम 4. मध्यमोत्तम
5. उत्तम 6. उत्तमोत्तम

अधमाधम

धर्म–अर्थ–काम से रहित पापी मधु, माँस, मद्य में लगे हुए निन्दीत कर्म को करने वाले भिलादि अधमाधम माने गए हैं।

अधम

इह लोक मात्र में प्रसन्न रहने वाले मोक्ष की निन्दा करने वाले जुआड़ी अधम है।[5]

मध्यम

धर्म, अर्थ काम की अविरत सेवा करने वाले ब्राह्मण कुटुम्बादि मध्यम हैं।

मध्योत्तम

धर्मादि में प्रसक्त यथाशक्ति विविध प्रकार के व्रतों का सेवन करते हुए, घर–पुत्र–स्त्री से निरत रहने वाले श्रेष्ठ श्रावक मध्यमोत्तम बतलाये गये हैं।

उत्तम

घर, पुत्र, स्त्री से विरत उत्तम मार्ग पर जानेवाले मोक्ष की गति में लगे हुए साधु उत्तम होते हैं।

उत्तमोत्तम

चौतीस अतिशयों से परिपूर्ण मनुष्यादि से पूजित तीर्थकर उत्तमोत्तम हैं। गुणवन्तों के मार्ग का

अनुसरण करने से गुणसमूह का विकास होता है। सूर्य की संगति से काला आकाश भी निमग्ल हो जाता है, कुटिल स्वभाव वाले इस संसार में गुण किस प्रकार के होते हैं ये मैं नहीं जानता हूँ, क्योंकि कमलिनि अमृत सदृश चन्द्र के किरणों की भी इच्छा नहीं करती है, इसलिए को चाहिये सदैव परोपकार में लगे रहें, जिन शासन में ज्ञान प्रकाशक है, तप शोधक है, संयम गुप्ति का कारक है, तिनों का समान योग जिनशासन में मोक्ष गतलाया गया है।[7] लेकिन जिव संसार रूपी सागर में अनेक कुभावनाओं से प्रभावित होकर पाप रूपी विषय की संगती को नहीं छोड़ता है। वह अभाग्य से किंपाक पुल के समान सुखदायक रस से परिपूण लेकिन अन्त में असम्यक् फल को देने वाले विषयों को नहीं जानता है। अच्छे लोगों के वचन मधु-घृत से सिकत की तरह मधुर लगते हैं। गुणहीन उसी प्रकार शोभा को प्राप्त नहीं करता जिस प्रकार तेल के विना दीप शोभा को प्राप्त नहीं करता है। कोध से होने वाले हानी की तरफ इंगित करके बतलाया गया है कि कोधी व्यक्ति न तो धर्म को जानता है न अधर्म को, न तो कार्य को जानता है न अकार्य को, न अर्थ को जानता है न अनर्थ को, न तो भक्ष्य को जानता है न अभक्ष्य को, न गम्य को जानता है न अगम्य को, न वाच्य को जानता हे न अवाच्य को, न सुगति को जानता हे न दुर्गति को, न पन्थ को जानता है न अपन्थ को इसलिए कोध का सर्वथा त्याग कर देना चाहिये।[7] मायावियों से सबको सावधान रहना चाहिये क्यों कि वे दुसरे को ढगते हैं। मायावी सर्प की तरह होते हैं, सर्प यदि नहीं काटे फिर भी भय कारक होता है। धर्म की सार्थकता के लिए सर्वप्रथम दयादि का पालन करना चाहिये क्योंकि धर्म तभी है यदि दया है, तप है, सन्तोष है, सत्य है, ब्रह्मचर्य है एवं सहनशीलता है। व्रत के रूप में प्राणातिपात से मन-वचन-काय से विरती प्रथम व्रत है। मन वचन-काय से असत्य की विरती दूसरा व्रत है। मन-वचन-काय से अदत्त की विरती तिसरा व्रत है। मन-वचन-काय से मैथुन की विरती चौथा व्रत है। मन-वचन-काय से परिग्रह की विरती पाँचवा व्रत है।[8] कोध-मान-माया-लोभ पर विजय कषायों पर विजय है। मन;वचन-काय से किसी को भी पिछा देना दंड कहा गया है। इन द्रडो से विरत होना चाहिए। जो संयमित आतमा है वह सदा संयम करती है, उसके द्वारा किया गया संयम आत्मा के लिये गुप्ती कहा गया है। ब्रह्मचर्य के लिए नव गुप्तियों का वर्णन प्राप्त होता है। स्त्री-पुरुष-नपुंसक रहित होना यह प्रथम गुप्ती है। रंगशाला की बात, स्त्री कथा का वर्जन करना द्वितीय गुप्ती है। स्त्री आसन का त्याग करना तृतीय गुप्ती है। स्त्री अंगों का अवलोकन न करना चौथी गुप्ती है। आन्तरिक मैथुन संसर्ग का परित्याग पाँचवी गुप्ती है। जो स्त्रियों के साथ पूर्व में रमण किया है, उसको याद न करना छठी गुप्ती है। सातवी गुप्ती अधिक आहार को वर्जित करना है। अधिक माया को धारण नहीं करना आठवी गुप्ती है। नौवीं गुप्ती अलंकार का सर्वदा धारण नहीं करना है।

कला

इस ग्रन्थ में बहुत सारे वाद्य यन्त्रों का वर्णन प्राप्त होता है जैसे- वीणा, मुकुन्द, वापी, भेरी, मृदंग, शंख, घंटा, करताल, काहल(बड़ा ढोल), बाँसुरी, दुर्दुर, दुदुन्भी।

स्त्री वर्णन

राजगृह नगर का वर्णन करते हुए वर्णन आया है, वहाँ की महिलायें सरल स्वरूप, विज्ञान-कला में पारंगत, विनम्र, देव स्त्रियों के समान थी।

पुरुष वर्णन

जहाँ दूसरों के स्त्रियों से विमुख, दूसरे के दोष को न देखने वाले, दुसरे के धन को न ग्रहण करने वाले गुणज्ञ पुरुष निवास करते थे।

प्रस्तुत शोधालेख में जम्बुचरियं के आधार पर यथा सम्भव संस्कृति के समस्त अंगो को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

संदर्भ–

1. जम्बुचरिय1/2 2. वही 1/5
4. वही 1/18 5. वही 1/28
6. वही 4/82-83 7. वही 5/178-182 8. वहीं 5/262

पी.डी.एफ (प्राकृत)
के.सं.वि.वि, जयपुर परिसर

रामचन्द्रमिश्रकृतीनाम् एकम् अवलोकनम्

वन्दना कुमारी

महाकवयः पण्डित-रामचन्द्रमिश्रमहाभागा संस्कृतवाङ्मयस्य पण्डितोत्तमा आसन्। एतेषां काव्यानि तु सन्ति एव यथा - वैदेहीचरितम्, चकोरदूतम्, भार्गवविक्रमम्, कर्णिका। न केवलम् एतावदेव ते महान्तः टीकाकारः आसन्। अतएव भासरचितं नाटकस्य भवभूतिविरचितनाटकस्य, महावीरचरितस्यापि, महामहोपाध्यायगोकुलनाथविरचितस्य अमृतोदयनाटकस्य, महावीरचरितस्यापि टीकाग्रन्थेषु मूल ग्रन्थस्य सुस्पष्टं व्याख्यानं तत् सम्बन्धि कोशग्रन्थपङ्क्तिनां चर्चाग्रन्थविस्तारः, पाठकहृदये मूलग्रन्थानां विशिष्टअर्थावगति इत्यादीनि अनेकानि वैशिष्ट्यानि भवन्ति। एतेषां टीकाग्रन्थावलोकनेन एतेषां सम्यक् अवलोकनं भवति। महाकवयः प्रकृतिसुलभानाम् गिरां निर्माणे बद्धादराः भवन्ति। महाकवीनां हृदयं रसपेशलं प्रकृतिवर्णनं निपुणं च भवति।

एतेषां समेषां सङ्कलनं विधाय वर्गीकरण पुरस्सरमुपस्थापनमस्मिन् संग्रहे कृतम्। तत्र सप्त खण्डानि सन्ति-

1. सम्पादकीयम् 2. कविता 3. निबन्धः
4. नाटकम् (दश्यकाव्यम्) 5. मिथिलावैभवम् 6. अर्चना
7. सूक्तिमुक्तावली (प्राचीनसूक्तयः)

1. **सम्पादकीयम्** – एतत्सम्पादकीयेषु देशस्थितिः, संस्कृतस्य स्थितिः, तद्विषये चिन्तनम्, छात्राणामुद्बोधनम्, अध्यापकानां कर्तव्यनिर्धारणम्, परीक्षाप्रणाल्या गुणदोषविवेचनम्, पत्रिकासम्पादने काठिन्यम्, लेखदारिद्र्यव्यथाप्रदर्शनम्, शास्त्रसंरक्षणचिन्तनम्, सम्पादकस्य कर्तव्यम्, पत्रिकासम्पोषणचिन्तनम् इत्यादिविषयाः प्रेरणास्पदा वर्णिताः सन्ति।

2. **कविता** – विविधप्रसङ्गे रचिताः कविता विलसन्ति। बहुत्र कवैर्नैजोऽनुभवो विन्यस्तोऽस्ति। एतन्मध्ये द्वे चरितकाव्ये अपि विलसतः। एकत्र राजलक्ष्मीर्दरभङ्गामहाराज्ञी सभक्ति संस्तुता, अपरत्र पाली द्रौपदी चित्रिता याज्ञसेनीमहाकाव्ये। परन्तु तृतीयसर्गान्ता एव याज्ञसेनी मनीषायां प्राप्यते। तावानेवांशोऽत्र प्रस्तुतोऽस्ति। अस्मिन् महाकाव्ये नव्यच्छन्दोबन्धः, अन्त्यानुप्रासादिसंवलितगेयतापादानमतीव प्रभावोत्पादकं वर्तते। भाषाप्रवाहः विशेषणमालासंयोजनं, संस्कृतस्य स्वाभाविकी शैली चात्र वैलक्षण्यमावहन्ति।

पत्रमेकम्, समस्यापूर्त्तयः, उद्बोधनम्, ग्रीष्मः, वर्षासमयः, भारतवन्दना, वन्या, आत्मपरिचयः, कृष्णं प्रपद्ये, जरा, श्रीकृष्णः शरणं मम, याज्ञसेनी (महाकाव्यम्), काश्मीराक्रमणम्, श्रीराजलक्ष्मीसंस्तवः (काव्यम्), प्रणामपुष्पाञ्जलिः, आर्यारत्नमाला

3. **निबन्धः** – विविधनिबन्धाः, संस्मरणं, सम्पादितग्रन्थानां भूमिकादीनि विन्यस्तानि।

मिथिलाक्षरमयानामनेकेषां ग्रन्थानां सम्पादनम् मिश्रप्रवरेण कृतं, तत्र एको लघुग्रन्थोऽत्र समावेशितः- 'श्लोकशतकम्'। एतस्मिन् लकारार्थविषये नैयायिक-वैयाकरणयोः शास्त्रार्थो वर्तते पद्यबद्धः। रचयिता चास्य मङ्गलवनीवास्तव्यो म.म. वागीशोपाध्यायः (1620ई.)।

गुणगणिनिका (विद्यावाचस्पतिविदुषां परिचयः), सम्मानितविद्वत्परिचयः (विद्यावाचस्पतिविदुषां परिचयः), मिथिलायाः कतिचन कविताः, म.म. बालकृष्णमिश्रसंस्मरणम्, अलङ्कारतिलकस्य भूमिका, म.म. शशिनाथझाशर्मणां संस्मरणम्, मिथिलाकाव्यवैभवम्, यक्षसमागमकाव्यस्य प्रस्तावना, श्लोकशतकम् (म.म. वागीशोपाध्यायकृतम्), राधाविनोदकाव्यस्य प्रस्तावः, गायत्रीभाष्यभूमिका, प्रभावतीहरणनाटकस्य पुरोवाक्, काश्मीरककाव्यचर्चा, गङ्गाप्रभावकाव्यस्य प्रस्तावना, आर्याद्विशतीग्रन्थस्य भूमिका, समस्यापूर्त्तयः, योगदर्शन (हिन्दीनिबन्धः)

4. **नाटकम् (दृश्यकाव्यम्) –** एकं रूपकं 'विज्ञमहाराजम्' विन्यस्तं, यत्र दरभङ्गानरेशस्य महाराजलक्ष्मीश्वरसिंहस्य प्रभावो वर्णितोऽस्ति।

विज्ञमहाराजम् (महाराजलक्ष्मीश्वरसिंहविषयकम्)

5. **मिथिलावैभवम् –** मिथिलावैभवाख्ये काव्यशास्त्रक्षेत्रे मिथिलाया अवदानस्य विवेचनमस्ति।

काव्यशास्त्रक्षेत्रे मिथिला– (काव्यप्रकाशटीकाः) – श्रीधरकृतः काव्यप्रकाशविवेकः, वाचस्पतिकृता काव्यप्रकाशटीका, पद्मनाभमिश्रकृता काव्यप्रकाशटीका, पक्षधरमिश्रकृता काव्यप्रकाशटीका, रत्पाणिकृता काव्यप्रकाशटीका, रविठक्कुरकृता मधुमतीनाम काव्यप्रकाशटीका, रामनाथोपाध्यायकृता काव्यप्रकाशटीका, यशोधरोपाध्यायकृता काव्यप्रकाशटीका, गोविन्दकृतः काव्यप्रदीपः (काव्यप्रकाशटीका), नरसिंहठाकुरकृता नरसिंहमनीषानाम्नी काव्यप्रकाशटीका, देवनाथठक्कुरकृता काव्यकौमुदीनाम्नी काव्यप्रकाशटीका, पण्डितरायकृता काव्यप्रकाशटीका, गोकुलनाथोपाध्यायकृतं काव्यप्रकाशविवरणम्।

अलङ्कारशास्त्रे मौलिकग्रन्थाः – चन्द्रालोको जयदेवकृतः, भानुमिश्रस्यालङ्कारतिलकः, गङ्गानन्दकृता काव्यडाकिनी, वेणीदत्तकृता अलङ्कारमञ्जरी, गोकुलनाथकृतो रसमहार्णवः, इन्द्रपतिशर्मकृतः-अलङ्कारसमुद्गः, बदरीनाथझाकृता साहित्यमीमांसा, आनन्दझाकृता- ध्वनिकल्लोलिनी।

रसशास्त्रे मौलिकग्रन्थाः – भानुमिश्रस्य रसमञ्जरी, भानुमिश्रस्य रसकौस्तुभः, भानुमिश्रस्य रसपारिजातः, भानुमिश्रस्य पितुर्गणेश्वरस्य रसरत्नदीपिका, वेणीदत्तस्य रसकौस्तुभः, चित्रधरस्य शृङ्गारसारिणी, चित्रधरस्य वीरतरङ्गिणी।

नाट्यशास्त्रे ग्रन्थः – नाट्यशास्त्रे गोकुलनाथपित्रा पीताम्बरोपाध्यायेन नाट्यसूत्रं व्याख्यातमिति सूचनामात्रं गोकुलनाथेन दीयते।

पद्यकाव्यानि – गोवर्धनकृता आर्यासप्तशती, रघुदेवस्य विरुदावली, हरिहरस्य हरिहरसुभाषितम्, शङ्करमिश्रस्य रसार्णवः, भानुमिश्रस्य गीतगौरीपतिकाव्यम्, मधुसूदनस्य अन्यापदेशशतकम्, दुर्गादत्तस्य वाताह्वानम्, मोहनमिश्रस्य राधानयनद्विशती, आँखीझाशर्मणः - मैथिलपद्यावली, आँखीझाशर्मणः- कृष्णपाशिका, परमेश्वरझाशर्मणः-यक्षसमागमः, बदरीनाथझा-आर्यासाहस्री, जीवनझा-प्रभुचरितम्, समीरशतकम्, आर्यासंग्रहः,

वाणीशझा-चकोरदूतम्, दीनबन्धुझा-रमेश्वरप्रतापोदयम्, रसिकमनोरञ्जिनी, श्यामानन्दझा-कणिका, मधुवीथी, आनन्दझा- आनन्दमधुमन्दाकिनी, रामचन्द्रमिश्रस्य-तरुकथा।

महाकाव्यानि – इन्द्रविजयम्-मधुसूदनओझाकृतम्, राधापरिणयम्- बदरीनाथझाकृतम्, वैदेहीचरितम्-रामचन्द्रमिश्रकृतम्, भार्गवविक्रमम्-मतिनाथमिश्रकृतम्, महिषासुरवधम्-देवीकान्तठक्कुरकृतम्, सुरथचरितम्-बाबूक्षेत्रधारीसिंहकृतम्।

रूपकाणि – मुरारिकृतम्-अनर्घराघवम्, जयदेवकृतम्- प्रसन्नराघवम्, हरिहरकृतम्-प्रभावतीपरिणयम्, गोकुलनाथकृतम्-अमृतोदयम्, मुदितमदालसानाटकम्, जगन्नाथकृता-अतन्द्रचन्द्रिका, शङ्कमिश्रकृतम्-गौरीदिगम्बरप्रहसनम्, मतिनाथमिश्रकृतं-राष्ट्रबन्धुनाटकम्।

चम्पूकाव्यानि – भानुदत्तमिश्रकृता-कुमारभार्गवीयचम्पूः, बच्चाझाकृता-सुलोचनामाधवचम्पूः, बालकृष्णमिश्रकृता-लक्ष्मीश्वरीचरितचम्पूः, बदरीनाथझाकृता-गुणेश्वरचरितचम्पूः, जीवनाथझाकृतं-कामेश्वरप्रतापोदयम्

6. **अर्चना –** अर्चनानामके स्वसम्पर्किविदुषां विहारराज्यवासिनां 49 संख्यकानां परिचयो विद्यते। मैथिलविद्वत्परिचयः

7. **सूक्तिमुक्तावली (प्राचीनसूक्तयः) –** सूक्तिमुक्तावली वर्तते या परकृतगद्यपद्यांशानां संग्रहरूपा मिश्रवर्यस्यारम्भिकप्रयासोऽस्ति।

अन्यकृतसूक्तीनां सङ्कलनम्,

8. **परिशिष्टे संस्मरणानि –**

आचार्यरामचन्द्रमिश्रविषये विदुषां संस्मरणानि।

सन्दर्भा :–

1. रामचन्दमिश्रसङ्कलनम्, पृष्ठ 10-15, 163
2. वदहोचरितम्, पृष्ठ 3

शोधच्छात्रा, केन्द्रीय संस्कृतविश्वविद्यालय,
जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

यात्रा-संस्मरण

यात्रा : पश्चिमांचल से पूर्वांचल की ओर (जयपुर से अगरतला)

गोविंद जांगिड़

एक चीनी कहावत है, हजार मील की यात्रा एक छोटे से कदम से आरम्भ होती है किन्तु कौन-से अनजाने क्षण हम वह कदम, आँखें मूँद लेते हैं। यह आज भी हमारे लिये रहस्य बना है। मुझे आज भी वह दिन याद है जिस दिन शनिवार 18 नवम्बर 2017 को हम हमारी पूरी तैयारी के साथ ''राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान जयपुर परिसर'' से एक नाटकमण्डली ''किरातार्जुनीयव्यायोग'' नामक नाटक लेकर अगरतला में आयोजित ''संस्कृतनाट्यमहोत्सव'' के लिए निकलते है।

आइए अब आपको जयपुर से अगरतला की यात्रा करवाते हैं। हम सब मित्र और गुरुजन निकल पड़े और जयपुर जंक्शन पहुँचे। पता चला कि हमारी नाटकमण्डली का सदस्य हमारा मित्र गोविन्द जाँगिड़ बिना बताए छात्रावास में सो जाने के कारण पीछे छूट गया है। आँख खुली तो पता चला कि सब लोग निकल गए फिर मित्र सविन के पास गोविन्द का फोन आया कि आप लोग कहाँ पहुँचे तो बताया कि जयपुर जंक्शन पहुँचे। संयोग से रेलगाड़ी देरी से चलने के कारण हमारा मित्र गोविन्द समय पर जंक्शन पहुँच गया। गोविन्द के आने से हमारी नाटकमण्डली का जो इंजीनियर था जिस पर सभी का दायित्व था वो समय पर पहुँच गया।

फिर कुछ समय बाद सायंकाल 6 बजे हमारी रेलगाड़ी अजमेर-सियालदाह एक्सप्रेस शंख की तरह ध्वनि करती हुई स्टेशन पर आ पहुँची। हमारी सीटें अलग-अलग होने के कारण सभी मित्र बिखरते हुए गाड़ी में बैठ गए। कुछ देर बाद हमारी गाड़ी चल पड़ी। हमारे गुरुजी ''डॉ. किशोर कुमार दलाई जी'' बच्चों की मस्ती से चिन्तित होते हुए चेतन कुमार जो कि हमारी मण्डली का सबसे छोटा सदस्य था, आशुतोष, किशोर, पराग आदि सभी बच्चों को प्यार से समझाते हुए कह रहे थे कि बेटे बच्चों! गाड़ी से बीच में कहीं उतरना मत। अपना ध्यान रखना, अपने बैग का ध्यान रखना आदि। इस तरह हमारी गाड़ी जयपुर से रवाना हुई। समस्या यह थी कि एक तो सभी मित्र अलग-अलग डिब्बों में बैठे थे और ऊपर से यह एक और समस्या थी कि हमारी कुछ सीटें बुक नहीं होने के कारण एक सीट पर दो मित्र बैठे और रात 12 बजकर 30 मिनट पर 19 नवम्बर 2017 को उत्तरप्रदेश में प्रवेश किया और शरद् ऋतु की शुक्ल पक्ष की चाँदनी रात में सभी मित्रों की अलग-अलग सीटें होते हुए भी सभी मित्र एक डिब्बे में एकत्रित होकर हमारे मित्र सच्चिदानन्द तिवाड़ी जो कि शिव शंकर का पात्र अभिनय, डॉ. फिरोज जी जो कि तबला वादक, संस्थान के छात्र संगीतज्ञ देवाङ्ग भट्ट, सूत्रधार शान्तिलाल जोशी, किरात सैनिक विनोद कुमार एवं ललित सैनी किरात सेनापति निखिल व्यास, आदि सभी मित्रों ने शायरियों और गीतों से रेलगाड़ी में सभी को आनन्दित किया और इस तरह हमारी

रेलगाड़ी उत्तरप्रदेश, बिहार, झारखण्ड, पश्चिम बंगाल आदि राज्यों को चीरती हुई सोमवार 20 नवम्बर 2017 को रात 3 बजे सियालदाह जंक्शन (कोलकाता) पहुँची।

अब यहाँ से गुरुजी किशोर कुमार जी दलाई, हार्दिक राजगुरुजी, निखिल व्यास और रमेश सिंह राजपुरोहित सभी ने मिलकर ठहरने की व्यवस्था की और 4 बजे हम सब एक होटल में पहुँचे और विश्राम किया, फिर सब सो गए।

प्रातः 6 बजे उठे। स्नान आदि नित्यकर्म करने के बाद सभी मित्र विक्टोरिया पैलेस देखने के लिए निकल पड़े। हमारे गुरुजी किशोर कुमार जी दलाई एवं डॉ. सिद्धार्थ जी होटल में ही रूके। हमारे मित्र शिवनारायण महर्षि जो कि अर्जुन बने थे और केवलिया मयूर जो कि अर्जुन के मित्र बने थे, के देरी से उठने के कारण पीछे छूट गए। बाद में विक्टोरिया पैलेस से साथ हो गए। किस्मत से उस दिन विक्टोरिया पैलेस बंद था। चारों तरफ देखा तो वहाँ एक दस वर्ष की आयु का एक लड़का, जिसके हाथ में किताब, पैन और जिसको कि अपने हमउम्र के बच्चों के साथ खेलना चाहिए लेकिन परिस्थिति के अनुसार ढलते हुए वह इडली बेचते हुआ नजर आया। हम लोगों ने वहाँ नाश्ता किया और फिर काली माता के मन्दिर के दर्शन के लिए निकल पड़े। वहाँ काली माताजी के दर्शन किए और संयोग से वहाँ हमको हमारे नाटक के निर्देशक नीरज जी मिल गए वहाँ से कुछ मित्रों ने शंख खरीदे। फिर यहाँ से हम सब हावड़ा ब्रिज देखने गए वहाँ हावड़ा ब्रिज देखा और सभी मित्र वहाँ से वापस होटल आ पहुँचे। कुछ समय बाद भोजन के लिए निकले। लगभग तीन किलोमीटर पैदल चलकर एक शाकाहारी भोजनालय ढूँढा। सभी मित्र भूखे थे। वहाँ आधा घण्टा इंतजार करने के बाद भोजन किया। वहाँ पर भोजन वालों ने हमारे साथ धोखा करते हुए 75 रोटियों की जगह 124 रोटियों का बिल बनाया तब रमेश सिंह, व्यास निखिल एवं मयूर केवलिया आदि सभी मित्रों ने विरोध किया लेकिन समय के अभाव के कारण ज्यादा बहस ना करते हुए सभी मित्र वहाँ से निकले और होटल से सामान लेकर कोलकाता सुभाष चन्द्र बोस एयरपोर्ट पहुँचे।

वहाँ पर भोपाल परिसर की नाटकमण्डली दिखाई दी। अब सभी मित्र उत्साही थे कि हम सब हवाई जहाज में कब बैठेंगे। फिर कुछ देर तक इंतजार करने के बाद हम सब हवाई जहाज (एयर इण्डिया) में बैठ गए। मन में बार-बार प्रश्न उठ रहे थे कि हवाई जहाज कब उड़ान भरेगा। कुछ देर बाद हवाई जहाज ने भी उड़ान भरी। सभी लोग अपने-अपने भावों में मग्न थे। अब सविन जो कि नाटक में दुर्योधन का पात्र निभाने वाला था। अब इसके अध्याय का प्रारम्भ हुआ। नीरज जी जो कि नाटक के निर्देशक थे, सविन की पास वाली सीट पर बैठे थे। मेरी सीट खिड़की के पास थी और नीरज जी सविन को जोश से कह रहे थे कि दुर्योधन– तू इधर-उधर ध्यान मन भटकाना, तू अपने भावों में मग्न रहना और आवाज को भारी रखना आदि सब निर्देश दे रहे थे। अब उन पर सविन को जबरदस्त गुस्सा आ रहा था लेकिन गुस्से को काबू करते हुए पानी पीया।

सभी लोगों ने अपने जीवन के इस प्रथम अवसर का आनन्द लिया। इधर रमेश जी फोटो ले रहे थे उधर सभी मित्र इस प्रथम अवसर का आनन्द उठा रहे थे। हमारा हवाई जहाज बादलों

को चीरता हुआ 35-40 मिनट में अगरतला एयरपोर्ट पर पहुँच गया और सभी लोग हवाई जहाज से उतर कर हवाई जहाज के साथ फोटो ले रहे थे। यहाँ से सभी मित्र बस के द्वारा अगरतला में 'शहीद भगत सिंह' छात्रावास पहुँचे और कुछ देर बाद भोजन कर सभी मित्र अपने कमरे में जाकर सो गए।

अब दिन था 21 नवम्बर 2017 की सुबह का सभी लोग उठे स्नान आदि नित्यकर्म करने के बाद दो बार हम सबने मिलकर नाटक का अभ्यास किया और शाम 5 बजे बांगलादेश बॉर्डर (वाछा बॉर्डर) देखने गए। वहाँ 6 बजे सभी लोगों ने परेड देखी और वहाँ से वापस छात्रावास आ गए। सभी लोगों ने भोजन किया। बाद में एक बार नाटक का अभ्यास किया और सभी लोग सो गए।

इसके अगले दिन 22 नवम्बर 2017 को 'रविन्द्रशतवर्षिकी भवन' अगरतला में आयोजित ''पञ्चदशः संस्कृतनाट्यमाहेत्सव'' का माँ सरस्वती की पूजा करते हुए शुभारम्भ हुआ। हमारे कुलपति महोदय प्रो. पी.एन.शास्त्री (परमेश्वरनारायण शास्त्री) एवं बाकी सब आचार्यों एवं प्राचार्यों ने सरस्वती की वन्दना की। इसके बाद नाटकों की शुरुआत पूर्वरङ्ग से हुई जो प्रस्तुति भोपाल परिसर ने दी। इसके बाद विख्यातविजयम्, विवेकानन्दविजयम् व सीताराघवम् आदि नाटकों की प्रस्तुति देखी। सायंकाल पता चला कि किसी नेता को मार देने के कारण अगरतला में धारा 144 लगा दी गई है। इससे पूरे अगरतला में कर्फ्यू लग गया है। अब 23 नवम्बर 2017 कर्फ्यू वाला दिन आया इस दिन हम सब लोगों ने मिलकर छात्रावास में हमारे गुरुजी डॉ. कुलदीप जी शर्मा से वीडियो कॉल के द्वारा नाटक के बारे में निर्देश प्राप्त करते हुए नाटक का अभ्यास किया और शाम को भोजन करने के बाद हम सब बाहर टहलने के लिए निकलते थे तो गुरुजी लोग भी मिल जाते थे और बातें करते, सभी का हाल-चाल एवं स्वास्थ्य के बारे में पूछते थे और ऐसे ही बातों ही बातों में हमारे गुरुजी सीधे-सादे एवं सरल स्वभाव वाले रमेश कुमार को प्यार से बेटा बम्बू! बहकर पुकारते थें कभी-कभी तो बेटा बाँस भी सुनने को मिलता था और सभी हँसते हुए एवं आपस में शुभरात्रि, Good Night आदि सब बोलकर सो जाते थे। इस तरह हमारा कर्फ्यू वाला दिन भी मजे के साथ निकल गया।

अब हम सबकी परीक्षा वाला दिन 24 नवम्बर 2017 था। इस दिन सब लोग भोजन करने के बाद छात्रावास से रविन्द्रशतवार्षिकीभवन पहुँचे। इस दिन उदात्तराघवम्, चैतन्य-चन्द्रोदयम्, लक्ष्मीमानवेदम्, बाणहरणम्, सुभद्राधनञ्जयम्, राघवाभ्युदयम् और प्रेमपीयूषम् आदि सबस नाटकों की प्रस्तुति हुई। इन नाटकों के बीच हमारा नाटक ''किरातार्जुनीयव्यायोग'' शाम 4 बजे से प्रारम्भ हुआ और जयपुरपरिसर ने अपनी प्रस्तुति दी। शाम 8 बजे ''पञ्चदशः संस्कृतनाट्यमहोत्सव'' का समापन हुआ। इसमें हमारे मित्र अर्जुन (शिवनारायण) को सर्वश्रेष्ठ अभिनेता का पुरस्कार मिला और तृतीय पुरस्कार किरात (रमेश कुमार) को द्वितीय पुरस्कार सिद्धादेश (मयूर केवलिया) को और प्रथम पुरस्कार शिवनारायण महर्षि को मिला। इस नाटक में हमारे मित्र पण्डित जी दिनेश कुमार जिन्होंने इन्द्र के पात्र का अभिनय किया। नाटक के दौरान ये तो साक्षात् इन्द्र जैसे लसग रहे थे। इनकी प्रस्तुति भी अच्छी हुई।

अब 25 नवम्ब्र 2017 को हम सब प्रातः 9 बजे माता त्रिपुर-सुन्दरी के दर्शन के लिए निकले। रास्ते में चिड़ियाघर देखा उसके बाद वहाँ से प्रस्थान किया। रास्ते में गाड़ी खराब होने के कारण हम कुछ देर तक वहीं रूके लेकिन किस्मत से हमारी गाड़ी वहाँ खराब हुई जहाँ रबर के पेड़ों का बागान था। पास में ही कुछ लोग रबर का निर्माण कर रहे थे वहॉ। पर रबर के बारे में जानकारी प्राप्त की उसके बाद हम त्रिपुरा सुन्दरी पहुँचे। सभी लोगों ने माताजी के दर्शन किए, पूजा-पाठ की। इसके बाद यहाँ से नाव में यात्रा करते हुए जलमहल (नीरमहल) देखने गए। नाव की इस यात्रा में सभी लोग आनन्द ले रहे थे। कोई फोटो खींच रहा था तो कोई पानी में हाथ डाल रहा था। और हमारे मित्र गोविन्द अग्याल की तो नई दुनिया थी। वह फिरोज जी गुरुजी के साथ गाना गाते हुए अपनी मस्ती में झूम रहा था।

अब 26 नवम्बर 2017 को हम सब 10 बजे वापस अगरतला से जयपुर आने के लिए प्रस्थान किया। उस दिन हमोर मित्र रमेश राजपुरोहित को एक सौभाग्य प्राप्त हुआ कि वो गत वर्ष इसी समय इसी एयरपोर्ट पर थे। इससे उनकी गतवर्ष की यादें ताजा हुई। वहाँ से पुनः एक बार फिर हवाई जहाज में उड़ान भरते हुए कोलकाता पहुँचे। कोलकाता एयरपोर्ट से बस के द्वारा जब हम रेलवे स्टेशन के लिए आ रहे थे रास्ते जहाँ हम उतरे तब किसी अन्य यात्री का बैग हमारे बैगों के साथ आ गया लेकिन गुरुजी निकल गए थे फिर नीरज जी और रमेशजी ने उस बैग को वहाँ की पुलिस को सौंपकर रेलवे स्टेशन आ गए।

अब हमारी रेलगाड़ी रात 11 बजे थी। इस कारण कुछ मित्रों ने विचार किया कि हम दक्षिणेश्वरी मन्दिर व वेलूरमठ देखने चलें और इस तरह कुछ लोग देखने के लिए निकल पड़े और जो नहीं गए वो विश्राम-घर में विश्राम किया और शेष बचे मित्रों ने जिसमें लखन, आशुतोष, चेतन, विष्णु सच्चिदानन्द, गोविन्द, दिनेश आदि सब मित्रों ने अपने बचपन को याद करते हुए बचपन के खेल खेले। इस तरह हमारा समय व्यतीत हुआ और कुछ समय बाद पता चला कि हमारी रेलगाड़ी 2 बजे प्रस्थान करेगी। लगभग 10 बजे सभी मित्र एकत्रित हुए और सभी मित्रों ने मिलकर हार्दिक जी को जन्मदिन की बधाई दी।

इस तरह हम सबने 2 बजे 27 नवम्बर 2017 को सियालदाह (कोलकाता) जंक्शन से जयपुर के लिए प्रस्थान किया। इस बार भी हमारे मित्र इधर-उधर डिब्बों में बिखर गए और एक बार फिर हम हमारी महफिल में चार चाँद लगाते हुए और विभिन्न राज्यों को चीरते हुए हम 28 नवम्बर 2017 को प्रातः 7 बजे जयपुर जंक्शन पहुँच गए। जंक्शन से हम ऑटो रिक्शा के द्वारा अपने छात्रावास पहुँचे।

इस तरह यह हमारे जीवन की हवाई जहाज से व सबसे लम्बी प्रथम यात्रा, माता-पिता, गुरुजनों और माँ सरस्वती के आशीर्वाद से सफल हुई।

छात्र, केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय,
जयपुर परिसर, जयपुर

षोडशसंस्कारविमर्शः

दीपककुमारचौधरी

धर्मशास्त्रेषु निर्णीतं यत्संस्कारविमर्शनम् ।
मया दीपकवात्स्येन क्रियते नृहिताय तत् ।।

गर्भाधानम्

रजोदर्शनकालेषु योषिद्गर्भे सुताप्तये।
शुक्रसम्पादनं येन गर्भाधानं समुच्यते।।

पुंसवनम्

गर्भस्य स्पन्दनात्पूर्वं शुभपुण्यतिथौ बुधा।
संस्कारो द्वित्रिमासानां पुंसवनं सुताप्तये।।

सीमन्नतोन्नयनम्

चतुर्थे पञ्चमे मासि षष्ठेऽथवा बुधाष्टमे।
सीमन्तोन्नयनं कार्यं गर्भरक्षणहेतवे ।।

जातकर्म

नाभिप्रच्छेदनात्पूर्वं मेधोजननहेतवे।
पाययेत पिता बालं मध्वाज्यं जातकर्मणि।।

नामकरणम्

पितरौ जन्मतो नाम दशमे द्वादशे दिने।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा लोके प्रकाशहेतवे।।

निष्क्रमणम्

चतुर्थे जन्मतो मासि सूर्यदर्शनहेतवे।
गृहान्निष्क्रमणं कार्यं सृष्ट्यवलोकनाय च।।

अन्नप्राशनम्

मधु मिष्टं पयस्यश्च सम्भोज्य जननी सुतम्।
षष्ठेऽन्नप्राशनं कुर्याद्यथाचारं यथाकुलम्।।

चूडाकरणम्

यथाचारं द्विजातीनाम् आयुष्याद्यभिवृद्धये।
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा चूडा कार्या प्रयत्नतः।।

कर्णवेधः

रोगात्संरक्षणार्थश्च मुष्ककोषाभिवृद्धये।
भूषणं परिधातुं वा कर्णवेधं समाचरेत्।।
प्रथमे दक्षिणं कर्णं ततो वामं यथोचितम्।
पुण्ये तिथौ मुहूर्ते वा बालस्य वेधयेद्बुधः।।

विद्यारम्भः (अक्षरारम्भः)

पञ्चमे सप्तमेऽब्दे वा निजबालस्य जन्मतः।
विद्यारम्भं पिता कुर्याद्वाग्देवीस्तुतिपूर्वकम्।।

उपनयनम्(व्रतबन्धः)

पञ्चमे चाष्टमे वर्षे विप्रोपनयनं बुधः।
गर्भादेकादशे राज्ञो द्वादशे कारयेद्विशः।।

वेदारम्भः

उपनयनसंस्काराद्वत्सराभ्यन्तरे द्विजः।
वेदारम्भं प्रकुर्वीत वेदाध्ययनहेतवे।।

केशान्तम्(गोदानम्)

विप्राणां षोडशे कार्यं द्वाविंशे च महीभुजाम्।
केशान्तमथ गोदानं चतुर्विंशे बुधैर्विशाम्।।

समावर्त्तनम्

प्रत्यागमो द्विजातीनां गुरुकुलान्निजं गृहम्।
प्रगीयते समावृत्तिरुपनिषत्सु भूयसी।।
गुरुकुलेषु शास्त्राणाम् अध्ययनं समाप्य नु।
करणीया समावृत्तिः प्रस्थितब्रह्मचारिणाम्।।

विवाहः(दारकर्म)

ऋणत्रयविमुक्त्यर्थं सन्तानोत्पत्तिहेतवे।
प्रजासंरक्षणार्थश्च विवाहो दारकर्म वा।।

अन्त्येष्टिः

प्रस्थितस्येहलोकाद्ये सम्बन्धिनो जनस्य च।
अन्त्येष्टिं कुर्वतेऽत्रैष्टुं मङ्गलं पारलौकिकम्।।
गर्भाधानात्समारभ्य शरीरशुद्धिहेतवे।
षोडश नरसंस्कारा वात्स्यकोशेऽत्र वर्णिताः।।

आचार्यद्वितीयवर्षीयछात्रः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः

महामहोपाध्यायपण्डितगोकुलनाथस्य व्यक्तित्वं कर्तृत्वञ्च

समुन्दरसिंहः

भूमिका–

संस्कृतकाव्यक्षेत्रे आदिकवेः वाल्मीकादारभ्यःबहवःकवयःसमभुवन् अतःसंस्कृतसाहित्ये बहूनां महाकाव्यानां, काव्यानां, नाटकानां रचना अजायत ।तेष्वेव नाटककारेषु गोकुलनाथशर्माणः अपि नान्यतमाः सन्ति ।

व्यक्तित्वम–

म.म.गोकुलनाथस्य जन्म बिहारप्रदेशस्य दरभङ्गाजिलायां मङ्गरौनीनामकग्रामे फणदहनामकमैथिलब्राह्मणपरिवारे अभवत। गोकुलनाथः महान् शास्त्रज्ञः प्रतिभाशाली कविश्च आसीत्। अस्य न्याय–व्याकरण–मीमांसावेदादिषु अनेकेषु शास्त्रेषु अबाधगतिः आसीत्।

तर्केषु कर्कशाधियो वयमेव नान्ये काव्येषु कोमलधियो वयमेव नान्ये

इत्युक्तेरुत्तमोत्तमं निदर्शनं यदि कोऽपि दृश्यते तदा स गोकुलनाथो विलोकयितुं शक्यते। अस्य विषये एका उक्तिः अपि प्रसिध्दास्ति–

मातार्गोकुलनाथनामकगुरो वाग्देवि! तुभ्यं नमः
पृच्छामो भवतीं महीतलमिदं त्यक्त्वैव यद्गच्छसि।
भूलोके वसतिः कृता मम गुरौ स्वर्गे तथा गीष्पतौ
पाताले फणिनायके भगवति!प्रौढिः क्व लब्धाधिका।।[1]

गोकुलनाथस्य पितुः नाम पं. पीताम्बरशर्मा मातुश्च नाम उमादेवी आसीत्। पीताम्बरशर्मा स्वयम् अनेकेषु शास्त्रेषु पण्डितप्रकाण्डम् आसीत्। गोकुलनाथः स्वपितुः वैदुष्यस्योल्लेखम् अनेकेषु स्थलेषु अकरोत्।

गोकुलनाथस्य पितुः विस्तरेण परिचयः तस्यापरस्याः कृतौ**अमृतोदये** प्राप्तुं शक्यते–

प्रकृतिगहने वैशेषिके विवृतिं व्यधादकुरुतचतुर्वर्गव्याख्यामृतानि च भारते।
भारतवचसां तत्त्वाख्यान्यैर्निबन्धमभाषतव्यतनुत तथा तिस्रो वाणीविलासकविःकथाः।।[2]

स्वकृतिषु स्वकीयभ्रातृणाम् अपि उल्लेखमपि कृतवान्। एतस्य चत्वारो भ्रातरः आसन्। त्रिलोचन धनञ्जय–गोकुलनाथ–जगध्दराःइति।पं.पीताम्बरस्य उमादेव्याश्च चतुर्णां पुत्राणामुल्लेखं कृत्वा गोकुलनाथःस्वस्य कृते तयोः तृतीयपुत्रत्वेनोक्तवान्–

यो जन्मतश्च गुणतश्च मतः कनिष्ठःश्रीमद्विलोचनकवेश्च धनञ्जायाच्च।
सश्रीजगध्दरधरातिलकाग्रमजन्मानिर्मास्यति प्रगुणतत्त्वरसं प्रबन्धम्।।[3]

गोकुलनाथः पितुः समस्तानां विद्यानाम् अध्ययनं कृतवान्–

अधिगतमुपाध्यायाद् विद्यानिधेरनुचिन्तितविरलविषयग्राहिण्यापि स्वयाजडयाधिया बहुलमथवा स्तोकं यद्यन्मया श्रुतमर्जितंपरिणातिरियं तस्य प्रीतस्तयास्तु परः पुमान्।।[4]

गोकुलनाथःफतेसाहनृपस्य आश्रयेऽवसत्। एतस्योल्लेखं सः स्वकीये **एकावली**नामके ग्रन्थेऽकरोत्। एवमेतत् प्रमाणितम् अस्ति यद् गोकुलनाथः **पीताम्बरशर्मणः उमादेव्याश्च** पुत्रेति। ससमस्तानां शास्त्राणामध्ययनं स्वकीयपितुरेव कृतवान्।

गोकुलनाथोपाध्यायस्य समयः– एषः महोदयस्वकीयसमयस्योल्लेखम् **अमृतोदयनाटके** कृतवान्–

निगमसरसो माने दण्डा प्रमत्तसरस्वतीस्खलनपतनारम्भे
हस्तावलम्बनयष्टय। सुकृतसदनोपादानान्ते भवन्ति भजन्ति
येरुचिपातिकिकवेर्वंशस्तम्बप्ररोहकरीरताम्।।[5]

मैथिलब्राह्मणवंशावल्यां रुचिपतिः गोकुलनाथस्यपञ्चमःपूर्वज उक्तः ।गोकुलनाथोपाध्यायः सप्तदशशताब्द्याः परार्धे तथा 18 तमशताब्द्याः पूर्वार्द्धे (ईस्वी 1650– पश्चात् 1750 मध्ये) मिथिलायां विद्यमानः आसीत्।

गोकुलनाथस्यकृत्तयः–

गोकुलनाथस्यएताःकृत्तयःसन्ति, चक्ररश्मिः, रसमहार्णवः, काव्यप्रकाशविवरणम, लाघवगौरवरहस्यम, शक्तिवादः, कुण्डकादम्बरी– मुक्तिवादः, कादम्बरी, कादम्बरीकीर्तिश्लोकः, एकावली, शिवशतकम, मुदितमदालसानाटकम्मुदितमदालसा।

उपसंहार

उपसंहाररुपेण वयं वक्तुं शक्नुमःयत् गोकुलनाथशर्माणःसंस्कृतक्षेत्रस्य प्रतिभा सम्पन्नाःकवयःआसन्। समीक्षात्मकपरुपेण विलोक्यामश्चेत गोकुलनाथमहोदयस्य मुदितमदालसा नाटकस्येति साम्यं कविकुलगुरुकालिदासस्य अभिज्ञानशाकुन्तलेन सह वर्त्तते। अतः गोकुलनाथशर्मामहोदयस्य योगदानं संस्कृतसाहित्यक्षेत्रे सदा अविस्मरणीयं भविष्यति।

सन्दर्भाः

1. पदवाक्यरत्नाकर, भूमिका, पृ.3, केन्द्रिय–संस्कृत–विश्वविद्यालय
2. अमृतोदयनाटके श्लोक 5, जयपुर परिसर राजस्थान 302018
3. शलोकः–5.25
4. अमृतोदयनाटके शलोकः5,17
5. अमृतोदयनाटकं श्लोक–5,17

शोधच्छात्रः, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

धात्वर्थविषयकमीमांसकमतखण्डनपुरस्सरं वैयाकरणमतव्यवस्था

अन्तरिक्षः अग्रवाल

धात्वर्थविषयकवैयाकरणमतं प्रतिपदियितुम् शब्छकौस्तुभस्थकारिकाम् उद्धरति कौण्डभट्टः वैयाकरणभूषणसारे–

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।
फले प्रधानं व्यापारस्तिङर्थस्तु विशेषणम्।।इति।।[1]

प्राचीनवैयाकरणानां मते फलव्यापारौ धातुवाच्यौ स्तः। एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन प्राचीनैः वैयाकरणैः खण्डशः शक्तिः स्वीक्रियते। नवीनैः तु फलानुकूलव्यापारः इति अखण्डः एव धात्वर्थः स्वीकृतः।

धात्वर्थविषये मीमासंकानां व्युत्पत्तिः भिन्नाऽस्ति। तैः तु केवलं फलमेव धात्वर्थत्वेन अंगीकृतम्। व्यापारस्तु आख्यातार्थः इति, न तेषां व्यापारस्य धातुवाच्यत्वम् सम्मतमस्ति। तत्र प्रमाणत्वेन ''लः कर्माणि च भावे चाकर्मकेभ्यः'' इति सूत्रम् उपस्थाप्यते यत्र कर्तर्यादौ लकाराः विधीयन्ते। तेषां मते कर्तृपदम् कर्तृत्वपरम् कर्मपदम् च कर्मत्वपरम्। कर्तृत्वं नाम कृतिः। अतएव कृतौ लकारविधानात् तस्य एव स्थानिनः अर्थस्य तिङा द्योतकत्वात् आख्यातार्थः भावना स्वीकृता। अपरं प्रमाणम् विवरणमस्ति। यथा पचति इत्यस्य विवरणं क्रियते पाकं करोति इति तत्र आख्यातस्यैव अर्थः कृञा उच्यते। अतः भावनारूपार्थः एव तिङः इति मीमांसकाः। कर्तकर्मणी आख्यातार्थत्वेन न तैरङ्गीक्रियते। न चात्र कर्तुरभेदसम्बन्धः अनुपपन्नः स्यादिति वाच्यम् कर्तुः भावनया आक्षेपात् तत्र कर्तृरूपार्थस्य लाभात्। शाब्दबोधमुख्यविशेष्यविषये न मतभेदः भावनामुख्यविशेष्यकशाब्दबोधस्यैव स्वीकारात्। अत एव 'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः प्रत्ययार्थस्यैव प्राधान्यम् इति व्युत्पत्त्यापि मीमांसकैः भावना (व्यापारः) प्रत्ययार्थः स्वीकृतः। अन्यत् प्रमाणम् निरुक्तवचनमस्ति तेषाम्–

'भावप्रधानमाख्यातं सत्वप्रधानानि नामानि।'[2]

किन्तु मीमांसकमतमस्माभिः नैव स्वीकृतम्। तत्मतं खण्डयन्नेव कौण्डभट्टः वदति यत् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मक्ेभ्यः' इति सूत्रे यद् कर्तृत्वं कृतिः इत्यादि तन्न समीचीनम्। यतोहि ''कर्तरि कृत्'' इत्यतः एव कर्तरीति पदमनुकृष्यते। कर्तृपदम् कर्तृत्वपरमिति स्वीकारे तु पाचकः इत्यादौ कर्तृरूपार्थस्य बाधः स्यात्। व्यापारः अर्थः एव अत्र प्रतीयेत। न च कृत्स्थले कर्तृपरम्, लकारस्थले च कर्तृत्वपरमिति वाच्यम्। एवं सति तुल्ययोगक्षेमस्य भङ्गापत्तेः अलब्धस्य लाभः इति योगः, लब्धस्य रक्षणम् क्षेमः। धातोरेव व्यापारवाच्यत्वम् भवति। अनन्यलभ्यो हि शब्दार्थः इति न्यायात् आख्यातवाच्यत्वं न व्यापारे उच्चते। अपि च यत् मीमांसकैरुक्तम् कर्तुराक्षेपः क्रियते व्यापारस्य आश्रयाभावे सत्त्वाभावात् तन्न युक्तम्। आक्षिप्तार्थस्य (लक्ष्यार्थस्य) वा प्राधान्यात् तत्र व्यापारस्य प्रकारत्वम् प्राप्नुयात् अतः आक्षेपेण लाभः न भवति। अपितु भावनायाः एव आक्षेपः स्याद् तत्र न दोषः। मीमासंकमतस्वीकारे अस्माकं सकर्मकत्वाकर्मकत्वोच्छेदापत्तिरपि स्यात्। सकर्मकत्वम् नाम फलव्यधिकरणव्यापारवाचकत्वम्। तत्र च व्यधिकरणम्

स्वनिरूपिताधिकरणतावन्निरूपिताधेयताभाववत् इति। अकर्मकत्वञ्च फलसमानाधिकरणव्यापारवाचकत्वम्। यदि व्यापारः धातुवाच्यः न स्वीक्रियेत चेत् धातोः उभयवाचकत्वाभावात् सकर्मकाकर्मकयोः लक्षणस्य उच्छेदः स्यात्। अपि च यद् उच्यते विवरणप्रमाणम् इति तन्न न्यायासिद्धम् यतोहि विवरणे, यथा पाकं करोति इत्यत्र एकाश्रयिका व्यापारानुकूलवर्तमानकालिकक्रिया इति आश्रयस्यापि विवरणेन बोधात्। किञ्च एवं विवरणे कृते सति कृञः तु केवलं व्यापारमात्रर्थम् प्रतीयेत; तेन फलांशाभावे अकर्मकतापत्तिः स्यात्। तदुक्तं भर्तृहरिणा– ''कृञोऽकर्मकतापत्तेर्नहि यत्नोऽर्थ इष्यते।''

अपि च देवदत्तः पचति इत्यादौ अभेदान्वयदर्शनात् तत्र कर्तुः वाच्यत्वं आख्यातस्य स्वीकर्तव्यमेव। धात्वर्थः व्यापारः कीदृशश्चेत् उक्तं हरिणा–

गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते।।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते।
व्यापारो भावना सैवोत्पादना सैव च क्रिया।

फलञ्चात्र न लौकिकं गृह्यते। अपितु पारिभाषिकमेव। दर्पणे (टीकायां) प्रतीतिशाब्दबोधादिदृष्ट्या लक्षणत्रयम् फलस्योक्तम्। सरलतया तु धात्वर्थजन्यत्वे सति धात्वर्थजन्योपास्थितिविषयत्वं फलत्वम् इति। फलप्रयोजनकक्रियात्वञ्च व्यापारत्वम्। उत साध्यत्वप्रकारकप्रतीतिविषयत्वम्।

किञ्च व्यापारवाचकत्वं धातोः अस्वीकारे धातुत्वलक्षणस्यापि उच्छेदः स्यात्। अत एव वैयाकरणानां मतमिदम् एव स्वीकरणीयम्। फलस्य व्यापारे अनुकूलत्वसंसर्गेण अन्वयो भवति। तथा च फलव्यापरयोः आश्रयतासम्बन्धेन स्वस्मिन् आश्रये (कर्तरि, कर्माणि च) अन्वयः। कर्तृकर्मसंख्याकालाः तिङर्थाः। कर्तृकर्मणी फलव्यापारयोः आधेयतया विशेषणे स्तः। संख्या कर्तृकर्मणोः समवाचने विशेषणम्। तथा च कालः व्यापारे आधेयतया विशेषणम् कालस्य सर्वाधिकरणत्वनियमात्।

सन्दर्भाः

1. वैयाकरणभूषणसार धात्वर्थप्रकरणम्, प्रथमकारिका
2. यास्ककृतनिरुक्तौ

छात्रः,
शास्त्री प्रतिष्ठा, व्याकरणविभागः

शक्तिः साधौ असाधौ वा

धीरज कुमार चौधरी

पदेन सह पदार्थस्य यः सम्बन्धः सा शक्तिः। सा च किं रूपेति जिज्ञासामामुच्यते –

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।

अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा।।[1] **इति।।**

अस्या अयमाशयः यथा चक्षुरादीन्द्रियाणां स्वविषयेषु घटपटादिपदार्थेष्वनादिर्योग्यता वर्तते। अर्थात् घटपटादिपदार्थानां ग्रहणं तथा प्रकाशशक्तिरनादिकालादेव वर्तते तथैव शब्दानामपि स्वसम्बन्धितार्थस्य प्रकाशनस्य तथा च बोधकारणतारूपयोग्यताऽनादिकालादेव वर्तते। सैव बोधकारणताऽनादिर्योग्यता शक्तिरिति स्वीक्रियते। शक्तिरहि सामर्थ्यम्। यथा दीपादौ तेजसि ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं सामर्थ्यस्वरूपं सदेवोपयुक्तं न तु ज्ञातम्। तदुक्तं हरिणा–

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।

तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगिवस्थिते।।इति।।[2]

यथा तेजसः प्रदीपादेः ग्राह्यत्वं ज्ञानविषयत्वं ग्राहकत्वं घटादिविषयकज्ञानजनकत्वं च द्वे ग्राह्यत्व-ग्राहकत्वं द्वे शक्ती वर्तेते। शब्द एव प्रकाशयन्नर्थं प्रकाशयतीति यावत्। यद्यपि घटे ग्राह्यत्वमेव न ग्राहकत्वम् इन्द्रियेषु ग्राहकत्वमेव न ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं स्वभावादिति तात्पर्यम्। शाब्दिकमते सर्वेषां नानार्थत्वम्। अत एव वृद्धिरादैजिति सूत्रे भाष्ये अनेकशक्तेः शब्दस्येत्युक्तम्। शब्दकौस्तुभादावपि घटादौ घटबोधजननसामर्थ्यादेव घटादिपदानां शक्तिर्व्युत्पादिता इति। वैयाकरणभूषणसारमतेन तु बोधजनकत्वयोग्यत्वमेव शक्तिः।

सा च शक्तिः कुत्र तिष्ठति साधौ असाधौ वा इति जिज्ञासमानायां शाब्दिकानां मते तु साधौ असाधौ उभयत्राऽपि शक्तिरिति। तथा च दृश्यते हि लोके घट तथा गगरी शब्दाभ्यां समानार्थस्य कम्बुग्रीवादि मत्पदार्थस्य बोधात् सा च साधुष्विवापभ्रंशेष्वपि शक्तिग्राहकशिरोमणे – र्व्यवहारस्य तुल्यत्वात्।

परमत्र नैयायिकाः मीमांसकाश्च आक्षिपन्ति, यदपपभ्रंशेऽपि शक्तिः स्वीक्रियते तर्हि तस्याऽपि साधुत्वं स्यादतः मीमांसायाः नवमे व्याकरणनामाधिकरणप्रकरणे ''शक्तत्वमेव साधुत्वम्'' इति प्रतिपाद्यते। उच्यते हि तत्र ''अनादिवाचकत्वं साधुत्वं तविपर्ययश्चासाधुत्वम्'' स्यादिति।

अस्यायं भावः शक्तत्वमेव साधुत्वं तयाऽशक्तत्वमेवाऽसाधुत्वमिति। अतः शाब्दिकानां मते अपभ्रंशेऽपि शक्तिस्वीकारे तस्याऽपि साधुत्वं स्यादिति। परञ्च वैयाकरणैः तन्नाङ्गीक्रियते प्रतिपाद्यते हि यद्यपभ्रंशे शक्तिः न स्यातर्हिः कथं ततः अर्थबेधः यतः अपभ्रंशानामशक्तत्वे ततो बोध एव न स्यात्। न च साधुस्मरणात् ततो बोधः।

यत्तु तार्किकाः''असाधुरनुमानेन वाचकः कैश्चिदिष्यते'' अर्थात् असाधुशब्देन साधुस्मरणद्वाराऽर्थ अर्थबोध इत्याहुः। तन्न साधुस्मरणं विनापि बोधानुभवात्। तद्वाचकसाधुशब्दमजानतां बोधनापत्तेश्च। तार्किकैः

साधुशब्दष्वेव शक्तिः स्वीक्रियते तेनासाधुषु यत्रासाधुशब्दात् बोधो दृश्यते तत्रापि व्युत्पन्नानामसाधुशब्देन साधुशब्दस्य स्मरणं भवति ततो बोधो भवति। अव्युत्पन्नानान्तु शक्त्यभावेऽपि असाधुशब्दे शक्तिरस्तीति भ्रमाद्बोधो भवतीति तेषमाशयः। परं ''घड़ा'' गगरी प्रभृतिशब्दश्रवणसमकालमेव स्मरणबोधक शिरश्चालनमन्तरापि बोधोऽनुभूयते, अनुभवश्च सर्वप्रमाणज्येष्ठः। किञ्च असाधुशब्दबोध्यार्थं प्रतिपादकसाधुशब्छमजानतां ज्योतिर्विदां वैदिकानां च बोधो न स्यात् भवतीति च बोधस्तेषामपीति। अतो तार्किकोक्तं मतं न समीचीनम्। यतोहि अविदुषां पामराणामपि बोधात् तेषां साधोरबोधाच्च। अत एव स्त्रीशूद्रबालादीनामुच्चारिते साध्वर्थसंशये तदपभ्रंशेनार्थनिर्णयः। अतः यथा साधुत्वे शक्तिः तथैव असाधुत्वेऽपि। पुनः जिज्ञासा क्रियते यद्युभयत्राऽपि शक्तिः तर्हि अनयोः किं वैशिष्ट्यमिति। तदोच्यते भर्तृहरिणा-

''वाचकत्वाविशेषे वा नियमः पुण्यपापयोः।''

अत एव ''समानायामर्थावगतौ शब्दैश्चापशब्दैश्च शास्त्रेण धर्मनियमः'' इति भाष्योक्तं सङ्गच्छते। तथा च ''साधुभिर्भाषितव्यं नासाधुभिरिति विधिः। अथाद्भ्युदयाऽकाङिक्षभिः साधुत्वमेव प्रयोक्तव्यमिति शास्त्रोपदेशः। अत्र साधु नाम किञ्चेत् ''पुण्यजननयोग्यत्वं साधुत्वं'' तथा ''पापजननयोग्यत्वमसाधुत्वम्।'' तज्ञापकञ्च कोशव्याकरणव्यवहारादि। तत्र व्यवहारस्तु प्रमुखः यथोच्यते-

''सम्बन्धिशब्दे सम्बन्धो योग्यतां प्रति योग्यता।
समयाद् योग्यतासंविन् मातापुत्रादियोगवत्।।''

अतः सिध्यते यत् व्यवहारादपि साधुत्वादसाधुत्वनिर्णयो भवति। यथा-

''अश्वगोण्यादयः शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
निमित्तभेदाभेदात् सर्वत्र साधुत्वं विवक्षितम्।।''

अत एवार्यम्लेच्छाधिकरणं च सङ्गच्छते, आर्यम्लेच्छावधिकृत्यप्रवृत्तमधिकरणमार्यम्लेच्छाधिकरणम्। अनेन हि अधिकरणेन वेदप्रतिपादयार्थनिर्णये आर्याणामेवाधिकारेण वैदिकशब्दार्थसंशये समुत्पन्ने यं शब्दं यत्रार्थे प्रयुज्यते तेन शब्देन तदर्थ एव गृह्यते इति आर्यम्लेच्छाधिकरणस्याशयः। अत एव यः शब्दो यस्मिन्नर्थे व्याकरणे व्युत्पादितः स तत्र साधुरिति पर्यवसितम्।

उपरोक्तविवेचनेन तथा च सर्वसामान्यजनानामपभ्रंशभावया दैनिकव्यवहारात् तत्राऽपि बोधकता शक्तिः नूनमेव सिध्यति।

सन्दर्भाः

1. वैयाकरणभूषणसारः कारिका सं. 36
2. वाक्यपदीयम् कारिका सं. 1/56

छात्र, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः,
जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

पाणिनिव्याकरणानुसारं वर्णविचारः

सत्यव्रतमिश्रः

यद्यपि वर्णाः सृष्टेरारम्भकालादेव व्यवह्रियमाना दृश्यन्ते तथापि चतुर्दशमाहेश्वरसूत्ररूपेणोपदिष्टानां वर्णानां क्रमिकत्वस्यास्ति विशिष्टं प्रयोजनम्। तदुक्तं महाभाष्ये- वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः। वृत्तिरत्र शास्त्रप्रवृत्तिः। समवायः वर्णानां क्रमेण सन्निवेशः। पाणिनेर्लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तिफलको यः समवायो वर्णानां क्रमेण सन्निवेश इति तदर्थः।लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणमिति भाष्योक्तेः अनेकेषां वर्णानामेकस्मिन् प्रत्याहारविशेषाख्ये संन्निवेशस्यायं नूतनः प्रकारः। तेन अच् इति प्रत्याहारे अकारादिचान्तानाम् अ इ उ ऋ ल ए ओ ऐ औ नवानां वर्णानां बोधः, हल् प्रत्याहारे हकारादिलान्तानां त्रयस्त्रिंशद्व्यञ्जनवर्णानां ग्रहणम्, 'अल्' प्रत्याहारे अकारादिलान्तानां समेषां स्वरव्यञ्जनसंघानां चतुश्चत्वारिंशद्वर्णानां ग्रहणमित्यपि लाघवत्वेन वैज्ञानिकत्वमेव। एवमेव अक्, इक्, उक्, यण् प्रभृतीनां चतुश्चत्वारिंशत् प्रत्याहाराणां कल्पनमतीव वैज्ञानिकं ज्ञेयम्।

वर्णविभागः

अ इ उ ण्। ऋ लृक्। ए ओ ङ्। ऐ औ च्। ह य व र ट्। ल ण्। ञ म ङ ण न म्। झ भ ञ्। घ ढ ध ष्। ज ब ग ड द श्। ख फ छ ठ थ च ट त व्। क प य्। श ष स र्। ह ल्।

इमानि चतुर्दश माहेश्वरसूत्राणि महेश्वरप्रसादात् पाणिना लब्धानि सन्ति। एषु माहेश्वरसूत्रेषूपदिष्टानां वर्णानां मुख्यरूपेण अच् हल् भेदेन भागद्वयं वर्तते। परम् एतदतिरिक्ता अपि केचन वर्णा प्रयुज्यन्ते, येषामेषु सूत्रेषु योगो नास्ति अतस्ते अयोगवाहा उच्यन्ते। नास्ति वर्णसमाम्नाये योगो येषां ते अयोगाः, वाहयन्ति प्रयोगं निर्वाहयन्ति इति वाहाः। अयोगाश्च ते वाहाः अयोगवाहाः। ते च अनुस्वारः(0), विसर्गः(:), जिह्वामूलीयः, उपध्मानीयः, यमाः।

अ इ उ ण् ऋ लुक् ए ओ ङ् ऐ औ च् इत्येतेषु चतुर्षु सूत्रेषु विद्यमानानामन्त्यानां व्यञ्जनवर्णानाम् इत्संज्ञकत्वाद्, लोपत्वाद्, अप्रधानत्वाच्च नाच्प्रत्याहारे ग्रहणम्। प्राधान्यं चात्र प्रत्याहारेषु ग्रहणार्थत्वरूपम्। ह य व र ट्। ल ण्। ञ म ङ ण न म्। झ भ ञ्। घ ढ ध ष्। ज ब ग ड द श्। ख फ छ ठ थ च ट त व्। क प य्। श ष स र्। ह ल्। इत्येतेषु हकारादिषु पुनः पुनः अकारस्योच्चारणेन हल् प्रत्याहारे न तस्य ग्रहणम् अपितु व्यञ्जनानाम् उच्चारणसाहायकत्वमेवास्य सिद्धम्। तदुक्तम् उच्चैरुदात्तः इति सूत्रे भाष्ये–

''न पुनरन्तरेणाचं व्यञ्जनस्योच्चारणमपि भवतीति।'' हल्षु हलामेव प्रधान्यम्। अक्षु तु अचामेव प्रधान्यम्। तदुक्तं महाभाष्ये-आचार्यस्य एषा शैली लक्ष्यते यत् तुल्यजातीयान् तुल्यजातीयेषूपदिशति अचाम् अक्षु, हलां हल्सु इत्यपि विज्ञानम्।

स्वरविभागः

अचः स्वराः इति कथनेन ज्ञायते यद् अच्प्रत्याहारे विद्यमाना वर्णाः स्वराः कथ्यन्ते। एते नवसंख्यकाः सन्ति। एतेषां कालभेदेन त्रिधा विभागःक्रियते। ते च ह्रस्वदीर्घप्लुतारूपाः। तथाहि पाणिनिसूत्रम्–

ऊकालोज्झस्वदीर्घप्लुतः इति। कुक्कुटरुते उकारे एकद्वित्रिमात्रत्वप्रसिद्धेः अकारादयो नोक्ताः। 'ऊ' इति एकद्वित्रिमात्राणां क्रमेण प्रश्लेषनिर्देशो व्याख्यानात्। तेन स्वोच्चारणकालसदृशो लक्ष्यते। स कालो यस्य इति वहुव्रीहिणा उश्च ऊश्च उ3श्च इति।तदुक्तं भाष्ये यावत्तपरकरणं तावदत्रकालग्रहणम्। ज्ञावल्क्यस्मृतावप्युक्तम्–

एकमात्रो भवेद्धस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते।

त्रिमात्रस्तु प्लुतो ज्ञेयो व्यञ्जनं चार्द्धमात्रकम्।।इति।

उदात्तादिभेदेन पुनःप्रत्येकं त्रिधा विभज्यते।

उदात्तः, अनुदात्तः, प्लुतश्चेति। तथाहि सूत्रम्

उच्चैरुदात्तः[1]**, नीच्चैरनुदात्तः**[2]**, समाहारः**[3] **स्वरितः** इति। उच्चैरुदात्तः इत्यत्रोच्चैस्त्वं स्थानकृतं न तु श्रुतिकृतम्। तदुक्तं लघुशब्देशेखरे श्रीमता नागेशभट्टेन उच्चैरित्यधिकरणप्रधानम्। अधिकरणत्वं चोच्चारणं प्रति। तच्च ताल्वादीनां सभागत्वे एवेत्याशयेनाह सिद्धान्तकौमुद्यां श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन–ताल्वादिषु सभागेषु स्थानेषूर्वभागो निष्पन्नो अजुदात्तसंज्ञः स्यादिति। एवं तत्रैवाधोभागो निष्पन्नो अजनुदात्तसंज्ञः स्यात्। उदात्तत्त्वानुदात्तत्वधर्मौ समाह्रियेते यस्मिन् सो अच्स्वरितसंज्ञः स्यादिति तदर्थः। उदात्ते तु आदितो अर्द्धमजुदात्तो अन्त्यो अर्द्धमजनुदात्तः। तथा हि सूत्रम्– 'तस्यादितमुदात्तमर्द्धह्रस्वम्' इति।

स नविधोऽपि अनुनासिकाननुनासिकभेदेन द्विधा विभज्यते। अयं हि गुणकृतो भेदः। तथाहिसूत्रम् मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः'। मुखसहितनासिकयोच्चार्यमाणो वर्णो अनुनासिकसंज्ञः स्यादिति तदर्थः। केचिद् वर्णा मुखेनोच्चरिता भवन्ति, केचिन्नासकया, केच्चिच्च मुखनासिकाभ्यामुभाभ्यां मिलित्वा। अनुनासिकवर्णास्तु मुखसहितनासिकया सह मिलित्वा उच्चार्यन्ते। अत्र दृष्टान्तः प्रासादवासिन्यायः।[4] केचित्प्रसादवासिनः, केचिद्भूमिवासिनः, केचित्तूभयवासिनः। ये प्रासादवासिनो गृह्यन्ते प्रासादवासिग्रहणेन ये भूमिवासिनो गृह्यन्ते ते भूमिवासिग्रहणेन ये तूभयवासिनः गृह्यन्त प्रासादवासिग्रहणेन भूमिवासिग्रहणेन च। एवं केचिन्मुखवचना, केचिन्नासिकावचना केचितूभययवचनाः ये मुखवचना गृह्यन्ते ते मुखवचनग्रहणेन, ये नासिकावचनाः ग्रह्यन्ते ते नासिकावचनग्रहणेन ये तूभयवचना गृह्यन्ते मुखवचनग्रहणेन नासिकावचनग्रहणेन च। अनुनासिका ह्युभयवचनाः। उदात्तादयो हि गुणा भवन्ति अनन्तरभावित्वात्। तदुक्तं भाष्ये अनुनासिको ह्येषामधिको गुणः। इत्यपि विज्ञानम्।

वर्णोच्चारणप्रक्रिया–अन्तःकरणे स्थितं ज्ञानं, अणुः वायुः यत्स्थानं संस्पृश्य ध्वनिरूपतामापद्य परश्रवणगम्यो भवति तदेव तस्य ध्वनेर्वर्णस्य वोच्चरणस्थानमुच्यते। वर्णोच्चारणप्रक्रियां निर्दिशति पाणिनीयशिक्षायाम्– **आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया। मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।। सोदीर्णो मूर्ध्निमभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।**[5]

वर्णान् जनयते इत्यादिशिक्षावचनानुसारम् आत्मा अन्तःकरणम् संस्काररूपेण स्वगतान् अर्थान् बुद्ध्या=स्ववृत्त्या समेत्य एकदेशविषयान् कृत्वा तद्बोधनेच्छया मनो युक्तं करोति, तदिच्छावन्मनः कायाग्निं जठराग्निम् आहन्ति, स–कायाग्निः, उदीर्णो ऊर्धं प्रेरितः सन् स=मारुतो वक्त्रमापद्य वर्णान् जनयते इति तदर्थः। इत्थं शब्दप्रयोगेच्छया उत्पन्नयत्नाभिहतवायुना नाभिप्रदेशात् प्रेरितो वायुर्वेगान् मूर्धपर्यन्तं गत्वा प्रतिनिवृत्तो वक्त्रं प्राप्य उक्तस्थानसाहाय्येन तत्स्थानेषु जिह्वाग्रादिस्पर्शपूर्वकं तत्स्थानानि आहत्य वर्णान् अभिव्यनक्ति।

वर्णोच्चारणस्थानानि

पाणिनीयशिक्षानुसारमुच्चारणस्थानानि अष्टौ सन्ति। तथा ह्युक्तम्–

अष्टौ स्थानानि वर्णानामुरः कण्ठः शिरस् तथा।
जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ।।[1]
हकारः पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम्
उरस्यं तं विजिनीयात् कण्ठमाहुरसंयुतम्।।[2]
कण्ठ्यावहाविचुयशास्तालव्या ओष्ठजावुपू।
स्युर्मूर्धन्या ऋटुरषा दन्त्या लुतुलसाःस्मृताः।।
जिह्वामूलं तु कुः प्रोक्तो दन्त्योष्ठ्यौ वः स्मृतो बुधैः।[3]

इत्यादिशिक्षावचनानुसारं तत्तद्वर्णोत्पत्तेः प्राक्तत्तत्स्थानादौ जिह्वास्पर्शाद्यनुभवेन तत्तद्वर्णानां तत्तत्स्थानत्वनिर्णये अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः इत्यादिकथनं साधारणधर्मबोधनायानुवादकम्, नत्वेतदेव स्थानविधायकमिति भ्रमितव्यम्। विसर्जनीयपदेनात्र साहचर्यादकाराश्रयग्रहणम्। अत एव – अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थानभागिनः इति शिक्षया न विरोधः। दन्ता इति दन्तसंयुक्तदेशा इत्यर्थः। अतो भग्नदन्तानामप्युच्चारणं भवत्येव। उश्च पश्च ध्मायेते अनेन तत्र भव इति योगेन उपध्मानीयस्य औष्ठ्यम्। तदुक्तम्–उपध्मानीयानामोष्ठौ इति।

अनुस्वारयमानां तु नासिकास्थानमुच्यते इतिशिक्षावचनानुसारं यमानामप्यानुनासिक्यव्यवहारः। स्थानव्यवहारस्तु वर्णाभिजनकताल्वादौ वर्णजनकवायुसंयोगाधारेण वर्णाधारत्वारोपेण प्रयत्नानां तु करणत्वव्यवहारः।

यत्नविवेकः

यत्नो द्विधा–आभ्यन्तरो, बाह्यश्च। आभ्यन्तरश्चतुर्धा स्पृष्ट–ईषत्स्पृष्ट विवृत–संवृतभेदात्।[4] स्पृष्टादीनाम् आभ्यन्तरत्वं तु ओष्ठप्रभृतिकाकलपर्यन्तरूपास्यन्तर्गततत्स्थानेषु जिह्वाग्रादीनां स्पर्श ईषत्स्पर्श–दूरावस्थान समीपावस्थानरूपाभ्यन्तरकार्यकारित्वातद्ववर्णोत्पत्त्यव्यवहितप्रभावित्वाच्च बोध्यम्। तत्र बहूनामेकस्थानत्वे अपि कस्यचिदुच्चारणे सम्यक्स्पर्शः, कस्यचिदीषत्स्पर्श इतिशिक्षाकारोक्तिमनुभवं चानुसृत्य विवेक्तव्यम्। इमे तत्तत्स्थानाभिघातका स्पृष्टादय यत्ना आस्यन्तर्गतकार्यकारित्वाद् आभ्यन्तरा उच्यन्ते।

बाह्यस्त्वेकादशधा

विवारः, संवारः, श्वासः, नादः, घोषः, अघोषः, अल्पप्राणः, महाप्रणः, उदात्तः अनुदात्तः, स्वरितश्चेति।[5] तत्र काकलकादस्ताद् गलविवरविकास–संकोचश्वासोत्पत्तिध्वनिविशेषरूपनाद–तद्विशेषरूपघोष अघोषप्राणाल्पत्वमहत्त्वरूपकार्यकरणस्य आस्यबहिर्भूते जातत्वाद् बाह्यत्वमुच्यते।विवारादीनां बाह्यप्रयत्नानां वर्णाभिव्यक्तन्तरभावी सावर्ष्यानुपयुक्त आन्तरतमपरीक्षोपयुक्तश्च कण्ठविवरादिनिष्ठविकासादे. आस्यबहिर्देशावच्छिन्न–कार्यजनको यत्नो गुणशब्देनोच्यते। एको अयमुदको नाम तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति, अन्यदिदं शीतलम्, अन्यदिदमुष्णमिति दृष्टान्तपरभाष्येण तथैव प्रतीतेः। स्वयं सिद्धे जले शीतलस्य पश्चाद्भावित्वाद्यथा शीतत्वस्य गुणत्वं तथैव विवारादीनामुच्चरणपश्चाद्भावित्वाद् गुणत्वं सिद्धम्। उदात्तत्वादीनामपि गुणत्वव्यवहारस्तु

सावानुपयुक्तत्वान्तरतम्यपरीक्षोपयोगित्वरूपसादृश्येन बोध्यम्। आस्ये तुल्यदेशप्रयत्नानामेव सावर्ण्यम्। तथा हि सूत्रम्-तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इति। अस्मिन् सूत्रे पदानि विच्छिद्य पश्यामश्चेच्चत्वारि पदानि दृश्यन्ते तुल्य, आस्य, प्रयत्न, सवर्णम् इति। तुलया समितं तुल्यम्, आस्ये-मुखे भवम् आस्यम्, प्रयतनं=प्रयत्नः, समानो वर्णः सवर्णः इति। तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत्तुल्यास्ययत्नम्। अत्र तद्धितान्तम् आस्यं गृह्यते। तेन ताल्वादीनि स्थानानि गृह्यन्ते। प्रपदेन प्रकृष्टो यत्नः। स च आभ्यन्तर एवेह गृह्यते। यद्यपि लोकव्यवहारे यत्नप्रयत्नशब्दयोः समानार्थत्वं दृश्यते तथापीह विशिष्टः अर्थ एव गृह्यते। अत आह वैयाकरणसिद्धान्तकौमुद्यां श्रीमता भट्टोजिदीक्षितेन-ताल्वादिस्थानम् आभ्यन्तरप्रयत्नश्च एतद् द्वयं यस्य येन तुल्यं तन्मिथः सवर्णसंज्ञं स्यादिति।सूत्रे आस्यग्रहणात् तर्म्हा इत्यादौ पकारतकारयोः स्पृष्टरूपाभ्यन्तरप्रयत्नस्य तुल्यत्वे अपि ओष्ठदन्तरूपस्थानयोर्भेदान्न सावर्ण्यम्। तेन झरो झरि सवर्णे इति सूत्रेण पकारलोपो न। वाक्श्च्योतति इत्यत्र शकारचकारयोस्तालुरूपस्थानतुल्यत्वे अपि स्पृष्टेषत्स्पृष्टरूपप्रयत्नयोर्भेदात्सावाभावाद् झरो झरि सवर्णे इति सूत्रेण शकारलोपो न।परम् एतद् ध्यातव्यं यद् अकारहकारयोः, इकारशकारयोः, ऋकारषकारयोः, लृकारसकारयोः स्थानप्रयत्नयोस्तुल्यत्वे अपि सवर्णसंज्ञा न भवति नाज्झलौ इति सावर्ण्यनिषेधात्। अस्य सूत्रस्यायमर्थः-आकारसहितो अच्=आच्। आच् च हल् च=आज्झलौ। न आज्झलौ=नाज्झलौ। आज्झलौ न मिथौ सवर्णसंज्ञौ भवत इति। तेन दधि हरति इत्यत्र इकारस्य हकारे परे यण् न, अन्यथा हकारस्य अकारेण सावर्ण्यात् हकारम् अकारबुद्ध्याअच्त्वाद्यणः प्रसक्तिःस्यात्। दधि शीतलम् इत्यत्र दीर्घस्य प्रसक्तिः स्यात्, दधि षष्ठम् इत्यत्र यणः, दधि हरति इत्यत्रापि यणः प्रसक्तिः स्यात्। इदमपि ध्यातव्यं यद् ऋकारलृकारयोः स्थानभेदे अपि सवर्णसंज्ञा भवति। तदुक्तं वार्तिकम् ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम् इति। ए ऐ एतयोः, किञ्च ओ औ एतयोः स्थानप्रयत्नसाम्ये न सावर्ण्यम् ऐ औ च् इति पृथक् सूत्रारम्भसामर्थ्यात्।

सन्दर्भाः

1. पाणिनिसूत्रम्, 1-2-29
2. पाणिनिसूत्रम्, 1-2-30
3. पाणिनिसूत्रम्, 1-2-31
4. महाभाष्यम्, 1-1-08
5. पाणिनीयशिक्षा, श्लोक सं. 5-8
6. पाणिनीयशिक्षा, श्लोक सं. 13
7. तत्रैव, श्लोक सं. 16
8. तत्रैव, श्लोक सं. 17-18
9. वै.सि.कौमुदी, संज्ञाप्रकरणम्
10. वै.सि.कौमुदी, संज्ञाप्रकरणम्

आचार्य-द्वितीयवर्षम्

केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयः, जयपुरपरिसरः, जयपुरम्

* * *

* चित्रवीथी *

बहुद्देशीयनूतनभवनस्य शिलान्याससमारोहे शिलापट्टिकाम् उद्घाटयन्तः मुख्यातिथयः राजस्थानप्रदेशस्य महामहिमराज्यपालमहोदयाः श्रीमन्तः कलराजमिश्रमहोदयाः, क्षेत्रीयसांसदः श्रीरामचरणबोहरामहोदयः, राजस्थानभाजपाप्रदेशाध्यक्षः श्री सतीशपूनिया महोदयः, कुलपतिमहोदयः प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्रीमहोदयः, परिसरनिदेशकः प्रो. अर्कनाथचौधरीमहोदयः, अन्ये मन्त्रिणश्च।

शिलान्याससमारोहे राष्ट्रगीतं गायन्तो मध्येमञ्चं महामहिमराज्यपालमहोदयाः श्रीमन्तः कलराजमिश्रमहोदयाः तेषां वामतो राजस्थान-भाजपाप्रदेशाध्यक्षः श्री सतीशपूनिया महोदयः तमो वामतः क्षेत्रीयसांसदः श्रीरामचरणबोहरामहोदयः, राज्यपालमहोदयानां दक्षिणतः केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपति प्रो. परमेश्वरनारायणशास्त्रीमहोदयः, परिसरनिदेशकः प्रो. अर्कनाथचौधरीमहोदयः

बेडमिन्टनक्रीडाप्राङ्गणम् उद्घाटयन्तः अतिथयः, कुलपतयः, आचार्याः, प्राध्यापकाः छात्राश्च

स्वतन्त्रतादिवससमारोहे राष्ट्रियध्वजम् उत्तोलयन्तः आचार्याः, प्राध्यापकाः छात्राश्च

परिसरस्य शोधपत्रिकायाः जयन्त्याः विमोचनं कुर्वन्तः स्वामिनः श्रीभद्रेशदासमहाराजाः, परिसरनिदेशकाः प्रो. अर्कनाथचौधरीमहोदयाः अन्ये च विद्वांसः

राष्ट्रियसेवायोजनान्तर्गते कार्यक्रमे संस्कृतस्य प्रचारार्थं नगरभ्रमणम्

राष्ट्रियसेवायोजनायाः स्वयंसेवकानां सामूहिकं चित्रम्

शिक्षकदिवससमारोहे भाषमाणः श्रीमान् वाय.एस.रमेशमहोदयः। मञ्चस्था अन्ये आचार्याश्च

प्रबोधनवर्गे मञ्चस्थाः विद्वांसः

हिन्दीदिवससमारोहे भाषमाणः श्रीमान् फतहसिंहमहोदयः। मञ्चस्था अन्ये आचार्याश्च

शिक्षाशास्त्रविभागस्य संगोष्ठी

राष्ट्रियएकतादिवससमारोहे शपथं कारयन्तः
परिसरस्य क्रीडानिदेशकः प्रो. गजेन्द्रशर्मा,
धर्मशास्त्रस्यसंकायप्रमुखः प्रो.भगवतीसुदेशः,
शिक्षाशास्त्रविभागाध्यक्षः प्रो. फतहसिंहः,
श्री विनोदशखवालः शाखाप्रबन्धकः,
डॉ. शीशरामः →

← राजस्थानराज्यस्तरीयायां शलकाप्रतियोगितायां
विजेतॄणां छात्राणां सामूहिकं चित्रम्।
उपरिष्टात् निर्णायकाणां चित्रम्

योगदिवससमारोहे योगासनानि कुर्वन्तः
परिसरस्य प्राध्यापकाः छात्राश्च →
मञ्चे योगप्रशिक्षकः डॉ. नवनीत शर्मा
अन्यौ सहयोगिनौ

← आसनानि प्रदर्शयन्तः योगप्रशिक्षकः

संगणककक्षम् उद्घाटयन्तः भाषमाणाश्च परिसरनिदेशकाः प्रो. अर्कनाथचौधरीमहोदयाः। मञ्चस्था विद्वांसः धर्मशास्त्रसंकायप्रमुखः प्रो. भगवतीसुदेशः, शिक्षाशास्त्रविभागाध्यक्षः प्रो.फतहसिंहः, साहित्यसंकायप्रमुखः प्रो.रामकुमारशर्मा, सेवानिवृत्तः आचार्यः प्रो.मोहनलालशर्मा

संगणककक्षस्य उद्घाटनम्

संस्कृतकक्ष्यानामकस्य पुस्तकस्य महत्त्वं ख्यापयन्तः परिसरनिदेशकाः प्रो. अर्कनाथचौधरी महोदयाः, मञ्चस्थाः संस्कृतप्रचारकाः श्रीमन्तः चमूकृष्टशास्त्रिवर्याः, प्रो. वाइ.एस.रमेश महोदयाश्च

नूतनसंगणककक्षः

व्याकरणशास्त्रप्रशिक्षणकार्यक्रमम् उद्घाटयन्तः मुख्यातिथिः प्रो.किशोरचन्द्रपाढी महोदयाः मध्यस्थः, तस्य दक्षिणभागे श्रीमती पाढीमहोदया, वामभागे परिसरनिदेशकः प्रो. अर्कनाथचौधरी महोदयश्च

व्याकरणशास्त्रप्रशिक्षणकार्यक्रमे परिसरनिदेशकः प्रो. अर्कनाथचौधरी महोदयः प्रशिक्षकः प्रो. श्रीकृष्णशर्ममहोदयः, कार्यक्रमसञ्चालकः प्रो. श्रीधरमिश्रः

व्याकरणशास्त्रप्रशिक्षणकार्यक्रमस्य समापनसमारोहे भाषमाणः परिसरनिदेशकः प्रो.अर्कनाथचौधरी महोदयः सर्वे प्रशिक्षवश्छात्राः।

व्याकरणशास्त्रप्रशिक्षणे स्नातकेभ्यः प्रमाणपत्रं वितरन्तः परिसरनिदेशकः प्रो. अर्कनाथचौधरीमहोदयः, व्याकरणविभागाध्यक्षः प्रो.शिवकान्तझाः, कार्यक्रमसंयोजकः प्रो.श्रीधरमिश्रः

व्याकरणविभागस्य राष्ट्रियसंगोष्ठ्याः कानिचित् चित्राणि

संस्कृतदिवससमारोहस्य कानिचित् चित्राणि

राजस्थानराज्यस्तरीयशलाकाप्रतियोगितायाः कानिचित् चित्राणि

परिसरे निर्मीयमाणस्य बहूद्देशीयभवनस्य प्रारूपम्

Printed by : M.V. Printer & General Supplier, Jaipur